सत्यमेव जयते

विधि साहित्य
प्रकाशन

न्यायालय निर्णय पत्रिका

प्रधान सम्पादक
जगत नारायण

अप्रैल, 1984

सम्पादक
हेतराम बाल्मीकि

नि० प० 1984

विधि साहित्य प्रकाशन
विधि और न्याय मन्त्रालय (विधायी विभाग), भारत सरकार

विषयानुसार अनुक्रमणिका

अप्रैल, 1984 अंक

पूर्ण न्यायपीठ निर्णय :

अन्य निर्णय :

नामानुसार अनुक्रमणिका

अप्रैल, 1984 अंक

अतिब्याज ऋण अधिनियम, 1918

—धारा 3(1)—यदि न्यायालय के पास यह विश्वास करने के लिए कारण हैं कि संव्यवहार, जैसा कि उसके पक्षकारों के बीच था, सारभूत रूप से अनुचित है, तो न्यायालय संव्यवहार को दुबारा खोल सकता है, पक्षकारों के बीच हिसाब रख सकता है और किसी अत्यधिक ब्याज के लिए ऋणी को सभी दायित्वों से मुक्त कर सकता है।

मद्रास-43

आयकर अधिनियम, 1961

—धारा 187(2)—किसी फर्म के गठन में परिवर्तन—फर्म के किसी भागीदार की निवृत्ति, नये भागीदार के सम्मिलित होने, या भागीदारों के अंशों में परिवर्तन होने पर फर्म के पुनर्गठन पर पुराने भागीदार या भागीदारों के बने रहने से जो पुनर्गठित फर्म अस्तित्व में आती है वह आयकर के प्रयोजनों के लिए "वही पुरानी" फर्म कहलाएगी और वह पुनर्गठन से पूर्व वाली फर्म द्वारा किए गए छिपाव के लिए शस्ति के लिए उत्तरदायी है।

इलाहाबाद-243

—धारा 217(1-क) विशेषतः अधिरोपित कर—इस धारा के अधीन पारित आदेश के विरुद्ध अपील नहीं की जाएगी।

मध्य प्रदेश-188

—धारा 246(ग) सपठित धारा 217 (1-क)— "जहा निर्धारिती इस अधिनियम के अधीन निर्धारण के दायित्व से इन्कार करता है" अभिव्यक्ति

का निर्वचन— इस अभिव्यक्ति के अधीन वह इंकार नहीं आता जो निर्धारण प्रक्रिया के किसी भाग अथवा अधिनियम के किसी उपबंध विशेष के अधीन निर्धारण के बारे में है।

मध्य प्रदेश-188

—धारा 277 और 278-ख—घोषणा में मिथ्या कथन—धारा 278-ख को भूतलक्षी प्रभाव से लागू नहीं किया जा सकता—अतः ऐसा निर्धारती, जो फर्म का एक भागीदार तो अवश्य है किन्तु जिसने एक अन्य भागीदार द्वारा फाइल की गई विवरणी या घोषणाओं पर हस्ताक्षर या उनका सत्यापन नहीं किया है, धारा 277 के शास्तिक उपबन्धों के अन्तर्गत नहीं आता और उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकेगी।

पंजाब-हरियाणा-118

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947

—धारा 10(1)(घ) सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 19 और 20—पिटीशनर को कम्पनी द्वारा मैडिकल-कम-सेल्स रिप्रजेंटेटिव के रूप में नियुक्त किया जाना और उसको बिहार राज्य में कार्य करने के लिए तैनात किया जाना—कम्पनी का मुख्यालय कलकत्ता में होना—कम्पनी द्वारा पिटीशनर की सेवाओं को समाप्त किया जाना—पिटीशनर द्वारा कम्पनी से अपनी बहाली और अन्य अनुतोष प्राप्त करने में असफल होने पर औद्योगिक विवाद के मामले को बिहार राज्य में उद्भूत होना—बिहार सरकार द्वारा औद्योगिक विवाद के बारे में समाधान करने पर अधिकरण को निर्देश किया जाना—अधिकरण द्वारा पिटीशनर के विरुद्ध इस आधार पर अधिनिर्णय देना कि कम्पनी का मुख्यालय कलकत्ता में था इसलिए बिहार सरकार निर्देश करने के लिए समुचित सरकार नहीं थी—पिटीशनर द्वारा अपने नियोजन के स्थान के आधार पर बिहार सरकार को समुचित सरकार होने का अभिवाक् किया जाना—यदि किसी कर्मकार की सेवाएं समाप्त की जाती हैं और वह कर्मकार औद्योगिक विवाद अपने नियोजन के स्थान पर उठाता है तो उसका नियोजन का स्थान उस औद्योगिक विवाद, जो कि ऐसे नियोजन की समाप्ति से उद्भूत होते हैं, के मामले में अधिकरण की राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता अवधारित करेगा और उसके नियोजन के स्थान की राज्य सरकार

औद्योगिक विवाद के बारे में अधिकरण को निर्देश करने के लिए समुचित सरकार होगी।

पटना-162

—धारा 25-च सपठित धारा 25-ञ—कर्मकारों की छंटनी के लिए पुरोभाव्य शर्तें—धारा 25-च निगम के उस कर्मकार को भी लागू होती है जिसको निगम के स्थायी आदेश लागू होते हैं और ऐसे कर्मकार की छंटनी के मामले में निगम के स्थायी आदेशों की अन्य अपेक्षाओं के अतिरिक्त धारा 25-ञ भी लागू होगी।

राजस्थान-146

कलकत्ता विश्वविद्यालय अधिनियम, 1966

—धारा 53 के अधीन विरचित प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा विनियमों का विनियम सं० 4—एक राज्य में चिकित्सा महाविद्यालय में अध्ययन करने वाले उम्मीदवार द्वारा दूसरे राज्य में स्थित चिकित्सा महाविद्यालय में प्रवेश के लिए आवेदन, ऐसे अंतरण की अनुज्ञा का दावा अधिकारतः नहीं किया जा सकता—तथापि, ऐसा अंतरण अनुज्ञात करने के लिए कोई प्रतिषेध भी नहीं है।

कलकत्ता-50

—धारा 53 के अधीन विरचित प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा से संबंधित विनियमों का विनियम 4 (संशोधन से पूर्व और पश्चात् यथा विद्यमान)—'परीक्षा पास करने के लिए चार अवसर' अभिव्यक्ति केवल उन अवसरों के प्रति निर्देश नहीं करती जिनका लाभ उम्मीदवार वस्तुतः परीक्षा में बैठकर प्राप्त कर सकता है—'चार अवसरों' से परीक्षा में बैठने तथा/अथवा पास करने के अवसर अभिप्रेत हैं।

कलकत्ता-50

केरल बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रेंट कण्ट्रोल) ऐक्ट, 1965

—धारा 2(3) और 11(16)—मकान मालिक के अभिकर्त्ता के तौर पर मकान का आजीवन अधिभोग करने के अधिकार सहित किराया इकट्ठा करने

का अधिकार—ऐसा अभिकर्ता मकान-मालिक की लिखित सम्मति के बिना किराएदार की बेदखली के लिए आवेदन फाइल करने के लिए हकदार नहीं है भले ही वह किराया इकट्ठा करने के लिए अभिकर्ता हो।

केरल-68

जम्मू-कश्मीर क्रिमिनल प्रोसीजर कोड, 1933

—धारा 497(ए)—पिटीशनर द्वारा अजमानतीय अपराधों के बारे में अपनी प्रत्याशित गिरफ्तारी के लिए अग्रिम जमानत हेतु आवेदन किया जाना—यदि कोई व्यक्ति न्यायालय का यह समाधान कर देता है कि उसे अजमानतीय अपराध के लिए गिरफ्तार किए जाने का डर है तो न्यायालय अग्रिम जमानत मंजूर कर सकता है किन्तु इससे उस व्यक्ति को जमानत साधिकार मंजूर कराने का अधिकार नहीं मिल जाता क्योंकि न्यायालय अग्रिम जमानत मंजूर करने या उससे इनकार करने में अपने विवेक का प्रयोग कर सकेगा।

जम्मू-कश्मीर-44

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973

—धारा 146(1)—मजिस्ट्रेट सक्षम न्यायालय द्वारा अधिकार के अवधारण के लिए आदेश तभी पारित कर सकता है जब वह स्वयं मामले का विनिश्चय करने में असमर्थ हो। स्पष्टतः, लिखित कथन फाइल किए जाने और पक्षकारों द्वारा साक्ष्य पेश किए जाने से पूर्व कोई भी मजिस्ट्रेट यह कहने की स्थिति में नहीं हो सकता कि वह स्वयं मामले का विनिश्चय करने में असमर्थ है।

इलाहाबाद-298

—धारा 154—दाण्डिक मामले में स्पष्टीकरण रहित प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के विलम्ब से दर्ज जाने का प्रभाव—यदि किसी मामले में रिपोर्ट दर्ज कराने में काफी विलम्ब किया जाता है और विलम्ब के लिए कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया जाता तो रिपोर्ट की स्वाभाविकता तो समाप्त हो ही जाती है उसमें आभासी कथनों और पश्चात्वर्ती विचारों का समावेश हो जाने

के कारण यह महत्वहीन, दूषित और गढ़ी हुई प्रतीत होती है। परिणामतः ऐसी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के आधार पर किसी व्यक्ति को दोषसिद्ध और दण्डादिष्ट नहीं किया जा सकता।

उड़ीसा-48

—धारा 157—प्रथम इत्तिला रिपोर्ट प्राप्त होने पर अगर यह संदेह करने का कारण हो कि कोई संज्ञेय अपराध किया गया है तो वह उस अपराध की रिपोर्ट उस मजिस्ट्रेट को तत्काल भेजेगा जो ऐसे संज्ञेय अपराध का पुलिस रिपोर्ट पर संज्ञान करने के लिए सशक्त है—अगर ऐसा युक्तियुक्त समय के भीतर नहीं किया जाता है तो इससे अभियोजन पक्ष के कथन में अविश्वास पैदा हो जाता है और बिना किसी सम्पोषणीय साक्ष्य के इस पर विश्वास करना जोखिमपूर्ण हो जाता है।

जम्मू-कश्मीर-55

—धारा 167(2) का परन्तुक सपठित धारा 170—धारा 167 का संबंध अन्वेषण के दौरान अभियुक्त व्यक्ति के निरोध से है, अतः यदि अन्वेषण विहित अवधि के भीतर पूरा हो जाएगा तो जमानत प्रदान किए जाने के संबंध में इस धारा का परन्तुक लागू नहीं होगा—धारा 170 की अपेक्षाओं के अनुसार आरोप पत्र के प्रस्तुत किए जाते ही अन्वेषण समाप्त हो जाएगा बशर्ते कि मजिस्ट्रेट ने और आगे अन्वेषण का निदेश न दिया हो।

राजस्थान-189

—धारा 190(1)(ख)—यदि मजिस्ट्रेट यह विनिश्चय करता है कि कार्यवाही करने के लिए कोई पर्याप्त आधार नहीं है तो वह कार्यवाही को समाप्त कर सकता है या यदि वह यह विनिश्चय करता है कि प्रथम दृष्ट या मामला बनता है, तो वह धारा 190(1)(ख) के अधीन अपराध का संज्ञा न कर सकता है और वह पुलिस द्वारा निकाले गए निष्कर्ष द्वारा किसी भी रीति में स्वयं को आबद्ध किए बिना ऐसा कर सकता है।

इलाहाबाद-271

—धारा 319 और 362—धारा 319 में वर्णित 'किसी व्यक्ति ने, जो अभियुक्त नहीं है' पद के अन्तर्गत ऐसे व्यक्ति भी आते हैं, जिनके विरुद्ध

पुलिस द्वारा अन्वेषण के दौरान कार्यवाही समाप्त कर दी गई है किन्तु जिनके विरुद्ध ऐसा साक्ष्य दण्ड न्यायालय के समक्ष आता है, जिससे उनका अपराध में अन्तर्वलित होना दर्शित होता है। अतः उन्हें न्यायालय में समन किया जा सकता है। अपरंच, विचारण का सामना करने के लिए किसी व्यक्ति को मात्र समन करना किसी मामले का निपटारा करने वाला न तो निर्णय है और न अन्तिम आदेश ही अतः उसे धारा 362 का वर्जन लागू नहीं होता।

इलाहाबाद-289

—धारा 323—उक्त धारा में मामले को सेशन न्यायालय को भेजने के बारे में मजिस्ट्रेट को व्यापक विवेक दिया गया है किन्तु ऐसे विवेक का केवल उसी समय प्रयोग किया जा सकता है जबकि मजिस्ट्रेट का इस बारे में यह समाधान हो जाए कि मामले को सेशन न्यायालय को भेजने के लिए ठोस कारण हैं।

दिल्ली-141

—धारा 340(1)—उक्त धारा 340 न्यायालय से यह अपेक्षा करती है कि वह यह निष्कर्ष अभिलिखित करे कि उसकी यह राय है कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि धारा 195(1)(ख) में निर्दिष्ट अपराध कि जांच की जानी चाहिए। ऐसा निष्कर्ष अभिलिखित करने के पश्चात् ही कोई लिखित शिकायत की जा सकती है।

राजस्थान-167

—धारा 374(3) 381 और 397—द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट द्वारा की गई दोषसिद्धि के विरुद्ध सेशन न्यायालय में अपील फाइल किया जाना —सेशन न्यायालय द्वारा उक्त अपील मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के हवाले कर दिए जाने पर उक्त अपील खारिज किए जाने पर सेशन न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण चलाने योग्य है।

केरल-78

—धारा 428 सपठित पंजाब जेल मैनुअल का पैरा 516 बी— अभियुक्त द्वारा भोगी गई निरोध की अवधि का कारावास के दण्डादेश के

विरुद्ध मुजरा किया जाना—किसी सिद्धदोष व्यक्ति के समयपूर्व छोड़े जाने (प्रि-मैच्योर रिलीज) के मामले पर विचार करने के एक विचारणाधीन कैदी (अण्डर ट्रायल प्रिजनर) के रूप में कारागार में भोगी गई अवधि की मुजराई उस वास्तविक दण्डादेश की अवधि जो आजीवन सिद्धदोष व्यक्ति द्वारा पंजाब जेल मैनुअल और उसके सुसंगत अनुदेशों के अधीन भोगने के लिए अपेक्षित है, के विरुद्ध नहीं की जाएगी ।

पंजाब-हरियाणा-122

—धारा 437 सपठित प्रत्यर्पण अधिनियम, 1962—धारा 25—विदेश में हत्या के अभिकथित अपराध के लिए भारत में गिरफ्तार अभियुक्त को विचारण और प्रत्यर्पण की कार्यवाही के दौरान जमानत की अर्जी—अन्वेषण कार्यवाही अपेक्षित 90 दिन में समाप्त न किया जाना—प्रत्यर्पण सम्बन्धी कार्यवाही और सरकार के विनिश्चय की सन्निकटता को देखते हुए ऐसे प्रक्रम पर पिटीशनर को संहिता की धारा 437 या अधिनियम की धारा 25 के अधीन जमानत पर नहीं छोड़ा जा सकता ।

दिल्ली-134

—धारा 482—पिटीशनर के पति द्वारा विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 के उपबन्ध का अतिक्रमण किया जाना—पिटीशनर के पति को गिरफ्तार करना और उसको कुछ शर्तों पर जमानत मंजूर करते हुए अपने देश जाने के लिए अनुज्ञात किया जाना—पिटीशनर द्वारा अपने पति के भारत वापस लौटने के लिए प्रत्याभूति के रूप में अपने पासपोर्ट का अभ्यर्पण किया जाना—पिटीशनर के पति का भारत वापस न लौटना और पिटीशनर द्वारा अपना पासपोर्ट लौटाने की मांग किया जाना—यदि जमानत का आदेश अवैध हो तो विदेश जाने के लिए अभियुक्त पर अधिरोपित कोई भी शर्त जैसा अपनी पत्नी के पासपोर्ट का अभ्यर्पण आदि स्वयं ही समाप्त हो जाएगी और सरकार को पिटीशनर के पासपोर्ट का रखना विधितः प्रविरत हो जाएगा और उसे पिटीशनर को लौटाया जाएगा ।

दिल्ली-123

न्यायालय अवमान अधिनियम, 1971 (1971 का अधिनियम सं० 70)

—धारा 2(9)(ग) और 12—यदि कोई काउन्सेल अपने मुवक्किल की ओर से किए जाने वाले ऐसे अभ्यावेदन का जिसमें पक्षकार द्वारा सेशन न्यायाधीशों पर अवचार या पूर्वाग्रह का लांछन लगाया गया हो, प्रारूपण सावधानीपूर्वक तैयार नहीं करता या असद्भावपूर्ण रूप से उसकी टीका टिप्पणी करता है या न्यायालय पर लगाए गए लांछनों को उचित जांच किए बिना उन्हें ऐसा मोड़ देता है या गढ़ता है जिससे न्यायालय पर लांछन स्पष्ट हो जाए तो ऐसा अभ्यावेदन उक्त धारा के अधीन घोर न्यायालय अवमान की कोटि में आएगा।

मध्य प्रदेश-151

नगर भूमि (अधिकतम सीमा और विनियमन) अधिनियम, 1976

—धारा 2(थ)(i), (छ) और धारा 4—रिक्त भूमि का अवधारण अधिनियम के आरम्भ की तारीख, अर्थात् 17 फरवरी, 1976 के प्रति निर्देश से किया जाना है। ऐसी रिक्त भूमि का जिसकी बाबत तारीख 17 फरवरी को किसी भवन-रेखांक को मंजूरी दे दी गई है या दी जाने वाली है, कोई भी क्षेत्र रिक्त भूमि की गणना करते समय इस आधार पर अपवर्जित नहीं किया जाएगा कि भवन विनियमों के कारण क्षेत्र के विनिर्दिष्ट भाग पर किसी भवन का निर्माण नहीं किया जा सकता।

मुम्बई-56

निर्वचन का सिद्धान्त

—मामले के किसी पहलू विशेष पर प्रभाव डालने वाले किसी कानून के विभिन्न उपबंधों को एक साथ पढ़ा जाना चाहिए ताकि उनके बीच संभावित किसी विरोध से बचा जा सके और वास्तविक विधायी आशय इस प्रकार से प्राप्त किया जा सके जिससे दोनों उपबंधों में समरस सह-अस्तित्व बना रह सके।

गोहाटी-53

पंजाब पुलिस रूल्स का रूल 16.3 (पंजाब पुलिस नियमावली नियम 16.3)

—उक्त नियम के अधीन किसी कर्मचारी के विरुद्ध उन्हीं अभिकथनों के आधार पर विभागीय कार्यवाही नहीं की जा सकती जो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की विषय-वस्तु रहे हों और जिनके आधार पर सक्षम दाण्डिक न्यायालय ने उसे दोषमुक्त कर दिया हो।

दिल्ली-146

पंजाब सिक्योरिटी आफ लैण्ड टेन्योर्स ऐक्ट, 1953

—धारा 9 सपठित रोहतक जिले में प्रचलित रूढ़ि—दोहलीदार द्वारा भूमि का अन्य संक्रामण—दोहली एक स्थायी भूधृति नहीं है और जैसे ही दोहलीदार अपेक्षित सेवाओं का पालन करने में असफल रहता है वैसे ही दोहली अधिकार निर्वापित हो जाते हैं और संपत्ति मूल स्वत्वधारियों को वापस मिल जाती है—अतः ऐसे दोहलीदार की प्रास्थिति एक इच्छाधीन अभिधारी (टेनेण्ट एट विल) जैसी होगी और उसके द्वारा किए गए भूमि के अन्य संक्रामण अविधिमान्य और शून्य होंगे।

पंजाब-हरियाणा-128

प्रान्तीय दिवाला अधिनियम, 1920

—धारा 53—उक्त धारा 53 में परिसीमा की ऐसी किसी भी अवधि का उपबंध नहीं किया गया है, जिसके भीतर अन्तरण के बातिल किए जाने की प्रार्थना की जा सके। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्तरण को बातिल करने के लिए आवेदन, परिसीमा के किसी नियम का पालन किए बिना, किसी भी समय फाइल किया जा सकता है। यदि विधि के अधीन स्थिति अन्यथा होती, तो उससे अन्तरण शाश्वत अनिश्चितता की स्थिति में हो जाता।

इलाहाबाद-283

भारतीय दण्ड संहिता, 1860

—धारा 304क—दुर्घटना—उतावलेपन और लापरवाही का सबूत—दाण्डिक मामले में स्वयं प्रमाण के सिद्धान्त को लागू किया जाना—जहां पर उतावलेपन और लापरवाही का प्रत्यक्ष साक्ष्य न हो वहां इस सिद्धान्तों को लागू नहीं किया जा सकता—धारा 304क के प्रयोजनार्थ अभियुक्त के उपेक्षा-पूर्ण कार्य और (व्यक्ति की) मृत्यु में सीधा सम्बन्ध होना आवश्यक है—केवल दुर्घटना के होने से उतावलेपन और उपेक्षापूर्ण चालन की आम उपधारणा नहीं की जा सकती ।

मद्रास-35

भूमि अर्जन अधिनियम, 1894

—धारा 25 (1), (2) और (3)—ऐसी दावाकृत रकम का अर्थान्वयन—'न्यायालय द्वारा दावाकर्ता के पक्ष में अधिनिर्णीत रकम इस प्रकार दावाकृत रकम से अधिक नहीं होगी' का अभिप्राय यह है कि दावाकृत रकम प्रत्येक मद के लिए दावाकृत रकम है ।

कर्नाटक-42

मध्य प्रदेश पंचायत अधिनियम, 1981

—धारा 16(2) और (3) सपठित धारा 87 (2)—उक्त धारा 16 (3) के अधीन पद छोड़ने वाले सम्बद्ध सरपंच को सूचना दिए बिना आदेश नहीं किया जा सकता—धारा 16(3) के अधीन विहित प्राधिकारी उपखण्ड अधिकारी है किन्तु धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी कलक्टर है अतः पद छोड़ने वाला सरपंच नवनिर्वाचित सरपंच को विहित प्राधिकारी द्वारा पद का कार्यभार सौंपने का निदेश देने के पश्चात भी यदि इनकार करता है तो धारा 87 (1) के अधीन विहित प्राधिकारी ही उक्त धारा 87 के अधीन पद छोड़ने वाले सरपंच के विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है उपखण्ड अधिकारी नहीं अतः उक्त धारा 87 के अधीन उपखण्ड अधिकारी द्वारा पद छोड़ने वाले सरपंच को 30 दिन के लिए निरुद्ध किए जाने का आदेश बिना अधिकारिता के होने के कारण शून्य है ।

मध्य प्रदेश-164

माध्यस्थम् अधिनियम, 1940

—धारा 29 सपठित धारा 41—'न्यायालय' पद की अर्थव्याप्ति—'न्यायालय' पद के अन्तर्गत अपील न्यायालय भी आता है—चूंकि मध्यस्थ को डिक्री से बाहर पंचाट पर भावी ब्याज मंजूर करने की कोई अधिकारिता नहीं है अतः ब्याज के वसूल किए जाने तक ब्याज अधिनिर्णीत करना अधिकारितारहित और मध्यस्थ की शक्तियों के आधिक्य में माना जाएगा—अतः अपील न्यायालय को विचारण द्वारा अपनी शक्तियों के आधिक्य में की गई गलतियों को शुद्ध करने की शक्ति है।

आन्ध्र प्रदेश-56

—धारा 39—अपीलनीय आदेश—किसी पंचाट में, जिसमें भावी ब्याज प्रदान किया गया है, एक नया खण्ड जोड़ कर वाद की तारीख से लेकर ब्याज वसूल किए जाने की तारीख तक ब्याज के संदाय का निदेश स्पष्टतः धारा 39(1)(iii) के अर्थान्तर्गत पंचाट को उपान्तरित या शुद्ध करने की कोटि में आता है—अतः उन आदेशों के विरुद्ध अपीलें चलने योग्य हैं जिनमें धारा 39(1)(iii) के अधीन पंचाट को उपान्तरित किया गया है या उसे शुद्ध किया गया है या धारा 39(1)(vi) के अधीन पंचाट को अपास्त किया गया है।

आन्ध्र प्रदेश-56

मोटर यान अधिनियम, 1939

—धारा 48—प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण परमिट अनुदत्त करते समय विनिर्दिष्ट वर्णन की मंजिली गाड़ी सेवा के लिए अथवा विशिष्ट मंजिली गाड़ियों के लिए परमिट दे सकता है और यह शर्त लगा सकता है कि उस यान या यानों का उपयोग किसी विनिर्दिष्ट क्षेत्र में ही या विनिर्दिष्ट मार्ग या मार्गों पर ही किया जाएगा—अगर परमिटधारी उस विनिर्दिष्ट गाड़ी को विनिर्दिष्ट मार्ग पर चलाने में किसी कारणवश असमर्थ है तो उसे प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण से अनुमति लेनी होगी—यह उपबंध आज्ञापक है।

राजस्थान-174

यू० पी० डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ऐक्ट (यू० पी० जिला बोर्ड अधिनियम), 1922

—धारा 174(2)(छ)—जिला बोर्ड जहां पर आवश्यक समझे किसी सार्वजनिक सड़क के सम्बन्ध में विनियमन या प्रतिषेध का उपबन्ध कर सकता है—उक्त धारा के अधीन जिला बोर्ड, द्वारा बनाई गई उपविधि यातायात के विनियमन या प्रतिषेध के निमित्त होने के कारण विधिमान्य होगी।

इलाहाबाद-227

यू० पी० औद्योगिक झगड़ों का ऐक्ट, 1947

—धारा 4-ट सहपठित राज्य सरकार द्वारा प्रवृत्त स्थायी आदेशों का स्थायी आदेश 24-ध—राज्य सरकार द्वारा प्रवृत्त स्थायी आदेश पक्षकारों के लिए आबद्धकर होते हैं, अतः श्रम न्यायालय पर, उनके बीच विवाद का न्यायनिर्णयनकर्ता होने के नाते, स्थायी आदेश की अवेक्षा करने और उसे प्रवृत्त करने की बाध्यता अधिरोपित है। स्थायी आदेश से स्वतन्त्र रहते हुए भी, श्रम न्यायालय पर अपना यह समाधान करने की बाध्यता अधिरोपित है कि कर्मकार को दिया गया दण्ड समुचित है। उसे इस निर्णायक प्रश्न पर कोई भी निष्कर्ष निकालने के लिए अपने कारण अवश्य ही अभिलिखित करने चाहिए। अन्यथा वह निष्कर्ष अविधिमान्य हो जाएगा।

इलाहाबाद-277

राजस्थान मोटर यान नियमावली, 1951

—नियम 86—यान का रजिस्ट्रीकरण मार्क परमिट पर लिखना होता है और अगर उस समय परमिटधारी के पास रजिस्ट्रीकृत यान नहीं है तो उसे एक माह के भीतर या उस अवधि के भीतर जो विहित की जाए प्रादेशिक परिवहन को आवेदन देना होगा कि अमुक रजिस्ट्रीकरण मार्क की परमिट में प्रविष्टि कर ली जाए—अगर परमिटधारी विहित अवधि के भीतर ऐसा करने में असफल रहता है तो वह परमिट प्रतिसंहृत हो जाता है और प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण को उस समयावधि को बढ़ाने की अधिकारिता नहीं होती।

राजस्थान-174

राजस्थान अभियोजन सेवा नियम, 1975

—[सपठित राजस्थान राज्य और अधीनस्थ सेवा (आरम्भिक गठन और आपात भर्ती) नियम, 1975—सहायक लोक अभियोजक वर्ग I से वर्ग II में प्रोन्नति के लिए विधि की उपाधि का अनिवार्य होना—इस प्रकार की शैक्षणिक योग्यता को अनिवार्य करना विभेदकारी नहीं है क्योंकि विधि की शिक्षा और इसके अध्ययन का उनके कृत्यों के साथ सीधा सम्बन्ध है और विधि-स्नातक ही लोक अभियोजक के रूप में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं ।

राजस्थान-161

राजस्थान पुलिस सबार्डिनेट सर्विस रूल्स, 1974 (राजस्थान पुलिस अधीनस्थ सेवा नियम, 1974)

—नियम 23, 24, 26 और 29, सपठित संविधान, 1950 का अनुच्छेद 311(2)—विधि का यह सुस्थापित सिद्धांत है कि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई आदेश तब तक पारित नहीं किया जा सकता जब तक उसे सुनवाई का अवसर प्रदान न कर दिया गया हो—सुनवाई का अवसर प्रदान किए बिना आदेश पारित करना "दूसरे पक्ष को भी सुनो" के नियम का अतिक्रमण है ।

राजस्थान-151

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951

—धारा 123(1)(क) और (ख) सपठित धारा 83(1)(क)—पिटीशनर द्वारा प्रत्यर्थी के विरुद्ध भ्रष्ट आचरण का अभिकथन करते हुए निर्वाचन अर्जी का दिया जाना—प्रत्यर्थी द्वारा भ्रष्ट आचरण के अभिकथन से इनकार करते हुए यह अभिवाक किया जाना कि निर्वाचन अर्जी में सारवान तथ्यों और पूर्ण विशिष्टियों के अभाव में वाद-हेतुक गठित नहीं किया जा सकता—यदि किसी निर्वाचन अर्जी में रिश्वत के भ्रष्ट आचरण के अभिकथन के लिए सारवान तथ्यों और पूर्ण विशिष्टियों का अभाव

हो तो किसी मंत्री के विरुद्ध उस समय तक कार्यवाही गठित नहीं की जा सकती जब तक कि यह साबित नहीं किया जाता कि मतदाताओं के साथ उनका मत प्राप्त करने के लिए निर्वाचन में सहायता करने के लिए सौदेबाजी की गई थी।

हिमाचल प्रदेश-52

संविधान, 1950

—अनुच्छेद 14 और 19—सपठित कलकत्ता विश्वविद्यालय अधिनियम, 1966 की धारा 53 और प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा से सम्बन्धित विनियम, विनियम सं० 4 (संशोधन से पूर्व और पश्चात् यथा विद्यमान) उक्त परीक्षा को चार लगातार अवसरों में पास करने की अपेक्षा का निर्बंधन—उक्त निर्बंधन अत्यन्त अयुक्तियुक्त और कठोर नहीं है तथा संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 का अतिक्रमण नहीं करता है।

कलकत्ता-50

सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882

—धारा 54, 58 (क) और 58(ग)—विक्रय-विलेख सशर्त बंधक द्वारा बंधक और पुनः खरीदने की शर्त द्वारा शुद्ध विक्रय-विलेख में अन्तर—इसका पता सर्वप्रथम विलेख की भाषा से ही लगाया जाना चाहिए—यदि भाषा स्पष्ट है तो उसी को प्रभावी किया जाना चाहिए तथा कोई बाह्य जांच आवश्यक नहीं—तथापि यदि भाषा में संदिग्धता है तो फिर तत्सम्बन्धी परिस्थितियों तथा पक्षकारों के आशय और अर्थ पर ध्यान दिया जा सकता है।

इलाहाबाद-?00

साक्ष्य अधिनियम, 1872

—धारा 3—न्यायिकेतर संस्वीकृति के बारे में दिए गए साक्ष्य के स्वभाव का निर्बल होना—मात्र इस कारण कि कुछ साक्षियों ने संस्वीकृति को

प्रमाणित किया है और अपीलार्थी यह दर्शित नहीं कर सका है कि साक्षियों ने उसके विरुद्ध अभिसाक्ष्य क्यों दिया, न्यायिकेतर संस्वीकृति के बारे में उनके द्वारा दिए गए साक्ष्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता और न ही ऐसे साक्ष्य के आधार पर किसी व्यक्ति को दोषसिद्ध और दण्डादिष्ट किया जा सकता है ।

उड़ीसा-43

—धारा 115—वचन विबन्ध का सिद्धांत—राज्य सरकार के किसी मंत्री द्वारा स्वास्थ्य केन्द्र खोले जाने के लिए आश्वासन देना—सरकार द्वारा किसी अन्य स्थान पर स्वास्थ्य केन्द्र का खोला जाना—मंत्री द्वारा दिए गए आश्वासन का साबित न होना—राज्य सरकार ऐसे आश्वासन से आबद्ध नहीं है—जो व्यक्ति सरकार के अभिकर्ता से संव्यवहार करता है उसके बारे में यह अवश्य ही माना जाएगा कि ऐसे व्यक्ति को सरकार के अभिकर्ता के प्राधिकार की परिसीमा की जानकारी थी ।

मध्य प्रदेश-179

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908

—धारा 9 सपठित राज्य सरकार द्वारा जारी की गई सन् 1961 की प्रेस विज्ञप्ति नियम 5—सिविल वादों का विचारण करने की न्यायालय की अधिकारिता—चूंकि राज्य सरकार द्वारा जारी की गई प्रेस विज्ञप्ति में समाविष्ट नियम में सिविल न्यायालयों की अधिकारिता को अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से अपवर्जित नहीं किया गया है, अतः सिविल न्यायालय में को अधिशेष निष्क्रांत कृषि भूमि का नीलाम द्वारा विक्रय सहित अन्तरण के संबंध में उद्‌भूत होने वाले विवादों का विचारण करने की अधिकारिता है ।

पंजाब-हरियाणा-108

—धारा 47 और 54—यदि विभाजन वाद में वादी के पक्ष में डिक्री पारित कर दी जाती है और डिक्री को कार्यान्वित कर दिया जाता है तो प्रतिवादी-अपीलार्थी की यह दलील विधिमान्य नहीं होगी कि प्रश्नगत सम्पत्ति

पर वादी-प्रत्यर्थी का कब्जा नहीं था। अन्य सह-अंशधारी भूस्वामी वाद में आवश्यक पक्षकार नहीं होते हैं।

पटना-156

—धारा 99 तथा आदेश 1, नियम 9 सपठित आदेश 1, नियम 10(2) तथा आदेश 6, नियम 17 सपठित 1976 के संशोधन द्वारा प्रथम वर्णित उपबन्धों में जोड़ा गया परन्तुक—संहिता के धारा 99 तथा आदेश 1, नियम 9 में 1976 के संशोधन द्वारा आवश्यक पक्षकारों को वाद में जोड़ने से सम्बन्धित विधि में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है इसीलिए विधानमंडल ने संहिता के आदेश 1,नियम10(2) और आदेश 6, नियम 17 में किसी प्रकार का पारिणामिक संशोधन करना आवश्यक नहीं समझा है।

गोहाटी-53

—धारा 99 और आदेश 1, नियम 9 में जोड़ा गया परन्तुक सपठित आदेश 1, नियम 10(2) तथा आदेश 6, नियम 17—उक्त परन्तुक का तात्पर्य वादी को वाद फाइल करने के अयोग्य बनाना नहीं है, यदि संहिता के आदेश 1, नियम 10 (2) और आदेश 6, नियम 17 के प्रयोग में न्यायालय द्वारा उसे वाद-पत्र में आवश्यक पक्षकार जोड़ने का अनुतोष दिया जा सकता है।

गोहाटी-53

—धारा 99 और आदेश 1, नियम 9 में जोड़ा गया परन्तुक सपठित आदेश 1, नियम 10(2) तथा आदेश 6, नियम 17—उक्त परन्तुकों का वास्तविक उद्देश्य यह नहीं है कि मात्र इस कारण से कि किसी वाद में आवश्यक पक्षकारों का अभाव है अतः वाद खारिज कर दिया जाना चाहिए—यदि ऐसा विनिश्चय किया जाता है तो उसे संहिता के असंशोधित उपचारक उपबंधों द्वारा नहीं बचाया जा सकता।

गोहाटी-53

—आदेश 9, नियम 8 और आदेश 9, नियम 13, सपठित धारा 151 —विधि का यह सुस्थिर सिद्धांत है कि विभाजन का वाद तब तक

आमतौर पर निःप्रभावी रहेगा जब तक संपत्ति में हित रखने वाले तथा कार्यवाही के लिए सभी ऐसे पक्षकार जिनके समझौते द्वारा प्रतिकूलतः प्रभावित होने की संभावना है उसमें सम्मिलित न हो—समझौता पिटीशन फाइल किए जाने की दशा में न्यायालय का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह बहुत सावधान और सजग होकर मामले की छानबीन करे—ऐसे समझौते के मामले में विभिन्न पहलुओं पर विचार करना होता है जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू यह सुनिश्चित करना है कि मामले में किसी अवयस्क व्यक्ति का हित तो अंतर्ग्रस्त नहीं है ।

उड़ीसा-53

—आदेश 22, नियम 4(4) प्रतिवादी के विधिक वारिसों (प्रतिनिधियों) को अभिलेख पर लाने से छूट का आवेदन उस न्यायालय के समक्ष किया जा सकता है जिसके समक्ष विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने का आवेदन किया जा सकता है—ऐसा आवेदन करने की अन्य शर्तें इस प्रकार हैं : ऐसा प्रतिवादी समन की तामील के पश्चात् न्यायालय के समक्ष उपसंजात होने में असफल रहा हो अथवा उसने उपसंजात होने के पश्चात् लिखित कथन फाइल न किया हो अथवा लिखित कथन फाइल करने के पश्चात् वह सुनवाई के समय न्यायालय में उपसंजात होने और वाद का प्रतिवाद करने में असमर्थ रहा हो ।

कर्नाटक-48

—आदेश 22, नियम 10—जहां विभाजन वाद में प्रारम्भिक डिक्री के पश्चात् प्रतिवादियों में से एक की मृत्यु हो जाती है और वादी द्वारा मृत प्रतिवादी के वारिसों के नाम उचित समय के भीतर अभिलेख में लाने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की जाती है, वहां वाद का मृतक के वारिसों के विरुद्ध उपशमन नहीं होता है । ऐसी स्थिति में समुचित प्रक्रिया यह है कि न्यायालय को कार्यवाहियां आस्थगित कर देनी चाहिए और वादी को मृतक के वारिसों सहित, सभी पक्षकारों को आवंटन के अन्तिम अवधारण के लिए कार्यवाहियां जारी रखने की स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए ।

पटना-150

सिविल सेवा विधि

—प्रोन्नति—निलम्बनाधीन सरकारी सेवक या लम्बित या अनुध्यात अनुशासनिक कार्यवाही के अधीन सरकारी सेवक—ऐसे सरकारी सेवक की प्रोन्नति—जांच पूर्ण होने तक संवंधित अधिकारी की प्रोन्नति विधारित करना अंत:कालीन व्यवस्था है—यदि किसी व्यक्ति की दक्षता या ईमानदारी पर संदेह किया जाता है तो उसे उच्चतर पद पर प्रोन्नत किया जाना लोकहित में नहीं होगा—ऐसे कर्मचारी के विरुद्ध जांच शीघ्रातिशीघ्र पूरी की जानी चाहिए और जांच के परिणाम के अनुसार कार्यवाही की जानी चाहिए।

गोहाटी-45

"230. (1) ऐसे अपवादों के अधीन रहते हुए जैसे केन्द्रीय सरकार राजपत्र में अधिसूचना द्वारा इस निमित्त विनिर्दिष्ट करे, ऐसा कोई व्यक्ति जो भारत में अधिवासी नहीं है या जो अपने प्रस्थान के समय भारत में अधिवासी होने पर भी आय-कर प्राधिकारी की राय में भारत में वापस आने का कोई आशय नहीं रखता है, भारत का राज्यक्षेत्र भूमार्ग, जलमार्ग या वायुमार्ग से तब तक नहीं छोड़ेगा जब तक कि वह ऐसे प्राधिकारी से, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा इस निमित्त नियुक्त किया जाए, (जो इस धारा में इसके पश्चात् 'सक्षम प्राधिकारी' के रूप में निर्दिष्ट है) इस बात का कथन करने वाला एक प्रमाणपत्र पहले अभिप्राप्त नहीं कर लेता है कि उसका इस अधिनियम, अतिलाभ कर अधिनियम, 1940 (1940 का 15), कारबार लाभकर अधिनियम, 1947 (1947 का 21), भारतीय आयकर अधिनियम, 1922 (1922 का 11), धन-कर अधिनियम, 1957 (1957 का 27), व्यय-कर अधिनियम, 1957 (1957 का 29) या दान-कर अधिनियम, 1958 के अधीन कोई दायित्व नहीं है या यह कि ऐसे करों में से, जो उस व्यक्ति द्वारा संदेय है या संदेय हो सकते हैं, सब या किसी के संदाय के लिए समाधानप्रद इन्तजाम कर दिए गए हैं :

परन्तु ऐसे व्यक्ति की दशा में जो भारत में अधिवासी नहीं है, यदि सक्षम प्राधिकारी का यह समाधान हो जाता है कि ऐसा व्यक्ति भारत में वापस आने का आशय रखता है, तो वह या तो एकल यात्रा की बाबत या ऐसी सब यात्राओं की बाबत जो उस कालावधि के भीतर, जैसी प्रमाणपत्र में विनिर्दिष्ट हो, उस व्यक्ति द्वारा की जानी हैं, छूट-प्रमाणपत्र दे सकेगा ।

(2) यदि किसी पोत या विमान का स्वामी या चार्टरकर्ता जो व्यक्तियों को भारत के राज्यक्षेत्र के किसी स्थान से भारत के बाहर किसी स्थान को ले जाता है, किसी ऐसे व्यक्ति को जिसे उपधारा (1) लागू होती है, पहले अपना यह समाधान किए बिना कि उस उपधारा द्वारा यथाअपेक्षित प्रमाणपत्र ऐसे व्यक्ति के कब्जे में है, ऐसे पोत या विमान से यात्रा करने देता है तो वह ऐसे व्यक्ति द्वारा संदेय कर की सम्पूर्ण रकम के, यदि कोई हो, या उसके इतने भाग के संदाय के व्यक्तिगत रूप से दायित्वाधीन होगा, जितना उस मामले की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए आय-कर अधिकारी अवधारित करे ।

(3) उपधारा (2) के अधीन किसी पोत या विमान के स्वामी या चार्टरकर्ता द्वारा संदेय किसी राशि की बाबत यथास्थिति स्वामी या चार्टरकर्ता ऐसी राशि के लिए व्यतिक्रम करने वाला निर्धारिती समझा जाएगा और ऐसी राशि उससे इस अध्याय में उपबंधित रीति से इस प्रकार वसूलीय होगी मानो वह कर की बकाया हो।

(4) बोर्ड ऐसे किसी मामले का विनियमन करने के लिए नियम बना सकेगा जो इस धारा के उपबन्धों को कार्यान्वित करने के प्रयोजन के लिए आवश्यक या उसके आनुषंगिक हों।"

उपधारा (1) के अधीन ऐसा कोई व्यक्ति जो भारत में अधिवासी नहीं है या जो अपने प्रस्थान के समय भारत में अधिवासी होने पर भी आय-कर प्राधिकारी की राय में भारत में वापस आने का कोई आशय नहीं रखता है, तब तक देश नहीं छोड़ेगा जब तक वह इस आशय का एक प्रमाणपत्र प्राप्त नहीं कर लेता कि यहां उल्लिखित किसी भी कर सम्बन्धी अधिनियमितियों के अधीन उसका कोई दायित्व नहीं है या उसने ऐसे करों का जो उससे संदेय है या संदेय हो सकते है, संदाय के लिए समाधानप्रद इन्तजाम कर दिया है। इससे इस बाबत कोई सन्देह नहीं रहता कि यदि आय-कर अधिकारी की राय में किसी व्यक्ति के भारत वापस आने की सम्भावना नहीं है तो वह कर समाशोधन प्रमाणपत्र अभिप्राप्त किए बिना देश नहीं छोड़ सकता। ऐसे व्यक्ति की दशा में जो भारत में अधिवासी नहीं है यदि वह सक्षम प्राधिकारी का समाधान करा देता है तो वह छूट का प्रमाणपत्र अभिप्राप्त कर सकता है। अतः इससे यह प्रतीत होता है कि समाशोधन प्रमाणपत्र या छूट के प्रमाणपत्र के लिए आग्रह आय-कर प्राधिकारी की इस राय पर आधारित है कि उस व्यक्ति के भारत वापस आने की सम्भावना नहीं है। विभाग की ओर से विद्वान् काउन्सेल द्वारा यह दलील दी गई है कि 'की राय में' पद से यह उपदर्शित होता है कि यह उस प्राधिकारी का व्यक्तिपरक समाधान है और वह न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि से बाहर है। यह निस्सन्देह सही है कि धारा 230 (1) में 'आय-कर प्राधिकारी की राय में' शब्दों से प्राधिकारी का व्यक्तिपरक समाधान अभिप्रेत है, किन्तु व्यक्तिपरक समाधान किसी वस्तुनिष्ठ रीति में किया जाना चाहिए अर्थात् ऐसी सामग्री हो जिसके आधार पर युक्तियुक्त रूप से ऐसी राय बनाई जा सके क्योंकि उससे देश से बाहर जाने के अधिकार पर प्रभाव पड़ता है जोकि स्वतन्त्रता के अधिकार का एक अंग है। अतः प्रश्न यह है कि क्या प्रस्तुत मामले में ऐसी कोई सामग्री मौजूद है? पिटीशनर अधिकांशतः भारत से बाहर रहा है। उसकी उपस्थिति उस समय प्राप्त नहीं की जा सकती जब अभियोजन शुरू

किए जाएं। भारत सरकार को प्रत्यर्पण कार्यवाहियां करनी होंगी। कर अधिनियमितियों के अधीन सब कर निर्धारण एकपक्षीय किए गए हैं क्योंकि विदेश में उसके ज्ञात पते पर भेजे गए नोटिस या तो बिना तामील हुए या अस्वीकार कर दिए जाने के कारण वापस आ गए हैं। वह 1977 में भारत छोड़ कर चला गया और पांच वर्ष की अवधि के पश्चात् केवल फरवरी, 1983 में ही वापस लौटा। इन तथ्यों से स्थिति अपने आप स्पष्ट हो जाती है। प्रत्यर्थियों की ओर से फाइल किए गए प्रतिशपथपत्र में यह कहा गया है कि पिटीशनर को लन्दन में जुलाई, 1970 में गिरफ्तार किया गया था और उसे विचारण के लिए भारत में लाया गया था, यह कि आपराधिक न्यासभंग, छल और कूटरचना सहित अनेक आरोपों के आधार पर उसे दोषसिद्ध किया गया था, यह कि 1975 में कारागार से छोड़े जाने के पश्चात् वह पुनः 1977 में भारत छोड़कर चला गया, यह कि सन् 1961-62 के करनिर्धारण एक-पक्षीय किए गए क्योंकि उसकी उपस्थिति प्राप्त नहीं की जा सकी, यह कि 'जयन्ती' के राष्ट्रीयकृत हो जाने के परिणामस्वरूप पिटोशनर को संदेय प्रतिकर की वसूली के लिए प्रयास किए गए और एक लम्बे पत्र-व्यवहार के पश्चात् लगभग तीन करोड़ रुपये की धनराशि वसूल की गई और वह बकाया कर सम्बन्धी मांगों के प्रति समायोजित की गई, यह कि भारतीय संसद् में इस बाबत काफी शोर मचा था कि डा० तेजा को भारत से बाहर जाने के लिए किस प्रकार अनुज्ञात किया गया जबकि उस पर कई करोड़ रुपये के कर बकाया थे, यह कि वह 1977 में भारत छोड़कर चला गया था और यह कि वह केवल फरवरी, 1983 में ही वापस लौटा। ये तथ्य आय-कर प्राधिकारी द्वारा यह राय बनाए जाने का समर्थन करने के लिए पर्याप्त हैं कि पिटीशनर के भारत वापस लौटने की सम्भावना नहीं है। अतः हम पिटीशनर की ओर से दी गई इस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ हैं कि ऐसी कोई सामग्री नहीं है जिसके आधार पर ऐसी राय बनाई जा सके। क्या किसी व्यक्ति का कोई आशय है या नहीं, एक ऐसा विषय है जिसका परिस्थितियों से अनुमान लगाया जाता है। हमारे मतानुसार प्रस्तुत मामले में ऐसा अनुमान पूरी तरह अनुज्ञेय है।

7. श्री पी० रामचन्द्र रेड्डी ने दूसरी दलील यह दी है कि राय कायम किए जाने से पूर्व कोई नोटिस नहीं दिया गया है और 'दूसरे पक्ष को भी सुनो', के सिद्धान्त का अतिक्रमण किया गया है। उन्होंने यह दलील दी है कि विदेश जाने का अधिकार भारत के संविधान के अनुच्छेद 19 में गारन्टीकृत एक मूल अधिकार है। वह अनुच्छेद 21 में समाविष्ट स्वाधीनता के अधिकार का भी एक भाग है और इस अधिकार को छूने वाली कोई भी कार्यवाही केवल पक्षकार को नोटिस दिए जाने के पश्चात् ही की जा सकती है। क्योंकि आक्षेपित

कार्यवाही किए जाने के पूर्व ऐसा कोई नोटिस या सुनवाई का अवसर नहीं दिया गया है इसलिए यह कार्यवाही मनमानी है और वह भारत के संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 21 का अतिक्रमण करती है। **मेनका गांधी बनाम भारत संघ**[1] में अब यह बात सुस्थिर हो गई है कि अनुच्छेद 21 में 'दैहिक स्वाधीनता' पद काफी व्यापक आयाम वाला है और उसके अन्तर्गत विदेश जाने के अधिकार सहित अनेक प्रकार के अधिकार आते हैं। किन्तु अनुच्छेद 21 इस संरक्षण को सीमित करता है। वह विदेश जाने के अधिकार को कार्यपालिक कार्यवाही जिसका किसी विधि द्वारा समर्थन नहीं होता, संरक्षण प्रदान करता है। इस प्रकार किसी व्यक्ति को विदेश जाने के इस अधिकार से तब तक वंचित नहीं किया जा सकता जब तक सक्षम विधानमण्डल द्वारा कोई ऐसी विधि न बनाई गई हो जिसमें उसे इस प्रकार वंचित किए जाने के लिए प्रक्रिया विहित की गई हो और ऐसा निस्सन्देह इस परिसीमा के अधीन रहते हुए, कि प्रक्रिया मनमानी, अनुचित या अयुक्तियुक्त नहीं हो सकती, ऐसी प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया गया हो। भारतीय आय-कर अधिनियम, संसद द्वारा बनाई गई विधि है। यह अधिनियम प्रत्येक व्यक्ति से भारत से बाहर जाने के पूर्व एक कर समाशोधन प्रमाणपत्र या छूट का प्रमाणपत्र लेने की अपेक्षा करता है यदि आय-कर अधिकारी की राय में उसके वापस लौटने की सम्भावना नहीं है। समाशोधन प्रमाणपत्र और छूट का प्रमाणपत्र अभिप्राप्त करने के लिए व्यापक प्रक्रिया विहित की गई है। धारा 231 को किसी भी प्रकार से अनुच्छेद 21 का अतिवर्तन करने वाली नहीं माना जा सकता और वास्तव में इस धारा की शक्तिमत्ता को चुनौती नहीं दी गई है। अत: केवल यह प्रश्न उठता है कि क्या पक्षकार समाशोधन प्रमाणपत्र अभिप्राप्त करने के लिए कहे जाने से पूर्व नोटिस पाने का हकदार है। यह दलील दी गई है कि समाशोधन प्रमाणपत्र के लिए आग्रह केवल इस आधार पर किया गया है कि उस व्यक्ति का भारत लौटने का कोई आशय नहीं है। प्राधिकारियों द्वारा ऐसा निष्कर्ष निकाले जाने के पूर्व नोटिस अवश्य दिया जाना चाहिए क्योंकि अन्यथा अनुच्छेद 19 के अधीन गारन्टीकृत विदेश जाने के उसके अधिकार का अतिलंघन होता है। नोटिस के अभाव से भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का भी अतिक्रमण होता है।

8. प्रथम प्रश्न यह उठता है कि क्या विदेश जाने का अधिकार अनुच्छेद 19 के अधीन गारण्टीकृत एक मूल अधिकार है। विदेश जाने का अधिकार अनुच्छेद 19 के विभिन्न खण्डों में बताए गए अधिकारों में से एक

---

[1] [1979] 1 उम० नि० प० 243=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 597.

नहीं है । **मेनका गांधी के मामले**[1] में न्यायलय की ओर से निर्णय सुनाते हुए न्या० भगवती ने यह मत व्यक्त किया है कि "विदेश जाने के अधिकार को किसी भी परिस्थिति में वाक् या अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य में सम्मिलित नहीं माना जा सकता" (पैरा 77) और इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उक्त मामले में आक्षेपित आदेश से वाक् या अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के किसी भी मूल अधिकार या कोई वृत्ति करने के अधिकार में हस्तक्षेप नहीं होता । किन्तु विचारार्थ वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या अनुच्छेद 21 का किसी भी रूप में अतिलंघन होता है । अनुच्छेद 21 में अनुध्यात प्रक्रिया से निस्सन्देह युक्तियुक्तता की कसौटी की पूर्ति होनी चाहिए । अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि धारा 230 (1) में यह राय बनाए जाने के पूर्व, जिससे आय-कर प्राधिकारी समाशोधन प्रमाणपत्र के लिए आग्रह कर सके, किसी पक्षकार को नोटिस दिए जाने का उपबंध नहीं किया गया है किन्तु हमारा यह मत है कि नोटिस अवश्य दिया जाना चाहिए । अब यह विधि सुस्थिर है कि उन प्रशासनिक कार्यवाहियों में भी जिनमें सिविल परिणाम अन्तर्वलित हों, नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत लागू होता है । अतः 230 (1) को लागू करने के लिए नोटिस आवश्यक है क्योंकि समाशोधन प्रमाणपत्र अभिप्राप्त किए जाने के लिए आग्रह से विदेश जाने के लिए पासपोर्ट धारक पर भले ही दूरस्थ रूप से किन्तु प्रभाव अवश्य पड़ता है । किन्तु विभाग की ओर से विद्वान् काउन्सेल द्वारा यह दलील दी गई है कि यदि पूर्व नोटिस दिया जाता है तो धारा 230 (1) का उद्देश्य ही विफल हो जाएगा क्योंकि सम्बन्धित व्यक्ति धारा का अनुपालन किए बिना ही देश छोड़कर जा सकता है । हमें विभाग के विद्वान् काउन्सेल की इस दलील में पर्याप्त बल दिखाई देता है । यदि पूर्व निदेश दिया जाता है तो इस धारा के अनुपयोगी हो जाने की पूरी-पूरी सम्भावना है । ए० एस० डि स्मिथ कृत 'जुडीशियल रिव्यू आफ एडमिनिस्ट्रेटिव ऐक्शन' द्वितीय संस्करण के पृ० 174 पर यह कहा गया है कि "प्रशासनिक विधि में पूर्व नोटिस और सुनवाई किए जाने के अवसर का प्रथमदृष्ट्या अधिकार वहां पर विवक्षा द्वारा अपवर्जित माना जा सकता है जहां नोटिस दिए जाने और सुनवाई का अवसर दिए जाने की बाध्यता से तुरन्त कार्यवाही करने में विशेष रूप से उपचारी प्रकृति की निवारक कार्यवाही करने में बाधा पड़ती हो ।" उदाहरणार्थ यदि हम धारा 230 की परीक्षा करते हैं तो स्थिति इस प्रकार है । प्राधिकारी को सबसे पहले यह राय बनानी चाहिए कि उस व्यक्ति की भारत लौटने की सम्भावना नहीं है । जब वह यह राय बना ले

[1] [1979] 1 उम० नि० प० 243=ए० आई० आर 1978 एस० सी० 597.

तब उसे किसी जलयान या वायुयान के स्वामी या चार्टरकर्ता को यह सूचित करना होगा कि वह ऐसे व्यक्तियों को उनका यह समाधान किए बिना कि ऐसे व्यक्ति के पास अधिनियम की धारा 230 (1) के अधीन यथाअपेक्षित प्रमाणपत्र है, ऐसे जलयान या वायुयान से यात्रा करने के लिए अनुज्ञात न करें। ऐसी जानकारी दिए जाने पर भी यदि स्वामी या चार्टरकर्ता उस व्यक्ति को वायुयान से यात्रा करने के लिए अनुज्ञात कर देता है तो धारा 230 की उपधारा (3) के अधीन उनके सम्बन्ध में यह समझा जाएगा कि वे व्यतिक्रम के आधार पर निर्धारिती हैं और ऐसे चार्टरकर्ता या स्वामी से वह रकम वसूल की जा सकती है। उपधारा (2) के अधीन नोटिस किसी वायुयान के स्वामी को केवल ऐसे व्यक्तियों की बाबत दिया जा सकता है जिसको उपधारा (1) लागू होती है अर्थात् ऐसे व्यक्ति की बाबत जिसका प्राधिकारी की राय में भारत वापस लौटने का कोई आशय नहीं है। यदि उक्त राय बनाए जाने के पूर्व नोटिस दिए जाने पर जोर दिया ज़ाता है तो उस व्यक्ति के भारत छोड़ने की पूरी-पूरी सम्भावना है क्योंकि उस प्रक्रम पर वायुयान के स्वामी को समाशोधन प्रमाणपत्र के लिए आग्रह किए जाने का कोई अवसर नहीं मिल सकेगा। अतः उपधारा (2) को प्रथमतः वायुयान के स्वामी को नोटिस देकर प्रभावी रूप से कार्यान्वित किया जा सकता है। किन्तु इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि सम्बन्धित व्यक्ति को कोई भी नोटिस दिए जाने की आवश्यकता नहीं है। वायुयान के स्वामी को धारा 230 (2) के अधीन नोटिस दिए जाने के पश्चात् सुनवाई के अवसर से नैसर्गिक न्याय के आदेश की पूर्ति हो जाएगी। भले ही धारा 230 (1) में ऐसा नोटिस दिए जाने का उपबंध न किया गया हो किन्तु विवक्षा द्वारा ऐसा पढ़ा जा सकता है और यदि धारा 230 (2) के अधीन नोटिस के पश्चात् पक्षकार को सुनवाई का अवसर दिया जाता है तो ऐसी कार्यवाही मनमानेपन के दोष से ग्रस्त नहीं होगी। सुनवाई विनिश्चयोत्तर उपचारी सुनवाई भी हो सकती है। धारा 230 (2) के अधीन नोटिस जारी किए जाने के पश्चात् भी सम्बन्धित व्यक्ति को धारा 230 के अधीन इस बात का नोटिस दिया जा सकता है कि उससे समाशोधन प्रमाणपत्र प्रस्तुत करने के लिए क्यों न कहा जाए और यदि प्राधिकारी का समाधान हो जाता है तो वह धारा 230 (2) के अधीन जारी किए गए नोटिस को प्रतिसंहृत कर सकता है। प्रस्तुत मामले में विभाग के काउन्सेल ने यह आश्वासन दिया है कि आयकर अधिकारी ऐसे किसी भी अभ्यावेदन पर विचार करेंगे जो आयकर समाशोधन प्रमाणपत्र प्रस्तुत किए जाने सम्बन्धी अपेक्षा के बारे में पिटीशनर द्वारा किया जाए। पिटीशनर का यह पक्षकथन है कि फरवरी, 1983 में उसके भारत वापस लौटने के पश्चात् उसने 16 अप्रैल, 1983 को भारत के प्रधान मंत्री को एक पत्र लिखा था कि वह भारत

में सामान्य नागरिक का जीवन व्यतीत करना चाहता है और यह कि उसका देश छोड़ने का और अन्यत्र बसने का कोई आशय नहीं है और साथ ही उसने कर सम्बन्धी दावों को रद्द करने के लिए केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर-बोर्ड के अध्यक्ष को भी एक पत्र लिखा था। किन्तु दुर्भाग्यवश पिटीशनर ने आय-कर अधिनियम के अधीन गठित प्राधिकारी के समक्ष कर सम्बन्धी दावों के बारे में भारत में अपने रुकने के बारे में उपस्थित होना या कोई अभ्यावेदन करना नहीं चाहा। अब भी पिटीशनर को सम्बन्धित आय-कर अधिकारी के समक्ष अभ्यावेदन फाइल करने की स्वतंत्रता है और यदि ऐसा अभ्यावेदन फाइल किया जाता है तो उस पर कर प्राधिकारी द्वारा अभ्यावेदन प्राप्त होने की तारीख से चार सप्ताह के भीतर विचार किया जाएगा।

9. श्री पी० रामचन्द्र रेड्डी ने दूसरी दलील यह दी है कि ऐसे व्यक्ति की दशा में जिसके पास कोई भी आस्तियां नहीं हैं, समाशोधन प्रमाणपत्र अभिप्राप्त करने के लिए आग्रह एक अनुचित निर्बन्धन है। इस प्रश्न का उत्तर तथ्यों पर निर्भर करता है। पिटीशनर को प्रत्यर्थियों द्वारा अपने समक्ष यह बताने के लिए उपस्थित होने के लिए कई नोटिस दिए गए थे कि क्या उसके पास भारत में या भारत से बाहर कोई आस्तिया हैं। ऐसा एक नोटिस 19 अप्रैल, 1983 को दिया गया था जिसमें पिटीशनर से 16 मई, 1983 को उपस्थित होने के लिए और भारत में और भारत से बाहर दोनों ही जगह अपनी जंगम और स्थावर आस्तियों का ब्यौरा देने के लिए कहा गया था। किन्तु पिटीशनर उस दिन उपस्थित नहीं हुआ बल्कि उसने स्थगन के लिए निवेदन किया। स्थगन मंजूर कर लिया गया और उससे 16-6-1983 को उपस्थित होने के लिए कहा गया। स्थगित तारीख को भी पिटीशनर उपस्थित नहीं हुआ और इस बीच उसने प्रस्तुत रिट पिटीशन फाइल कर दिया। प्रस्तुत मामले में आयकर समाशोधन प्रमाण-पत्र से इनकार नहीं किया गया है। पिटीशनर को अपनी आस्तियों के बारे में प्राधिकारियों का समाधान कराने के लिए कोई भी अवसर नहीं दिया गया। उक्त प्रक्रम उदभूत नहीं हुआ और पिटीशनर ने जांच में कोई सहयोग नहीं दिया। अतः ऐसे व्यक्ति की दशा में, जिसके पास कोई भी आस्तियां नहीं हैं, समाशोधन प्रमाणपत्र अभिप्राप्त करने पर आग्रह के प्रश्न का इस समय समर्थन नहीं किया जा सकता क्योंकि पिटीशनर की आस्तियों के बारे में समुचित प्राधिकारी के समक्ष जांच लम्बित है।

10. इस ओर भी संकेत किया गया है कि रकम में भी अन्तर है। यह कि परिमाण के मामले में कोई भी संगति नहीं है। यह मामला आक्षेपित नोटिस की विधिमान्यता से सम्बन्धित नहीं है। इस प्रश्न को सुनवाई के समय तय किया जा सकता है। पिटीशनर का यह पक्षकथन नहीं है कि कोई भी रकम देय

नहीं है।

11. अन्त में पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल द्वारा यह दलील दी गई है कि सन् 1977 में पासपोर्ट अधिकारी द्वारा इस आशय के जारी किए गए पत्र से कि डा० तेजा को नया पासपोर्ट दिया जाता है और पासपोर्ट को परिबद्ध करने वाले पूर्वतर परिपत्रों को रद्द किया जाता है, यह विवक्षित होता है कि पिटीशनर को सभी दायित्वों से मुक्त कर दिया गया है और विदेश जाने के उसके अधिकार पर कोई भी निर्बन्धन अधिरोपित नहीं किया जा सकता। हमें इस दलील में कोई बल दिखाई नहीं देता। पासपोर्ट अधिकारी द्वारा भेजे गए पत्र में (चाहे वह किसी से भी सम्बन्धित हो) केवल यह कहा गया है कि डा० तेजा को नया पासपोर्ट दिया जाता है और वह उक्त पासपोर्ट के आधार पर यात्रा कर सकता है। इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि उसे सभी कर दायित्वों से मुक्ति प्रदान कर दी गई है। पासपोर्ट उसको लागू होने वाली विभिन्न अधिनियमितियों के अधीन अपनी सभी बाध्यताओं को पूरे किए जाने के अधीन हैं। यह केवल पासपोर्ट को परिबद्ध करते हुए अधिरोपित की गई पूर्वतर निर्योग्यताओं को ही दूर करता है तथा इससे अधिक और कुछ नहीं करता।

12. उपर्युक्त सभी कारणों के आधार पर हम रिट पिटीशन खारिज करते हैं किन्तु खर्चों के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता। अधिवक्ता की फीस 500 रु० है।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

प्र०/मि०

नि० प० 1984 : आन्ध्र प्रदेश—56

आन्ध्र प्रदेश सरकार बनाम गैमन इण्डिया लिमिटेड, मुम्बई और एक अन्य

(The Government of Andhra Pradesh *Vs*. The Gammon India Ltd., Bombay and another)

तारीख 19 सितम्बर, 1983

[न्या० के० पुन्नय्या और पी० कोदण्डरामय्या]

माध्यस्थम् अधिनियम, 1940—धारा 39-अपीलनीय आदेश—किसी पंचाट में, जिसमें भावी ब्याज प्रदान किया गया है, एक नया खण्ड जोड़कर वाद की तारीख से लेकर ब्याज के वसूल किए जाने की तारीख तक ब्याज के संदाय का निदेश स्पष्टतः धारा 39 (1) (iii) के अर्थान्तर्गत पंचाट को

उपान्तरित या शुद्ध करने की कोटि में आता है—अतः उन आदेशों के विरुद्ध अपीलें चलने योग्य हैं जिनमें धारा 39 (1) (iii) के अधीन पंचाट को उपान्तरित किया गया है या उसे शुद्ध किया गया है या धारा39 (1)(VI) के अधीन पंचाट को अपास्त किया गया है ।

2. माध्यस्थम् अधिनियम, 1940—धारा 29 सपठित धारा 41—'न्यायालय' पद की अर्थव्याप्ति—'न्यायालय' पद के अन्तर्गत अपील न्यायालय भी आता है—चूंकि मध्यस्थ को डिक्री के बाहर पंचाट पर भावी ब्याज मंजूर करने की कोई अधिकारिता नहीं है, अतः ब्याज के वसूल किए जाने तक ब्याज अधिनिर्णीत करना अधिकारितारहित और मध्यस्थ की शक्तियों के आधिक्य में माना जाएगा—अतः अपील न्यायालय को विचारण न्यायालय द्वारा अपनी शक्तियों के आधिक्य में की गई गलतियों को शुद्ध (ठीक) करने की शक्ति है।

प्रस्तुत तीनों अपीलें माध्यस्थम् के अधीन की गई कार्यवाही से उद्‌भूत हुई हैं जिनमें अपीलार्थी-प्रतिवादी आंध्र प्रदेश सरकार है । प्रत्यर्थी वादी ने श्री सैलम परियोजना में संकर्म संविदा के निष्पादन के लिए एक करार किया था । ठेकेदारों को शोध्य दावों के बारे में विवाद उद्‌भूत होने पर मामले को एकमात्र मध्यस्थ को निर्दिष्ट कर दिया गया । मध्यस्थ ने एक पंचाट पारित किया जिसमें वादी को 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष का ब्याज दिलवाया गया। तत्पश्चात् प्रत्यर्थी वादी ने पंचाट को न्यायलय में फाइल करने के लिए माध्यस्थम् अधिनियम की धारा 14 (2) के अधीन आवेदन किया किन्तु मध्यस्थ ने वादी-प्रत्यर्थी के आवेदन के पूर्व ही पंचाट को न्यायालय में फाइल कर दिया। अपीलार्थी प्रतिवादी ने पंचाट को अपास्त करने के लिए अधिनियम की धारा 33 के अधीन एक आवेदन फाइल किया किन्तु निचले न्यायालय ने पंचाट मंजूर कर लिया और तदनुसार एक डिक्री पारित कर दी और ब्याज सम्बन्धी खण्ड में उपान्तर करते हुए वाद की तारीख से धनराशि वसूल होने तक 6 प्रतिशत की दर से ब्याज अधिनिर्णीत कर दिया। अतः निचले न्यायलय के निर्णय से व्यथित होकर अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत अपील फाइल की है।

अपीलार्थी की ओर से संक्षेप में यह दलील दी गई है कि पंचाट असंगत और परस्पर विरोधी है और उसे अपास्त किया जाना चाहिए, यह कि मध्यस्थ को भावी ब्याज देने की कोई शक्ति नहीं है और चाहे कोई भी दृष्टिकोण अपनाया जाए न्यायालय ने पंचाट में उक्त निदेश को अपास्त करते हुए वाद की तारीख से ब्याज दिए जाने में गलती की है जो पूरी तरह अधिकारितारहित है और अधिनियम की धारा 39 के विरुद्ध होने के कारण शून्य है। इसके विपरीत प्रत्यर्थी वादी की ओर से यह दलील दी गयी है कि डिक्री के विरुद्ध कोई अपील

नहीं होती और चूंकि पंचाट को अपास्त किए जाने के लिए कोई आवेदन नहीं किया गया है, परिणामत: ये अपीलें अधिनियम की धारा 39 के अधीन अक्षम हैं और मध्यस्थ द्वारा भावी ब्याज दिया जाना सही है और निचले न्यायालय द्वारा उसकी पुष्टि भी कर दी गयी है इसलिए उच्च न्यायालय को डिक्री में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और उच्च न्यायालय विचारण न्यायालय की डिक्री को, जहां तक वह अधिनियम की धारा 29 का अतिक्रमण करती है, ठीक कर सकता है।

अभिनिर्धारित—अपीलें भागत: मंजूर की गईं।

मध्यस्थ एक युक्तियुक्त पंचाट देने के लिए आबद्ध नहीं है और यदि पंचाट दिए जाते समय वह विधि या तथ्य की कोई गलती कर देता है तो वह पंचाट की विधिमान्यता को चुनौती देने के लिए कोई आधार नहीं है। क्या दावे की भागत: नामंजूरी और भागत: मंजूरी विधिमान्य है या नहीं, इस बात की उच्च न्यायालय द्वारा परीक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि मध्यस्थ ने इसके लिए कोई भी कारण नहीं दिया है। उच्च न्यायालय केवल इस सीमित प्रश्न की ही परीक्षा कर सकता है कि क्या अभिलेख को देखने से ही पंचाट असंगत और परस्पर विरोधी प्रतीत होता है और केवल इस आधार पर ही पंचाट खारिज किए जाने योग्य है। मध्यस्थ ने अतिरिक्त ब्याज के दावे को नामंजूर करते हुए इस अपवाद का वर्णन इस प्रकार किया है कि "किन्तु अग्रिम धन की किस्त की प्राप्ति की तारीख से 12 मास की अवधि के बाद का ब्याज अधित्यक्त किया जाता है।" यह खण्ड स्पष्ट रूप से एक अपवाद के रूप में प्रवर्तित होता है क्योंकि यह 'किन्तु' शब्द से प्रारम्भ होता है जिसका अर्थ है सिवाय। अत: यह स्पष्ट है कि संविदा अवधि की सीमा को छोड़कर अतिरिक्त ब्याज का दावा मंजूर कर लिया गया है। मध्यस्थ ने दावे की स्वीकृति को नकारात्मक रूप में समाविष्ट किया है और दावे को नामंजूर करते समय अपवाद का खण्ड सम्मिलित किया है। किन्तु यह अपने आप में अभिलेख को देखने से ही प्रकट होने वाली विधि की भूल नहीं हो सकती और इन दोनों खण्डों में ऐसी कोई भी विषमता या असंगति या विरोधाभास नहीं है जिसके कारण पंचाट का वह भाग दूषित होता हो। (पैरा 5 और 6)

माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 की धारा 29 एक ऐसा विनिर्दिष्ट उपबंध है जो न्यायालय को डिक्री की तारीख से ब्याज मंजूर करने के लिए सशक्त करता है। यदि एक बार आवेदन फाइल कर दिया गया है और उसे गुणागुण के आधार पर ग्रहण कर लिया गया है और न्यायालय मामले को

न्यायनिर्णीतकर देता है तो ऐसा न्यायनिर्णयन स्पष्ट रूप से धारा 39 (1) (vi) के अन्तर्गत आता है। ऐसे आदेश के विरुद्ध, जो पंचाट को अपास्त करने के लिए आक्षेपों को उलटता हो, अपील की जा सकती है। भावी ब्याज प्रदान करने वाले पंचाट को उसमें एक नया खण्ड प्रतिस्थापित करते हुए उपान्तर किया गया है जिसके द्वारा वाद की तारीख से लेकर उसके वसूल किए जाने की तारीख तक संदेय ब्याज का निदेश दिया गया है। यह स्पष्टतः धारा 39 (1) (iii) के अर्थान्तर्गत पंचाट को उपान्तरित या शुद्ध करना है और इस कारण ऐसे आदेश के विरुद्ध अपील होगी। अतः उन आदेशों के विरुद्ध अपीलें चलने योग्य हैं जिनके द्वारा धारा 39 (1) (iii) के अधीन पंचाट को उपान्तरित किया गया है या उसमें शुद्धि की गयी है या धारा 39 (1) (vi) के अधीन पंचाट को अपास्त किया गया है या अपास्त करने से इनकार किया गया है और अपीलार्थी इन आदेशों की शुद्धता पर बहस करने के लिए हकदार है। (पैरा 9, 13, 14 और 15)

माध्यस्थम अधिनियम की धारा 17 न्यायालय को पंचाट के सम्बन्ध में किए गए आक्षेपों की सुनवाई करने के पश्चात् पंचाट के अनुसार निर्णय सुनाने के लिए व्यादेश देती है और इस प्रकार निर्णय सुनाए जाने के पश्चात् डिक्री की जाएगी। अधिनियम की स्कीम पंचाट को यथासम्भव प्रवर्तित करना है। सिविल न्यायालय कोई स्वतंत्र न्यायनिर्णयन करने के लिए सक्षम नहीं है। वह पंचाट को सम्पूर्णतः अपास्त कर सकता है या उसे भागतः उपान्तरित कर सकता है किन्तु फिर भी उसे न्यायालय द्वारा पुष्टिकृत पंचाट के अन्तिम निबंधनों के अनुसार डिक्री पारित करनी होगी। अतः यह स्पष्ट है कि जब पंचाट की पूर्णतः या भागतः पुष्टि करने वाला आदेश अपील की विषयवस्तु हो तब अपील न्यायालय उन्हीं शक्तियों का प्रयोग कर सकता है जिनका विचारण न्यायालय द्वारा प्रयोग किया जा सकता है। तथ्यतः हालांकि पंचाट की पुष्टि करते हुए न्यायालय के आदेश के फलस्वरूप डिक्री पारित की जाती है किन्तु जब तक उस आदेश के विरुद्ध अपील लम्बित है जिसके द्वारा पंचाट की पुष्टि की गयीं है, तब तक डिक्रो अन्तिम नहीं होगी और वह ऐसे उपान्तरणों के अधीन होगी जो अपील न्यायालय द्वारा किए जाएं। निस्सन्देह ऐसे उपान्तरण अपील न्यायालय में आगे अपील किए जाने पर पंचाट में किए जाएंगे किन्तु यदि एक बार अपील न्यायालय किसी पंचाट में उपान्तरण कर देता है या उसकी पुष्टि कर देता है तो अपील न्यायालय के अन्तिम निर्णय के अनुसार नयी डिक्री की जाएगी। (पैरा 17)

जहां तक माध्यस्थम अधिनियम की धारा 29 के अधीन शक्ति का

सम्बन्ध है यह माध्यस्थम् अधिनियम के अधीन सिविल न्यायालय को दी गयी न्यायनिर्णयन की एक स्वतंत्र शक्ति है। उसे डिक्री की तारीख से ब्याज अधिनिर्णीत करने की एक सीमित अधिकारिता प्राप्त है। माध्यस्थम् अधिनियम की धारा 29 में 'न्यायालय' पद के अन्तर्गत अपील न्यायालय भी आता है और परिणामतः अपील न्यायालय को उक्त धारा में अनुध्यात किए गए अनुसार आवश्यक आदेश पारित करने की शक्ति है। अपील न्यायालय को ऐसे आदेश के विरुद्ध जिसके द्वारा पंचाट को अपास्त करने से इनकार किया गया है; धारा 39 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए विचारण न्यायालय द्वारा अपनी शक्तियों के आधिक्य में की गई गलतियों को शुद्ध (ठीक) करने की शक्ति है और वह धारा 29 के अधीन विचारण न्यायालय को दी गयी शक्तियों का भी प्रयोग कर सकता है। (पैरा 18 और 19)

पहली गलती मध्यस्थ द्वारा पंचाट पारित करने में की गयी और दूसरी गलती विचारण न्यायालय द्वारा की गयी है। मध्यस्थ को डिक्री के बाहर भावी ब्याज मंजूर करने की कोई भी अधिकारिता नहीं है। पंचाट में स्पष्ट रूप से ब्याज के वसूल किए जाने तक ब्याज का संदाय अनुध्यात किया गया है। ऐसे पंचाट को अधिकारितारहित और मध्यस्थ की शक्तियों के आधिक्य में माना जाएगा और उसका इस प्रकार अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि वह डिक्री की तारीख तक ब्याज मंजूर करने वाला आदेश है। अतः विचारण न्यायालय द्वारा पंचाट की सम्पूर्णतः पुष्टि की जाना गलत है। जहां तक धारा 29 के अधीन प्रयोग की जाने वाली विचारण न्यायालय की शक्तियों का संबंध है न्यायालय ने पंचाट को स्वीकार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि विचारण न्यायालय ने वाद की तारीख से लेकर उसके वसूल किए जाने की तारीख तक ब्याज के संदाय का निदेश देते हुए एक नया खण्ड प्रतिस्थापित करके अधिकारिता से बाहर कार्य किया है। उसे डिक्री के पूर्व के लिए ब्याज प्रदान करने की कोई अधिकारिता नहीं है। जबकि उसने पंचाट की पुष्टि करके और पारिणामिक तथा आनुषंगिक आदेश पारित करके गलती की है किन्तु यह स्पष्ट है कि न्यायालय अपील न्यायालय के रूप में शक्तियों का प्रयोग करते हुए उस गलती को ठीक कर सकता है। (पैरा 20 और 21)

		पैरा
[1981]	ए० आई० आर० 1981 दिल्ली 301 : कालीचरण **बनाम** दिल्ली नगरपालिका (Kali Charan *Vs.* Delhi Municipality)	8, 10

[1974]	ए॰ आई॰ आर॰ 1974 आन्ध्र प्रदेश 113 : ए॰ एम॰ हबीबुर्रहमान **बनाम** ए॰ वरम्मा (A. M. Habeebur Rahman *Vs*. A. Varamma);	13
[1972]	ए॰ आई॰ आर॰ 1972 मध्य प्रदेश 47 : मध्य प्रदेश इलैक्ट्रिसिटी बोर्ड **बनाम** सी॰ आई॰ ई॰ एस॰ कं॰ (M. P. E. Board *Vs*. C. I. E. S. Co.);	10
[1967]	ए॰ आई॰ आर॰ 1967 मुम्बई 347 : श्रीकान्तिया एण्ड कं॰ **बनाम** भारत संघ (Srikantia & Co. *Vs*. Union of India);	9, 14
[1967]	ए॰ आई॰ आर॰ 1967 एस॰ सी॰ 1233 : मदन लाल **बनाम** सुन्दर लाल (Madan Lal *Vs*. Sunder Lal);	13
[1966]	ए॰ आई॰ आर॰ 1966 कलकत्ता 478 : लालचन्द **बनाम** नीरद कान्त (Lal Chand *Vs*. Neroed Kanta);	20
[1960]	ए॰ आई॰ आर॰ 1960 पंजाब 623 : पंजाब राज्य **बनाम** सुरेन्द्र नाथ (State of Punjab *Vs*. Surinder Nath);	18
[1959]	ए॰ आई॰ आर॰ 1959 केरल 174 : वल्सन **बनाम** केलुकुट्टी (Vulson *Vs*. Kelukutty);	8, 10
[1958]	ए॰ आई॰ आर॰ 1958 इलाहाबाद 720 : आमोद कुमार **बनाम** हरि प्रसाद (Amod Kumar *Vs*. Hari Prasad)	17

से **सहमति** प्रकट की गई।

[1979]	ए॰ आई॰ आर॰ 1979 पंजाब 179 : राज्य **बनाम** अजीत सिंह (State *Vs*. Ajit Singh);	8
[1972]	ए॰ आई॰ आर॰ 1972 राजस्थान 207 : मानक चन्द **बनाम** गणेश दास (Manak Chand *Vs*. Ganesh Das);	8

से **असहमति** प्रकट की गई।

[1982] [1982] 3 उम० नि० प० 137=ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 2075 : मैं० गुरुनानक फाउन्डेशन **बनाम** मै० रतनसिंह एण्ड सन्स (M/s. Guru Nanak Foundation *Vs*. M/s. Rattan Singh and sons); — 1, 3

[1975] [1975] 2 उम० नि० पं० 323=ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 230 : एन० चेल्लप्पन **बनाम** केरल राज्य विद्युत् बोर्ड (N. Chellappan *Vs*. Kerala S. E. Board); — 4

[1972] ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 1507 : मध्य प्रदेश राज्य **बनाम** एस० एण्ड एस० लि० (State of Madhya Pradesh *Vs*. S. & S. Ltd.); — 8

[1971] ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 696 : ऐलन बेरी एण्ड कं० **बनाम** भारत संघ (Allen Berry & Co. *Vs*. Uuion of India); — 5

[1968] 1968 (1) आन्ध्र वीकली रिपोर्ट 308 : पी० वी० रंगाराव **बनाम** पी० विश्वनाथम् (P. V. Rangarao *Vs*. P. Viswanadham); — 10

[1967] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1030 : फर्म मदन लाल रोशन लाल **बनाम** हुकुम चन्द मिल्स (Firm Madan Lal Roshanlal *Vs*. Hukum Chand Mills); — 5, 8

[1967] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 378 : बंगो स्टील फर्नीचर **बनाम** भारत संघ (Bungo Steel Furniture *Vs*. Union of India); — 5

[1963] ए० आई० आर० 1963 कलकत्ता 70 : भारत संघ **बनाम** बंगो स्टील फर्नीचर (प्रा०) लि० [Union of India *Vs*. Bungo Steel Furniture (Pa.) Ltd.]; — 20

[1967] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1032 : भारत संघ **बनाम** बंगो स्टील फर्नीचर (Union of India *Vs*. Bungo Steel Furniture); — 8

[1955] ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 468 : थावर दास फेरूमल और एक अन्य **बनाम** भारत संघ (Thawardas Pherumal aud another *Vs.* Union of India) निर्दिष्ट किए गए । 8

सिविल अपीली अधिकारिता : आदेश के विरुद्ध 1982 की अपील सं० 989 से 991.

1981 के मूल वाद सं० 749, 859, 750, 857, 747 और 858 में निर्णय और डिक्री के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से ... महाधिवक्ता

प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से ... श्री वाई० शिवराम शास्त्री

न्यायालय का निर्णय न्या० पी० कोदण्डरामय्या ने दिया ।

न्या० कोदण्डरामय्या :

इन तीनों सिविल प्रकीर्ण अपीलों में अपीलार्थी आन्ध्र प्रदेश राज्य है जिसका प्रतिनिधित्व अधीक्षण इंजीनियर (सिविल) श्रीसैलम परियोजना करनूल द्वारा किया गया हैं। ये अपीलें 1940 के माध्यस्थम् अधिनियम सं० 10 के अधीन कार्यवाहियों से उद्‌भूत हुई है । इन तीनों ही अपीलों में पक्षकार एक समान हैं और इन अपीलों में विद्वान् महाधिवक्ता द्वारा एक जैसी ही दलीलें दी गई हैं इसलिए यदि हम एक मामले के तथ्यों का वर्णन करते हैं तो इतना ही पर्याप्त होगा। हमने 18-8-1983 को निर्णय बाद में दिए जाने के लिए छोड़ दिया था। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल के अनुरोध पर हमने इस मामले की 31-8-83 को पुनः सुनवाई की । अतः हम अन्तिम सुनवाई के अनुसार इस मामले का वर्णन कर रहे हैं ।

2. 1982 की सिविल **प्रकीर्ण अपील** सं० 989 अपर न्यायाधीश, सिटी सिविल कोर्ट, हैदराबाद के न्यायालय में चल रहे 1981 के मूल वाद सं० 749 तथा उसी न्यायालय में चल रहे 1981 के मूल वाद सं० 859 से उद्‌भूत हुई है । इन अपीलों में प्रथम प्रत्यर्थी ने श्रीसैलम परियोजना में संकर्म संविदा के निष्पादन के लिए एक करार किया था । ठेकेदारों को शोध्य दावों के बारे में विवाद उद्‌भूत हुए और मामले को एकमात्र मध्यस्थ श्री के० श्रीनिवास राव, सेवानिवृत्त मुख्य इंजीनियर को निर्दिष्ट कर दिया, जो यहां द्वितीय प्रत्यर्थी है। मध्यस्थ ने 28 जून, 1981 को एक पंचाट पारित किया जिसमें प्रत्येक दावे

की रकम विनिर्दिष्ट की गई और पंचाट की तारीख से 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष का ब्याज दिया गया। प्रथम प्रत्यर्थी ने अधिनियम की धारा 14 (2) के अधीन आवेदन मध्यस्थ को यह निर्देश दिए जाने के लिए फाइल किया कि वह पंचाट को न्यायालय का आदेश बनाए जाने के लिए न्यायालय में फाइल करे। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यस्थ पर उक्त नोटिस की तामील होने के पूर्व ही स्वयं मध्यस्थ ने अधिनियम की धारा 14 (1) के अधीन पंचाट को न्यायालय में फाइल कर दिया था और मध्यस्थ का उक्त आवेदन 1981 का मूल वाद सं० 859 के रूप में दर्ज किया गया और प्रथम प्रत्यर्थी का आवेदन 1981 का मूल वाद सं० 749 के रूप में दर्ज किया गया। यहां अपीलार्थी राज्य ने पंचाट को अपास्त किए जाने के लिए अधिनियम की धारा 33 के अधीन 1981 के मूल वाद सं० 859 में एक पृथक् आवेदन फाइल किया किन्तु उक्त आवेदन को पृथक् रूप से दर्ज नहीं किया गया बल्कि निचले न्यायालय ने इन दोनों ही वादों का एक साथ विचारण किया और पक्षकारों की सुनवाई करने के पश्चात् पंचाट मंजूर कर लिया और 3,53,590.45 रु० की धनराशि की डिक्री पारित की किन्तु ब्याज सम्बन्धी खण्ड को वाद की तारीख से अर्थात् 7-7-1981 से उसके वसूल किए जाने की तारीख तक 6% प्रतिवर्ष के ब्याज तक उपान्तरित कर दिया। इसी प्रकार अन्य संकर्मों के दावों की बाबत भी दो अन्य अपीलें फाइल की गई थीं। 1981 के मूल वाद सं० 750 और 1981 के मूल वाद सं० 857 के विरुद्ध 1982 की सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 990 फाइल की गई और 1981 के मूल वाद सं० 747 और 858 के विरुद्ध 1982 की सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 991 फाइल की गई। न्यायालय ने इसी प्रकार इन दोनों मामलों में भी केवल ब्याज की बाबत ही पंचाट को उपान्तरित कर दिया और इसलिए इन अपीलों के अन्य ब्यौरों का दिया जाना अनावश्यक है।

3. इस साधारण आक्षेप के अलावा कि पंचाट अभिलेख को देखने से ही प्रकट होने वाली गलतियों से दूषित है, विद्वान् महाधिवक्ता ने मुख्यतः दो दलीलें दी हैं। (1) पंचाट असंगत और परस्पर विरोधी है और उसे अपास्त किया जाना चाहिए क्योंकि मध्यस्थ ने अतिरिक्त ब्याज के लिए दावे को नामंजूर कर दिए जाने के पश्चात् यह निदेश दिया कि 1982 की सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 989 में अग्रिम धन की किस्त की प्राप्ति की तारीख से 12 मास की अवधि के बाद का ब्याज अधित्यक्त किया जाता है। इसी प्रकार खण्ड (ग) 1982 की सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 990 में अतिरिक्त ब्याज दायित्व से और 1982 की सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 991 में दावा सं० 1 (5) से सम्बन्धित है। (2) मध्यस्थ को भावी ब्याज देने की कोई शक्ति नहीं

किया है जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जब कोई मकान मालिक किसी किराएदार को मूल पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् अतिधारण की इजाजत देकर नई किराएदारी सृजित करता है तो नई किराएदारी से संबंधित निबन्धनों के अभाव में मूल पट्टे को लागू होने वाले निबंधनों के बारे में यह समझा जाएगा कि उन्हें पक्षकारों ने स्वीकार कर लिया है और यदि मूल पट्टे में खाली करने की सूचना जैसी बात को समाप्त कर दिया गया था तो वही बात नई किराएदारी को लागू होगी।

8. अब देखने वाली बात यह है कि क्या जहूर अहमद अब्दुल सत्तार वाले उपर्युक्त मामले में इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने इस न्यायालय के पूर्वोल्लिखित विनिश्चयों में अभिव्यक्त मत के प्रतिकूल मत व्यक्त किया है।

9. जहूर अहमद अब्दुल सत्तार वाले उपर्युक्त मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "12. इस मामले में पट्टेदार, प्रतिवादी, 15 जुलाई, 1950 को पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् भी पट्टे पर दी गई सम्पत्ति पर काबिज रहा। पट्टाकर्ता, उत्तर प्रदेश सरकार ने उसके द्वारा दिए गए किराए को स्वीकार नहीं किया किन्तु पूर्वकथित के आचरण से यह समझा जाना चाहिए कि अन्यथा उसने उसे कब्जे पर बने रहने के लिए अपनी अनुमति दी। इन परिस्थितियों में चूंकि कोई भी तत्प्रतिकूल व्यवस्था नहीं की गई है, अतः औद्योगिक प्रयोजनों के लिए किए गए पट्टा विलेख के बारे में यह समझा जाना चाहिए कि वह सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 106 में यथानिर्दिष्ट रूप से वर्षानुवर्षी रूप में नवीकृत किया गया। इस प्रकार 16 जुलाई, 1950 से पट्टे का नवीकरण हो गया और पट्टे का एक निबंधन यह था कि यह पट्टा वर्षानुवर्षी होगा और सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 106 के निबन्धनों के अनुसार होगा। इस पट्टे का किराएदारी का वर्ष समाप्त होने के साथ समाप्त होने वाली 6 मास की सूचना द्वारा पर्यवसान किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में संदेय किराये की रकम क्या होगी? धारा 116 के परिशीलन से यह दर्शित होता है कि यद्यपि पट्टे का पर्यवसान हो चुका था फिर भी उसका नवीकरण किया गया। पट्टे का नवीकरण करने का अर्थ यह हुआ कि उसके निबन्धन और शर्तें वही होंगी जो पहले पट्टे की थी सिवाय इस बात के कि नए पटटे की प्रकृति को देखते हुए और सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम

की रकम विनिर्दिष्ट की गई और पंचाट की तारीख से 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष का ब्याज दिया गया। प्रथम प्रत्यर्थी ने अधिनियम की धारा 14 (2) के अधीन आवेदन मध्यस्थ को यह निर्देश दिए जाने के लिए फाइल किया कि वह पंचाट को न्यायालय का आदेश बनाए जाने के लिए न्यायालय में फाइल करे। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यस्थ पर उक्त नोटिस की तामील होने के पूर्व ही स्वयं मध्यस्थ ने अधिनियम की धारा 14 (1) के अधीन पंचाट को न्यायालय में फाइल कर दिया था और मध्यस्थ का उक्त आवेदन 1981 का मूल वाद सं० 859 के रूप में दर्ज किया गया और प्रथम प्रत्यर्थी का आवेदन 1981 का मूल वाद सं० 749 के रूप में दर्ज किया गया। यहां अपीलार्थी राज्य ने पंचाट को अपास्त किए जाने के लिए अधिनियम की धारा 33 के अधीन 1981 के मूल वाद सं० 859 में एक पृथक् आवेदन फाइल किया किन्तु उक्त आवेदन को पृथक् रूप से दर्ज नहीं किया गया बल्कि निचले न्यायालय ने इन दोनों ही वादों का एक साथ विचारण किया और पक्षकारों की सुनवाई करने के पश्चात् पंचाट मंजूर कर लिया और 3,53,590.45 रु० की धनराशि की डिक्री पारित की किन्तु ब्याज सम्बन्धी खण्ड को वाद की तारीख से अर्थात् 7-7-1981 से उसके वसूल किए जाने की तारीख तक 6% प्रतिवर्ष के ब्याज तक उपान्तरित कर दिया। इसी प्रकार अन्य संकर्मों के दावों की बाबत भी दो अन्य अपीलें फाइल की गई थीं। 1981 के मूल वाद सं० 750 और 1981 के मूल वाद सं० 857 के विरुद्ध 1982 की सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 990 फाइल की गई और 1981 के मूल वाद सं० 747 और 858 के विरुद्ध 1982 की सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 991 फाइल की गई। न्यायालय ने इसी प्रकार इन दोनों मामलों में भी केवल ब्याज की बाबत ही पंचाट को उपान्तरित कर दिया और इसलिए इन अपीलों के अन्य ब्यौरों का दिया जाना अनावश्यक है।

3. इस साधारण आक्षेप के अलावा कि पंचाट अभिलेख को देखने से ही प्रकट होने वाली गलतियों से दूषित है, विद्वान् महाधिवक्ता ने मुख्यतः दो दलीलें दी हैं। (1) पंचाट असंगत और परस्पर विरोधी है और उसे अपास्त किया जाना चाहिए क्योंकि मध्यस्थ ने अतिरिक्त ब्याज के लिए दावे को नामंजूर कर दिए जाने के पश्चात् यह निदेश दिया कि 1982 की सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 989 में अग्रिम धन की किस्त की प्राप्ति की तारीख से 12 मास की अवधि के बाद का ब्याज अधित्यक्त किया जाता है। इसी प्रकार खण्ड (ग) 1982 की सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 990 में अतिरिक्त ब्याज दायित्व से और 1982 की सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 991 में दावा सं० 1 (5) से सम्बन्धित है। (2) मध्यस्थ को भावी ब्याज देने की कोई शक्ति नहीं

किया है जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जब कोई मकान मालिक किसी किराएदार को मूल पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् अतिधारण की इजाजत देकर नई किराएदारी सृजित करता है तो नई किराएदारी से संबंधित निबन्धनों के अभाव में मूल पट्टे को लागू होने वाले निबंधनों के बारे में यह समझा जाएगा कि उन्हें पक्षकारों ने स्वीकार कर लिया है और यदि मूल पट्टे में खाली करने की सूचना जैसी बात को समाप्त कर दिया गया था तो वही बात नई किराएदारी को लागू होगी।

8. अब देखने वाली बात यह है कि क्या जहूर अहमद अब्दुल सत्तार वाले उपर्युक्त मामले में इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने इस न्यायालय के पूर्वोल्लिखित विनिश्चयों में अभिव्यक्त मत के प्रतिकूल मत व्यक्त किया है।

9. जहूर अहमद अब्दुल सत्तार वाले उपर्युक्त मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "12. इस मामले में पट्टेदार, प्रतिवादी, 15 जुलाई, 1950 को पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् भी पट्टे पर दी गई सम्पत्ति पर काबिज रहा। पट्टाकर्ता, उत्तर प्रदेश सरकार ने उसके द्वारा दिए गए किराए को स्वीकार नहीं किया किन्तु पूर्वकथित के आचरण से यह समझा जाना चाहिए कि अन्यथा उसने उसे कब्जे पर बने रहने के लिए अपनी अनुमति दी। इन परिस्थितियों में चूंकि कोई भी तत्प्रतिकूल व्यवस्था नहीं की गई है, अतः औद्योगिक प्रयोजनों के लिए किए गए पट्टा विलेख के बारे में यह समझा जाना चाहिए कि वह सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 106 में यथानिर्दिष्ट रूप से वर्षानुवर्षी रूप में नवीकृत किया गया। इस प्रकार 16 जुलाई, 1950 से पट्टे का नवीकरण हो गया और पट्टे का एक निबंधन यह था कि यह पट्टा वर्षानुवर्षी होगा और सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 106 के निबन्धनों के अनुसार होगा। इस पट्टे का किराएदारी का वर्ष समाप्त होने के साथ समाप्त होने वाली 6 मास की सूचना द्वारा पर्यवसान किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में संदेय किराये की रकम क्या होगी ? धारा 116 के परिशीलन से यह दर्शित होता है कि यद्यपि पट्टे का पर्यवसान हो चुका था फिर भी उसका नवीकरण किया गया। पट्टे का नवीकरण करने का अर्थ यह हुआ कि उसके निबन्धन और शर्तें वही होंगी जो पहले पट्टे की थी सिवाय इस बात के कि नए पटटे की प्रकृति को देखते हुए और सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम

की धारा 116 में अन्तर्विष्ट विनिर्दिष्ट उपबंधों की दृष्टि से उसके बारे में यह समझा जाएगा कि उसका वर्षानुवर्षी नवीकरण हुआ था।

17. उक्त नजीर को देखते हुए और इस धारा के साधारण निर्वचन से भी यह प्रतीत होता है कि नवीकृत पट्टा उन्हीं निबन्धनों के आधार पर होगा जो मूल पट्टे के थे सिवाय इसके कि यह पट्टा किराएदारी की प्रकृति के अनुसार वर्षानुवर्षी और मासानुमासी होगा और अन्य शर्तें वही रहेंगी।

18.···अतः अतिधारण से केवल यह अन्तर उत्पन्न हुआ है कि यदि पट्टे की अवधि के सम्बन्ध में मूल पट्टे में कोई शर्त है तो वह शर्त आगे लागू नहीं होगी बल्कि उसके बजाय पट्टा अपनी प्रकृति के अनुसार वर्षानुवर्षी और मासानुमासी होगा और उसका यथास्थिति, किराएदारी के मास की समाप्ति पर पर्यवसान हो सकेगा··· ।"

अतः उपर्युक्त खण्ड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया है कि मूल पट्टे में पट्टे की अवधि से संबंधित शर्त के सिवाय नए पट्टे की शर्तें वही होंगी जो पुराने पट्टे की हैं। चूंकि पट्टे की अवधि नियत अवधि है इसलिए स्वाभाविक रूप से वह अतिधारण द्वारा सृजित नई किराएदारी के निबन्धनों का भाग नहीं हो सकती। किन्तु खण्ड न्यायपीठ द्वारा किए गए उपर्युक्त विनिश्चय का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से स्पष्ट रूप से यह पता चलता है कि मूल पट्टे में जो शर्तें विद्यमान थीं, जिसमें सूचना से संबंधित कोई शर्त भी सम्मिलित हो सकती है, धारा 116 के अधीन अतिधारण द्वारा सृजित पट्टे को लागू होंगी।

10. अतः हमारी राय यह है कि जहां तक इस न्यायालय की दोनों खण्ड न्यायपीठों द्वारा राधा बल्लभ **बनाम** बहोर रामचन्द्र और जहूर अहमद अब्दुल सत्तार **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य वाले उपर्युक्त मामलों में किए गए विनिश्चयों द्वारा अधिकथित विधि का सम्बन्ध है उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। अतः निर्देशित प्रश्न का उत्तर यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि मूल पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन अपेक्षित सूचना की अवधि से सम्बन्धित संविदा की जाए। यह संविदा या तो मूल पट्टे में हो सकती है या यह मूल पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् पक्षकारों के बीच की जा सकती है।

निर्देशित प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया गया।

श०

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—227

दशरथ यादव बनाम जिला परिषद् क्षेत्रीय समिति, जौनपुर

(Dashrath Yadav *Vs.* Zila Parishad Keshtriya Samiti, Jaunpur)

तारीख 21 नवम्बर, 1983

[मु० न्या० सतीशचन्द्र, न्या० के० एन० सिंह और ए० एन० वर्मा]

यू० पी० डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ऐक्ट (यू० पी० जिला बोर्ड अधिनियम), 1922 —धारा 174(2) (छ) —जिला बोर्ड जहां पर आवश्यक समझे किसी सार्वजनिक सड़क के संबंध में विनियमन या प्रतिषेध का उपबंध कर सकता है— उक्त धारा के अधीन जिला बोर्ड द्वारा बनाई गई उपविधि यातायात के विनियमन या प्रतिषेध के निमित्त होने के कारण विधिमान्य होगी।

जिला बोर्ड जौनपुर ने "यान-स्टैण्ड" के संवन्ध में उपविधियां बनाईं। इसके अनुसार किराए पर चलने वाले 'किसी भी यान को किसी नियत अड्डे या स्टैंड से भिन्न किसी स्थान पर सवारियां चढ़ाने या उतारने के लिए रुकने की अनुज्ञा नहीं होगी और नियत प्रभार का संदाय किए बिना ऐसे स्टैण्डों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। पिटीशनर मंजिली गाड़ी चलाते हैं। उनकी यात्रा जौनपुर से आरम्भ होती थी। अपने गंतव्य स्थान पर जाते समय उन्हें जिला बोर्ड, जौनपुर के क्षेत्र के विभिन्न स्थानों से सवारियां लेने तथा उतारने के लिए रुकना पड़ता है। उपरोक्त उपविधियों द्वारा निश्चित किए गए स्टैण्डों पर उन्हें उप-विधियों में उल्लिखित पार्किंग फीस का संदाय करना पड़ता है। इससे व्यथित होकर उन्होंने वर्तमान रिट पिटीशन फाइल किया। अन्य बातों के साथ-साथ पिटीशनरों का पक्षकथन यह है कि उपरोक्त उप-विधियां जिला बोर्ड/जिला परिषद के अधिकारातीत हैं। इसलिए विधित: वे उनसे मांगी गई पार्किंग फीस का संदाय करने के लिए जिम्मेदार नहीं हैं।

इस पिटीशन में विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या जिला बोर्ड/जिला परिषद जौनपुर द्वारा बनाई गई यह उपविधि कि किसी भी कार, लारी, छकड़ा, इक्का और ऐसे ही अन्य यानों को, जो किराए पर चलते हैं, नियत स्थान से भिन्न किसी सार्वजनिक गली या स्थान पर या ऐसे अड्डे या स्टैण्ड

के एक मील के अर्द्ध-व्यास के भीतर सवारी ढूंढने के लिए रुकने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाएगा, यू० पी० डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अधिनियम की धारा 174(2)(ख) से (छ) द्वारा प्रदत्त की गई शक्ति के अनुसार थी।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

खण्ड (छ) में सार्वजनिक सड़क पर यातायात के सम्बन्ध में उपबंध किया गया है। "सार्वजनिक सड़क" पद को यू० पी० डिस्ट्रिक्ट बोर्ड्स ऐक्ट की धारा 3(6) में परिभाषित किया गया है जिससे अभिप्रेत है "कोई भी सड़क, गली, पुल, पुलिया, आम रास्ता, रास्ता और स्थान जिस पर लोगों का रास्ते का अधिकार है और जो किसी सरकार या किसी स्थानीय प्राधिकारी में निहित है और उनके द्वारा उसका रखरखाव हो रहा है।" इसमें लोगों को ऐसे स्थान को यात्रियों को चढ़ाने या उतारने के प्रयोजनों के लिए विराम-स्थल के रूप में प्रयोग करने के लिए बाध्य करनें की शक्ति सम्मिलित नहीं है। ऐसे बाध्य करने की शक्ति मोटर यातायात से संबंधित है। वर्तमान मामले के सुसंगत कानूनी उपबंध किसी भी प्रकार के यातायात को विनियमित या प्रतिषिद्ध करने के लिए उपबंध करते हैं। उच्चतम न्यायालय का यह मत कि मोटर बसों के प्रभारी व्यक्ति को इस बात के लिए बाध्य करना कि यात्रियों को चढ़ाने या उतारने के प्रयोजन के लिए किसी विशिष्ट स्थान का प्रयोग करने के लिए कहना ऐसी बात है जो मोटर यातायात से सम्बन्धित है और केवल यही उस निर्णय का तात्विक तथा सुसंगत भाग है। इससे प्रस्तुत मामले की आक्षेपित उप-विधि की विधिमान्यता बनी रह जाती है क्योंकि यातायात के विनियमन सम्बन्धी शक्ति का प्रयोग करते हुए उप-विधि विरचित की गई है। (पैरा 9 और 21)

		पैरा
[1939]	ए० आई० आर० 1939, इलाहाबाद 466 : मेवा राम बनाम म्युनिसिपल बोर्ड, मथुरा (Meva Ram *Vs.* Municipal Board, Muttra) का अवलम्ब लिया गया।	6,7,10, 13,14, 18 और 25
[1973]	ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 2420 : म्युनिसिपल कौन्सिल, भोपाल बनाम सिंधी साहिती मल्टीपरपज़ ट्रान्सपोर्ट कोआपरेटिव सोसाइटी	7, 20, 25

(Municipal Council, Bhopal *Vs.* Sindhi Sahiti Multipurpose Transport Co-operative Society) ;

[1970] 1970 ए० एल० जे० 249 : चौधरी अत्तर सिंह **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य (Choudhary Attar Singh *Vs.* The State of Uttar Pradesh); 26

[1965] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 458 : म्युनिसिपल बोर्ड, पुष्कर **बनाम** राज्य परिवहन प्राधिकारी, राजस्थान (Municipal Board, Pushkar *Vs.* State Transport Authority, Rajasthan); 22

[1953] ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 79 : टी० बी० इब्राहीम **बनाम** क्षेत्रीय परिवहन प्राधिकारी (T. B. Ibrahim *Vs.* The Regional Transport Authority, Tanjore). 22

से **प्रभेद** वतलाया गया।

[1979] 1973 का रिट पिटीशन सं० 6130, जिसका विनिश्चय 22-8-1979 को किया गया : श्री सीता राम **बनाम** जिला परिषद, गाजीपुर (Sri Sita Ram *Vs.* Zila Parishad, Ghazipur); 5

[1979] 1977 का रिट पिटीशन सं० 517 जिसका विनिश्चय 8-11-1979 को किया गया : एल० महावीर प्रसाद जैन **बनाम** नगरपालिका, हापुड़ (L. Mahabir Prasad Jain *Vs.* Nagar Palika, Hapur); 5

[1975] 1975 ए० एल० जे० 571 : जगदीश चन्द्र **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य (Jagdish Chandra *Vs.* State of Uttar Pradesh) 5, 25

निर्दिष्ट किए गए।

आरम्भिक (सिविल) रिट अधिकारिता : 1982 का सिविल प्रकीर्ण रिट पिटीशन संख्या 110 और 137

(इसके साथ 1981 का सिविल प्रकीर्ण रिट पिटीशन संख्या 502 की भी सुनवाई की गई ।)

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन ।

पिटीशनरों की ओर से .... श्री एल० पी० नैथानी

प्रत्यर्थी की ओर से .... श्री जी० एन० वर्मा, स्थायी काउन्सेल

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायाधीश सतीश चन्द्र ने दिया ।

मु० न्या० सतीश चन्द्र :

28 जुलाई, 1955 को जिला बोर्ड, जौनपुर ने "यान-स्टैण्ड" के सम्बन्ध में उपविधियां प्रकाशित कीं । उप-विधि सं० 1 इस प्रकार है :—

*"1. किसी भी कार, लारी, छकड़ा, इक्का और ऐसे ही अन्य यानों को, जो किराए पर चलते हैं, नियत स्टैण्ड से भिन्न किसी सार्वजनिक गली या स्थान पर या ऐसे अड्डे या स्टैण्ड के एक मील के अर्द्ध-व्यास के भीतर सवारी ढूंढने के लिए रुकने हेतु अनुज्ञात नहीं किया जाएगा ।"

उपविधि संख्या 2 जिला बोर्ड, जौनपुर के ग्रामीण क्षेत्र में स्टैण्ड नियत करने के सम्बन्ध में है । उप-विधि संख्या 3 इस प्रकार है :—

**"जब तक कि निम्नलिखित प्रभार संदत्त नहीं कर दिए जाते तब तक उपर्युक्त उप-विधि संख्या 2 में दर्शाए गए स्थानों को उप-विधि सं० 1 में यथा विनिश्चित स्टैण्ड के रूप में मोटर यान या

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"1. No motor cars, lorries, cars, ekkas and such other vehicles plying for hire shall be allowed to halt for purposes of searching passengers at any public street or place other than any stands fixed or within the radius of one mile of the addas or the stands."

**"The places cite in byed-law No. 2 above shall notbe used as a stand for any motor vehicle or hackeny carriage as decided in bye-law No. 1 unless the

भाड़ागाड़ी द्वारा प्रयोग नहीं किया जाएगा :

यान का नाम	दैनिक प्रभार
प्रत्येक मोटर—बस या वाहक	चार आने
प्रत्येक मोटर कार	दो आने
प्रत्येक भाड़ागाड़ी, तांगा, इक्का, छकड़ा इत्यादि	एक आना।"

उप-विधि सं० 4 में यह उपबन्धित है कि प्रभार के संग्रहण का अधिकार पट्टे पर दिया जा सकेगा और बोर्ड द्वारा इस निमित्त सम्यक रूप से प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा मांग किए जाने पर फीस का संदाय तुरंत किया जाएगा।

2. ऐसा प्रतीत होता है कि 28 मई, 1976 को प्रकाशित एक अधिसूचना द्वारा उपर्युक्त उप-विधि सं० 3 में उल्लिखित प्रभार बदल दिए गए थे। मोटर बस या सार्वजनिक वाहक की दर बढ़ाकर एक रुपये और मोटर कार इत्यादि के लिए दर बढ़ाकर पचास पैसे प्रतिदिन कर दी गई।

3. पिटीशनर मंजिली गाड़ी चलाते हैं। उनकी यात्रा जौनपुर से आरम्भ होती थी। अपने गंतव्य स्थान पर जाते समय उन्हें जिला बोर्ड, जौनपुर के क्षेत्र के विभिन्न स्थानों से यात्रियों को लेने तथा उतारने के लिए रुकना पड़ता है। उपर्युक्त उपविधियों द्वारा निश्चित किए गए स्टैण्डों पर उन्हें उप-विधियों में उल्लिखित पार्किंग फीस का संदाय करना पड़ता है। इससे व्यथित होकर उन्होंने वर्तमान रिट पिटीशन फाइल किए हैं।

4. अन्य बातों के साथ-साथ पिटीशनरों का पक्षकथन यह है कि उपरोक्त उप-विधियां जिला बोर्ड/जिला परिषद के अधिकारातीत हैं। इसलिए विधितः वे उनसे मांगी गई पार्किंग फीस का संदाय करने के लिए जिम्मेदार नहीं हैं।

---

following charges are paid :

Name of vehicle	*Daily charges*
Each motor bus or carrier	Four annas
Each motor car	Two annas
Each hackney carriage, Tonga, Ekka, Cart etc.	One anna."

5. अपने इस निवेदन के समर्थन में पिटीशनरों ने इस न्यायालय के एकल न्यायाधीश के **जगदीश चन्द्र** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] तथा खण्ड न्यायपीठ के **एल० एम० पी० जैन** बनाम **नगरपालिका, हापुड़**[2] और **श्री सीता राम** बनाम **जिला परिषद्, गाजीपुर**[3] वाले विनिश्चयों का अवलम्ब लिया।

6. दूसरी ओर प्रत्यर्थी-बोर्ड के विद्वान् काउंसेल ने न्यायपीठ का ध्यान इस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के **मेवा राम** बनाम **म्युनिसिपल बोर्ड, मथुरा**[4] वाले मामले की ओर आकर्षित किया है।

7. खण्ड न्यायपीठ ने रिट पिटीशन की सुनवाई करते समय यह महसूस किया कि पूर्ण न्यायपीठ का **मेवा राम**[4] वाला मामला इसको लागू होता था। दुर्भाग्यवश उपरोक्त मामले का विनिश्चय करने वाली खण्ड न्यायपीठ का ध्यान पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय की ओर आकर्षित नहीं किया गया था। उसने यह भी महसूस किया कि **म्युनिसिपल कौन्सिल, भोपाल** बनाम **सिंधी साहिती मल्टी परपज ट्रांसपोर्ट कोआपरेटिव सोसाइटी**[5] नामक उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय को **सीता राम वाले मामले**[3] में न तो ठीक ढंग से समझा गया था और न ही ठीक ढंग से लागू किया गया था। इस परिस्थिति में खण्ड न्यायपीठ ने विधि का निम्नलिखित प्रश्न वृहत्तर न्यायपीठ को निर्दिष्ट किया :—

> "क्या जिला बोर्ड/जिला परिषद, जौनपुर द्वारा विरचित यह उपविधि कि किसी भी मोटर कार, लारी, छकड़ा, इक्का और ऐसे ही अन्य यानों को, जो किराए पर चलते हैं, नियत स्थान से भिन्न किसी सार्वजनिक गली या स्थान पर या ऐसे अड्डे या स्टैण्ड के के एक मील के अर्द्ध-व्यास के भीतर सवारी ढूंढने के लिए रुकने हेतु अनुज्ञात नहीं किया जाएगा। यू० पी० डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अधिनियम की धारा 174(2) (ख) से (छ) द्वारा प्रदत्त की गई शक्ति के अनुसार था।"

8. जिला बोर्ड द्वारा यान-स्टैण्डों से सम्बन्धित बनाई गई आक्षेपित

---

[1] 1975 ए० एल० जे० 571.

[2] 1977 का रिट पिटीशन सं० 517 जिसका विनिश्चय 8 नवम्बर, 1979 को किया गया.

[3] 1973 का रिट पिटीशन सं० 6130 जिसका विनिश्चय 22-8-79 को किया गया.

[4] ए० आई० आर० 1939 इलाहाबाद 466.

[5] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 2420.

उप-विधियां यू०पी० डिस्ट्रिक्ट बोर्ड्स ऐक्ट, 1922 की धारा 174(2) के अधीन बनाई गई तात्पर्यित हैं। धारा 174 में यह उपबन्धित है :—

*"(1) कोई बोर्ड विशेष संकल्प द्वारा या जहां राज्य सरकार ऐसी अपेक्षा करे, जिले के ग्रामीण क्षेत्र के सम्पूर्ण या किसी भाग के लिए इस अधिनियम और किसी नियम से संगत और ऐसे क्षेत्र के निवासियों के स्वास्थ्य, सुरक्षा को बनाए रखने के लिए तथा उसकी अभिवृद्धि के प्रयोजन के लिए तथा इस अधिनियम के अन्तर्गत आने वाले जिले के प्रशासन की सहायता के लिए उपविधियां बनाएगा।

(2) उपधारा (1) द्वारा प्रदत्त शक्ति की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना और विशेष रूप से उक्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए कोई बोर्ड नीचे वर्णित सूची में की कोई उपविधि बना सकता है :—

....

(छ) जहां पर बोर्ड विनियमन या प्रतिषेध आवश्यक समझे, सार्वजनिक सड़क के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के विनियमन या प्रतिषेध का उपबन्ध कर सकता है।"

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"(1) A board by special resolution may, and where required by the State Government shall make bye-laws applicable to the whole or any part of the rural area af the district, consistent with this Act, and with any rule, for the purpose of promoting or maintaining the healh, safety, and convenience of the inhabitants of such area and for the furtherance of the administration of the district under this Act.

(2) In particular, and without prejudice to the generality of the power conferred by sub-section (1), a board may, in the exercise of the said power, make any bye-laws described in the list below :—

....

(g) providing for the regulation or prohibition of any description of traffic on any public road where such regulation or prohibition appears to the board to be necessary."

9. खण्ड (छ) में सार्वजनिक सड़क पर यातायात के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है। "सार्वजनिक सड़क" पद को यू०पी० डिस्ट्रिक्ट बोर्ड्स ऐक्ट की धारा 3(6) में परिभाषित किया गया है, जिससे अभिप्रेत है "कोई भी सड़क, गली, पुल, पुलिया, आम रास्ता, रास्ता और स्थान जिस पर लोगों का रास्ते का अधिकार है और जो किसी सरकार या किसी स्थानीय प्राधिकारी में निहित है और उनके द्वारा उसका रखरखाव हो रहा है।"

10. **मेवा राम**[1] वाले पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय में मथुरा के म्युनिसिपल बोर्ड द्वारा यू० पी० म्युनिसिपैलिटीज़ ऐक्ट, 1916 की धारा 298(2) के खण्ड ज(ख) की सूची 1 के अधीन विरचित उप-विधि को चुनौती दी गई थी।

11. यू० पी० म्युनिसिपैलिटीज़ ऐक्ट की धारा 298(1) नगरपालिक बोर्ड को इस बात के लिए प्राधिकृत करती है कि वह नगरपालिका के निवासियों के स्वास्थ्य, सुरक्षा और सुविधाओं की अभिवृद्धि या उन्हें बनाए रखने के लिए और इस अधिनियम के अधीन नगरपालिक प्रशासन की सहायता के लिए उप-विधि बनाए। आक्षेपित खण्ड ज(ख) नगरपालिक बोर्ड को "जहां पर विनियमन या प्रतिषेध आवश्यक समझे, सार्वजनिक सड़क के संबंध में किसी भी प्रकार के विनियमन या प्रतिषेध का उपबंध" करने के लिए सशक्त करता है।

12. खण्ड ज(ख) के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए नगरपालिक बोर्ड ने उप-विधियां विरचित करते हुए यह आदेश दिया कि किसी भी मोटर कार या लारी को, जो किराए पर चलती है, नियत स्टैण्ड से भिन्न किसी सार्वजनिक गली या स्थान पर या ऐसे स्थान पर सवारी ढूंढने के लिए रुकने या चलने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाएगा।

13. म्युनिसिपैलिटीज़ ऐक्ट मे "गली" को इस रूप में परिभाषित किया गया है कि इससे अभिप्रेत है "कोई सड़क, पुल, रास्ता-वीथिका, स्कवेअर, प्रांगण, पगडण्डी या पथ जिसे जनता या जनता के किसी भाग को गुज़रने का अधिकार है और इसमें..........सम्मिलित है।" **मेवा राम**[1] वाले उपरोक्त मामले की आक्षेपित उप-विधि और वर्तमान मामले की आक्षेपित उप-विधि वस्तुतत: एक जैसी ही है। दोनों प्रकार की उप-विधियां एक जैसे उपबंधों के अधीन विरचित की गई थीं, अर्थात् "जहां

---

[1] ए० आई० आर० 1939 इलाहाबाद 466.

पर बोर्ड को आवश्यक प्रतीत हो वह किसी सड़क के संबंध में किसी भी प्रकार के यातायात के प्रतिषेध या विनियमन के लिए किसी भी प्रकार के विनियमन या प्रतिषेध का उपबंध कर सकता है।" यह कह कर कोई लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता कि चूंकि दो उपबंध समविषयक और एक जैसे हैं इसलिए **मेवा राम वाले मामले**[1] का पूर्ण न्यायपीठ का विनिश्चय पूर्ण रूप से लागू होता है।

14. **मेवा राम वाले मामले**[1] में पूर्ण न्यायपीठ को तीन प्रश्न निर्दिष्ट किए गए थे :—

> "(1) क्या मथुरा का नगरपालिक बोर्ड यह उपविधि बनाने के लिए सक्षम था कि किराए पर चलने वाली कोई मोटर कार, या गाड़ी को इस प्रयोजन के लिए नियत किसी स्टैण्ड से भिन्न किसी सार्वजनिक गली या स्थान पर सवारी ढूंढने के लिए रुकने या उसे चलाने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाएगा ?
>
> (2) क्या मथुरा नगरपालिक सीमाओं के स्टैण्डों को प्रयोग करने के लिए शुल्क उद्गृहीत करने के लिए नगरपालिक बोर्ड सक्षम था या नहीं ?
>
> (3) क्या कथित प्रभार का अधिकार और इसे संग्रहण करने के अधिकार को अन्तरित किया जा सकता है और क्या ऐसे अंतरण के लिए संविदा विधिमान्य है ?"

वर्तमान निर्देश के प्रयोजनों के लिए **मेवा राम वाले मामले**[1] में पूर्ण न्यायपीठ द्वारा विनिश्चित प्रथम प्रश्न सारवान है। इस प्रश्न पर मतभेद था। न्या० एलसाप और न्या० इस्माइल ने यह अभिनिर्धारित किया था कि उप-विधियां उपरोक्त खण्ड ज(ख) के अनुसार हैं और इसलिए विधिमान्य थीं जबकि न्या० इकबाल अहमद ने इसके विपरीत अभिनिर्धारित किया था। न्या० एलसाप ने यह अभिनिर्धारित किया था कि "यातायात" पद को अधिनियम में परिभाषित नहीं किया गया है और इसलिए यह समझा जाना चाहिए कि इसे इसके साधारण अर्थ में प्रयोग किया गया है। अगर इसकी व्याप्ति में यान सम्मिलित नहीं भी है तब भी आवश्यक रूप से इससे यानों का आना-जाना अभिप्रेत है। माननीय न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया था :—

> "मुझे इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि साधारण व्यक्ति

---

1 ए० आई० आर० 1939 इलाहाबाद 466.

के लिए यातायात के विनियमन में किन्हीं स्थानों पर यानों को रोकना और उन्हें.......रुकने से निवारित करना है। उप-विधि का तात्पर्य यह है कि किसी भी मोटर कार या लारी को, जो किराए पर चलते हैं, इस प्रयोजन के लिए नियत स्टैण्ड से भिन्न किसी सार्वजनिक गली या स्थान पर सवारी ढूंढने के लिए रुकने या चलने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाएगा, यह तात्पर्य है कि.......इस प्रकार के यान स्टैण्ड के प्रयोजन के लिए नियत किसी भाग से भिन्न सार्वजनिक गलियों के किसी स्थान पर नहीं रुकेंगे अर्थात् वे मार्ग के रास्ते पर या गलियों के किनारे पर नहीं रुकेंगे। नगरपालिका ऐसा नियम अवश्य बना सकती है कि इस प्रकृति का कोई यान मार्ग के बीच में या उनके कोने में, या चौराहे पर या ऐसे ही किसी अन्य स्थान पर नहीं रुकेगा और अगर ऐसा करता है तो दूसरे यातायात में बाधा पड़ेगी। अगर वह ऐसा कर सकती है तो यह सार्वजनिक गली के किसी भी अन्य स्थान पर रुकने से प्रतिषिद्ध भी कर सकती है। मेरा विचार है कि यह किसी ऐसे यान को सड़क के किनारों सहित नगरपालिक क्षेत्र की सार्वजनिक गली के किसी भी भाग पर रुकने से निवारित कर सकती है और इसलिए अगर यह इन यानों को स्टैण्ड के रूप में वर्णित स्थानों पर रोकने के लिए लगाए गए व्यापक प्रतिषेध से आपवादिक रूप से छूट प्रदान करता है तो मैं नहीं समझता कि इस प्रकार का प्रतिषेध उसकी शक्ति से परे कैसे हो गया है।"

15. तब माननीय न्यायाधीश ने मोटर यान अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों के आधार पर दी गई दलीलों पर निम्नलिखित रूप में विचार किया :—

"मोटर यान अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों, जिनमें यह उपबंधित है कि रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी मोटर यान के लिए स्टैण्ड नियत कर सकता है। किसी नगरपालिका को नगरपालिका अधिनियम के अधीन प्रदत्त कानूनी उपबंधों को ये नियम कैसे प्रभावित कर सकते हैं? अगर दो विभिन्न कानूनों में विभिन्न प्राधिकारियों को विभिन्न प्रयोजनों के लिए कुछ कार्यों को करने से निषिद्ध करते हैं तो इससे मुझे यह प्रतीत नहीं होता है कि दोनों कानूनों के उपबंध आवश्यक रूप से असंगत होंगे। कोई असंगतता हो सकती है अगर कानून विभिन्न प्राधिकारियों को कुछ कार्यों को करने के लिए अनुज्ञात करता है परन्तु इस आकस्मिकता के लिए

मोटर यान अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों में उपबंध किया गया है क्योंकि रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी द्वारा नगरपालिका से परामर्श करके स्टैण्ड नियत किए जाने होते हैं। इसलिए नगरपालिका की सम्मति के बिना रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी किसी स्थान को स्टैण्ड के रूप में प्रयोग करने के लिए अनुज्ञात नहीं कर सकता। यह इसलिए बनाया गया है कि नगरपालिका को यह हक है कि वह मोटर यान के स्टैण्ड के रूप में किसी स्थान के प्रयोग को निषिद्ध कर दे। इन कारणों से मेरा यह विचार है कि प्रथम प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया जाना चाहिए।"

16. न्या० मुहम्मद इस्माइल ने न्या० एलसाप के साथ सहमत होते हुए वह अभिनिर्धारित किया :—

"यह जोरदार दलील दी गई है कि धारा 298(ज)(ख) के अधीन केवल सार्वजनिक सुरक्षा के बचाव के लिए और जनता को सुविधाएं प्रदान करने के लिए उपविधियां बनाई जा सकती हैं। वर्तमान मामले में यह सुझाव नहीं दिया गया है कि उपविधियां सार्वजनिक सुरक्षा और सुविधाओं में सहायक नहीं हो सकती हैं। यह स्पष्ट है कि यात्रियों को ढूंढने के प्रयोजनों के लिए अगर बहुत बड़ी संख्या में यानों को रुकने और चलने की इजाजत दी जाती है तो इससे इन गलियों का प्रयोग करने वाली जनता को असुविधा होगी और उनकी सुरक्षा भी खतरे में पड़ सकती है........यह दलील दी गई कि बोर्ड यातायात को विनियमित या प्रतिषिद्ध कर सकता है परन्तु उसे स्टैण्ड नियत करने का प्राधिकार नहीं है। मेरे मतानुसार यह दलील उपविधि के विस्तार के संबंध में भ्रम के आधार पर है। निस्संदेह बोर्ड को यह विवेकाधिकार है कि वह उप-विधि द्वारा अधिरोपित प्रतिषेध के लागू होने से किसी सार्वजनिक गली या स्थान को अपवर्जित करे। यह तत्वहीन है कि उप-विधि के लागू होने से अपवर्जित किए गए स्थान को 'स्टैण्ड' या किसी और नाम से जाना जाता है।"

17. मोटर यान अधिनियम के अधीन विरचित नियम 95 के प्रतिनिर्देश करते हुए माननीय न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया :—

"ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि मोटर यान अधिनियम से संलग्न नियमों का ऐसा प्रभाव है कि इससे

यू० पी० म्युनिसिपैलिटीज ऐक्ट अकृत या संशोधित हो जाता है। यह सच है कि नियमों के अनुसार रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी सम्बन्धित स्थानीय निकाय की सहमति से स्टैण्ड नियत कर सकता है। यह सम्भव है कि रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी को स्टैण्ड के स्थानों के चयन के सम्बन्ध में बोर्ड से असहमत होने की शक्ति हो। यह दर्शाने के लिए कि न तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई है और न ही लिखित कथन में ऐसी कोई दलील दी गई है। इसलिए मुझे यह अभिनिर्धारित करने में कोई संकोच नहीं है कि नगरपालिक बोर्ड यह उपविधि बनाने में पूर्ण रूप से सक्षम था कि किसी भी मोटर कार या लारी को, जो किराए पर चलते हैं, नियत स्टैण्ड से भिन्न किसी सार्वजनिक गली या स्थान पर सवारी ढूंढने के लिए रुकने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाएगा।"

18. दोनों विद्वान् न्यायाधीशों द्वारा **मेवा राम वाले मामले**[1] में दिए गए तर्कों से हम सम्मानपूर्वक सहमति प्रकट करते हैं।

19. वर्तमान मामले में भी परिवहन प्राधिकरण ने मोटर यान अधिनियम के अधीन विरचित नियमों के नियम 95 में किसी स्थान को स्टैण्ड के रूप में घोषित करते हुए आदेश पारित नहीं किए हैं। इसलिए इसमें किसी प्रकार भी असंगतता का प्रश्न नहीं है।

20. पिटीशनरों के विद्वान् काउंसेल ने हमारा ध्यान उच्चतम न्यायालय के तीन विनिश्चयों की तरफ दिलाया है। हम पहले **म्युनिसिपल कौन्सिल, भोपाल** बनाम **सिन्धी साहिती मल्टीपरपस ट्रांसपोर्ट कोआपरेटिव सोसाइटी**[2] वाले उपरोक्त मामले के विनिश्चय पर विचार करेंगे। उस मामले में म्युनिसिपल कौन्सिल, भोपाल ने एक उपविधि विरचित की कि किसी मोटर-बस, जो किराए पर चलती है, का प्रभारी सवारियों को चढ़ाने या उतारने के प्रयोजन के लिए भोपाल नगरपालिका की सीमाओं के भीतर नगरपालिका स्टैण्ड के अतिरिक्त किसी स्थान पर मोटर कार को रोकेगा या खड़ी नहीं करेगा। इस उपविधि की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि यह नगरपालिक परिषद् की शक्ति से परे थी। म्युनिसिपल परिषद् की ओर से मध्य प्रदेश म्युनिसिपैलिटीज अधिनियम की

---

1 ए० आई० आर० 1939 इलाहाबाद 466.

2 ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 2420.

धारा 358(7) के खण्ड (ड) पर बल दिया गया था। यह खण्ड निम्नलिखित के सम्बन्ध में उप-विधियां बनाने का उपबंध करता है :—

> *"ऐसे स्थान को यानों या जानवरों या उनके इकट्ठा खड़ा करने को विनियमित या प्रतिषेध करने के लिए......."

21. उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि नगर-पालिका भूमि को रुकने के स्थान के लिए विनियमित या प्रतिषेध करने की शक्ति का प्रयोग करके लोगों को ऐसे स्थान को रुकने के स्थान के रूप में प्रयोग करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि उतरने के स्थान विराम स्थल और छकड़ा स्टैण्ड के संबंध में बताए गए उपबन्ध यात्रियों को उतारने या चढ़ाने से सम्बन्धित नहीं है। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया :—

> "किसी मोटर बस के प्रभारी व्यक्ति को इस ब त के लिए बाध्य करना कि वह यात्रियों को चढ़ाने या उतारने के प्रयोजन के लिए कतिपय स्थानों पर उन्हें रोके, मोटर यातायात से सम्बन्धित मामला है......."

यह निर्णय प्रभेदनीय है। सुसंगत कानूनी उपबंध बिल्कुल ही भिन्न है। उपरोक्त खण्ड (ड) नगरपालिक भूमि को विराम स्थल के रूप में प्रयोग करने के सम्बन्ध में है। इसमें लोगों को ऐसे स्थान को यात्रियों को चढ़ाने या उतारने के प्रयोजनों के लिए विराम-स्थल के रूप में प्रयोग करने के लिए बाध्य करने की शक्ति सम्मिलित नहीं है। ऐसे बाध्य करने की शक्ति मोटर यातायात से सम्बन्धित है। वर्तमान मामले के सुसंगत कानूनी उपबंध किसी भी प्रकार के यातायात को विनियमित या प्रतिषिद्ध करने के लिए उपबंध करते हैं। उच्चतम न्यायालय का यह मत कि मोटर बसों के प्रभारी व्यक्ति को इस बात के लिए बाध्य करना कि यात्रियों को चढ़ाने या उतारने के प्रयोजन के लिए किसी विशिष्ट स्थान का प्रयोग करने के लिए कहना ऐसी बात है जो मोटर यातायात से सम्बन्धित है और केवल यही उस निर्णय का तात्त्विक तथा सुसंगत भाग है। इससे वर्तमान

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

> "Regulating and prohibiting......the using of such ground as halting place of vehicles or animals or as a place for encampment........"

मामले की आक्षेपित उप-विधि की विधिमान्यता बनी रह जाती है क्योंकि यातायात के विनियमन संबंधी शक्ति का प्रयोग करते हुए उप-विधि विरचित की गई है।

22. उच्चतम न्यायालय के **टी० बी० इब्राहीम** बनाम **क्षेत्रीय परिवहन प्राधिकारी, तंजौर**[1] और **म्युनिसिपल बोर्ड, पुष्कर** बनाम **राज्य परिवहन प्राधिकारी, राजस्थान**[2] वाले दोनों विनिश्चय भी प्रभेदनीय हैं। इन दोनों ही मामलों में विचारणीय प्रश्न यह था कि क्या बस-स्टैण्ड के स्थान को परिवर्तित किया जाना मोटर यान अधिनियम की धारा 76 की परिधि के भीतर आता है या उस अधिनियम की धारा 68 (2) (ब) के अन्तर्गत आता है। मोटर यान अधिनियम और उसके अधीन विरचित नियमों में "खड़ी करने का स्थान", "विराम-स्थल" और "बस-स्टैण्ड" पदों में विभेद बताया गया है। इन पदों को विभिन्न नियमों में प्रयोग किया गया है और इनके विभिन्न अर्थ-अभिधान हैं। उच्चतम न्यायालय ने मोटर यान अधिनियम और नियमों के अनेक उपबंधों की बारीकी से जांच की है और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि बस-स्टैण्ड के संबंध में उपबंध मोटर यान अधिनियम की धारा 68 के अधीन अधिक उचित रूप से बनाए जा सकते हैं न कि धारा 76 के अधीन।

23. प्रथम बात तो यह है कि वर्तमान मामले में ऐसी कोई समस्या उद्भूत नहीं हुई है। दूसरे इन दोनों विनिश्चयों में उच्चतम न्यायालय से यह अवधारित करने के लिए कहा गया था कि बस-स्टैण्ड नियत करने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से मोटर यान अधिनियम और नियमों के कौन से विनिर्दिष्ट उपबंध प्राधिकृत करते हैं। अधिनियम और साथ ही नियमों में विराम-स्थलों, (गाड़ी) खड़ी करने के स्थान या बस-स्टैण्डों के लिए विस्तृत उपबंध बनाए गए हैं। इन दोनों विनिश्चयों में से किसी में भी इस प्रश्न पर इस उपबंध के दृष्टिकोण से, जैसा कि वर्तमान मामले में अन्तर्वलित है और जो कि गलियों में किसी भी प्रकार के यातायात को विनियमित या प्रतिषिद्ध करने के लिए प्राधिकृत करता है, विचार नहीं किया गया था।

24. पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय से अनभिज्ञता के कारण ही हमारे न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने विनिश्चय दिए हैं। इसलिए वे सही विधि अधिकथित नहीं करते हैं।

---

1 ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 79.

2 ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 458.

25. हमारा ध्यान एकल न्यायाधीश के **जगदीश चन्द्र** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले विनिश्चय की ओर दिलाया गया। उसकी उपविधि के सुसंगत भाग में यह उपबन्धित था :—

> *"(2) वाणिज्यिक आधार पर चलने वाली किसी भी मोटर बस, लारी, ट्रक, जीप, स्टेशन वेगन के चालक को तब तक नगरपालिका की सीमाओं के भीतर यान खड़े करने की आज्ञा नहीं दी जाएगी जब तक वह 2 रुपये संदत्त नहीं करता।"

यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यह उपविधि यू० पी० म्युनिसिपैलिटीज अधिनियम की धारा 298(2) के खण्ड ज(ख) की परिधि के भीतर नहीं आती है क्योंकि यह यातायात को या यानों को खड़ा करने को विनियमित या प्रतिषिद्ध नहीं करता है। यह केवल यान को खड़ा करने की फीस के रूप में राजस्व एकत्रित करने के लिए उपबंध है। इसमें किसी परिक्षेत्र या गली के सम्बन्ध में, जिसमें यानों को खड़ा करने की आज्ञा नहीं दी गई है, कोई निर्बंधन नहीं है। इस विनिश्चय के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद नहीं हो सकता। परन्तु विद्वान् न्यायाधीश ने कुछ साधारण मत व्यक्त किए हैं कि उच्चतम न्यायालय द्वारा **म्युनिसिपल कौन्सिल, भोपाल**[2] वाले उपरोक्त मामले में दिए गए विनिश्चय की दृष्टि से पूर्ण न्यायपीठ के **मेवा राम वाले मामले**[3] में सही विधि अधिकथित नहीं की गई है। विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि **मेवा राम वाला मामला**[3] उसके समक्ष वाले मामले में उद्भूत प्रश्न पर विचार नहीं करता है। इसलिए ऊपर व्यक्त किए गए मत प्रासंगिक हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है, **म्युनिसिपल कौन्सिल, भोपाल**[2] वाले मामले में ऐसी कोई प्रतिपादना अधिकथित नहीं की गई है जो पूर्ण न्यायपीठ के **मेवा राम वाले रामले**[3] के विपरीत हो।

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

> "(2) No driver of motor bus, Lorry, Truck, Jeep, Station Wagon plying on commercial basis will be allowed to park the vehicles within the limits of Nagar Palika unless he pays Rs. 2."

---

[1] 1975 ए० एल० जे० 571.

[2] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 2420.

[3] ए० आई० आर० 1939 इलाहाबाद 466.

26. चौधरी अतर सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य[1] वाले मामले में उस उपविधि की विधिमान्यता को चुनौती दी गई थी जिसमें यह उपबंध किया गया था कि कार्यकारी अधिकारी, नगरपालिक बोर्ड, कैराना की लिखित अनुज्ञा के बिना किसी भी लदे हुए मोटर ट्रक, मोटर लारी, मोटर बस, ट्रैक्टर या टैक्सी कार को नगरपालिक सीमाओं के भीतर प्रवेश करने या चलाए जाने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाएगा। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यह उप-विधि यू० पी० म्युनिसिपैलिटीज अधिनियम की धारा 298(2) के खण्ड ज(ख) की परिधि में नहीं आती है। उपरोक्त खण्ड ज(ख) नगरपालिक क्षेत्र में यानों के प्रवेश के प्रश्न के सम्बन्ध में नहीं है, जो कि फीस उद्गृहीत करने का आधार था। आक्षेपित उपविधियों के अधीन उल्लिखित फीस नगरपालिक क्षेत्र में यानों के प्रवेश के स्थान पर प्रभार्य थी। उप-विधियां नगरपालिक क्षेत्र में यातायात से बिल्कुल भी सम्बन्धित नहीं हैं और न ही उसे विनियमित या उसे प्रतिषिद्ध करती हैं। वे यह अनुध्यात नहीं करती हैं कि आक्षेपित उप-विधियों में उल्लिखित प्रकार के मोटर यान बताई गई अवधि के दौरान बिना अपेक्षित फीस दिए गलियों में प्रवेश नहीं करेंगे जबकि उस समय बहुधा यातायात अधिक हो सकता है। गलियों में यातायात की हालत पर बिना विचार किए फीस किसी भी समय प्रभार्य है। उप-विधियां खण्ड (ख) में उल्लिखित विषय-वस्तु के संबंध में नहीं है और इसलिए इसके द्वारा कायम नहीं रखी जा सकती।

27. यह विनिश्चय भी प्रभेदनीय है क्योंकि प्रस्तुत मामले की उप-विधि विभिन्न प्रकृति की है और स्पष्ट रूप से खण्ड (ख) के अन्तर्गत आती है।

28. निर्दिष्ट प्रश्न के बारे में हमारा यह उत्तर है कि उपरोक्त उप-विधि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ऐक्ट की धारा 174(2) के खण्ड (फ) के अधीन जिला बोर्ड को प्रदत्त शक्ति के अन्तर्गत है।

29. इस मत और उत्तर के साथ कागजात को सम्बन्धित न्यायपीठ के समक्ष प्रस्तुत किया जाए।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

खन्ना/चन्द

---

[1] 1970 ए० एल० जे० 249.

विश्वनाथ सेठ (मैसर्स) बनाम आय-कर आयुक्त, यू० पी० लखनऊ

(M/s. Vishwa Nath Seth *Vs.* Commissioner of Income Tax, U.P. Lucknow)

तारीख 23 नवम्बर, 1983

[मु० न्या० सतीश चन्द्र, न्या० एच० एन० सेठ, न्या० ए० बैनर्जी, न्या० आर० एम० सहाय और न्या० ए० एन० वर्मा]

आय-कर अधिनियम, 1961—धारा 187(2)—**किसी फर्म के गठन में परिवर्तन—फर्म के किसी भागीदार की निवृत्ति, नये भागीदार के सम्मिलित होने, या भागीदारों के अंशों में परिवर्तन होने पर फर्म के पुनर्गठन पर पुराने भागीदार या भागीदारों के बने रहने से जो पुनर्गठित फर्म अस्तित्व में आती है वह आय-कर के प्रयोजनों के "वही-पुरानी" फर्म कहलाएगी और वह पुनर्गठन से पूर्व वाली फर्म द्वारा किए गए छिपाव के लिए शास्ति के लिए उत्तरदायी है।**

मैसर्स विश्वनाथ सेठ आरम्भ में चांदी, बुलियन और सट्टा इत्यादि का कारवार करते थे। उनकी आय हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के रूप में निर्धारित की गई थी। परिवार के विभाजन के पश्चात् 1 अगस्त, 1955 को, जो कि निर्धारण वर्ष 1957-58 के लिए सुसंगत है, कारबार भागीदारी फर्म में संपरिवर्तित हो गया। इस भागीदारी में विश्वनाथ सेठ और उसके 3 पुत्र भागीदार थे। उसके दो अवयस्क पुत्र फायदे में सम्मिलित कर लिए गए थे। 1958 में ये दो अवयस्क पुत्र वयस्क हो गए। उन्होंने भागीदारी में बने रहने का विकल्प दिया। इसके पश्चात् फर्म में विश्वनाथ सेठ और उसके 5 पुत्रों सहित छः भागीदार हो गए। 1964 में विश्वनाथ सेठ की मृत्यु हो गई। उनके पांचों पुत्र उसी नाम से भागीदारी कारबार को चलाते रहे। किसी भी समय पर किसी बाहरी व्यक्ति को भागीदार नहीं बनाया गया था। 10, 11 और 12 फरवरी, 1965 को आयकर प्राधिकारियों ने फर्म के कारबार के परिसर पर छापे मारे थे। अपराध गठित करने वाली सामग्री प्राप्त हुई। निपटारे के लिए अन्वेषण और वातचीत की गई। परिणामस्वरूप फर्म ने अघोषित आय के रूप में कुल 15,62,326.00 रुपये की रकम बताई। यह वात मान ली गई कि इस आय को निर्धारण वर्ष 1957-58 से

1966-67 के लिए पहले से भेजी गई विवरणियों में जोड़ दिया जाए। प्रत्येक निर्धारण वर्ष में जोड़ी जाने वाली आय के सम्बन्ध में भी सहमति हो गई। यह बात भी स्वीकार कर ली गई कि इन तमाम निर्धारण वर्षों के लिए इस फर्म को पंजीकृत फर्म के रूप में माना जाएगा। निर्धारिती इस बात के लिए भी सहमत हो गए कि कुल 3,00,000·00 रुपये शास्ति के रूप में अधिरोपित किए जाएं। इसी के अनुसार निर्धारणों को संशोधित कर दिया गया। सहायक आयुक्त (निरीक्षण) ने अपने 7 जून, 1972 और 4 अक्तूबर, 1972 वाले आदेशों द्वारा फर्म पर विभिन्न वर्षों के लिए शास्ति अधिरोपित की। इससे व्यथित होकर निर्धारितियों ने अधिकरण के समक्ष अपील की। निर्धारितियों द्वारा अधिकरण के सम्मुख दी गई दलीलों में से एक यह भी थी कि 1964 में विश्वनाथ सेठ की मृत्यु से फर्म में परिवर्तन हो गया था। पहले इसमें 6 भागीदार थे और इसकी मृत्यु के पश्चात् इसमें केवल 5 भागीदार रह गए थे। क्योंकि दोनों फर्में भिन्न थीं इसलिए नई फर्म पर उसके पुनर्गठन से पूर्व की अवधि के लिए शास्ति अधिरोपित नहीं की जा सकती। अधिकरण ने इस दलील को अस्वीकार कर दिया। उसने यह अभिनिर्धारित किया कि 1964 में फर्म का विघटन नहीं हुआ था। पांचों पुत्रों द्वारा भागीदारी में वही कारबार किया जाता रहा था। अपीलें खारिज कर दी गई थीं। निर्धारिती के कहने पर इस न्यायालय ने अधिकरण से यह कहा कि वह विधि का निम्नलिखित प्रश्न उसके मत के लिए निर्देशित करे : "क्या अधिकरण पुनर्गठिन फर्म पर शास्ति के अधिरोपण की पुष्टि करने में सही था जबकि छिपाव पिछली फर्म द्वारा किया गया था ?" इस निर्देश में अधिकरण द्वारा अभिलिखित इस निष्कर्ष को प्रश्नगत नहीं किया गया है कि वर्तमान मामले में फर्म का विघटन नहीं हुआ था। भागीदारी अधिनियम के अधीन यह आवश्यक नहीं है कि किसी भागीदार की मृत्यु के पश्चात् फर्म अवश्य विघटित हो। यह भागीदारी के लिए की गई संविदा के निबन्धनों पर निर्भर करता है। इसलिए प्रश्न यह कि क्या फर्म के गठन में परिवर्तन के कारण (जैसा कि आयकर अधिनियम की धारा 187 में परिकल्पना की गई है), निर्धारणीय इकाई के रूप में एक नई फर्म अस्तित्व में आ गई है ?

अभिनिर्धारित—निदश का सकारात्मक उत्तर दिया गया।

आय-कर अधिनियम के अनुसार फर्म के पुनर्गठित होने पर उसके व्यक्तित्व में परिवर्तन नहीं होता है। यह (फर्म) वही व्यक्ति बना रहता

है। इसलिए आय-कर अधिनियम 1961 की धारा 271 के अधीन किसी फर्म के पुनर्गठन के पश्चात् उसके द्वारा पुनर्गठन से पूर्व किए गए व्यतिक्रम के सम्बन्ध में शास्ति अधिरोपित की जा सकती थी। आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 187 किसी फर्म के निर्धारण के लिए उपबंध करती है जब निर्धारण के समय यह पता चलता है कि फर्म के गठन में परिवर्तन हो चुका है। अधिनियम की धारा 188 उस फर्म के निर्धारण के लिए उपबंध करती है जहां पर कारबार कर रही फर्म को कोई दूसरी फर्म अपने हाथ में ले लेती है। धारा 188 के अन्तर्गत आने वाले मामले में धारा 170 के अनुसार निर्धारण किया जाता है। धारा 170 के अधीन दो बार निर्धारण किया जाता है, एक तो पूर्ववर्ती फर्म पर और दूसरा उत्तरवर्ती फर्म पर। उत्तराधिकार की तारीख ही निर्धारण की तारीख होगी। आय-कर अधिनियम का साधारण नियम यह है कि किसी निर्धारण वर्ष के लिए एक ही बार निर्धारण किया जाता है। धारा 188, धारा 170 का अपवाद है। इसमें फर्म के उत्तराधिकार में चले जाने की दशा में दो बार निर्धारण के लिए अनुध्यात किया गया है। धारा 187 पुनर्गठन के सम्बन्ध में है और इसमें दो बार निर्धारण के लिए उपबंध नहीं किया गया है। उन मामलों में, जो धारा 187 के अधीन आते हैं, पूरे वर्ष के लिए एक बार निर्धारण करना होगा। भागीदारी की साधारण विधि के अधीन, भारतीय भागीदारी अधिनियम के अधीन तथा आय-कर अधिनियमों के अधीन स्थिति यह है कि पुनर्गठन से पश्चात् भी फर्म अपनी पहचान और निर्धारणीय सत्ता कायम रखती है। इसलिए यह वही व्यक्ति है। अगर फर्म अपने पुनर्गठन से पूर्व उसके द्वारा फाइल की गई विवरणी में आय की विशिष्टियों को छिपाती है तो विधित: उस पर अधिनियम की धारा 271 (1) (ग) के अधीन शास्ति अधिरोपित की जा सकती है। इस उपबंध के अनुसार यदि इस अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां करते समय आय-कर अधिकारी या सहायक अपील आय-कर आयुक्त का यह समाधान हो जाता है कि किसी व्यक्ति ने अपनी आय की विशिष्टियों को छिपाया है या ऐसी आय के संबंध में जानबूझकर गलत विशिष्टियां प्रस्तुत की हैं तो वह ऐसे व्यक्ति से शास्ति के रूप में···संदत्त करने के लिए निदेश दे सकता है। इस उपबंध के अनुसार जिस व्यक्ति ने छिपाव किया है वह शास्ति का संदाय करने का दायी है, अगर इस व्यतिक्रम का पता इस अधिनियम के अधीन की जा रही कार्यवाहियों के समय लगता है। आय-कर के निर्धारण के लिए की जाने वाली कार्यवाहियां आय-कर अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां हैं।

इसलिए अगर सुसंगत अधिकारी का आय-कर के निर्धारण कार्यवाहियों के दौरान व्यतिक्रम के सम्बन्ध में समाधान हो जाता है तो उस व्यक्ति पर शास्ति का अधिरोपण किया जा सकता है, जिसके बारे में अवधारण कार्यवाहियां की जा रही थीं। यदि किसी मामले में, जहां पर किसी व्यक्ति का आयकर के लिए निर्धारण किया जाता है (अर्थात् पुनर्गठित फर्म) जो कि वही व्यक्ति है जिसने आय छिपा कर व्यतिक्रम किया है तब तो कोई कठिनाई नहीं है। व्यक्ति वही है इसलिए व्यक्ति पर, अर्थात् पुनर्गठित फर्म पर शास्ति अधिरोपित की जा सकती है। यही वर्तमान मामले में किया गया है। (पैरा 23, 24 और 35)

		पैरा
[1978]	(1978) 115 आई० टी० आर० 858 : बद्री नारायण काशी प्रसाद **बनाम** अतिरिक्त आय-कर आयुक्त (Badri Narain Kashi Prasad *Vs.* Additional Commissioner of Income-tax);	1,28,30, 34,39, 40
[1977]	(1977) 106 आई० टी० आर० 342 : आय-कर आयुक्त, लखनऊ **बनाम** शिव शंकर लाल राम नाथ (Commissioner of Income-tax, Lucknow *Vs.* Shiv Shanker Lal Ram Nath);	1,27,29, 30, 34, 40
[1968]	(1968) 67 आई० टी० आर० 273 : आय-कर आयुक्त **बनाम** भारत इंजीनियरिंग एण्ड कन्सट्रक्शन कम्पनी (Commissioner of Income-tax *Vs.* Bharat Engineering & Cosntruction Company)	27,30, 31,33, 40

से **असहमति** व्यक्त की गई।

[1982]	(1982) 136 आई० टी० आर० 379, 388 : आय-कर आयुक्त, दिल्ली-IV **बनाम** संत लाल अरविन्द कुमार (Commissioner of Income-tax, Delhi-IV *Vs.* Sant Lal Arvind Kumar);	17, 4, 44,45
[1980]	(1980) 122 आई० टी० आर० 479 : संगम सिल्क्स **बनाम** आय-कर आयुक्त, कर्नाटक (Sangam Silks	32

	Vs. Commissloner of Income-tax, Karnataka);	
[1977]	(1977) 168 आई० टी० आर० 466, 468 : अतिरिक्त आय-कर आयुक्त **बनाम** विशाखा फ्लौर मिल्स (Additional Commissioner of Income-tax *Vs.* Visakha Flour Mills);	34
[1976]	(1976) 103 आई० टी० आर० 517 : दाही लक्ष्मी दाल फैक्टरी **बनाम** आय-कर अधिकारी, सीतापुर और एक अन्य (Dahi Laxmi Dal Factory *Vs.* Income-tax Officer, Sitapur & another);	24,27, 30,39, 40,44, 45
[1971]	(1971) 79 आई० टी० आर० 164 : होशियारपुर इलैक्ट्रिक सप्लाई कं० **बनाम** आय-कर आयुक्त, पटियाला (Hoshiarpur Electric Supply Company *Vs.* Commissioner of Income-tax, Patiala);	34
[1968]	(1968) ए० आई० आर० 1968 गुजरात 157 : केशव लाल लल्लू भाई पटेल और अन्य **बनाम** पटेल भाई लाल नारंगदास और अन्य (Keshavlal Lallubhai Patel & others *Vs.* Patel Bhailal Narangdas and others);	13,42, 43
[1964]	(1964) 51 आई० टी० आर० 823 : शिव राम पोद्दार **बनाम** आय-कर अधिकारी, केन्द्रीय परिमण्डल-2 कलकत्ता (Sheo Ram Poddar *Vs.* Income-tax Officer, Central Circle-2, Calcutta);	21,39, 40,45
[1957]	ए० आई० आर० 1957 मद्रास 8 : मीनाक्षी अची **बनाम** पी० एस० एम० सुब्रामनियन चेट्टियार (Meenakshi Achi *Vs.* P. S. M. Subramanian Chettiar);	15,43
[1954]	ए० आई० आर० 1954 कलकत्ता 179 : सोहन लाल पचीसिया एण्ड कम्पनी **बनाम** बिलासरे (Sohan Lal Pachisia & Company *Vs.* Bilasray);	15,43

[1953]	ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 455 : आय-कर आयुक्त, पश्चिमी बंगाल **बनाम** मैसर्स ए० डब्ल्यू० फिग्स एण्ड कम्पनी (Commissioner of Income-tax, West Bengal *Vs.* Messrs A. W. Figgs & Co.) का **अवलम्ब** लिया गया।	16,20, 39,42, 43,44
[1973]	(1973) 92 आई० टी० आर० 141 : कुरुपुकुला सूर्यनारायण शेट्टी एण्ड संस **बनाम** आय-कर आयुक्त, मैसूर (Karupukula Suryanarayana Shetty & Sons *Vs.* Commissioner of Income-tax, Mysore);	31
[1971]	(1971) 80 आई० टी० आर० 356 (केरल) : एक्सल प्रोडक्शन्स **बनाम** आय-कर आयुक्त (Excel Productions *Vs.* Commissioner of Income-tax);	31
[1969]	(1969) 74 आई० टी० आर० 67 : आय-कर आयुक्त, बिहार और उड़ीसा **बनाम** किरकुंड कोल कम्पनी (Commissioner of Income-tax, Bihar & Orissa *Vs.* Kirkend Coal Company);	38
[1964]	(1964) 52 आई० टी० आर० 953 : किरकंड कोल कं० **बनाम** आय-कर आयुक्त, पटना (Kirkend Coal Company *Vs.* Commissioner of Income-tax, Patna) **निर्दिष्ट** किए गए।	38

सिविल निर्देश अधिकारिता : 1977 का आय-कर निर्देश सं० 549.

आय-कर अधिनियम के अधीन निर्देश।

अपीलार्थी की ओर से .... श्री सरन बिहारी लाल श्रीवास्तव

प्रत्यर्थी की ओर से .... श्री मार्कण्डेय काटजू

न्यायालय का निर्णय मु० न्या० सतीश चन्द्र ने दिया।

मु० न्या० सतीश चन्द्र :

एक न्यायपीठ ने, जिसका यह मत है कि इस न्यायालय की खण्डपीठ द्वारा **आय-कर आयुक्त, लखनऊ** बनाम **शिव शंकर लाल राम नाथ**[1] और पूर्ण न्यायपीठ द्वारा **बद्री नारायण काशी प्रसाद** बनाम **अतिरिक्त आय-कर आयुक्त**[2] में दिए गए विनिश्चयों के पुनर्विचार की आवश्यकता है, अधिकरण द्वारा उसे भेजे गए निर्देश को बृहत्तर न्यायपीठ को भेजा है। इसलिए वह इस पूर्ण न्यायपीठ के सम्मुख सुनवाई के लिए आया है।

2. सारतः विधि का प्रश्न यह है कि क्या किसी भागीदारी फर्म के पुनर्गठन होने पर कराधेय प्रयोजनों के लिए एक नई इकाई अस्तित्व में आ जाती है। उपरोक्त विनिश्चयों में इसका उत्तर हां में दिया गया था और इसके परिणामस्वरूप फर्म पर दो बार निर्धारण किए जाने होंगे, एक उसके पुनर्गठन से पूर्व और दूसरे उसके पुनर्गठन पर।

3. वर्तमान निर्देश आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 271(1)(ग) के अधीन लगाई शास्ति के उद्ग्रहण के प्रश्न के संबंध में है। निर्धारिती की ओर से यह दलील दी गई थी कि क्योंकि किसी भागीदारी फर्म के पुनर्गठन के पश्चात् एक नई निर्धारणीय इकाई अस्तित्व में आ जाती है, इसलिए पुरानी फर्म द्वारा किए गए व्यतिक्रम के लिए पुनर्गठित फर्म पर शास्ति अधिरोपित नहीं की जा सकती है। इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व हम तात्त्विक और सुसंगत तथ्य बताना चाहेंगे।

4. मैसर्स विश्वनाम सेठ आरम्भ में चांदी, बुलियन और सट्टा इत्यादि का कारबार करते थे। उनकी आय हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के रूप में निर्धारित की गई थी। परिवार के विभाजन के पश्चात्, 1 अगस्त, 1955 को, जो कि निर्धारण वर्ष 1957-58 के लिए सुसंगत है, कारबार भागीदारी फर्म में संपरिवर्तित हो गया। इस भागीदारी में विश्वनाथ सेठ और उसके 3 पुत्र भागीदार थे। उसके दो अवयस्क पुत्र फायदे में सम्मिलित कर लिए गए थे। 1958 में ये दो अवयस्क पुत्र वयस्क हो गए। उन्होंने भागीदारी में बने रहने का विकल्प दिया। इसके पश्चात् फर्म में विश्वनाथ सेठ और उसके 5 पुत्रों सहित छः भागीदार हो गए।

---

[1] (1977) 106 आई० टी० आर० 342.

[2] (1978) 115 आई० टी० आर० 858.

5. 1964 में विश्वनाथ सेठ की मृत्यु हो गई। उसके पांचों पुत्र उसी नाम से भागीदारी कारगार को चलाते रहे। किसी भी समय पर किसी बाहरी व्यक्ति को भागीदार नहीं बनाया गया था।

6. 10, 11 और 12 फरवरी, 1965 को आय-कर प्राधिकारियों ने फर्म के कारबार के परिसर पर छापे मारे थे। अपराध गठित करने वाली सामग्री प्राप्त हुई। निपटारे के लिए अन्वेषण और बातचीत की गई। परिणामस्वरूप फर्म ने अघोषित आय के रूप में कुल 1,62,326 रुपये की रकम बताई। यह बात मान ली गई कि इस आय को निर्धारण वर्ष 1957-58 से 1966-67 के लिए पहले से भेजी गई विवरणियों में जोड़ दिया जाए। प्रत्येक निर्धारण वर्ष में जोड़ी जाने वाली आय के सम्बन्ध में भी सहमति हो गई। यह बात भी स्वीकार कर ली गई कि इन तमाम निर्धारण वर्षों के लिए इस फर्म को पंजीकृत फर्म के रूप में माना जाएगा। निर्धारिती इस बात के लिए भी सहमत हो गए कि कुल 3,00,000 रुपये शास्ति के रूप में अधिरोपित किए जाएं। इसी के अनुसार निर्धारणों को संशोधित कर दिया गया।

7. सहायक आयुक्त (निरीक्षण) ने अपने दिनांक 7 जून, 1972 और 4 अक्तूबर, 1972 वाले आदेशों द्वारा फर्म पर विभिन्न वर्षों के लिए शास्ति अधिरोपित की :—

1957-58	22,800.00 रुपये
1958-59	24,600.00 रुपये
1959-60	26,700.00 रुपये
1960-61	5,400.00 रुपये
1961-62	48,950.00 रुपये
1962-63	47,000.00 रुपये
1963-64	27,200.00 रुपये
1964-65	22,600.00 रुपये
1965 66	26,500.00 रुपये
1966-67	30,500.00 रुपये
जोड़ :	2,82,250.00 रुपये

8. इससे व्यथित होकर निर्धारितियों ने अधिकरण के समक्ष अपील

की। निर्धारितियों द्वारा अधिकरण के सम्मुख दी गई दलीलों में से एक यह भी थी कि 1964 में विश्वनाथ सेठ की मृत्यु से फर्म में परिवर्तन हो गया था। पहले इसमें 6 भागीदार थे और इसकी मृत्यु के पश्चात् इसमें केवल 5 भागीदार रह गए थे। चूंकि दोनों फर्में भिन्न-भिन्न थीं, इसलिए नई फर्म पर उसके पुनर्गठन से पूर्व की अवधि के लिए शास्ति अधिरोपित नहीं की जा सकती। अधिकरण ने इस दलील को अस्वीकार कर दिया। उसने यह अभिनिर्धारित किया कि 1964 में फर्म का विघटन नहीं हुआ था। पांचों पुत्रों द्वारा भागीदारी में वही कारबार किया जाता रहा था। अपीलें खारिज कर दी गई थीं।

9. निर्धारिती के कहने पर इस न्यायालय ने अधिकरण से यह कहा कि वह विधि का निम्नलिखित प्रश्न उसके मत के लिए निर्देशित करे :—

> "क्या अधिकरण पुनर्गठित फर्म पर शास्ति के अधिरोपण की पुष्टि करने में सही था, जबकि छिपाव पिछली फर्म द्वारा किया गया था?"

10. इस निर्देश में अधिकरण द्वारा अभिलिखित इस निष्कर्ष० को प्रश्नगत नहीं किया गया है कि वर्तमान मामले में फर्म का विघटन नहीं हुआ था। भागीदारी अधिनियम के अधीन यह आवश्यक नहीं है कि किसी भागीदारी की मुत्यु के पश्चात् फर्म अवश्य विघटित हो। यह भागीदारी के लिए की गई संविदा के निबन्धनों पर निर्भर करता है।

11. इसलिए प्रश्न यह कि क्या फर्म के गठन में परिवर्तन के कारण (जैसा कि आय-कर अधिनियम की धारा 187 में प्रकल्पित है), निर्धारणीय इकाई के रूप में एक नई फर्म अस्तित्व में आ गई है?

12. आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 272 में किसी भी "व्यक्ति" पर, जिसने अन्य बातों के साथ-साथ अपनी आय की विशिष्टियों को छिपाया है, शास्ति अधिरोपित करने का उपबंध किया गया है। अगर किसी भागीदारी फर्म के पुनर्गठन के पश्चात् कोई भिन्न निर्धारणीय व्यक्ति अस्तित्व में आता है तो यह दलील दी जा सकती है कि पुनर्गठन से पूर्व अस्तित्वशील पुरानी फर्म द्वारा किए गए व्यतिक्रम के सम्बन्ध में, किसी दूसरे व्यक्ति पर शास्ति अधिरोपित नहीं की जा सकती।

13. बहुत से विनिश्चित मामलों में भागीदारी अधिनियम के अधीन की स्थिति पर विचार किया गया है। **केशवलाल लल्लूभाई पटेल और अन्य**

बनाम **पटेल भाईलाल नारनदास और अन्य**[1] वाले मामले में न्या० भगवती (जैसे कि वे तब थे) ने यह मत व्यक्त किया था :—

> "निस्संदेह यह सही है कि भारतवर्ष और इंग्लैण्ड में भी भागीदारी विधि के अन्तर्गत जिन भागीदारों से मिलकर यह बनी है उसके अतिरिक्त इसका कोई विधिक अस्तित्व नहीं है और भागीदारों का एक साथ उल्लेख करने के लिए यह एक संक्षिप्त नाम है और इसलिए विधि के सही दृष्टिकोण के अनुसार किसी फर्म को गठित करने वाले भागीदारों में हुए किसी परिवर्तन के परिणाम-स्वरूप वास्तव में एक नई फर्म बन जाती है।"

14. माननीय न्यायाधीश ने तब आगे यह अभिनिर्धारित किया :—

> "वाणिज्यिक प्रथा के अनुसार, जो किसी फर्म को सुभिन्न व्यक्ति या निगमकल्प (अर्ध निगम) के रूप में मान्यता प्रदान करता है, कानून भी कड़े कानूनी दृष्टिकोण से विचलित हो गया है और किसी फर्म को सीमित अस्तित्व प्रदान करता है, जिससे कि किसी भागीदार के प्रवेश, निवृत्ति, निष्कासन, मृत्यु या दिवालिया हो जाने के कारण इसके गठन में परिवर्तन के बावजूद भी यह बनी रहे। फर्म के विघटन के बिना उसमें किसी भागीदार के प्रवेश, निवृत्ति, निष्कासन, मृत्यु या दिवालिया होने के सम्बन्ध में उपबंध अध्याय V में दिए गए है।"

15. इसलिए बिना विघटन के होने वाले पुनर्गठन से कोई नई फर्म अस्तित्व में नहीं आती है। पुनर्गठन की दशा में वही फर्म अस्तित्व में बनी रहती है। यही दृष्टिकोण कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा **सोहन लाल पचीसिया एण्ड कम्पनी** बनाम **बिलासरे**[2] और मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा **मीनाक्षी अची** बनाम **पी० एस० एम० सुब्रामनियम चेट्टियार**[3] में अपनाया गया था।

16. उच्चतम न्यायालय ने इसी दृष्टिकोण को आय-कर आयुक्त, **पश्चिमी बंगाल** बनाम **मैसर्स ए० डब्ल्यू० फिग्स एण्ड कम्पनी**[4] वाले मामले

---

[1] ए० आई० आर० 1968 गुजरात 157.
[2] ए० आई० आर० 1954 कलकत्ता 179.
[3] ए० आई० आर० 1957 मद्रास 8.
[4] ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 455.

में अपनाया था। उसने यह अभिनिर्धारित किया :—

> "पुनर्गठित फर्म विघटित होने तक फर्म के उसी नाम के अन्तर्गत कारबार कर सकती है।"

17. दिल्ली उच्च न्यायालय ने **आय-कर आयुक्त, दिल्ली-IV बनाम संत लाल अरविन्द कुमार**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया था :—

> "जब कोई भागीदार निवृत्त हो जाता है या उसे फर्म से निष्कासित कर दिया जाता है, तो फ़र्म पहले के समान बनी रहती है और केवल यह कहा जा सकता है कि पुनर्गठन के कारण कुछ परिवर्तन हुआ है। किसी भागीदार के दिवालिया होने पर या उसकी मृत्यु हो जाने पर यह आवश्यक नहीं कि इसके परिणामस्वरूप फर्म विघटित हो जाए।"

18. उपर्युक्त मामले में यह मत भी व्यक्त किया गया था :—

> "अगर हम यह कल्पना कर सकते हैं कि भागीदारी कानूनी बंधन से बंधे हुए व्यक्तियों का संघ है, तो फर्म के गठन में हुए परिवर्तन से यह परिलक्षित होता है कि यह कानूनी बंधन का एक ऐसा समायोजन है, जो भागीदारों को आपस में बांधता है। यह एक पेटी (बेल्ट) के समान है जो सभी भागीदारों को घेरे में ले लेती है और वह पेटी आने वाले भागीदार को सम्मिलित करने और जाने वाले भागीदार के जाने को मूर्त रूप देने के लिए या तो सिकुड़ जाती है या फैल जाती है। दूसरी ओर विघटन से यह कानूनी बंधन टूट जाता है या भंग हो जाता है।

19. इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भागीदारी अधिनियम के अधीन किसी फर्म के गठन में परिवर्तन होने के बावजूद भी वह अस्तित्व में रहती है। यह विघटित होने पर अस्तित्व में नहीं रह जाती है।

20. वर्तमान मामले में निष्कर्ष यह है कि इसमें विघटन नहीं हुआ था, केवल पुनर्गठन हुआ था। चूंकि इस निष्कर्ष को चुनौती नहीं दी गई थी इसलिए हम इसी आधार पर आगे बढ़ते हैं। आय-कर अधिनियम फर्म को उसके भागीदारों से अलग एक सुभिन्न निर्धारणीय सत्ता मानता है। उपर्युक्त

---

1 (1982) 136 आई० टी० आर० 379 : 388.

1966-67 के लिए पहले से भेजी गई विवरणियों में जोड़ दिया जाए। प्रत्येक निर्धारण वर्ष में जोड़ी जाने वाली आय के सम्बन्ध में भी सहमति हो गई। यह बात भी स्वीकार कर ली गई कि इन तमाम निर्धारण वर्षों के लिए इस फर्म को पंजीकृत फर्म के रूप में माना जाएगा। निर्धारिती इस बात के लिए भी सहमत हो गए कि कुल 3,00,000·00 रुपये शास्ति के रूप में अधिरोपित किए जाएं। इसी के अनुसार निर्धारणों को संशोधित कर दिया गया। सहायक आयुक्त (निरीक्षण) ने अपने 7 जून, 1972 और 4 अक्तूबर, 1972 वाले आदेशों द्वारा फर्म पर विभिन्न वर्षों के लिए शास्ति अधिरोपित की। इससे व्यथित होकर निर्धारितियों ने अधिकरण के समक्ष अपील की। निर्धारितियों द्वारा अधिकरण के सम्मुख दी गई दलीलों में से एक यह भी थी कि 1964 में विश्वनाथ सेठ की मृत्यु से फर्म में परिवर्तन हो गया था। पहले इसमें 6 भागीदार थे और इसकी मृत्यु के पश्चात् इसमें केवल 5 भागीदार रह गए थे। क्योंकि दोनों फर्में भिन्न थीं इसलिए नई फर्म पर उसके पुनर्गठन से पूर्व की अवधि के लिए शास्ति अधिरोपित नहीं की जा सकती। अधिकरण ने इस दलील को अस्वीकार कर दिया। उसने यह अभिनिर्धारित किया कि 1964 में फर्म का विघटन नहीं हुआ था। पांचों पुत्रों द्वारा भागीदारी में वही कारबार किया जाता रहा था। अपीलें खारिज कर दी गई थीं। निर्धारिती के कहने पर इस न्यायालय ने अधिकरण से यह कहा कि वह विधि का निम्नलिखित प्रश्न उसके मत के लिए निर्देशित करे: "क्या अधिकरण पुनर्गठिन फर्म पर शास्ति के अधिरोपण की पुष्टि करने में सही था जबकि छिपाव पिछली फर्म द्वारा किया गया था ?" इस निर्देश में अधिकरण द्वारा अभिलिखित इस निष्कर्ष को प्रश्नगत नहीं किया गया है कि वर्तमान मामले में फर्म का विघटन नहीं हुआ था। भागीदारी अधिनियम के अधीन यह आवश्यक नहीं है कि किसी भागीदार की मृत्यु के पश्चात् फर्म अवश्य विघटित हो। यह भागीदारी के लिए की गई संविदा के निबन्धनों पर निर्भर करता है। इसलिए प्रश्न यह कि क्या फर्म के गठन में परिवर्तन के कारण (जैसा कि आयकर अधिनियम की धारा 187 में परिकल्पना की गई है), निर्धारणीय इकाई के रूप में एक नई फर्म अस्तित्व में आ गई है ?

अभिनिर्धारित—निदश का सकारात्मक उत्तर दिया गया।

आय-कर अधिनियम के अनुसार फर्म के पुनर्गठित होने पर उसके व्यक्तित्व में परिवर्तन नहीं होता है। यह (फर्म) वही व्यक्ति बना रहता

में अपनाया था। उसने यह अभिनिर्धारित किया :—

"पुनर्गठित फर्म विघटित होने तक फर्म के उसी नाम के अन्तर्गत कारबार कर सकती है।"

17. दिल्ली उच्च न्यायालय ने **आय-कर आयुक्त, दिल्ली-IV** बनाम **संत लाल अरविन्द कुमार**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया था :—

"जब कोई भागीदार निवृत्त हो जाता है या उसे फर्म से निष्कासित कर दिया जाता है, तो फ़र्म पहले के समान बनी रहती है और केवल यह कहा जा सकता है कि पुनर्गठन के कारण कुछ परिवर्तन हुआ है। किसी भागीदार के दिवालिया होने पर या उसकी मृत्यु हो जाने पर यह आवश्यक नहीं कि इसके परिणामस्वरूप फर्म विघटित हो जाए।"

18. उपर्युक्त मामले में यह मत भी व्यक्त किया गया था :—

"अगर हम यह कल्पना कर सकते हैं कि भागीदारी कानूनी बंधन से बंधे हुए व्यक्तियों का संघ है, तो फर्म के गठन में हुए परिवर्तन से यह परिलक्षित होता है कि यह कानूनी बंधन का एक ऐसा समायोजन है, जो भागीदारों को आपस में बांधता है। यह एक पेटी (बेल्ट) के समान है जो सभी भागीदारों को घेरे में ले लेती है और वह पेटी आने वाले भागीदार को सम्मिलित करने और जाने वाले भागीदार के जाने को मूर्त रूप देने के लिए या तो सिकुड़ जाती है या फैल जाती है। दूसरी ओर विघटन से यह कानूनी बंधन टूट जाता है या भंग हो जाता है।

19. इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भागीदारी अधिनियम के अधीन किसी फर्म के गठन में परिवर्तन होने के बावजूद भी वह अस्तित्व में रहती है। यह विघटित होने पर अस्तित्व में नहीं रह जाती है।

20. वर्तमान मामले में निष्कर्ष यह है कि इसमें विघटन नहीं हुआ था, केवल पुनर्गठन हुआ था। चूंकि इस निष्कर्ष को चुनौती नहीं दी गई थी इसलिए हम इसी आधार पर आगे बढ़ते हैं। आय-कर अधिनियम फर्म को उसके भागीदारों से अलग एक सुभिन्न निर्धारणीय सत्ता मानता है। उपर्युक्त

---

1 (1982) 136 आई० टी० आर० 379 : 388.

फिग्स[1] वाले मामले में आय-कर अधिनियम, 1922 के अंतर्गत इस प्रश्न पर विचार किया गया था। आय-कर अधिनियम, 1922 की धारा 25(4) पर विचार करते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था :—

> "इस धारा के उपबन्धों से यह परिणाम निकलता है कि केवल भागीदारी के गठन के परिवर्तन से यह आवश्यक नहीं है कि कोई नई निर्धारणीय इकाई या सुभिन्न निर्धारणीय सत्ता अस्तित्व में आ जाती है।"

21. **शिव राम पोद्दार** बनाम **आय-कर अधिकारी, केन्द्रीय परिमण्डल-2, कलकत्ता**[2] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने इसी सिद्धांत को दोहराया था। इसने यह अभिनिर्धारित किया :—

> "........फर्म के पुनर्गठन से फर्म के व्यक्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं होता है।"

22. बाद में इसने यह मत व्यक्त किया :—

> "परन्तु आय-कर अधिनियम फर्म को निर्धारण के प्रयोजनों के लिए उसको गठित करने वाले भागीदारों से अलग इकाई मानता है। यह फर्म को ऐसा व्यक्तित्व प्रदान करता है, जो पुनर्गठन के पश्चात् भी बना रहता है।"

23. इस प्रकार आय-कर अधिनियम के अनुसार फर्म के पुनर्गठित होने पर उसके व्यक्तित्व में परिवर्तन नहीं होता है। यह (फर्म) वही व्यक्ति बना रहता है। इसलिए आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 271 के अधीन किसी फर्म के पुनर्गठन के पश्चात् उसके द्वारा पुनर्गठन से पूर्व किए गए व्यतिक्रम के सम्बन्ध में शास्ति अधिरोपित की जा सकती थी।

24. आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 187 किसी फर्म के निर्धारण के लिए उपबंध करती है, जब निर्धारण के समय यह पता चलता है कि फर्म के गठन में परिवर्तन हो चुका है। अधिनियम की धारा 188 उस

---

1 ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 455.

2 (1964) 51 आई० टी० आर० 823.

फर्म के निर्धारण के लिए उपबंध करती है, जहां पर कारबार कर रही फर्म को कोई दूसरी फर्म अपने हाथ में ले लेती है। धारा 188 के अन्तर्गत आने वाले मामले में धारा 170 के अनुसार निर्धारण किया जाता है। धारा 170 के अधीन दो बार निर्धारण किया जाता है, एक तो पूर्ववर्ती फर्म पर और दूसरा उत्तरवर्ती फर्म पर। उत्तराधिकार की तारीख ही निर्धारण की तारीख होगी। आय-कर अधिनियम के अधीन साधारण नियम यह है कि किसी निर्धारण वर्ष के लिए एक ही बार निर्धारण किया जाता है। धारा 188, धारा 170 का अपवाद है। इसमें फर्म के उत्तराधिकार में चले जाने की दशा में दो बार निर्धारण अनुज्ञात किया गया है। धारा 187 पुनर्गठन के सम्बन्ध में है और इसमें दो बार निर्धारण के लिए उपबंध नहीं किया गया है। उन मामलों में, जो धारा 187 के अधीन आते हैं, पूरे वर्ष के लिए एक बार निर्धारण करना होगा। हमारे न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष **दाल लक्ष्मी-दाल फैक्टरी** बनाम **आय-कर अधिकारी, सीतापुर और एक अन्य**[1] वाले मामले में यह प्रश्न विचारार्थ उठा था। तथ्य यह था कि किसी भागीदार की मृत्यु के कारण फर्म विघटित हो गई थी। बहुमत ने यह अभिनिर्धारित किया कि मामला अधिनियम की धारा 188 के अधीन आता है न कि धारा 187 और इसलिए दो बार निर्धारण किए जाने की आवश्यकता थी। तथापि, उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया :—

> "अगर किसी फर्म का पुनर्गठन किया जाना है तो उसे अस्तित्व में अवश्य होना चाहिए।"

25. विद्वान् न्यायाधीश ने, जिन्होंने विसम्मत निर्णय दिया था, यह अभिनिर्धारित किया कि विघटित फर्म के पुनर्गठित हो जाने पर धारा 187 लागू होती है। तब उन्होंने इस बात पर विचार किया कि क्या उन मामलों का, जो धारा 187 के अधीन आते हैं, दो बार निर्धारण किया जाना चाहिए, एक पुरानी फर्म पर और दूसरा पुनर्गठित फर्म पर। विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया :—

> "जहां तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि क्या गठन के पश्चात् कोई फर्म इस प्रकार परिवर्तित हो जाती है, जैसी कि आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 187 में, जो कि आय-कर अधिनियम, 1922 की धारा 26 के समान है, वर्णित है, वही फर्म बनी रहती

---

[1] (1976) 103 आई० टी० आर० 517.

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

है या नहीं, उच्चतम न्यायालय ने आय-कर आयुक्त **बनाम** भारत इंजीनियरिंग एण्ड कन्स्ट्रक्शन कम्पनी, [(1968) 67 आई०टी०आर० 273, 280 (मैसूर)] में यह मत व्यक्त किया था :—

यद्यपि अधिनियम के अधीन अरजिस्ट्रीकृत फर्म इसी रूप में निर्धारणीय है तथापि निधारण के मामले में, जैसा कि धारा 26(1) में द्रष्टव्य है कि निर्धारण के समय गठित फर्म का ही निर्धारण किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि यह पता चलता है कि फर्म के गठन में परिवर्तन हुआ है तो निर्धारण के समय गठित फर्म का निर्धारण होगा न कि जो फर्म पहले अस्तित्व में थी। इस। यह सिद्ध होता है कि निर्धारण के प्रयोजन के लिए फर्म के गठन में हुए प्रत्येक परिवर्तन से एक नई फर्म अस्तित्व में आती है।"

निष्कर्ष यह है कि जब किसी फर्म के गठन में परिवर्तन होता है तो एक नई फम अस्तित्व में आती है यद्यपि कुछ प्रयोजनों के लिए उसमें से पुरानी फर्म की झलक मिलती है। यह नई फर्म उसके गठन से पूर्व वाली फर्म से सुभिन्न निर्धारणीय सत्ता बन जाती है।

26. विद्वान् न्यायाधीश ने इस मूल सिद्धांत के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया कि पुनर्गठन के मामले में भी पुरानी फर्म और नई फर्म द्वारा प्राप्त की गई आय के सम्बन्ध में भिन्न आदेश पारित किए जाने चाहिए।

27. इस न्यायालय के खण्ड न्यायापीठ ने **दाही लक्ष्मी वाले मामले**[1] में विसम्मत निर्णय में अपनाए गए दृष्टिकोण को **शिव शंकर लाल**[2] वाले मामले में भी अपनाया। दुर्भाग्यवश न्यायपीठ का ध्यान **दाही लक्ष्मी**[1] वाले पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय की ओर नहीं दिलाया गया था। इस विनिश्चय में उच्चतम न्यायालय के **भारत इंजीनियरिंग कम्पनी**[3] वाले विनिश्चय का अवलम्ब लेते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया था कि पुनर्गठित फर्म उसके पुनर्गठन से पूर्व वाली फर्म से भिन्न एक सुभिन्न निर्धारणीय सत्ता बन जाती है।

28. पूर्ण न्यायपीठ के **बद्री नारायण**[4] वाले मामलें में 1972 के

---

1 *(1976)* 103 आई० टी० आर० 517.

2 *(1977)* 106 आई० टी० आर० 342.

3 *(1968)* 67 आई० टी० आर० 273.

4 *(1978)* 115 आई० टी० आर० 858.

निर्देश संख्या 854 में उठाए गए प्रश्नों में से एक प्रश्न यह था कि क्या पुनर्गठित फर्म उसके पुनर्गठन से पूर्व फर्म द्वारा उपार्जित आय के लिए अर्थात् भागीदार की मृत्यु से पूर्व, निर्धारण के लिए दायी थी।

29. पूर्ण न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया :—

"शिव शंकर लाल, [(1977) 106 आई० टी० आर० 342 (इलाहाबाद)] वाले मामले में इस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया था कि धारा 187 केवल नई फर्म को पुरानी फर्म द्वारा अर्जित आय के लिए निर्धारण के लिए दायी बनाती है। लेकिन विवक्षा द्वारा भी यह धारा इस विधिक कल्पना की सृष्टि नहीं करती कि पुरानी फर्म की आय पुनर्गठित फर्म की आय बन जाती है। पुरानी फर्म की आय को पुनर्गठित फर्म की आय के साथ मिलाया नहीं जा सकता। पुनर्गठन के पश्चात् फर्म उसके पुनर्गठन से पूर्व वाली फर्म से भिन्न एक सुभिन्न निर्धारणीय सत्ता बन जाती है। इसलिए पुनर्गठित फर्म के विरुद्ध दो निर्धारण आदेश पारित करने होंगे, एक उस आय के सम्बन्ध में, जो उसके पुनर्गठन से पूर्व प्राप्त की थी और दूसरा उस आय के सम्बन्ध में, जो पुनर्गठन के पश्चात् उसने प्राप्त की थी। न्यायपीठ ने अपने दृष्टिकोण के समर्थन में मैसूर उच्च न्यायालय के भारत इंजीनियरिंग कम्पनी, [(1968) 67 आई० टी० आर० 273] वाले मामले का उल्लेख किया।"

इस प्रकार उसने **शिवशंकर वाले मामले**[1] में दिए गए विनिश्चय से सहमति प्रकट की।

30. **भारत इंजीनियरिंग कम्पनी**[2] वाला मामला उच्चतम न्यायालय का विनिश्चय नहीं है। यह मैसूर उच्च न्यायालय का विनिश्चय था। परन्तु दुर्भाग्यवश विसम्मत निर्णय देने वालों ने **दाही लक्ष्मी**[3] वाले मामले में तथा **शिवशंकर लाल**[1] और साथ ही साथ पूर्ण न्यायपीठ वाले **बद्री नारायण**[4] वाले मामले में प्रकट किए गए मत को उच्चतम न्यायालय

[1] (1977) 106 आई० टी० आर० 342.
[2] (1968) 67 आई० टी० आर० 273.
[3] (1976) 103 आई० टी० आर० 517.
[4] (1978) 115 आई० टी० आर० 858.

का विनिश्चय मानते हुए उसे विधि की आबद्धकर घोषणा अभिनिर्धारित किया गया ।

31. चूंकि यह उच्चतम न्यायालय का विनिश्चय नहीं था बल्कि मैसूर उच्च न्यायालय का विनिश्चय था, इसलिए उसे आबद्धकर नज़ीर नहीं माना जा सकता । **भारत इंजीनियरिंग कम्पनी**[1] वाले मामले में मैसूर उच्च न्यायालय द्वारा प्रकट किया गया यह मत "किसी फर्म के गठन के प्रत्येक परिवर्तन पर निर्धारण के प्रयोजनों के लिए एक नई फर्म अस्तित्व में आती है" उस न्यायालय के सम्मुख **कुरुपुकुला सूर्यनारायण शेट्टी एण्ड संस** बनाम **आय-कर आयुक्त, मैसर**[2] वाले मामले में विचारार्थ आया था । इस मामले में मैसूर उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था :—

> "यह मामला यह अधिकथित नहीं करता है कि जब कभी भी किसी फर्म के गठन में परिवर्तन होता है तो निर्धारण के लिए अलग से आदेश किए जाएंगे ।"

इस प्रतिपादना के लिए इसने केरल उच्च न्यायालय के **एक्सल प्रोडक्शन** बनाम **आय-कर आयुक्त**[5] वाले मामले का अवलम्ब लेते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि अगर मामला धारा 187 के अधीन आता है तो धारा 188 के अधीन अलग से निर्धारण आदेश देने की आवश्यकता नहीं है ।

32. कर्नाटक उच्च न्यायालय ने (मैसूर उच्च न्यायालय का उत्तरवर्ती) **संगम सिल्क** बनाम **आय-कर आयुक्त, कर्नाटक**[4] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया था :—

> "धारा 187 निर्धारण के प्रयोजनों के लिए पुनर्गठन से पूर्व और पुनर्गठित फर्म को एक ही 'व्यक्ति' मानती है । इस प्रकार अधिनियम के उपबंधों के अनुसार फर्म को उसके भागीदारों से भिन्न एक अलग और सुभिन्न सत्ता और स्वतंत्र माना गया है, यदि वह धारा 187 (2) में वर्णित परिवर्तनों के अनुसार उसके गठन में परिवर्तन के बावजूद भी अस्तित्व में बनी रहती है ।"

33. इसने **भारत इंजीनियरिंग कम्पनी**[1] वाले मामले पर भी विचार

---

1 (1968) 67 आइ० टी० आर० 273.

2 (1973) 92 आई० टी० आर० 141.

3 (1971) 80 आई० टी० आर० 356 (केरल).

4 (1980) 122 आई० टी० आर० 479.

किया, विशेषतया उस मत पर कि भागीदारी में हुए प्रत्येक परिवर्तन पर एक नई फर्म अस्तित्व में आ जाती है। इस मत के प्रति निर्देश करते हुए यह अभिनिर्धारित किया :—

> "मेरी राय में, उक्त मत निर्धारिती की कोई सहायता नहीं करता है। धारा 187 की उपधारा (2) विनिर्दिष्ट रूप से उन परिस्थितियों का उल्लेख करती है, जिनसे यह माना जाना चाहिए कि फर्म के गठन में परिर्वतन हुआ है। धारा 187(2) के उपबंधों के अनुसार यह दलील नहीं दी जा सकती कि उसके गठन में उसमें वर्णित प्रकृति के किसी परिवर्तन के परिणामस्वरूप एक नई फर्म अस्तित्व में आती है।"

यह द्रष्टव्य है कि मैसूर उच्च न्यायालय का यह विनिश्चय इस न्यायालय के शिव शंकर लाल[1] वाले मामले के विनिश्चय से भिन्न है।

34. इस न्यायालय द्वारा **शिव शंकर लाल**[1] वाले मामले में अपनाए गए मत का अनुसरण पूर्ण न्यायपीठ के **बद्री नारायण**[2] वाले मामले में किया गया था और पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के **होशियारपुर इलैक्ट्रिक कम्पनी**[3] वाले मामले से, आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के **विसाखा फ्लोर मिल्स**[4] वाले मामले से तथा दिल्ली उच्च न्यायालय के **संत लाल**[5] वाले मामले से असहमति प्रकट की गई। इन सभी विनिश्चयों में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि धारा 187 के अधीन गठन के मामलों में फर्म वही बनी रहती है और पूर्व वर्ष की संपूर्ण आय के लिए निर्धारणीय है। हमारे मतानुसार यही सही विधिक स्थिति है।

35 इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि भागीदारी की साधारण विधि के अधीन, भारतीय भागीदारी अधिनियम के अधीन तथा आय-कर अधिनियमों के अधीन स्थिति यह है कि पुनर्गठन के पश्चात् भी फर्म अपनी अनन्यता और निर्धारणीय सत्ता कायम रखती है। इसलिए यह वही व्यक्ति है। अगर फर्म अपने पुनर्गठन से पूर्व उसके द्वारा फाइल की गई विवरणी में आय की विशिष्टियों

---

[1] (1977) 106 आई० टी० आर० 342.
[2] (1978) 115 आई० टी० आर० 858.
[3] (1971) 79 आई० टी० आर० 164.
[4] (1977) 168 आई० टी० आर० 466, 488 (पूर्ण न्यायपीठ)।
[5] (1982) 136 आई० टी० आर० 379, 388.

को छिपाती है तो विधित: उस पर अधिनियम की धारा 271 (1) (ग) के अधीन शास्ति अधिरोपित की जा सकती है। इस उपबन्ध के अनुसार यदि इस अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां करते समय आय-कर अधिकारी या सहायक अपील आय-कर आयुक्त का यह समाधान हो जाता है कि किसी व्यक्ति ने अपनी आय की विशिष्टियों को छिपाया है या ऐसी आय के सम्बन्ध में जान-बूझकर गलत विशिष्टियां प्रस्तुत की हैं तो वह ऐसे व्यक्ति से शास्ति के रूप में........संदत्त करने के लिए निदेश दे सकता है। इस उपबन्ध के अनुसार जिस व्यक्ति ने छिपाव किया है वह शास्ति का संदाय करने का दायी है, अगर इस व्यतिक्रम का पता इस अधिनियम के अधीन की जा रही, कार्यवाहियों के समय लगता है। आय-कर के निर्धारण के लिए की जाने वाली कार्यवाहियां आय-कर अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां हैं। इसलिए अगर सुसंगत अधिकारी का आय-कर के निर्धारण कार्यवाहियों के दौरान व्यतिक्रम के सम्बन्ध में समाधान हो जाता है तो उस व्यक्ति पर शास्ति का अधिरोपण किया जा सकता है, जिसके बारे में अवधारण कार्यवाहियां की जा रही थीं। यदि किसी मामले में जहां पर किसी व्यक्ति का आय-कर के लिए निर्धारण किया जाता है (अर्थात् पुनर्गठित फर्म) जो कि वही व्यक्ति है जिसने आय छिपा कर व्यतिक्रम किया है तब तो कोई कठिनाई नहीं है। व्यक्ति वही है इसलिए व्यक्ति पर, अर्थात् पुनर्गठित फर्म पर शास्ति अधिरोपित की जा सकती है। यही वर्तमान मामले में किया गया है।

36. अधिकरण ने मामले के सम्बन्ध में एक विवरण प्रस्तुत किया और इस न्यायालय के मत के लिए निम्नलिखित प्रश्न निर्दिष्ट किया :—

> "क्या अधिकरण ने पुनर्गठित फर्म पर शास्ति के उद्ग्रहण को ठीक ही अनुमोदित कर दिया था जबकि छिपाव पूर्ववर्ती फर्म द्वारा किया गया था ?"

37. इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर हम राजस्व के पक्ष में और निर्धारिती के विरुद्ध देते हैं। आयुक्त खर्चे, जो 1,000 रुपये निर्धारित किए गए हैं, पाने का हकदार है। विभाग के विद्वान् काउंसेल की फीस 200 रुपये निश्चित की जाती है।

न्या० आर० एम० सहाय के मतानुसार :

विश्वनाथ सेठ और उसके 5 पुत्र एक फर्म के भागीदार थे। 1964 में विश्वनाथ सेठ की मृत्यु हो गई। इसके पुत्रों ने नया क़रार किया और एक नई

भागीदारी लिखत निष्पादित की । प्रश्न यह है कि क्या इस पुनर्गठित फर्म को आय-कर अधिनियम (जिसे इसमें इसके पश्चात अधिनियम कहा गया है) की धारा 271 के अधीन उस फर्म द्वारा, जिसका एक भागीदार पिता भी था, आय को छिपाने के लिए या गलत विशिष्टियां इत्यादि प्रस्तुत करने की लिए दण्डित किया जा सकता है ? अधिकरण के सम्मुख यह दलील दी गई कि 1964 में पिता की मृत्यु के पश्चात् फर्म के गठन में परिवर्तन हो गया था इसलिए अधिरोपित शास्ति **आयकर आयुक्त बिहार और उड़ीसा** बनाम **किरकंड कोल कम्पनी**[1] और **किरकंड कोल कम्पनी** बनाम **आयकर आयुक्त, पटना**[2] वाले विनिश्चयों की दृष्टि से अवैध है । इस दलील को स्वीकार नहीं किया गया, क्योंकि 1964 में फर्म का विघटन नहीं हुआ था और यह भी कि ये भागीदार 1964 के भागीदारों से भिन्न नहीं थे । दूसरी ओर यह एक कौटुम्बिक भागीदारी फर्म थी जो हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कारबार के बंटवारे के पश्चात् अस्तित्व में आई थी और जिसे पिता और उसके 5 पुत्रों द्वारा चलाया जा रहा था। पिता की मृत्यु के पश्चात् कारबार 5 पुत्रों द्वारा भागीदारी में चलाया जा रहा था । तथापि इस न्यायालय के निर्देश पर अधिकरण ने इस न्यायालय का मत जानने के लिए निम्नलिखित प्रश्न निर्दिष्ट किया था :—

> "क्या अधिकरण ने पुनर्गठित फर्म पर शास्ति के उद्ग्रहण को ठीक ही अनुमोदित कर दिया था जबकि छिपाव पूर्ववर्ती फर्म द्वारा किया गया था ?"

39. जब यह निर्देश सुनवाई के लिए खण्ड न्यायपीठ के समक्ष आया तो यह दलील दी गई कि पिता की मृत्यु पर फर्म विघटित हो गई थी और भागीदारी के नए अभिलेख के निष्पादन के कारण एक नई फर्म अस्तित्व में आ गई, जिसने पहले वाली फर्म के कारबार को अपने हाथ में ले लिया । न्यायपीठ ने इस दलील की जांच नहीं की क्योंकि निर्धारिती का यह पक्षकथन था कि विश्वनाथ सेठ की मृत्यु के पश्चात् फर्म के गठन में परिवर्तन हो गया था और इसी आधार पर निर्धारिती के कथन की जांच की गई थी। प्रश्न यह है कि शास्ति के उद्ग्रहण के प्रयोजनों के लिए विश्वनाथ सेठ की मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व में आने वाली फर्म क्या एक नई फर्म थी ? न तो यह दलील दी गई थी और न ही अधिकरण द्वारा इस पर विचार किया गया था कि वह

---

[1] (1969) 74 आई० टी० आर० 67.

[2] (1964) 52 आई० टी० आर० 953.

पुनर्गठित फर्म थी। इसके पश्चात् न्यायपीठ ने पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेलों द्वारा किए गए निवेदनों को इस प्रकार नोट किया कि यद्यपि हमारे सम्मुख मुख्य संविवाद इस प्रश्न के इर्द-गिर्द घूमता है कि क्या पुनर्गठन के पश्चात् फर्म की पहचान में परिवर्तन हो गया है और वह एक भिन्न निर्धारणीय व्यक्ति बन गई है ? राजस्व का पक्षकथन यह है कि फर्म के गठन में परिवर्तन के होते हुए भी निर्धारणीय व्यक्ति के रूप में फर्म की पहचान बनी रहती है और इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। पुनर्गठित फर्म वही व्यक्ति बनी रहती है, जो कि वह पुनर्गठन से पूर्व थी और उसे, जैसी कि वह पुनर्गठन से पूर्व थी, फर्म द्वारा की गई गलती के लिए उत्तरदायी बनाया जा सकता है। निर्धारिती का यह पक्षकथन है कि ऐसे पुनर्गठन से फर्म की पहचान में परिवर्तन हो जाता है और निर्धारण के प्रयोजनों के लिए एक बिल्कुल ही भिन्न व्यक्ति और सत्ता अस्तित्व में आ जाती है और उच्चतम न्यायालय के **आय-कर आयुक्त** बनाम **ए० डब्ल्यू० फिग्ज**[1] और **शिवराम पोद्दार** बनाम **आय-कर आयुक्त**[2] वाले दो विनिश्चयों में व्यक्त किए गए इस मत का अवलम्ब लिया कि आयकर अधिनियम के अधीन निर्धारण के प्रयोजनों के लिए फर्म एक सुभिन्न सत्ता है और इसका अपना एक व्यक्तित्व है जो नए भागीदार के प्रवेश से या भागीदारों के जाने के कारण हुए पुनर्गठन के परिणामस्वरूप परिवर्तित नहीं होती है। लेकिन ये विचार ऐसे मामले में, जहां पर पुनर्गठन से पूर्व एक भागीदार की मृत्यु हो जाती है, इस न्यायालय के **दाही लक्ष्मी दाल फैक्टरी** बनाम **आय-कर अधिकारी, सीतापुर**[3] और **बद्री नारायण काशी प्रसाद** बनाम **सहायक विक्रय-कर आयुक्त**[4] वाले पूर्ण न्यायपीठ के दो विनिश्चयों के विपरीत हैं और आगे चूंकि न्यायपीठ के अनुसार **फिग्ज वाले मामले**[1] में उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रकट किए गए मतों के प्रभाव और विवक्षाओं पर विचार नहीं किया गया था, इसलिए यह निदेश दिया गया कि मामले के कागज-पत्रों को माननीय मुख्य न्यायाधीश द्वारा गठित बृहत्तर न्यायपीठ के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए।

40. **दाही लक्ष्मी**[3] (उपर्युक्त) मामले में हममें से एक (माननीय न्या० एच० एन० सेठ) का विसम्मत निर्णय था। **शिवराम पोद्दार** बनाम

---

1 ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 455.

2 (1964) 51 आई० टी० आर० 823.

3 (1976) 103 आई० टी० आर० 517.

4 1978 यू० पी० टी० सी० 532 (115 आई० टी० आर० 858).

आय-कर अधिकारी[1] वाले विनिश्चय का अवलम्ब लेते हुए माननीय न्यायाधीश का यह मत था कि "केवल इस बात से कि फर्म को गठित करने वाले भागीदारों में से एक की मृत्यु हो गई है, आय-कर अधिनियम की धारा 187 के प्रयोजनों के लिए इसके घटकों (गठन) में परिवर्तन नहीं हो जाता है।" इसके पश्चात् माननीय न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि उसका यह मत है कि जैसा कि 1961 के अधिनियम की धारा 187 से स्पष्ट होता है कि मामला फर्म के पुनर्गठन का है तो उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह इस बात पर विचार-विमर्श करे कि क्या ऐसी परिस्थितियों में पुरानी और नई गठित फर्म को एक निर्धारण में संयुक्त किया जा सकता है। **आय-कर आयुक्त** बनाम **भारत इंजीनियरिंग एण्ड कन्स्ट्रक्शन कम्पनी**[2] वाले मामले का अवलम्ब लेते हुए माननीय न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि चाहे पुनर्गठन के पश्चात् भी फर्म इस पुनर्गठन से पूर्व प्राप्त आय के सम्बन्ध में निर्धारण के लिए दायी हो सकती है, तो भी पुरानी फर्म की आय को नई फर्म की आय में नहीं जोड़ा जा सकता। अगर ऐसा किया जाता है तो ऐसे मामले में पुरानी फर्म द्वारा प्राप्त की गई आय और उसके द्वारा प्राप्त की गई आय के सम्बन्ध में विभिन्न आदेश पारित करना आवश्यक हो जाता है। **आय-कर आयुक्त** बनाम **शिव शंकर लाल**[3] वाले मामले में पुनर्गठित फर्म के सम्बन्ध में किए गए एक या दो आदेश फिर विचारार्थ आए और इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ द्वारा, जिसमें हममें से दो, जिसके सदस्य थे (माननीय मुख्य न्यायमूर्ति और माननीय न्यायाधीश एच० एन० सेठ), यह अभिनिर्धारित किया गया था जब किसी फर्म के गठन में परिवर्तन होता है तो एक नई फर्म अस्तित्व में आती है, यद्यपि कतिपय प्रयोजनों के लिए यह पहली फर्म के व्यक्तित्व को झलकाती है। नई फर्म पुनर्गठन से पूर्व वाली फर्म से भिन्न एक सुभिन्न निर्धारणीय सत्ता होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि **दाही लक्ष्मी**[4] (उपर्युक्त) वाले मामले में बहुमत द्वारा अपनाए गए मत को न्यायपीठ के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया गया था। **बद्री नारायण केशव प्रसाद** बनाम **अतिरिक्त आय-कर आयुक्त**[5] वाले मामले में इस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने, जिसके सदस्य हम में से दो थे, (माननीय मुख्य न्यायमूर्ति और माननीय

---

[1] (1964) 51 आई० टी० आर० 823.

[2] (1968) 67 आई० टी० आर० 273.

[3] (1977) 106 आई० टी० आर० 342.

[4] (1976) 103 आई० टी० आर० 517.

[5] (1978) 115 आई० टी० आर० 858.

न्यायाधीश आर० एम० सहाय) इस विनिश्चय का अनुसरण किया। बुनियादी रूप से खण्ड न्यायपीठ ने यह निर्देश दिया था क्योंकि इस न्यायालय के ऊपर वर्णित **आय-कर आयुक्त** बनाम **भारत इंजीनियरिंग एण्ड कन्सट्रक्शन कम्पनी**[1] वाले मामले से भिन्न किसी भी मामले में इस दृष्टिकोण के समर्थन में कि आय-कर अधिनियम के प्रयोजनों के लिए फर्म के पुनर्गठन से एक सुभिन्न और अलग निर्धारणीय सत्ता अस्तित्व में आ जाती है, उद्धृत नहीं किया गया था।

41. ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्देश इसलिए किया गया था कि इस न्यायालय ने यह दृष्टिकोण अपनाया था कि फर्म के पुनर्गठन पर भी दो निर्धारण आदेश होने चाहिए।

42. आय-कर अधिनियम के अधीन फर्म और भागीदार को उसी अर्थ के संदर्भ में देखा जाना चाहिए जो उसे भारतीय भागीदारी अधिनियम [आय-कर अधिनियम की धारा 2(23)] में दिया गया है। इस बात की जांच की जानी चाहिए कि किसी भागीदार की मृत्यु पर फर्म पुनर्गठित हो जाती है या विघटित हो जाती है। भारतीय भागीदारी अधिनियम की धारा 4 भागीदार और फर्म में इस प्रकार परिभाषित करती है, "वे व्यक्ति, जिन्होंने एक दूसरे से भागीदारी कर ली है, व्यष्टितः 'भागीदार' और सामूहिक रूप से 'फर्म' कहलाते हैं।" इसलिए भागीदारों से भिन्न किसी फर्म का कोई विधिक अस्तित्व नहीं है और भागीदारों का उल्लेख करने के लिए यह केवल एक संक्षिप्त नाम है। (देखिए **आय-कर आयुक्त** बनाम **ए० डब्ल्यू० फिग्ज**[2]) शब्दकोश में पुनर्गठन का अर्थ "फिर से गठन करना" है। प्रश्न यह है कि इसे फर्म के सम्बन्ध में किस प्रकार समझा जाना चाहिए ? फर्म केवल इसके भागीदारों का संक्षिप्त नाम है और इसका गठन और पुनर्गठन सम्मिलित होने वाले, जाने वालों और उनकी मृत्यु होने पर निर्भर करता है। तथापि, यह सब करार के अध्यधीन होता है, क्योंकि भागीदारी केवल "उन व्यक्तियों के बीच का सम्बन्ध है, जिन्होंने किसी ऐसे कारबार के लाभों में अंश पाने का करार कर लिया है जो उन सबके द्वारा या उनमें से ऐसे किन्हीं या किसी के द्वारा, जो उन सबकी ओर से कार्य कर रहा है, चलाया जाता है।" (भारतीय भागीदारी अधिनियम की धारा 4)। भागीदार के प्रवेश, इसके चले जाने, उसके निष्कासन और उसके दिवाले के सम्बन्ध में

---

1 *(1968)* 67 आई० टी० आर० 273.

2 ए० आई० आर० *1953* एस० सी० 455.

भागीदारी अधिनियम के अध्याय V में उपबंध किया गया है, जबकि किसी भागीदार की मृत्यु, विकृतचित्तता, कर्त्तव्यों के पालन में असमर्थता इत्यादि के सम्बन्ध में अध्याय VI में उपबन्ध किया गया है। उनके परिणाम भी भिन्न हैं। अध्याय V में बताई गई किसी भी घटना के होने का फ़र्म की निरन्तरता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि यह सभी भागीदारों की सम्मति से होता है। इसलिए इसे पुनर्गठन कहा गया है। इसे वाणिज्यिक दृष्टिकोण से भी भागीदारी माना जाता है। परन्तु अध्याय VI में वर्णित घटनाओं की दशाओं में अन्यथा करार न किए जाने पर फर्म का विघटन हो जाता है। अधिनियम की धारा 42 (ग) में उल्लिखित एक घटना किसी भागीदार की मृत्यु है। किसी भागीदार की मृत्यु हो जाने पर करार द्वारा स्थापित किया गया सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। संविदा के अभाव में यह परिणाम स्वतः ही हो जाता है। विधि में इसके सम्बन्ध में कोई विकल्प नहीं दिया गया है। पुनर्गठन इस प्रकार भी हो सकता है कि शेष भागीदार कारबार को जारी रखें। अध्याय V में वर्णित घटनाओं से विपरीत विधि के अनुसार निरन्तरता समाप्त हो जाती है। सम्बन्ध टूट जाता है। यह वैकल्पिक नहीं है। **केशव लाल बनाम भाई लाल**[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया था :—

> "भागीदारी अधिनियम किसी भागीदार के निवृत्त होने और फर्म के विघटन में विभेद करता है। धारा 39 फर्म के विघटन को परिभाषित करती है कि यह सभी भागीदारों के बीच में भागीदारी का विघटन है। भागीदारी भागीदारों में एक विधिक सम्बन्ध है, जो सामूहिक रूप से फर्म कहलाती है और जब सभी भागीदारों के बीच यह विधिक सम्बन्ध टूट जाता है तो इसके परिणामस्वरूप फर्म विघटित हो जाती है। लेकिन ऐसे मामले भी हो सकते हैं, जिनमें कोई भागीदार दूसरे भागीदारों के विधिक सम्बन्ध पर बिना कोई प्रभाव डाले फर्म से हटना चाहे। वह दूसरे भागीदारों से भागीदार का सम्बन्ध तोड़ना चाहता हो और दूसरे भागीदारों के विधिक सम्बन्धों को प्रभावित न करे।"

43. आय-कर अधिनियम के अधीन किसी फर्म का उसके भागीदारों से, जिनका निर्धारण व्यष्टितः भी किया जा सकता है, भिन्न एक सुभिन्न निर्धारणीय सत्ता के रूप में किया जा सकता है। (**देखिए आय-कर आयुक्त**

---

[1] ए० आई० आर० 1968 गुजरात, 157.

बनाम ए० डब्ल्यू० फिग्स[1]) इस प्रकार पुनर्गठन शब्द यह इंगित करता है कि जो फर्म कारबार कर रही थी वह परिवर्तित भागीदारों के साथ अब भी कारबार कर रही है, मगर विधितः इसका प्रभाव भिन्न है। अध्याय V के अधीन किए गए पुनर्गठन से फर्म की निरंतरता बनी रहती है। परन्तु यदि एक भागीदार की मृत्यु हो जाती है और शेष भागीदार कारबार को जारी रखने का निश्चय करते हैं तथा अपने आपको पुनर्गठित करते हैं, तो केवल इसलिए कि भागीदार वही हैं, जो कि पहले थे, पुनर्गठन को वैसा पुनर्गठन नहीं कहा जा सकता, जैसा कि अध्याय V द्वारा कल्पना की गई है। **ए० डब्ल्यू० फिग्स**[1] या **केशव लाल**[2] के मामले (उपर्युक्त) या **सोहन लाल पचोसिया एण्ड कॅम्पनी** बनाम **बिलासरे**[3] या **मीनाक्षी अची** बनाम **पी० एस० एम० सुब्रामनियन चेट्टियार**[4] वाले मामलों का सम्बन्ध शेष भागीदारों द्वारा कारबार जारी रखने से नहीं था। इन मामलों में भागीदार के सम्मिलित होने या चले जाने के परिणामस्वरूप पुनर्गठन हुआ था। यह ऐसा पुनर्गठन था जो अधिनियम के अध्याय V में अनुध्यात है। मृत्यु के पश्चात् वाला पुनर्गठन एक भिन्न फर्म को अस्तित्व में लाता है क्योंकि विघटन से एकता और निरंतरता अस्त-व्यस्त हो जाती है। फर्म के विघटन के पश्चात् होने वाले पुनर्गठन को अध्याय V के अधीन किया गया पुनर्गठन नहीं माना जा सकता। यह विधि-विरुद्ध होगा। अध्याय V के अधीन किए गए पुनर्गठन से व्यक्तित्व में निरंतरता बनी रहती है। परन्तु अध्याय VI के अधीन होने वाले पुनर्गठन में पहले वाले व्यक्तित्व की केवल झलक मात्र मिलती है। कारबार जारी रह सकता है, चाहे जीवित भागीदार वही हों, फर्म का नाम भी वही रहे परन्तु विधितः पुनर्गठित फर्म वही नहीं होती है।

44. अब इस बात की जांच की जा सकती है कि क्या (भागीदार की) मृत्यु के पश्चात् होने वाले पुनर्गठित फर्म को आय-कर अधिनियम के अधीन पहले वाली फर्म द्वारा किए गए छिपाव के कारण शास्ति संडिल की जा सकती है। जैसा कि पहले बताया गया है, **फिग्स**[1] वाले मामले में मत व्यक्त किया गया है कि यद्यपि भागीदारी अधिनियम के समान ही भागीदार भागीदारी की संकल्पना वही है परन्तु आय-कर अधिनियम के

---

1 ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 455

2 ए० आई० आर० 1968 गुजरात. 157.

3 ए० आई० आर० 1954 कलकत्ता 179.

4 ए० आई० आर० 1957 मद्रास 8.

अधीन स्थिति वही नहीं है। आय-कर अधिनियम, 1932 की धारा 47, 48 और 55 पर जो आय-कर अधिनियम की धारा 187, 188 और 189 के सदृश है, विचार करने के पश्चात् यह मत व्यक्त किया कि ये "उपबंध आंग्ल विधि या भारतीय विधि के अधीन भागीदारी के तकनीकी दृष्टिकोण की प्रकृति दर्शित करते हैं। उन्हें आय-कर विधि के अधीन लागू नहीं किया जा सकता। दोनों भागीदारी अधिनियम और आय-कर अधिनियम के अधीन पुनर्गठित फर्म की पहचान बनाए रखा गया है। अधिनियम की धारा 187 में यह उपबंध किया गया है कि "जब धारा 143 और 144 के अधीन निर्धारण करते समय यह पता चलता है कि फर्म के गठन में परिवर्तन हो चुका है तो निर्धारण के समय गठित फर्म का ही निर्धारण किया जाएगा। फर्म के गठन में परिवर्तन अभिव्यक्ति उपधारा (2) में स्पष्ट किया गया है। इसका अर्थ है :—

"(1) × × × ×

(2) इस धारा के प्रयोजनों के लिए फर्म के गठन में उस दशा में तब्दीली हो जाती है—

(क) जिसमें भागीदारों में से एक या अधिक भागीदार नहीं रहता या एक या अधिक नए भागीदार ऐसी परिस्थिति में सम्मिलित किए जाते हैं कि उन व्यक्तियों में से, जो तब्दीली से पहले फर्म के भागीदार थे, एक या अधिक तब्दीली के पश्चात् भागीदार बने रहते हैं; या

(ख) जिसमें सब भागीदार अपने-अपने अंशों में या अपने में से कुछ के अंशों में तब्दीली के साथ बने रहते हैं।"

उपखण्ड (1) में प्रयुक्त सीज़ (नहीं रहता) शब्द को भागीदार के निवृत्त होने या उसका जाना समझा जाना चाहिए। इसमें मृत्यु को सम्मिलित नहीं किया जा सकता क्योंकि मृत्यु के परिणामस्वरूप विघटन हो जाता है। किन्हीं स्पष्ट शब्दों के अभाव में यह नहीं माना जा सकता कि आय-कर अधिनियम के भागीदारी और फर्म को जो अर्थ भागीदारी अधिनियम में दिया गया अंगीकार किया है। इसका आशय यह है कि पुनर्गठन और विघटन को अधिनियम में दिए गए अर्थ से भिन्न अर्थ में समझना चाहिए। **दाही लक्ष्मी**[1] (उपर्युक्त) वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया था कि

---

[1] (1976) 103 आई० टी० आर० 517.

"धारा 187 की उपधारा (2) में "फर्म के पुनर्गठन" की परिभाषा नहीं दी गई है। इसमें केवल बहुत अधिक सावधानी के साथ खण्ड (क) का यह उपबंध किया गया है कि जहां पर भागीदारों का रद्दोबदल इतने बड़े पैमाने पर होता है कि मूल फर्म का केवल एक भागीदार ही पुनर्गठित फर्म में रह जाता है, तो भी इसे पुनर्गठन का मामला ही माना जाना चाहिए और खण्ड (ख) में यह उपबन्धित है कि जहां पर भागीदारों में तो परिवर्तन नहीं होता, परन्तु उनके अंश में परिवर्तन हो जाता है, वहां भी पुनर्गठन का मामला माना जाएगा। परन्तु यह उपबंध न तो भारतीय भागीदारी अधिनियम में की गई फर्म के पुनर्गठन की संकल्पना को परिवर्तित करता है और न ही यह पुनर्गठन और विघटन में जो भिन्नता है, उसे मिटाता है। इसी प्रकार **संत लाल**[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया था :—

> "हमारा यह मत है कि उप-धारा (2) का उद्देश्य गठन में परिवर्तन की साधारण संकल्पना का विस्तार करना नहीं है। वास्तव में इसका उद्देश्य परिसीमित करना है। उपधारा (2) में दिए गए स्पष्टीकरण का उद्देश्य यह दर्शित नहीं करता है कि विघटन के बावजूद फर्म जारी रहती है। लेकिन यह कहा जा सकता है कि ऐसे मामले में, जहां पर परिवर्तन केवल गठन में होता है, उपधारा (1) के उपबंध लागू नहीं होंगे, चाहे परिवर्तन के पहले और बाद में भागीदार सामान्य न हों।"

45. विद्वान् स्थायी काउंसेल ने **शिव राम पोद्दार** बनाम **आय-कर अधिकारी**[2] वाले मामले का अवलम्ब लेते हुए यह दलील दी कि उच्चतम न्यायालय द्वारा विनिश्चय कि आय-कर अधिनियम की धारा 26 पर, जो धारा 187 के समान ही हैं, विचार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि "जहां पर फर्म का विघटन हो जाता है और कारबार जारी रहता है वहां पर फर्म के गठन में परिवर्तन हो जाता है तो धारा 26(2) के अधीन निर्धारण किया जाना होता है।" विद्वान् काउंसेल ने बलपूर्वक यह कहा कि यह विनिश्चय इस बात की नज़ीर है कि किसी भागीदार की मृत्यु पर फर्म के विघटन के पश्चात् उसके द्वारा कारबार का जारी रखने का परिणाम केवल फर्म का पुनर्गठन है और निर्धारणीय इकाई की पहचान वही रहती है,

---

[1] *(1982) 136* आई० टी० आर० *390*.

[2] *(1964) 51* आई० टी० आर० *823*.

तो पुनर्गठित फर्म न केवल धारा 187 के अधीन निर्धारणीय है, बल्कि छिपावं इत्यादि के लिए भी उत्तरदायी है। इस विनिश्चय को **दाही लक्ष्मी**[1] और **संत लाल**[2] (उपर्युक्त) वाले मामलों सहित अनेक विनिश्चयों में स्पष्ट किया गया। इन विनिश्चयों में विस्तार के साथ दिए गए कारणों के अतिरिक्त धारा 187 में प्रयुक्त फर्म के गठन में परिवर्तन अभिव्यक्ति को इतना व्यापक अर्थ नहीं दिया जा सकता जितना कि पहले वाले अधिनियम की धारा 26 को दिया गया था। इसका सीधा-सादा कारण यह है कि धारा 27, धारा 187 की उपधारा (2) उसी संदर्भ में स्पष्ट नहीं करती है, जिसमें इस अभिव्यक्ति को अधिनियम के अधीन समझा जाना चाहिए। फर्म के परिवर्तन में मृत्यु के कारण होने वाले परिवर्तन को भी सम्मिलित किया जा सकता है, परन्तु वर्तमान अधिनियम में इसको स्पष्ट किया गया है इसलिए इसका विस्तार नहीं किया जा सकता। वास्तव में उन मामलों में, जहां पर भागीदारों के बीच में यह करार है कि मृत्यु के पश्चात् भी फर्म बनी रहेगी तो यह अब भी इसके अधीन आएगी। उपधारा (2) में केवल वे ही मामले उपवर्जित किए गए हैं, जिनमें मृत्यु के कारण परिवर्तन होता है, क्योंकि अधिनियम में ऐसा कुछ नहीं है, जिससे यह पता चलता हो कि फर्म के पुनर्गठन को भागीदारी अधिनियम में दिए गए इसके अर्थ से भिन्न किसी दूसरे अर्थ में समझा जाना चाहिए। **शिव राम पोद्दार**[3] वाले मामले के विनिश्चयाधार का सहारा यह अभिनिर्धारित करने के लिए नहीं लिया जा सकता कि एक भागीदार की मृत्यु के पश्चात् बाकी के भागीदारों द्वारा कारबार जारी रखना अधिनियम की धारा 187 के अर्थान्तर्गत परिवर्तन है। इसलिए भागीदारों में से एक या दो भागीदार के फर्म को छेड़ देने से या भागीदारों के आने या उनके जाने से फर्म के गठन में होने वाले परिवर्तन का यह परिणाम नहीं होता कि व्यक्तित्व में परिवर्तन हो जाता है और धारा 187 के अधीन पुनर्गठित फर्म का निर्धारण किया जा सकता है। धारा 187 में अनुध्यात पुनर्गठन में निर्धारणीय इकाई एक ही है। किसी करार के अभाव में किसी भागीदार की मृत्यु के पश्चात् वही कारबार और वही भागीदारों के होते हुए भी एक नई फर्म अस्तित्व में आती है।

46. मामले के तथ्य ये हैं कि विश्वानथ सेठ के पुत्रों ने, जो भागीदार

---

[1] (1976) 103 आई० टी० आर० 517.
[2] (1982) 136 आई० टी० आर० 379, 388.
[3] (1964) 51 आई० टी० आर० 823.

थे, फर्म का पुनर्गठन किया और कारबार जारी रखा। 1965 में कारबार परिसर और भागीदारों के रिहायशी मकानों की तलाशी ली गई। अपराध गठित करने वाली बहुत-सी सामग्री प्राप्त हुई। जांच से बहुत-सी दबाई हुई और अस्पष्टीकृत जमा का पता चला। इसलिए निर्धारिती ने परिनिर्धारण पिटीशन फाइल किया। इसे आयुक्त द्वारा स्वीकार कर लिया गया और छिपाई गई आय को वर्ष 1957-58 और 1966-67 के मध्य बांट दिया गया। शास्ति उद्गृहीत न करने की निर्धारिती की प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया गया, जैसा कि पहले नोट किया गया है कि यह निर्देश केवल शास्ति के सम्बन्ध में है। अधिनियम की धारा 271(ग) के अधीन किसी व्यक्ति द्वारा आय छिपाने पर शास्ति उद्गृहीत की जा सकती है। ऊपर बताई गई विधिक स्थिति यह है कि जिस व्यक्ति पर शास्ति उद्गृहीत की जा रही है वह वही व्यक्ति नहीं है, जिसने कि आय छिपाई थी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया था कि फर्म का पुनर्गठन हुआ था। परन्तु यह गलत था। चाहे निर्धारिती ने इसको चुनौती नहीं दी है, परन्तु पुनर्गठित फर्म वही व्यक्ति नहीं है इसलिए पूर्ववर्ती फर्म द्वारा किए गए छिपाव के लिए उस पर शास्ति अधिरोपित नहीं की जा सकती। अधिकरण ने न तो किसी प्रकार के निष्कर्ष को अभिलिखित किया है और न ही अभिलेख में ऐसी कोई सामग्री है, जिससे यह अभिनिर्धारित किया जा सके कि भागीदारों के बीच ऐसा कोई करार था कि उनमें से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर भी फर्म बनी रहेगी। किसी प्रकार के अभिव्यक्त या विवक्षित करार के अभाव में विधि के अनुसार ही कार्य होगा। विद्वान् स्थायी काउंसेल ने जोरदार ढंग से यह दलील दी है कि अधिकरण ने यह पाया है कि फर्म का पुनर्गठन हुआ था और इसको चुनौती नहीं दी गई है इससे इसकी परीक्षा नहीं की जा सकती। यह सही है कि अधिकरण के समक्ष यह दलील दी गई थी कि पुनर्गठित फर्म नहीं थी। इस दलील को इसलिए स्वीकार नहीं किया गया था कि इसका कोई तथ्यात्मक आधार था परन्तु ऐसा कानून के अनुसार किया गया था। क्योंकि धारा 256(2) के अधीन फाइल किया गया आवेदन उपलब्ध नहीं था इसलिए यह पता लगाना सम्भव नहीं है कि निर्धारिती क्या प्रश्न उठाना चाहता था। यह सुस्थापित है कि अधिकरण के सम्मुख उठाया गया प्रश्न निर्देश में इस न्यायालय के सम्मुख उठाया जा सकता है। अगर विधि सम्बन्धी जांच की जा सकती है तब इससे संबंधित सभी पहलुओं की जांच की जा सकती है। प्रश्न बहुत व्यापक है कि निर्धारिती को यह दलील देने से निवारित नहीं किया जा सकता कि पुनर्गठित फर्म वही नहीं है

जिसने आय छिपाई थी । वास्तव में प्रश्न गठित करने की यह पूर्वधारणा है ।

47. ऊपर बताए गए कारणों से निर्देशित प्रश्न का नकारात्मक उत्तर निर्धारिती के हक में और विभाग के विरुद्ध दिया जाता है निर्धारिती अपने खर्चे प्राप्त करने का हकदार है ।

बहुमत के अनुसार निर्देश का सकारात्मक उत्तर दिया गया ।

खन्ना/ब्रह्म

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—271

मोहम्मद शरीफ और अन्य बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य**

(Mohammad Sharif and others *Vs.* State of U.P. and another)

तारीख 25 नवम्बर, 1983

[न्या० एम० बहाजुद्दीन]

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 धारा 190(1) (ख)—यदि मजिस्ट्रेट यह विनिश्चय करता है कि कार्यवाही करने के लिए कोई पर्याप्त आधार नहीं है तो वह कार्यवाही को समाप्त कर सकता है या यदि वह यह विनिश्चय करता है कि प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है, तो वह धारा 190(1) (ख) के अधीन अपराध का संज्ञान कर सकता है और वह पुलिस द्वारा निकाले गए निष्कर्ष द्वारा किसी भी रीति में स्वयं को आबद्ध किए बिना ऐसा कर सकता है ।

मजिस्ट्रेट ने आक्षेपित आदेश में यह लिखा था कि उसने केस डायरी का परिशीलन कर लिया है और आवेदकों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है और इसलिए उन्हें समन किया जाए । आवेदकों ने पुनरीक्षण फाइल किया । पुनरीक्षण न्यायालय ने मजिस्ट्रेट के आदेश को कायम रखा । आवेदकों ने यह प्रार्थना करते हुए उच्च न्यायालय में प्रस्तुत आवेदन फाइल किया है कि विभिन्न धाराओं के अधीन आवेदकों को समन करने वाला आक्षेपित आदेश अभिखण्डित किया जाए ।

अभिनिर्धारित—आवेदन खारिज किया गया ।

यदि पुलिस अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत कर देती है, तो मजिस्ट्रेट के लिए तीन मार्ग खुले हैं, अर्थात् (1) वह दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 156 के अधीन और आगे अन्वेषण किए जाने का निदेश कर सकता है; (2) यदि वह यह महसूस करता है कि आदेशिका जारी करने के लिए कोई मामला नहीं बनता है तो वह रिपोर्ट को स्वीकार कर सकता है; और (3) यदि अन्ततः मजिस्ट्रेट की यह राय है कि सामग्री से, पुलिस द्वारा व्यक्त किए गए विपरीत मत के होते हुए भी, प्रथमदृष्ट्या अपराध प्रकट होता है, तो मजिस्ट्रेट संज्ञान कर सकता है। (पैरा 1)

यदि मजिस्ट्रेट यह विनिश्चय करता है कि कार्यवाही करने के लिए कोई पर्याप्त आधार नहीं है तो वह कार्यवाही को समाप्त कर सकता है या यदि वह यह विनिश्चय करता है कि प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है, तो वह धारा 190(1)(ख) के अधीन अपराध का संज्ञान कर सकता है और वह पुलिस द्वारा निकाले गए निष्कर्ष द्वारा किसी भी रीति में स्वयं को आबद्ध किए बिना ऐसा कर सकता है। मजिस्ट्रेट के आदेश का अवलोकन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि अभियुक्त व्यक्तियों को समन करने वाला उसका आदेश धारा 190(1)(ख) के अन्तर्गत आता है। उसने अभिव्यक्त रूप से यह कहा है कि केस डायरी का परिशीलन करने पर प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है। ऐसी स्थिति में धारा 190(1)(क) के अधीन अधिकथित प्रक्रिया लागू नहीं होगी और उससे संबंधित लिए गए आधारों में कोई बल नहीं है। अन्तिम रिपोर्ट के आधार पर मजिस्ट्रेट पुलिस के समक्ष वाली सामग्री के आधार पर संज्ञान कर सकता है और अन्वेषण में व्यक्त की गई राय उसके लिए आबद्धकर नहीं है। (पैरा 1)

उच्च न्यायालय विचारण न्यायालय के रूप में कृत्य नहीं करता है। उसे केवल इस प्रश्न पर ही विचार करना होता है कि क्या कुछ सामग्री विद्यमान थी या नहीं और क्या कुछ साक्षियों नें आवेदकों को नामित किया है या नहीं।। विसंगति और कुछ अन्य साक्षियों द्वारा अभियुक्त व्यक्तियों में से कुछ व्यक्तियों के नामों के लोप के मुद्दे पर समाधान कर लिया गया है। यह ऐसा मामला है जो साक्षियों की सत्यवादिता को चुनौती देने के लिए विचारण के दौरान विचारण न्यायालय के समक्ष ही उठाया जाता तो बेहतर होता। (पैरा 2)

		पैरा
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1883, पैरा 7 : एच० एस० बैंस **बनाम** राज्य (H. S. Bains *Vs.* State);	1
[1968]	ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 117 : अभिनन्दन झा **बनाम** दिनेश मिश्र (Abhinandan Jha *Vs.* Dinesh Mishra)	1

का **अवलम्ब** लिया गया।

[1982]	1982 ए० सी० सी० 319 : मुमताज **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य (Mumtaz *Vs.* State of U. P.);	1
[1981]	ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1155 : मोहम्मद अतुल्लाह **बनाम** राम सरन (Mohammad Atullah *Vs.* Ram Saran);	1
[1980]	1980 ए० डब्ल्यू० सी० 513 : कृष्ण कौल **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य (Krishna Kaul *Vs.* State of U.P.);	1
[1977]	ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 2401 : तुला राम **बनाम** किशोर कुमार सिंह (Tula Ram *Vs.* Kishore Kumar Singh);	1
[1972]	1972 ए० सी० सी० 94 : भूपाल सिंह **बनाम** राज्य (Bhupal Singh *Vs.* State)	1

से **प्रभेद** बतलाया गया।

आरम्भिक (दाण्डिक रिट) अधिकारिता : 1983 का दाण्डिक प्रकीर्ण पिटीशन सं० 1012.

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन आवेदन।

पिटीशनर की ओर से .... श्री ब्रज भूषण पाल

राज्य की ओर से .... —

न्या० एम० वहाजुद्दीन :

आवेदकों ने यह प्रार्थना करते हुए प्रस्तुत आवेदन फाइल किया है कि विभिन्न धाराओं के अधीन आवेदकों को समन (आहूत) करने वाला आक्षेपित आदेश अभिखण्डित किया जाए। मजिस्ट्रेट ने आक्षेपित आदेश में यह लिखा था कि उसने केस डायरी (जी० डी० लेखन की भूल है) का परिशीलन कर लिया है और आवेदकों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है और इसलिए उन्हें समन किया जाए। आवेदकों ने पुनरीक्षण फाइल किया। पुनरीक्षण न्यायालय ने मजिस्ट्रेट के आदेश को कायम रखा यद्यपि पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा दिए गए तर्क से मैं बिल्कुल भी प्रभावित नहीं हूं। उसमें यही कहा गया है कि मजिस्ट्रेट आदेश पारित करने के संबंध में उसके समक्ष रखी गई अन्य सामग्री पर भी विचार कर सकता था और समन करने वाला आदेश दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 190(1) (क) या 190(1) (ग) के अधीन है। मैं यह महसूस करता हूं कि पुनरीक्षण न्यायालय ने इस प्रकार का मत व्यक्त करने में कल्पना का ही अवलम्ब लिया है। उसके पास मजिस्ट्रेट के मन को समझने के लिए कोई यंत्र नहीं हो सकता था। वस्तुतः मजिस्ट्रेट ने अपने आदेश में जो कुछ लिखा था उस पर ही विचार किया जाना था। आवेदकों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा लिए गए आधारों में से एक आधार यह है कि पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए इस मत को देखते हुए कि संज्ञान धारा 190(1) (क) या 190(1) (ग) के अधीन है, वस्तुतः दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 200 और 202 के अधीन कथन अभिलिखित करने के संबंध में परिवाद मामले की प्रक्रिया अपनाई जानी चाहिए थी। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, पुनरीक्षण न्यायालय ने मात्र कल्पना का सहारा लिया है। मजिस्ट्रेट का आदेश मुख्य आधार है और उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि समनकारी आदेश किसी शपथपत्र आदि पर आधारित नहीं है, बल्कि केस डायरी के परिशीलन पर आधारित है। यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि **अभिनन्दन झा** बनाम **दिनेश मिश्र**[1] वाले मामले में, उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि यदि पुलिस अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत कर देती है, तो मजिस्ट्रेट के लिए तीन मार्ग खुले हैं, अर्थात् (1) वह दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 156 के अधीन और आगे अन्वेषण किए जाने का निदेश कर सकता है; (2) यदि वह यह महसूस करता है कि आदेशिका जारी करने के लिए कोई मामला नहीं बनता है तो वह रिपोर्ट को स्वीकार कर सकता है; और (ग) यदि अन्ततः

---

1 ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 117.

मजिस्ट्रेट की यह राय है कि सामग्री से, पुलिस द्वारा व्यक्त किए गए विपरीत मत के होते हुए भी, प्रथमदृष्ट्या अपराध प्रकट होता है, तो मजिस्ट्रेट संज्ञान कर सकता है। अब यह सुस्थापित विधि है। कुछ भ्रम इस कारण उत्पन्न हो गया कि प्रतिवेदन में यह मुद्रित किया गया था कि यह संज्ञान धारा 190(1)(ग) के अधीन किया जा सकता है। **एच० एस० बैंस** बनाम **राज्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के एक पश्चात्वर्ती निर्णय द्वारा इस स्थिति को पुनः स्पष्ट कर दिया गया है। निर्णय में यह कहा गया है कि माननीय न्यायाधीश को इस बारे में कोई भी शंका नहीं है कि धारा 190(1)(ख) के प्रति निर्देश गलती से धारा 190(1)(ख) के प्रति निर्देश कर दिया गया था। पुनश्च, ऊपर निर्दिष्ट **एच० एस० बैंस वाले मामले**[1] में, **अभिनन्दन झा वाले मामले**[2] में अधिकथित सिद्धांतों पर ही जोर दिया गया था, अर्थात् यह कि यदि मजिस्ट्रेट यह विनिश्चय करता है कि कार्यवाही करने के लिए कोई पर्याप्त आधार नहीं है तो वह कार्यवाही को समाप्त कर सकता है या यदि वह यह विनिश्चय करता है कि प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है, तो वह धारा 190(1)(ख) के अधीन अपराध का संज्ञान कर सकता है और वह पुलिस द्वारा निकाले गए निष्कर्ष द्वारा किसी भी रीति में स्वयं को आबद्ध किए बिना ऐसा कर सकता है। मजिस्ट्रेट के आदेश का अवलोकन करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि अभियुक्त व्यक्तियों को समन करने वाला उसका आदेश धारा 190(1)(ख) के अन्तर्गत आता है। उसने अभिव्यक्त रूप से यह कहा है कि केस डायरी का परिशीलन करने पर प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है। ऐसी स्थिति में धारा 190(1)(क) के अधीन अधिकथित प्रक्रिया लागू नहीं होगी और उससे संबंधित लिए गए आधारों में कोई बल नहीं है। उसके पश्चात् यह दलील दी गई कि बहरहाल, मजिस्ट्रेट ने मामले पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया है और अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या कोई मामला नहीं बनता है। परिणामतः मजिस्ट्रेट का समनकारी आदेश अभिखण्डित किया जाए। इन तर्कों के समर्थन में, **मोहम्मद अतुल्लाह** बनाम **राम सरन**[3] वाले मामले का अवलम्ब लिया गया। उक्त मामले में मजिस्ट्रेट ने परिवाद मामले के आधार पर अन्वेषण का निदेश किया और ऐसी अन्वेषण-रिपोर्ट प्राप्त करने के पश्चात्, उस समय

---

[1] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1883, पैरा 7.

[2] ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 117.

[3] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1155.

विद्यमान सामग्री के अतिरिक्त और कोई सामग्री नहीं थी, जब अन्वेषण के बारे में आदेश किया गया था, और यह अभिनिर्धारित किया गया कि संज्ञान नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार तथ्य पूर्णतः प्रभेद्य हैं। इस संबंध में **कृष्ण कौल** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले का भी अवलम्ब लिया गया। उस मामले में यह प्रकट हुआ कि अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी गई थी। मजिस्ट्रेट ने पुलिस के कागजों के कारण होने वाले संदेह के आधार पर संज्ञान किया था और उस संदर्भ में यह अभिनिर्धारित किया गया कि आदेश अधिकारितारहित था। प्रस्तुत मामले में मजिस्ट्रेट ने यह नहीं कहा है कि किसी प्रकार का संदेह उत्पन्न हो गया है। उसने यह कहा है कि केस डायरी का परिशीलन करने पर उसका यह निष्कर्ष है कि प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है। मैं **अभिनन्दन झा वाले मामले**[2] और **एच० एस० बेंस वाले मामले**[3] के प्रति पहले ही निर्देश कर चुका हू और दोनों ही मामले इस प्रतिपादना के लिए प्रत्यक्ष नजीर हैं कि अंतिम रिपोर्ट के आधार मजिस्ट्रेट पुलिस के समक्ष वाली सामग्री के आधार पर संज्ञान कर सकता है और अन्वेषण में व्यक्ति की गई राय उसके लिए आबद्धकर नहीं है। इस संबंध में **मुमताज** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[4] वाले मामले का भी अवलम्ब लिया गया। उक्त मामले में भी मजिस्ट्रेट ने क्षति-रिपोर्ट का अवलम्ब लिया और यह मत व्यक्त किया कि ऐसे तथ्य अवश्य ही होने चाहिए जो उस अपराध को गठित करें, जिसके लिए अभियुक्त पर आरोप लगाया गया था। इस संबंध में **भूपाल सिंह** बनाम **राज्य**[5] वाले मामले का भी अवलम्ब लिया गया। **अभिनन्दन झा वाले मामले**[2] में व्यक्त किए गए मत को देखते हुए, इस विनिर्णय से कोई सहायता नहीं मिलती है। **तुला राम** बनाम **किशोर कुमार सिंह**[6] वाले मामले का भी अवलम्ब लिया गया। उक्त मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अन्तिम रिपोर्ट के होते हुए भी मजिस्ट्रेट, परिवादी और उसके साक्षियों का कथन अभिलिखित करने के पश्चात् धारा 204 के अधीन आदेशिका जारी कर सकता है। इस विनिर्णय में यह नहीं कहा गया है कि मजिस्ट्रेट पुलिस द्वारा प्रस्तुत की गई

---

[1] 1980 ए० डब्ल्यू० सी० 513.

[2] ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 117.

[3] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1883, पैरा 7.

[4] 1982 ए० सी० सी० 319.

[5] 1972 ए० सी० सी० 94.

[6] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 2401.

अन्तिम रिपोर्ट पर धारा 190(1) (ख) के अधीन संज्ञान नहीं कर सकता। दूसरी ओर, दो प्रत्यक्ष नजीरें मौजूद हैं जिनके प्रति मैं पहले ही निर्देश कर चुका हूं।

2. उसके पश्चात् यह दलील दी गई है कि वस्तुतः केस डायरी से कोई मामला प्रकट नहीं होता है और मजिस्ट्रेट ने मामले पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया था तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन कथनों में विसंगतियां थीं। मैं यहां यह उल्लेख करना उचित समझता हूं कि यह न्यायालय विचारण न्यायालय के रूप में कृत्य नहीं करता है। उसे केवल इस प्रश्न पर ही विचार करना होता है कि क्या कुछ सामग्री विद्यमान थी या नहीं और क्या कुछ साक्षियों ने आवेदकों को नामित किया है या नहीं। मैंने विसंगति और कुछ अन्य साक्षियों द्वारा अभियुक्त व्यक्तियों में से कुछ व्यक्तियों के नामों के लोप के मुद्दे पर अपना समाधान कर लिया है। यह ऐसा मामला है जो साक्षियों की सत्यवादिता को चुनौती देने के लिए विचारण के दौरान विचारण न्यायालय के समक्ष ही उठाया जाता तो बेहतर होता। मैं सामग्री के संबंध में विस्तारपूर्वक कोई राय व्यक्त करना नहीं चाहता हूं जिससे कि मजिस्ट्रेट द्वारा मामले की सुनवाई के दौरान आवेदकों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। यह आवेदन खारिज किया जाता है।

आवेदन खारिज किया गया।

नरेश

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—277

भीम बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य

(Bheem *Vs.* State of U. P. and others)

तारीख 29 नवम्बर, 1983

[न्या० एस० के० धवन]

यू० पी० औद्योगिक झगड़ों का ऐक्ट, 1947 धारा 4-ट सपठित राज्य सरकार द्वारा प्रवृत्त स्थायी आदेशों का स्थायी आदेश 24-ध—राज्य सरकार द्वारा प्रवृत्त स्थायी आदेश पक्षकारों के लिए आबद्धकर होते हैं, अतः श्रम

न्यायालय पर, उनके बीच विवाद का न्यायनिर्णयनकर्ता होने के नाते, स्थायी आदेश की अवेक्षा करने और उसे प्रवृत्त करने की बाध्यता अधिरोपित है। स्थायी आदेश से स्वतन्त्र रहते हुए भी, श्रम न्यायालय पर अपना यह समाधान करने की बाध्यता अधिरोपित है कि कर्मकार को दिया गया दण्ड समुचित है। उसे इस निर्णायक प्रश्न पर कोई भी निष्कर्ष निकालने के लिए अपने कारण अवश्य ही अभिलिखित करने चाहिए। अन्यथा यह निष्कर्ष अविधिमान्य हो जाएगा।

नियोजक कार्पोरेशन द्वारा अपने कर्मकार-पिटीशनर की सेवा समाप्त किए जाने के पश्चात्, मामला न्यायनिर्णयन के लिए श्रम न्यायालय को निर्दिष्ट किया गया। कर्मकार के विरुद्ध कोई आन्तरिक जांच नहीं की गई। श्रम न्यायालय के समक्ष पक्षकारों ने साक्ष्य दिया। न्यायालय ने, अभिलेख में के साक्ष्य का विवेचन करने के पश्चात्, यह निष्कर्ष निकाला कि कर्मकार की सेवाएं ठीक ही समाप्त की गई थीं क्योंकि वह अवचार का दोषी था। न्यायालय ने यह निष्कर्ष भी निकाला कि मामले की परिस्थितियों को देखते हुए, कर्मकार को दिया गया दण्ड पूर्णतः न्यायोचित था। तथापि, न्यायालय ने इस संबंध में कोई भी कारण अभिलिखित नहीं किया। श्रम न्यायालय के उक्त अधिनिर्णय के विरुद्ध ही पिटीशनर ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत रिट पिटीशन फाइल किया है।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

प्रस्तुत मामले में यह प्रश्न फिर भी शेष रहता है कि क्या श्रम न्यायालय, कर्मकार के विरुद्ध कारपोरेशन द्वारा पारित सेवा-समाप्ति के आदेश को कायम रखते समय, स्थायी आदेशों की पूर्णतः उपेक्षा कर सकता था। इसका उत्तर नकारात्मक होना चाहिए। ऐसा हो सकता है कि स्थायी आदेश श्रम न्यायालय के लिए आबद्धकर न हों, फिर भी वह ऐसा करने के लिए विधिमान्य कारण दिए बिना उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। चूंकि राज्य सरकार द्वारा प्रवृत्त स्थायी आदेश पक्षकारों के लिए आबद्धकर है, अतः श्रम न्यायालय पर, उनके बीच विवाद का न्यायनिर्णयनकर्ता होने के नाते, उसकी अवेक्षा करने और उसे प्रवृत्त करने की बाध्यता अधिरोपित है, जब तक कि उसने यह निष्कर्ष न निकाला हो कि उसके निबन्धन अनुचित या मनमाने थे या उसके प्रवर्तन से शांति के बजाय गड़बड़ अधिक होगी। स्वीकृततः, श्रम न्यायालय ने न्यायालय में उद्धृत किए गए स्थायी आदेश की अन्तर्वस्तुओं के प्रति कोई ध्यान ही नहीं दिया। अतः वह, उसमें विहित अधिकारिता का प्रयोग करने में असफल रहा। (पैरा 4)

स्थायी आदेशों से स्वतंत्र रहते हुए भी, श्रम न्यायालय पर अपना यह समाधान करने की बाध्यता अधिरोपित थी कि कर्मकार को दिया गया दण्ड समुचित दण्ड था। उसे इस निर्णायक प्रश्न पर कोई भी निष्कर्ष निकालने के लिए अपने कारण अभिलिखित करने थे। आक्षेपित अधिनिर्णय में उसने कोई कारण ही नहीं दिया था। वह अपना निष्कर्ष अभिलिखित करके ही संतुष्ट हो गया। विधि में यह अनुज्ञेय नहीं है। किसी कारण के अभाव में मामले के उक्त पहलू पर उसका आदेश मनमाना कहा जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि उसने, उसके द्वारा विनिश्चित किए जाने वाले प्रश्न पर बिल्कुल भी गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। इस प्रकार श्रम न्यायालय ने उस प्रश्न पर अपना कोई विनिश्चय नहीं दिया, जिसे देने के लिए वह कर्त्तव्यबद्ध था। (पैरा 5)

संबंधित अधिकरण या श्रम न्यायालय पर मामले का स्वयं विनिश्चय करने की अधिकारिता अधिरोपित है और इस बात का कोई महत्व नहीं हैं कि संबंधित कर्मकार द्वारा या उसकी ओर से उसके समक्ष मुद्दे का वास्तविक रूप में अभिवचन किया जाता है या नहीं। (पैरा 6)

		पैरा
[1960]	ए० आई० आर० 1960 एस० सी० पृ० 160 : पंजाब नेशनल बैंक लि० **बनाम** कर्मकार (Punjab National Bank Ltd. *Vs.* Its Workmen) **निर्दिष्ट** किया गया।	6

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1979 का रिट पिटीशन सं० 2286.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से .... सर्वश्री एस० बनर्जी, आर० सी० सिंह और पी० सी० खिगन

राज्य की ओर से .... श्री० जे० एन० तिवारी

न्या० एस० के० धवन :

यह पिटीशन एक कर्मकार द्वारा फाइल किया गया है, जो यू० पी० औद्योगिक झगड़ों का ऐक्ट, 1947 (जिसे इसमें इसके पश्चात् अधिनियम

कहा गया है) की धारा 4-ट के अधीन न्यायनिर्णयन के लिए कानपुर स्थित श्रम न्यायालय को निर्देशित विवाद में उसके द्वारा दिए गए अधिनिर्णय के विरुद्ध है। इस विवाद के पक्षकार नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन लि० यूनिट न्यू विक्टोरिया मिल्स, कानपुर (जिसे इसमें इसके पश्चात् कारपोरेशन कहा गया है) और पिटीशनर-कर्मकार थे। न्यायनिर्णीत किए जाने वाला विवाद्यक यह था कि क्या कर्मकार की सेवाएं दोषपूर्ण ढंग से और/या अन्यायोचित रूप से समाप्त की गई थीं।

2. कर्मकार के विरुद्ध कोई आन्तरिक जांच नहीं की गई। श्रम न्यायालय के समक्ष पक्षकारों ने साक्ष्य दिया। न्यायालय ने, अभिलेख में के साक्ष्य का विवेचन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि कर्मकार की सेवाएं ठीक ही समाप्त की गई थीं क्योंकि वह अवचार का दोषी था। न्यायालय ने यह निष्कर्ष भी निकाला कि मामले की परिस्थितियों को देखते हुए, कर्मकार को दिया गया दण्ड पूर्णत: न्यायोचित था। तथापि, न्यायालय ने इस संबंध में कोई भी कारण अभिलिखित नहीं किया।

3. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि यदि यह मान भी लिया जाता है कि श्रम न्यायालय द्वारा निकाला गया यह निष्कर्ष सही था कि कर्मकार अवचार का दोषी था, फिर भी उक्त अधिनिर्णय इस कारण दूषित है कि श्रम न्यायालय इस प्रश्न पर विचार न करके अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने में असफल रहा कि क्या कर्मकार को दिया गया दण्ड उस पर आरोपित अवचार के अनुरूप था। कारपोरेशन के विद्वान् काउन्सेल ने इस तर्क का खण्डन किया है। उन्होंने यह निवेदन किया है कि किसी अभिवचन या सबूत या सामग्री के अभाव में, श्रम न्यायालय पर इस प्रश्न पर विचार करने की कोई बाध्यता अधिरोपित नहीं थी। उनका निवेदन यह है कि श्रम न्यायालय के समक्ष यह दर्शित करने का भार कर्मकार पर था कि उसके पिछले आचरण और सेवा-अभिलेख आदि को ध्यान रखते हुए, उसे इतना कठोर दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए था।

4. सुसंगत समय पर न्यू विक्टोरिया मिल्स, कानपुर को अधिनियम की धारा 3(ख) के अधीन राज्य सरकार द्वारा प्रवृत्त स्थायी आदेश लागू होते थे। यहां स्थायी आदेश का खण्ड 24(घ) को उद्धृत करना उचित होगा :—

> *"इस स्थायी आदेश के अधीन कोई दण्ड देते समय प्रबन्धक अवचार की गम्भीरता, संक्रियाकार का पूर्वतन अभिलेख, यदि कोई हो, और परिशमनकारी या गुरुतर बनाने वाली परिस्थितियों को ध्यान में रखेगा, जो उस समय विद्यमान हों।"

इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि स्थायी आदेशों को क़ानूनी बल प्राप्त था। दोनों पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेलों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि स्थायी आदेश पक्षकारों के बीच कानूनी संविदा गठित करता था। कारपोरेशन के विद्वान् काउन्सेल ने उचित ही यह स्वीकार किया है कि स्थायी आदेश पक्षकारों के लिए आबद्धकर था। तथापि उन्होंने यह दलील दी है कि उसकी प्रभावकारिता और आबद्धकर बल तभी तक है, जब तक कि मामला आन्तरिक जांच की परिधि के अन्तर्गत रहता है। उनके अनुसार, श्रम न्यायालय स्थायी आदेश को प्रभावी या कार्यान्वित करने के लिए आबद्ध नहीं था। उसे, स्थायी आदेशों से स्वतंत्र रह कर, पक्षकारों के बीच नई संविदा करने की पूर्ण अधिकारिता प्राप्त थी। यहां इस दलील की शुद्धता पर विचार करना आवश्यक नहीं है। प्रस्तुत मामले में यह प्रश्न फिर भी शेष रहता है कि क्या श्रम न्यायालय, कर्मकार के विरुद्ध कारपोरेशन द्वारा पारित सेवा-समाप्ति के आदेश को कायम रखते समय, स्थायी आदेशों की पूर्णतः उपेक्षा कर सकता था। मेरी राय में, इसका उत्तर नकारात्मक होना चाहिए। ऐसा हो सकता है कि स्थायी आदेश श्रम न्यायालय के लिए आबद्धकर न हों, फिर भी वह ऐसा करने के लिए विधिमान्य कारण दिए बिना उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। चूंकि स्थायी आदेश पक्षकारों के लिए आबद्धकर हैं, अतः न्यायालय पर, उनके बीच विवाद का न्यायनिर्णयनकर्ता होने के नाते, उसकी अवेक्षा करने और उसे प्रवृत्त करने की बाध्यता अधिरोपित थी, जब तक कि उसने यह निष्कर्ष न निकाला हो कि उसके निबन्धन अनुचित या मनमाने थे या उसके प्रवर्तन से शांति के बजाय गड़बड़ अधिक होगी। स्वीकृततः, श्रम न्यायालय ने ऊपर

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

> "In awarding any punishment under this Standing Order, the Manager shall take into account the gravity of the misconduct, the previous record, if any, of the operative and any other extenuating or aggravating circumstances that may exist".

उद्धृत स्थायी आदेश की अन्तर्वस्तुओं के प्रति कोई ध्यान ही नहीं दिया। अत: वह, उसमें विहित अधिकारिता का प्रयोग करने में असफल रहा।

5. स्थायी आदेशों से स्वतंत्र रहते हुए भी, श्रम न्यायालय पर अपना यह समाधान करने की बाध्यता अधिरोपित थी कि कर्मकार को दिया गया दण्ड समुचित दण्ड था। उसे इस निर्णायक प्रश्न पर कोई भी निष्कर्ष निकालने के लिए अपने कारण अभिलिखित करने थे। आक्षेपित अधिनिर्णय में उसने कोई कारण ही नहीं दिया था। वह अपना निष्कर्ष अभिलिखित करके ही संतुष्ट हो गया। विधि में यह अनुज्ञेय नहीं है। किसी कारण के अभाव में मामले के उक्त पहलू पर उसका आदेश मनमाना कहा जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि उसने, उसके द्वारा विनिश्चित किए जाने वाले प्रश्न पर बिल्कुल भी गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। इस प्रकार श्रम न्यायालय ने उस प्रश्न पर अपना कोई विनिश्चय नहीं दिया, जिसे देने के लिए वह कर्त्तव्यबद्ध था।

6. कारपोरेशन के विद्वान् काउन्सेल ने **पंजाब नेशनल बैंक लि० बनाम कर्मकार**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लिया, जिसमें यह मत व्यक्त किया गया :—

> "......इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि वस्तुत: नियोजक द्वारा कोई जांच नहीं की गई थी, तो पदच्युति के आक्षेपित आदेश के गुणागुण से संबंधित विवाद्यक अधिकरण के समक्ष अस्तित्वशील है और, उसके समक्ष पेश किए गए साक्ष्य के आधार पर, अधिकरण को स्वयं ही यह विनिश्चय करना है कि क्या अभिकथित अवचार साबित कर दिया गया है और यदि हां, तो किस प्रकार का आदेश उचित रहेगा। ऐसे मामले में, प्रबन्धकीय कृत्यों के प्रयोग के बारे में कोई प्रश्न उद्भूत ही नहीं होता है।"
>
> (जोर देने के लिए रेखांकन मेरे द्वारा किया गया है)

इस मामले से कारपोरेशन के पक्षकथन को कोई सहायता नहीं मिलती है। ऊपर उद्धृत निर्णय के एक भाग से, जिस पर मेरे द्वारा जोर दिया गया है, स्पष्टत: यह उपदर्शित होता है कि संबंधित अधिकरण या श्रम न्यायालय पर मामले का स्वयं विनिश्चय करने की अधिकारिता अधिरोपित है और इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि संबंधित कर्मकार द्वारा या उसकी ओर

---

1 ए० आई० आर० 1960 एस० सी० प० 160.

से उसके समक्ष मुद्दे का वास्तविक रूप में अभिवचन किया जाता है या नहीं।

7. अतः रिट पिटीशन सफल होता है और मंजूर किया जाता है। कानपुर स्थित श्रम न्यायालय द्वारा तारीख 22 अगस्त, 1978 को दिया गया आक्षेपित अधिनिर्णय, जहां तक उसका संबंध इस निष्कर्ष से है कि पिटीशनर-कर्मकार को दिया गया दण्ड उचित था, अभिखण्डित किया जाता है। श्रम न्यायालय, स्थायी आदेश 24 (घ) की अन्तर्वस्तु को ध्यान में रखते हुए, इस प्रश्न पर नए सिरे से विचार करेगा और इस संबंध में अपना निष्कर्ष निकालेगा कि क्या पिटीशनर को दिया गया दण्ड उस पर आरोपित अपचारिता के अनुपात में था। यहां यह स्पष्ट किया जा रहा है कि श्रम न्यायालय के इस निष्कर्ष को कि पिटीशनर अवचार का दोषी था, अविकल रखा जा रहा है। पक्षकारों को यह निदेश किया जाता है कि वे अपने-अपने खर्चे स्वयं वहन करेंगे।

पिटीशन मंजूर किया गया।

नरेश

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—283

गजराज सिंह बनाम शासकीय प्रापक और अन्य

(Gajraj Singh *Vs.* Official Receiver and others)

तारीख 9 दिसम्बर, 1983

[न्या० बी० डी० अग्रवाल]

प्रान्तीय दिवाला अधिनियम, 1920 धारा 53—उक्त धारा 53 में परिसीमा की ऐसी किसी भी अवधि का उपबंध नहीं किया गया है, जिसके भीतर अन्तरण के बातिल किए जाने की प्रार्थना की जा सके। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्तरण को बातिल करने के लिए आवेदन, परिसीमा के किसी नियम का पालन किए बिना, किसी भी समय फाइल किया जा सकता है। यदि विधि के अधीन स्थिति अन्यथा होती, तो उससे अन्तरण शाश्वत अनिश्चितता की स्थिति में हो जाता।

एक व्यक्ति ने, दिवालिया न्यायनिर्णीत किए जाने के लिए, प्रान्तीय दिवाला अधिनियम, 1920 की धारा 10(13) के अधीन एक पिटीशन किया। पिटीशनर की मृत्यु हो चुकी है। प्रत्यर्थी सं० 4, उसकी पुत्री, उसकी विधिक प्रतिनिधि है। प्रत्यर्थी सं० 2 और 3 संबंधित लेनदार हैं। पिटीशनर को इस अधिनियम की धारा 27 के अधीन दिवालिया न्यायनिर्णीत किया गया। शासकीय प्रापक को उसकी सम्पत्तियों को कब्जे में लेने के लिए निदेश दिया गया। शासकीय प्रापक ने विवादग्रस्त भूमि को कुर्क करा लिया, जिसका दिवालिया भूमिधर रह चुका था। यह भूमि उक्त व्यक्ति द्वारा अपीलार्थी को दान की लिखत के अधीन अन्तर्गत कर दी गई थी। उक्त दान विलेख तारीख 10 मार्च, 1966 को रजिस्ट्रीकृत किया गया। अपीलार्थी ने उसकी भूमि को कब्जे में लेने के लिए शासकीय प्रापक को दिए गए निदेश के विरुद्ध धारा 68 के अधीन अपील फाइल की। दिवाला न्यायाधीश द्वारा यह अपील मंजूर की गई। तत्पश्चात् शासकीय प्रापक ने ऊपर वर्णित दान-विलेख के बातिल (अकृत) किए जाने के लिए धारा 53 के अधीन आवेदन फाइल किया। अपीलार्थी ने उसका इस आधार पर विरोध किया कि उक्त आवेदन परिसीमा द्वारा वर्जित था और यह कि उसके पक्ष में दान द्वारा अन्तरण सद्भाव में किया गया है और यह भी कि दिवाला न्यायनिर्णयन का आदेश दुस्संधिपूर्ण था। दिवाला न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि किसी प्रकार की दुस्संधि नहीं की गई थी और शासकीय प्रापक द्वारा किए गए आवेदन के लिए परिसीमा का कोई वर्जन नहीं था। उक्त अन्तरण किसी प्रतिफल के लिए नहीं किया गया था। तदनुसार शासकीय प्रापक का आवेदन मंजूर किया गया और अन्तरिती द्वारा धारा 75(1) के अधीन फाइल की गई अपील में उक्त विनिश्चय की पुष्टि की गई। इससे व्यथित होकर अपीलार्थी ने धारा 75(1) के द्वितीय परन्तुक के अधीन उच्च न्यायालय के समक्ष यह अपील फाइल की है।

अधिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई।

अब इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि धारा 53 में परिसीमा की ऐसी किसी भी अवधि का उपबंध नहीं किया गया है, जिसके भीतर अन्तरण के बातिल किए जाने की प्रार्थना की जा सके। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्तरण को बातिल करने के लिए आवेदन, परिसीमा के किसी नियम का पालन किए बिना, किसी भी समय फाइल किया जा सकता है। यदि विधि के अधीन स्थिति अन्यथा होती, तो उससे अन्तरण शाश्वत

अनिश्चितता की स्थिति में हो जाता। अतः स्पष्टतः उसके पीछे यह आशय नहीं हो सकता है। (पैरा 4)

अनुच्छेद 137 सिविल न्यायालय में किसी अधिनियम के अधीन फाइल किए गए किसी भी आवेदन को लागू होगा। तत्प्रयोजनार्थ यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा आवेदन सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन ही हो। अतः इस तथ्य से कि प्रस्तुत मामले में आवेदन प्रान्तीय दिवाला अधिनियम के अधीन है, परिसीमा अधिनियम, 1963 के अनुच्छेद 137 के लागू किए जाने के प्रयोजन के लिए कोई अन्तर नहीं आता है। निस्संदेह, शासकीय प्रापक का आवेदन सिविल न्यायालय में किया गया था और प्रान्तीय दिवाला अधिनियम की धारा 53 के अधीन या तत्प्रयोजनार्थ किसी अन्य उपबंध के अधीन उसके लिए किसी भी परिसीमा का उपबंध नहीं किया गया है। अतः 3 वर्ष की परिसीमा लागू होगी। प्रान्तीय दिवाला अधिनियम की धारा 28(2) में यह उपबंध किया गया है कि किसी व्यक्ति को दिवालिया न्यायनिर्णीत घोषित करने वाले आदेश के पारित किए जाने पर, दिवालिया व्यक्ति की सम्पूर्ण सम्पत्ति, यथास्थिति, न्यायालय या प्रापक में निहित होगी। (पैरा 5)

		पैरा
[1969]	(1969) 1 एस० सी० सी० 873 : अथानी म्युनिसिपल कौंसिल वाला मामला (Athani Municipal Council Case) का **अवलम्ब** लिया गया।	5
[1976]	(1976) 4 एस० सी० सी० 634 : केरल राज्य बिजली बोर्ड **बनाम** टी० पी० कुन्हलुम्मा (Kerala State Electricity Board *Vs*. T. P. Kunhalumma) से **असहमति** व्यक्त की गई।	5

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 1976 के आदेश संख्या 29 से उद्भूत द्वितीय अपील।

अपर जिला और सेशन न्यायाधीश, बुलन्दशहर द्वारा पारित निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से .... श्री आर० एच० जैदी

प्रत्यर्थियों की ओर से .... —

न्या० बी० डी० अग्रवाल :

यह अपील प्रान्तीय दिवाला अधिनियम (प्रोविंशियल इन्साल्वेंसी ऐक्ट), 1920 की धारा 75(1) के द्वितीय परन्तुक के अधीन फाइल की गई है।

2. गेंदा सिंह नामक एक व्यक्ति ने, दिवालिया न्यायनिर्णीत किए जाने के लिए प्रान्तीय दिवाला अधिनियम, 1920 की धारा 10(13) के अधीन तारीख 6 नवम्बर, 1967 को एक पिटीशन उपस्थापित किया। पिटीशनर की मृत्यु हो चुकी है। प्रत्यर्थी सं० 4, उसकी पुत्री, उसकी विधिक प्रतिनिधि है। प्रत्यर्थी सं० 2 और 3 संबंधित लेनदार हैं। पिटीशनर को इस अधिनियम की धारा 27 के अधीन तारीख 16 अप्रैल, 1968 को दिवालिया न्यायनिर्णीत किया गया। शासकीय प्रापक, बुलन्दशहर को उसकी सम्पत्तियों को कब्जे में लेने के लिए निदेश दिया गया। शासकीय प्रापक ने विवादग्रस्त भूमि को कुर्क करा लिया, जिसका दिवालिया भूमिधर रह चुका था। तारीख 26 फरवरी, 1966 को यह भूमि गेंदा सिंह द्वारा अपीलार्थी गजराज सिंह को दान की लिखत के अधीन अंतरित कर दी गई थी। उक्त दान-विलेख तारीख 10 मार्च, 1966 को रजिस्ट्रीकृत किया गया। गजराज सिंह ने उसकी भूमि को कब्जे में लेने के लिए शासकीय प्रापक को दिए गए निदेश के विरुद्ध धारा 68 के अधीन अपील फाइल की। दिवाला न्यायाधीश द्वारा यह अपील मंजूर की गई। तत्पश्चात् शासकीय प्रापक ने ऊपर वर्णित दान-विलेख के बातिल (अकृत) किए जाने के लिए तारीख 26 अप्रैल, 1972 को धारा 53 के अधीन आवेदन फाइल किया। गजराज सिंह ने उसका इस आधार पर विरोध किया कि उक्त आवेदन परिसीमा द्वारा वर्जित था और यह कि उसके पक्ष में दान द्वारा अन्तरण सद्भाव में किया गया है और यह भी कि दिवाला न्यायनिर्णयन का आदेश दुस्संधिपूर्ण था। दिवाला न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि किसी प्रकार की दुस्संधि नहीं की गई थी और शासकीय प्रापक द्वारा किए गए आवेदन के लिए परिसीमा का कोई वर्जन नहीं था। उक्त अन्तरण किसी प्रतिफल के लिए नहीं किया गया था। तदनुसार शासकीय प्रापक का आवेदन तारीख 27 सितम्बर, 1973 को मंजूर किया गया और गजराज सिंह, अन्तरिती द्वारा धारा 75(1) के अधीन फाइल की

गई अपील में उक्त विनिश्चय की पुष्टि की गई। इससे व्यथित होकर गजराज सिंह ने धारा 75(1) के द्वितीय परन्तुक के अधीन इस न्यायालय के समक्ष यह अपील फाइल की है।

3. मेरे समक्ष अपील में एकमात्र यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या तारीख 26 अप्रैल, 1972 का धारा 53 के अधीन शासकीय प्रापक का आवेदन परिसीमा द्वारा वर्जित है। धारा 53 इस प्रकार है :—

*"सम्पत्ति का कोई भी अन्तरण, जो विवाह से पूर्व और उसके प्रतिफलस्वरूप नहीं किया गया हो या क्रेता या विल्लंगमकर्ता के पक्ष में सद्भाव में और मूल्यवान प्रतिफल के लिए नहीं किया गया हो, यदि अन्तरक को अन्तरण की तारीख से दो वर्ष के भीतर उपस्थापित पिटीशन फाइल किए जाने पर दिवालिया न्यायनिर्णीत कर दिया जाता है, प्रापक के विरुद्ध शून्यकरणीय होगा और उसे न्यायालय द्वारा बातिल किया जा सकेगा।"

4. इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि उक्त दान मूल्यवान प्रतिफल के लिए अन्तरण नहीं है। गेंदा सिंह, तारीख 6 नवम्बर, 1967 को उपस्थापित उसके पिटीशन के आधार पर, दिवालिया न्यायनिर्णीत किया गया, जो तारीख 26 फरवरी, 1966 के दान-विलेख के निष्पादित किए जाने से 2 वर्ष के भीतर था, जो दान-विलेख तारीख 10 मार्च 1966 को रजिस्ट्रीकृत किया गया था। अब इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि धारा 53 में परिसीमा की ऐसी किसी भी अवधि का उपबंध नहीं किया गया है, जिसके भीतर अन्तरण के बातिल किए जाने की प्रार्थना की जा सके। किन्तु क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्तरण को बातिल करने के लिए आवेदन, परिसीमा के किसी नियम का पालन किए बिना, किसी भी समय फाइल किया जा

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"Any transfer of property not being a transfer made before and in consideration of marriage or made in favour of a purchaser or incumbrancer in good faith and for valuable consideration shall, if the transfer is adjudged insolvent a petition presented within two years after the date of the transfer, be voidable as against the receiver and may be annulled by the Court."

सकता है। यदि विधि के अधीन ऐसी स्थिति होती, तो उससे अन्तरण शाश्वत अनिश्चितता की स्थिति में रहता और स्पष्टतः उसके पीछे यह आशय नहीं हो सकता है। मेरी राय में, इसका उत्तर स्पष्टतः परिसीमा अधिनियम, 1963 की अनुसूची के अनुच्छेद 137 में दिया गया है।

5. अनुच्छेद 137 में आवेदन किए जाने के लिए तीन वर्ष की परिसीमा का उपबंध किया गया है, जिसके लिए अनुसूची में अन्तर्विष्ट किसी विशेष खण्ड में अन्यत्र परिसीमा की किसी अवधि का उपबंध नहीं किया गया है। यह अवधि उस तारीख से आरंभ होती है जब आवेदन करने का अधिकार प्रोद्भूत होता है। **केरल राज्य बिजली बोर्ड** वनाम **टी० पी० कुन्हलुम्मा**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने इस उपबंध का निर्वचन किया था उक्त मामले में यह निष्कर्ष निकाला गया कि अनुच्छेद 137 सिविल न्यायालय में किसी अधिनियम के अधीन फाइल किए गए किसी भी आवेदन को लागू होगा। तत्प्रयोजनार्थ यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा आवेदन सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन ही हो। उच्चतम न्यायालय द्वारा **अथानी म्युनिसिपल कौंसिल वाले मामले**[2] में व्यक्त किए गए विपरीत मत से विनिर्दिष्ट रूप से विचलन किया गया। अतः इस तथ्य से कि प्रस्तुत मामले में आवेदन प्रान्तीय दिवाला अधिनियम के अधीन है, परिसीमा अधिनियम, 1963 के अनुच्छेद 137 के लागू किए जाने के प्रयोजन के लिए कोई अंतर नहीं आता है। निस्संदेह, शासकीय प्रापक का आवेदन सिविल न्यायालय में किया गया था और प्रांतीय दिवाला अधिनियम की धारा 53 के अधीन या तत्प्रयोजनार्थ किसी अन्य उपबंध के अधीन उसके लिए किसी भी परिसीमा का उपबंध नहीं किया गया है। अतः 3 वर्ष की परिसीमा लागू होगी। वाद हेतुक तारीख 16 अप्रैल, 1968 को प्रोद्भूत हुआ माना जाएगा, क्योंकि यह वह तारीख थी जिसको गेंदा सिंह दिवालिया न्यायनिर्णीत किया गया था। प्रान्तीय दिवाला अधिनियम की धारा 28(2) में यह उपबंध किया गया है कि किसी व्यक्ति को दिवालिया न्यायनिर्णीत घोषित करने वाले आदेश के पारित किए जाने पर, दिवालिया व्यक्ति की सम्पूर्ण सम्पत्ति, यथास्थिति, न्यायालय या प्रापक में निहित होगी। अतः गेंदा सिंह के तारीख 16 अप्रैल, 1968 को दिवालिया न्यायनिर्णीत किए जाने पर, प्रापक न्यायालय के निदेशों के अधीन, दिवालिया व्यक्ति की ऐसी सम्पत्ति को कब्जे में लेने के लिए सक्षम हो गया, जो उसकी

---

1 (1976) 4 एस० सी० सी० 634.

2 (1969) 1 एस० सी० सी० 873.

थी। इस प्रकार यह वह तारीख थी, जब शासकीय प्रापक को विवादग्रस्त सम्पत्ति को कब्जे में लेने के लिए वाद हेतुक प्रोद्भूत हुआ और उससे आरम्भ होते हुए, तारीख 26 अप्रैल 1972 को उसके द्वारा किया गया आवेदन स्पष्टतः पूर्व वर्णित अनुच्छेद 137 के अधीन 3 वर्ष की परिसीमा से परे था।

6. उपर्युक्त कारणों से अपील सफल रहती है और मंजूर की जाती है। तारीख 1 सितम्बर, 1976 के आदेश को अपास्त किया जाता है। प्रान्तीय दिवाला अधिनियम की धारा 53 के अधीन शासकीय प्रापक का आवेदन खारिज किया जाता है। पक्षकार अपने-अपने खर्चे स्वयं वहन करेंगे।

अपील मंजूर की गई।

नरेश

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—289

शमशाद खां बनाम उत्तर प्रदेश राज्य

(Shamshad Khan *Vs.* State of U. P.)

तारीख 16 दिसम्बर, 1983

[न्या० आई० पी० सिंह]

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 धारा 319 और 362—धारा 319 में वर्णित 'किसी व्यक्ति ने, जो अभियुक्त नहीं है' पद के अन्तर्गत ऐसे व्यक्ति भी आते हैं, जिनके विरुद्ध पुलिस द्वारा अन्वेषण के दौरान कार्यवाही समाप्त कर दी गई है किन्तु जिनके विरुद्ध ऐसा साक्ष्य दण्ड न्यायालय के समक्ष आता है, जिससे उनका अपराध में अन्तर्वलित होना दर्शित होता है। अतः उन्हें न्यायालय में समन किया जा सकता है। अपरंच, विचारण का सामना करने के लिए किसी व्यक्ति को मात्र समन करना किसी मामले का निपटारा करने वाला न तो निर्णय है और न अन्तिम आदेश ही। अतः उसे धारा 362 का वजन लागू नहीं होता है।

राज्य के काउन्सेल ने मामला सं० 387/78 में आवेदक को समन करने और अन्य अभियुक्तों के साथ विचारण किए जाने के लिए उसे सह-अभियुक्त बनाने के लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 319 के अधीन तृतीय आवेदन फाइल किया। विद्वान् सेशन न्यायाधीश द्वारा आवेदक को समन किया गया और उसके साथ ही सेशन विचारण की और आगे सुनवाई के लिए तारीख नियत की गई। आवेदक को समन करने के इस आदेश के विरुद्ध ही दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय में प्रस्तुत आवेदन फाइल किया गया है। वे दो मुद्दे, जिन पर आदेश को चुनौती दी गई है, इस प्रकार हैं—(1) आवेदक को समन करना दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 193 के उपबंधों के विरुद्ध है, जिनमें मजिस्ट्रेट द्वारा सेशन न्यायालय को मामले के सुपुर्द किए जाने के बारे में कहा गया है और स्वयं जिसमें यह उपबंध किया गया है कि सेशन न्यायालय आरम्भिक अधिकारिता के न्यायालय के रूप में किसी अपराध का संज्ञान तब तक नहीं करेगा जब तक कि मजिस्ट्रेट द्वारा मामला उसे सुपुर्द न कर दिया गया हो; और (2) दण्ड प्रकिया संहिता की धारा 319 केवल उन व्यक्तियों को ही लागू होती है, जो मामले में आरम्भ में अभियुक्त नहीं बनाए गए थे। यह तर्क दिया गया है कि आवेदक को आरोप-पत्र में अभियुक्त के रूप में दर्शित किया गया है (यद्यपि फरार अभियुक्त के रूप में), अतः दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 319 लागू नहीं होगी और अभियोजन पक्ष को, उसे सेशन न्यायालय के समक्ष कठघरे में खड़ा करने कें लिए, दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 209 के अधीन सेशन न्यायालय को उसकी सुपुर्दगी अवश्य ही करानी चाहिए।

अभिनिर्धारित—आवेदन खारिज किया गया।

दण्द प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 319 में वर्णित 'किसी व्यक्ति ने, जो अभियुक्त नहीं है' पद के अन्तर्गत स्पष्टतः ऐसा कोई भी व्यक्ति आता है, जिसका न्यायालय द्वारा पहले से विचारण नहीं किया जा रहा है और धारा 319(1) जैसे उपबंध को अधिनियमित करने के प्रयोजन से ही स्पष्टतः यह दर्शित हो जाता है कि ऐसे व्यक्ति, जिनके विरुद्ध पुलिस द्वारा अन्वेषण के दौरान कार्यवाही समाप्त कर दी गई है, किन्तु जिनके विरुद्ध ऐसा साक्ष्य दण्ड न्यायालय के समक्ष आता है, जिससे उनका अपराध में अन्तर्वलित होना दर्शित होता है, उक्त पद में सम्मिलित किए गए हैं। धारा 193 और धारा 209 दोनों ही के अधीन सुपुर्दगी मामले की होती है, न कि अभियुक्त की, जबकि पुरानी संहिता के समतुल्य उपबंधों, अर्थात् धारा 193(1) और धारा 207(क)

के अधीन अभियुक्त की ही सुपुर्दगी की जाती थी, न कि मामले की। धारा 209 के साथ पठित धारा 193 के अधीन, जब मामला किसी अपराध की बाबत सेशन न्यायालय को सुपुर्द किया जाता है, तो सेशन न्यायालय अपराध का संज्ञान करता है, न कि अभियुक्त का और जब एक बार मामला, किसी अभियुक्त के विरुद्ध सुपुर्दगी आदेश के परिणामस्वरूप समुचित रूप से सेशन न्यायालय के हाथ में आ जाता है, तो धारा 319(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है और ऐसा न्यायालय ऐसे किसी व्यक्ति को, जो उसके समक्ष अभियुक्त नहीं है, अभियुक्त के रूप में सम्मिलित कर सकता है और यह निदेश कर सकता है कि उसका उस अपराध के लिए अन्य अभियुक्तों के साथ विचारण किया जाए, जो विचारण में अभिलिखित साक्ष्य से ऐसे सम्मिलित किए गए अभियुक्त द्वारा किया गया प्रतीत होता है। जब उन अभियुक्तों के संदर्भ में, जो न्यायालय के समक्ष हैं, अपराध की बाबत मामले की एक बार सुपुर्दगी कर दी जाती है, तो यह कहा जा सकता है कि सेशन न्यायालय ने अपराध का समुचित रूप से संज्ञान कर लिया है और धारा 193 के अधीन वर्जन का कोई अर्थ नहीं रह जाता है तथा ऐसे और व्यक्तियों का, जो विचारण के दौरान दिए गए साक्ष्य से अपराध में अन्तर्वलित प्रतीत होते हैं, समन किया जाना और उन अभियुक्तों के साथ, जिन्हें पहले ही सुपुर्द कर दिया गया था, विचारण का सामना करने के लिए उन्हें निदेश करना ऐसे संज्ञान के लिए आनुषंगिक और उस सामान्य प्रक्रिया का भाग माना जाना चाहिए, जो उसके पश्चात् की जाती है अन्यथा सेशन न्यायालय को धारा 319(1) के अधीन शक्ति का 'प्रदान' निरर्थक हो जाएगा। इसके अतिरिक्त धारा 319(4)(ख) द्वारा इस निमित्त धारणा-उपबंध अधिनियमित किया गया है, जिसके द्वारा नए सिरे से सम्मिलित किए गए अभियुक्त के विरुद्ध प्ररूपिक सुपुर्दगी आदेश से अभिमुक्ति प्रदान की गई है। (पैरा 7)

यह स्पष्ट है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 362 द्वारा किसी मामले का निपटारा करने वाले निर्णय या अन्तिम आदेश का परिवर्तन या पुनर्विलोकन ही प्रतिषिद्ध किया गया है। विचारण का सामना करने के लिए किसी व्यक्ति को मात्र समन करना किसी मामले का निपटारा करने वाला न तो निर्णय है और न अन्तिम आदेश ही और इसलिए दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 362 का उक्त वर्जन लागू नहीं होता है और उस कारण आक्षेपित आदेश को विखण्डित नहीं किया जा सकता है। (पैरा 8)

पैरा

[1979] [1979] 4 उम० नि० प० 773=ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 339 : जोगिन्दर सिंह और एक अन्य **बनाम** पंजाब राज्य और एक अन्य (Jogender Singh & another *Vs.* State of Punjab & another) — 7

का **अवलम्ब** लिया गया।

[1977] 1977 क्रिमिनल एल० जे० 415 : पाटननचल चीना लिंगैया **बनाम** राज्य और एक अन्य (Patananchala China Lingaiah *Vs.* The State & another); — 3

को **उलट** दिया गया।

आरम्भिक (दाण्डिक रिट) अधिकारिता : 1981 का दाण्डिक प्रकीर्ण आवेदन सं० 1362.

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन आवेदन।

आवेदक की ओर से .... श्री केशव सहाय

राज्य की ओर से .... सहायक सरकारी अधिवक्ता

न्या० आई० पी० सिंह :

शमशाद खां ने यह आवेदन दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन फाइल किया है, जिसमें राज्य **बनाम** नौशाद और अन्य (1979 का एस० टी० सं० 251) वाले मामले में दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 319 के अधीन अभियुक्त के रूप में आवेदक को समन करते हुए, सहारनपुर के तृतीय अपर जिला न्यायाधीश द्वारा तारीख 28 नवम्बर, 1980 को पारित आदेश के अभिखण्डित किए जाने की प्रार्थना की गई है।

2. वे तथ्य, जिनसे यह आवेदन उद्भूत हुआ है, संक्षेप में इस प्रकार हैं—कुमारी नायब रानी ने, जिसकी आयु लगभग 11 वर्ष थी, अपनी बहन गुलशन आफताब उर्फ किश्वर आफताब का अपहरण करने के लिए,

शमशाद खां (वर्तमान आवेदक), नौशाद, इनाम और सईद के विरुद्ध जिला सहारनपुर के पुलिस स्टेशन मण्डी में तारीख 25 दिसम्बर, 1978 को मौखिक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट फाइल की, जो भारतीय दण्ड संहिता की धारा 368 के अधीन अपराध सं० 387/1978 के रूप में दर्ज की गई। उक्त प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की प्रति उपाबंध-क है। अन्वेषण के परिणामस्वरूप, तारीख 6 अप्रैल, 1979 को नौशाद, इनाम और सईद के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 363, 366, 368 के अधीन आरोप-पत्र पेश किया गया, जबकि आवेदक शमशाद को फरार अभियुक्त के रूप में दर्शित किया गया।

3. मजिस्ट्रेट ने ऊपर वर्णित तीनों अभियुक्तों को विचारण का सामना करने के लिए तारीख 17 जुलाई, 1979 को सेशन न्यायालय को सुपुर्द किया। आरोप विरचित करने के लिए तारीख 25 अक्तूबर, 1979 नियत की गई। किन्तु, उसी दिन राज्य के काउन्सेल ने दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 319 के अधीन अभियुक्त-आवेदक शमशाद को समन करने के लिए आवेदन फाइल किया जिससे अन्य तीनों अभियुक्तों के साथ उसका विचारण किया जा सके। इस आवेदन के आधार पर आवेदक शमशाद को समन किया गया और उसने तारीख 19 जनवरी, 1980 को आक्षेप फाइल किए। पक्षकारों को सुनने के पश्चात्, राज्य का आवेदन खारिज कर दिया गया (तारीख 11 अप्रैल, 1980 का आदेश-उपाबंध घ देखें)। उसके परिशीलन से यह दर्शित होता है कि उक्त आवेदन **पाटननचल चीना लिंगैया** बनाम **राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में किए गए विनिश्चयों के आधार पर खारिज किया गया था। ये विनिश्चय इस आशय के हैं कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 193 के उपबंधों को देखते हुए, सेशन न्यायालय किसी भी अपराध का तब तक संज्ञान नहीं कर सकता है जब तक कि मजिस्ट्रेट द्वारा मामला उसे सुपुर्द न कर दिया जाए। तदनुसार सेशन न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि आवेदक शमशाद का, प्रत्यक्ष विवक्षा द्वारा, उसके द्वारा विचारण नहीं किया जा सकता था। दूसरे शब्दों में, मजिस्ट्रेट द्वारा सुपुर्दगी आवश्यक समझी गई। तारीख 11 अप्रैल, 1980 के उक्त आदेश द्वारा, आवेदक शमशाद के विरुद्ध कार्यवाहियों के समाप्त किए जाने का आदेश किया गया।

---

[1] 1977 क्रिमिनल एल० जे० 415.

4. तारीख 25 जुलाई, 1980 को कुमारी नायब रानी की मुख्य परीक्षा में कथन अभिलिखित किया गया। उक्त कथन के आधार पर राज्य के काउन्सेल ने उसी तारीख को मामले में सह-अभियुक्त के रूप में आवेदक शमशाद को समन करने और पक्षकार बनाने के लिए द्वितीय आवेदन फाइल किया। उसने यह उपदर्शित करते हुए, तारीख 14 अक्तूबर, 1980 को आक्षेप फाइल किया कि तारीख 11 अप्रैल, 1980 के आदेश द्वारा उसके विरुद्ध वैसी ही कार्यवाहियां पहले ही समाप्त की जा चुकी थीं और कदाचित् राज्य के काउन्सेल द्वारा न्यायालय का उक्त आदेश न्यायालय की जानकारी में नहीं लाया गया, जिसके परिणामस्वरूप उसे पुनः समन किया गया था। यह अभिवचन किया गया कि पुनः समन करने का अर्थ है तारीख 11 अप्रैल, 1980 के पूर्वतर आदेश का पुनर्विलोकन, जो न्यायालय विधि के अधीन नहीं कर सकता था। पक्षकारों को सुनने के पश्चात्, राज्य का यह द्वितीय आवेदन भी खारिज कर दिया गया (तारीख 30 अक्तूबर, 1980 का आदेश देखें। उसके परिशीलन से यह दर्शित होता है कि उक्त आवेदन ऊपर प्रोद्धृत उन्हीं विनिर्णयों के आधार पर खारिज किया गया था और आवेदक शमशाद के विरुद्ध कार्यवाहियों के समाप्त किए जाने का आदेश किया गया था। तत्पश्चात् कुमारी नायब रानी (अभि० सा० 1) और मोहम्मद अय्यूब (अभि० सा० 2) के कथन पूरे किए गए और मामला स्थगित कर दिया गया।

5. तारीख 3 नवम्बर, 1980 को राज्य के काउन्सेल ने आवेदक शमशाद को समन करने और अन्य अभियुक्तों के साथ विचारण किए जाने के लिए उसे सह-अभियुक्त बनाने के लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 319 के अधीन तृतीय आवेदन फाइल किया। इस संबंध में यह उपदर्शित किया गया कि उन पूर्वतर विनिर्णयों को, जिनका आवेदक शमशाद के विद्वान् काउन्सेल द्वारा अवलम्ब लिया गया था (जिनके आधार पर पूर्वतन आदेश पारित किए गए थे) **जोगिन्दर सिंह और एक अन्य बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में किए गए विनिश्चय द्वारा उलट दिया गया था।

6. राज्य के काउन्सेल के तारीख 3 नवम्बर, 1980 के उक्त आवेदन के आधार पर विद्वान् सेशन न्यायाधीश ने तारीख 5 नवम्बर, 1980 को शमशाद को तारीख 28 नवम्बर, 1980 को हाजिर होने के लिए सूचना

---

1 [1979] 4 उम० नि० प० 773=ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 339.

जारी किए जाने का आदेश दिया, जिसकी प्रति उपाबंध-ङ है। तारीख 28 नवम्बर, 1980 को आवेदक शमशाद पर सूचना की तामील नहीं की जा सकी, अतः उसे तारीख 17 दिसम्बर, 1980 के लिए पुनः समन किया गया और उसके साथ ही सेशन विचारण की और आगे सुनवाई के लिए तारीख नियत की गई। आवेदक शमशाद को समन करने के इस आदेश के विरुद्ध हो दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन प्रस्तुत आवेदन फाइल किया गया है।

7. वे दो मुद्दे, जिन पर उक्त आदेश को चुनौती दी गई है, इस प्रकार हैं—(1) आवेदक को समन करना दण्ड प्रक्रिया संहिता क धारा 193 के उपबंधों के विरुद्ध है, जिसमें मजिस्ट्रेट द्वारा सेशन न्यायालय को मामले के सुपुर्द किए जाने के बारे में कहा गया है और स्वयं जिसमें यह उपबंध किया गया है कि सेशन न्यायालय आरम्भिक अधिकारिता के न्यायालय के रूप में किसी अपराध का संज्ञान तब तक नहीं करेगा जब तक कि मजिस्ट्रेट द्वारा मामला उसे सुपुर्द न कर दिया गया हो; और (2) दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 319 केवल उन व्यक्तियों को ही लागू होती है, जो मामले में आरम्भ में अभियुक्त नहीं बनाए गए थे। यह तर्क दिया गया है कि आवेदन शमशाद को आरोप-पत्र में अभियुक्त के रूप में दर्शित किया गया है (यद्यपि फरार अभियुक्त के रूप में), अतः दण्ड प्रक्रिया सहिता की धारा 319 लागू नहीं होगी और अभियोजन पक्ष को, उसे सेशन न्यायालय के समक्ष कठघरे में खड़ा करने के लिए, दण्ड प्रकिया संहिता की धारा 209 के अधीन सेशन न्यायालय को उसकी सुपुर्दगी अवश्य ही करानी चाहिए। इन दो दलीलों के उत्तर में, **जोगिन्दर सिंह और एक अन्य बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले के प्रति निर्देश करना उचित होगा, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है :—

> "धारा 319 में वर्णित 'किसी व्यक्ति ने, जो अभियुक्त नहीं है' पद के अन्तर्गत स्पष्टतः ऐसा कोई भी व्यक्ति आता है, जिसका न्यायालय द्वारा पहले से विचारण नहीं किया जा रहा है और धारा 319 (1) जैसे उपबंध को अधिनियमित करने के प्रयोजन से ही स्पष्टतः यह दर्शित हो जाता है कि ऐसे व्यक्ति, जिनके विरुद्ध पुलिस द्वारा अन्वेषण के दौरान कार्यवाही समाप्त कर दी गई है, किन्तु

1 [1979] 4 उम० नि० प० 773=ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 339.

जिनके विरुद्ध ऐसा साक्ष्य दण्ड न्यायालय के समक्ष आता है, जिससे उनका अपराध में अन्तर्वलित होना दर्शित होता है, उक्त पद में सम्मिलित किए गए हैं।"

उसके पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया :—

"धारा 193 और धारा 209 दोनों ही के अधीन सुपुर्दगी मामले की होती है, न कि अभियुक्त की, जबकि पुरानी संहिता के समतुल्य उपबंधों, अर्थात् धारा 193(1) और धारा 207(क) के अधीन अभियुक्त की ही सुपुर्दगी की जाती थी, न कि मामले की। धारा 209 के साथ पठित, धारा 193 के अधीन, जब मामला किसी अपराध की बाबत सेशन न्यायालय को सुपुर्द किया जाता है, तो सेशन न्यायालय अपराध का संज्ञान करता है, न कि अभियुक्त का और जब एक बार मामला, किसी अभियुक्त के विरुद्ध सुपुर्दगी आदेश के परिणामस्वरूप समुचित रूप से सेशन न्यायालय के हाथ में आ जाता है, तो धारा 319(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है और ऐसा न्यायालय ऐसे किसी व्यक्ति को, जो उसके समक्ष अभियुक्त नहीं है, अभियुक्त के रूप में सम्मिलित कर सकता है और यह निदेश कर सकता है कि उसका उस अपराध के लिए अन्य अभियुक्तों के साथ विचारण किया जाए, जो विचारण में अभिलिखित साक्ष्य से ऐसे सम्मिलित किए गए अभियुक्त द्वारा किया गया प्रतीत होता है।"

उसके पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया गया :—

"जब उन अभियुक्तों के संदर्भ में, जो न्यायालय के समक्ष हैं, अपराध की बाबत मामले की एक बार सुपुर्दगी कर दी जाती है, तो यह कहा जा सकता है कि सेशन न्यायालय ने अपराध का समुचित रूप से संज्ञान कर लिया है और धारा 193 के अधीन वर्जन का कोई अर्थ नहीं रह जाता है तथा ऐसे और व्यक्तियों का, जो विचारण के दौरान दिए गए साक्ष्य से अपराध में अन्तर्वलित प्रतीत होते हैं, समन किया जाना और उन अभियुक्तों के साथ, जिन्हें पहले ही सुपुर्द कर दिया गया था, विचारण का सामना करने के लिए उन्हें निदेश करना ऐसे संज्ञान के लिए आनुषंगिक और उस सामान्य प्रक्रिया का भाग माना जाना चाहिए, जो उसके पश्चात् की जाती है अन्यथा सेशन न्यायालय को धारा 319(1) के अधीन शक्ति का 'प्रदान'

निरर्थक हो जाएगा। इसके अतिरिक्त धारा 319(4)(ख) द्वारा इस निमित्त धारणा-उपबंध अधिनियमित किया गया है, जिसके द्वारा नए सिरे से सम्मिलित किए गए अभियुक्त के विरुद्ध प्ररूपिक सुपुर्दगी आदेश से अभिमुक्ति प्रदान की गई है।"

इस मताभिव्यक्ति को देखते हुए, उपर्युक्त दोनों मुद्दों में से किसी भी मुद्दे में कोई बल नहीं है।

8. तीसरा मुद्दा यह उठाया गया है कि तारीख 11 अप्रैल, 1980 और तारीख 30 अक्तूबर, 1980 के दो पूर्वतर आदेशों द्वारा उसके विरुद्ध कार्यवाहियां समाप्त किए जाने के पश्चात् नए सिरे से आवेदक को समन करने वाला आक्षेपित आदेश उक्त आदेशों को परिवर्तित या पुनर्विलोकन करने की कोटि में आता है, जो दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 362 के उपबंधों को देखते हुए नहीं किया जा सकता था, जो इस प्रकार है:—

"धारा 362. इस संहिता या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि द्वारा जैसा उपबन्धित है उसके सिवाय कोई न्यायालय जब उसने किसी मामले को निपटाने के लिए अपने निर्णय या अन्तिम आदेश पर हस्ताक्षर कर दिए हैं तब लिपिकीय या गणितीय भूल को ठीक करने के सिवाय उसमें कोई परिवर्तन नहीं करेगा या उसका पुनर्विलोकन नहीं करेगा।"

यह स्पष्ट है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 362 द्वारा किसी मामले का निपटारा करने वाले निर्णय या अन्तिम आदेश का परिवर्तन या पुनर्विलोकन ही प्रतिषिद्ध किया गया है। मेरी राय में, विचारण का सामना करने के लिए किसी व्यक्ति को मात्र समन करना किसी मामले का निपटारा करने वाला न तो निर्णय है और न अन्तिम आदेश ही और इसलिए दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 362 का उक्त वर्जन लागू नहीं होता है और उस कारण आक्षेपित आदेश को विखण्डित नहीं किया जा सकता है।

9. इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को देखते हुए, जिनके बारे में ऊपर चर्चा की जा चुकी है, दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन इस न्यायालय को अन्तर्निहित शक्तियों के प्रयोग में हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अत: आवेदन खारिज किया जाता है।

आवेदन खारिज किया गया।

न०

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—298

झुन्ने खां बनाम सिटी मजिस्ट्रेट और अन्य

(Jhunne Khan *Vs.* City Magistrate and others)

तारीख 19 दिसम्बर, 1983

[न्या० एम० बहाजुद्दीन]

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 धारा 146(1)—मजिस्ट्रेट सक्षम न्यायालय द्वारा अधिकार के अवधारण के लिए आदेश तभी पारित कर सकता है जब वह स्वयं मामले का विनिश्चय करने में असमर्थ हो। स्पष्टतः, लिखित कथन फाइल किए जाने और पक्षकारों द्वारा साक्ष्य पेश किए जाने से पूर्व कोई भी मजिस्ट्रेट यह कहने की स्थिति में नहीं हो सकता है कि वह स्वयं मामले का विनिश्चय करने में असमर्थ है।

मजिस्ट्रेट ने लिखित कथन आमंत्रित करते हुए, दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन प्रारम्भिक आदेश और सम्पत्ति को कुर्क करते हुए, दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 146(1) के अधीन आदेश पारित किया। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 146(1) के अधीन इस आदेश में मजिस्ट्रेट ने यह निदेश भी किया कि जब तक सक्षम न्यायालय द्वारा कब्जे का अधिकार अवधारित नहीं कर दिया जाता है, कुर्की का आदेश बना रहेगा। मजिस्ट्रेट के उक्त आदेश के विरुद्ध ही पिटीशनर ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत आवेदन फाइल किया है।

अभिनिर्धारित—आवेदन भागतः मंजूर किया गया।

प्रश्नगत धारा के पढ़ने से स्पष्टतः यह उपदर्शित हो जाएगा कि मजिस्ट्रेट सक्षम न्यायालय द्वारा अधिकार के अवधारण के लिए ऐसा आदेश तभी पारित कर सकता है जब वह स्वयं मामले का विनिश्चय करने में असमर्थ हो, और उसे ऐसा अभिलिखित करना पड़ता है। स्पष्टतः, लिखित कथनों के फाइल किए जाने और पक्षकारों द्वारा साक्ष्य के पेश किए जाने से पूर्व कोई भी मजिस्ट्रेट यह कहने की स्थिति में नहीं हो सकता है कि वह स्वयं मामले का विनिश्चय करने में असमर्थ है। तारीख 26 मार्च, 1983 के आदेश का वह भाग अविधिमान्य है और इस आदेश द्वारा अभिखण्डित

किया जाता है। कुर्की के आदेश तथा प्रारम्भिक आदेश को कायम रखा जाता है। (पैरा 1)

आरम्भिक (दाण्ड़िक रिट) अधिकारिता : 1983 का दाण्डिक प्रकीर्ण आवेदन सं० 9362.

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन आवेदन।

पिटीशनर की ओर से .... सर्वश्री पी० पी० श्रीवास्तव और सतीश त्रिवेदी

विरोधी पक्षकारों की ओर से .... —

न्या० एम० वहाजुद्दीन :

मैंने दोनों पक्षकारों के काउन्सेलों को सुन लिया है। मजिस्ट्रेट ने उसी दिन, लिखित कथन आमंत्रित करते हुए, दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन प्रारम्भिक आदेश और सम्पत्ति को कुर्क करते हुए, दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 146(1) के अधीन आदेश पारित किया। प्रारम्भिक आदेश ठीक (समुचित) है और आपात कुर्की का आदेश भी ठीक है तथा वह ऐसा आदेश उसी दिन पारित कर सकता था, किन्तु यह बात विचित्र-सी लगती है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 146(1) के अधीन इस आदेश में मजिस्ट्रेट ने यह निदेश भी किया है कि ज़ब तक सक्षम न्यायालय द्वारा कब्जे का अधिकार अवधारित नहीं कर दिया ज़ाता है, कुर्की का आदेश बना रहेगा। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 146 में अन्तर्विष्ट तीन अनुकल्पों में से यह एक अनुकल्प है किन्तु उक्त धारा के पढ़ने से स्पष्टतः यह उपदर्शित हो जाएगा कि मजिस्ट्रेट सक्षम न्यायालय द्वारा अधिकार के अवधारण के लिए ऐसा आदेश तभी पारित कर सकता है जब वह स्वयं मामले का विनिश्चय करने में असमर्थ हो, और उसे ऐसा अभिलिखित करना पड़ता है। स्पष्टतः, लिखित कथनों के फाइल किए जाने और पक्षकारों द्वारा साक्ष्य के पेश किए जाने से पूर्व कोई भी मजिस्ट्रेट यह कहने की स्थिति में नहीं हो सकता है कि वह स्वयं मामले का विनिश्चय करने में असमर्थ है। तारीख 26 मार्च, 1983 के आदेश का वह भाग अविधिमान्य है और इस आदेश द्वारा अभिखण्डित किया जाता है। कुर्की के आदेश तथा प्रारम्भिक आदेश को कायम रखा जाता है और मजिस्ट्रेट को अब दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 145(4) के अधीन कार्यवाही करने का निदेश

किया जाता है, जैसा कि विधि में उपबंध किया गया है, और पक्षकारों को अपने लिखित कथन फाइल करने तथा साक्ष्य देने के लिए अवसर प्रदान किया जाएगा और उसके पश्चात् ही मजिस्ट्रेट मामले के संबंध में कोई आदेश पारित कर सकता है।

2. परिणामतः, यह आवेदन, उपर्युक्त निदेश सहित, भागतः मंजूर किया जाता है।

3. इस आदेश की एक प्रति, प्रायिक प्रभारों का संदाय किए जाने पर, दो दिन के भीतर पक्षकारों को दे दी जाएगी।

आवेदन भागतः मंजूर किया गया।

न०

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—300

श्रीमती जानकी बनाम गणेश राम

(Smt. Janki *Vs.* Ganesh Ram)

तारीख 9 जनवरी, 1984

[न्या० के० एन० सिंह और ओ० पी० सक्सेना]

सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882, धारा 54, 58(क) और 58(ग)—विक्रय-विलेख, सशर्त बंधक द्वारा बंधक और पुनः खरीदने की शर्त द्वारा शुद्ध विक्रय-विलेख में अन्तर—इसका पता सर्वप्रथम विलेख की भाषा से ही लगाया जाना चाहिए—यदि भाषा स्पष्ट है तो उसी को प्रभावी किया जाना चाहिए तथा कोई बाह्य जांच आवश्यक नहीं—तथापि यदि भाषा में संदिग्धता है तो फिर तत्सबंधी परिस्थितियों तथा पक्षकारों के आशय और अर्थ पर ध्यान दिया जा सकता है।

वादी बलिया की नगरपालिक सीमाओं में स्थित विवादास्पद संपत्ति का स्वामी था। इसका कुल क्षेत्रफल 46 एकड़ है। इसके पर्याप्त भाग पर निर्मित भवन हैं। वादी ने 9 सितम्बर, 1947 को एक विलेख

(प्रदर्श ए-1) निष्पादित किया जिसके द्वारा उसके विवादास्पद संपत्ति को प्रतिवादी सं० 1, मुस्मात दौलता कुंअर प्रतिवादी ग्रुप II के पूर्वज को रु० 45,00 की रकम के बदले में अंतरित कर दिया था। वादी ने 4 जनवरी, 1963 को अकिंचन की हैसियत से बंधक के मोचन के लिए और प्रतिवादियों को कोई रकम का संदाय किये बिना ही विवादास्पद संपत्ति पर कब्जे के लिए वाद फाइल किया।

वाद का प्रतिवाद प्रत्यर्थी सं० 3 तथा सं० 6 से लेकर सं० 9 (ग्रुप II) द्वारा इन अभिकथनों के साथ किया गया कि वादी द्वारा निष्पादित दस्तावेज पुनः खरीदने के अधिकार सहित शुद्ध विक्रय का एक दस्तावेज था और यह सशर्त विक्रय द्वारा बंधक नहीं था; यह कि वादी प्रतिवादी ग्रुप II और III के कारबार की देखरेख किया करता था और उसने 16,800 रुपये और 15,000 रुपये तक का दायित्व उपगत कर लिया था; यह कि उसने इन फर्मों के नाम में इंपीरियल बैंक से ऋण प्राप्त किया था और इस धन का दुर्विनियोग कर लिया था; यह कि इसी कारण से उसने इन रकमों के लिए दायित्व स्वीकार कर लिया था तथा 45,000 रुपये के लिए एक दस्तावेज निष्पादित कर दिया था; यह कि उसने नियत अवधि में कोई प्रतिहस्तांतरण प्राप्त नहीं किया था; यह कि वह 45,000 रुपये के संदाय के बिना बंधक के मोचन का हकदार नहीं है; और यह कि यह वाद तुच्छ और तंग करने वाला है तथा प्रतिवादी ग्रुप II विशेष खर्चों के लिए हकदार हैं।

विद्वान् सिविल न्यायाधीश ने वादी के इस पक्षकथन को स्वीकार कर लिया था कि 9 सितम्बर, 1947 का दस्तावेज सशर्त विकय द्वारा बंधक था और वह पुनः खरीद करने की शर्त के साथ शुद्ध विक्रय (का दस्तावेज) नहीं था। उसने वादी के इस कथन को स्वीकार किया कि वस्तुतः रुपये 16,800 की रकम प्रतिवादी ग्रुप II की ओर से देय थी और वादी उसको संदाय करने के दायित्वाधीन नहीं था। उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया कि वादी 28,200 रुपये संदाय का दायी था। तद्नुसार उन्होंने 9 सितम्बर, 1947 के बंधक के मोचन के लिये किये गये वाद में डिक्री पारित कर दी और वादी को 6 मास के भीतर न्यायालय में 28,000 रुपये जमा कराने का निदेश दिया। ऐसा किये जाने पर उन्होंने प्रतिवादी ग्रुप I और II को यह निदेश दिया कि वे वादी को बंधकित संपत्ति का कब्जा प्रदान कर दें। वादी को अकिंचन रूप में वाद लाने के लिए

अनुज्ञात कर लिया गया था और यह निदेश दिया गया था कि न्यायालय फीस प्रतिवादी ग्रुप I और II से वसूल की जायेगी। वादी को उक्त प्रतिवादियों के विरुद्ध वाद का खर्चा भी मंजूर कर दिया गया था। अतः यह अपील और प्रत्याक्षेप फाइल किया गया है।

इस अपील में मुख्य मुद्दा यह है कि क्या 9 सितम्बर, 1947 का विलेख सशर्त विक्रय द्वारा बंधक था अथवा पुनः खरीदने के अधिकार वाला शुद्ध विक्रय-विलेख ?

अभिनिर्धारित—अपील भागतः मंजूर की गई।

संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 58(क) और 58(ग) में बंधक की तथा सशर्त विक्रय द्वारा बंधक की परिभाषाएं दी गई हैं। इस बात का अवधारण करने के लिए कि प्रश्नगत संव्यवहार शुद्ध विक्रय की अथवा सशर्त विक्रय द्वारा बंधक की कोटि में आता है, निम्नलिखित कसौटियां मामले का अवधारण करने के लिए लागू की जा सकती हैं : (1) ऋण का विद्यमान होना; (2) प्रतिसंदाय की अवधि, यदि यह अवधि छोटी है तो इससे विक्रय का संकेत मिलता है और यदि यह अवधि लंबी है तो इससे बंधक का संकेत मिलता है; (3) जिसे संपत्ति दी गई है उसका कब्जे में बना रहना बंधक उपदर्शित करता है; (4) प्रतिसंदाय पर ब्याज की शर्त बंधक को उपदर्शित करती है; (5) सही मूल्य से कम कीमत बंधक को उपदर्शित करती है; (6) प्रतिहस्तांतरण का उपबंध करने वाला समकालीन विलेख बंधक उपदर्शित करता है। तथापि, यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि उपर उल्लिखित परिस्थितियों में से कोई एक परिस्थिति आवश्यक रूप से यह साबित नहीं करेगी कि पुनः खरीदने की शर्त सहित विक्रय विलेख वस्तुः सशर्त विक्रय द्वारा बंधक है। (पैरा 10)

कोई प्रश्नगत संव्यवहार सशर्त विक्रय द्वारा बंधक है अथवा पुनः खरीदने की शर्त सहित शुद्ध विक्रय-विलेख है, इस बात का विनिश्चय उसी मामले के तथ्यों के आधार पर किया जाना चाहिए। ऐसे मामलों में पक्षकारों का आशय ही अवधारण का एक मुख्य तत्त्व है। संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 58(ग) के परन्तुक के प्रति निर्देश किया गया था और यह बताया गया कि जहां विक्रय तथा पुनः खरीदने का करार दो भिन्न-भिन्न दस्तावेजों में किया जाता है वहां ऐसा संव्यवहार सशर्त विक्रय द्वारा बंधक नहीं हो सकता। यह कहते हुए सावधानी का संकेत किया गया है कि इसके

प्रतिकूल बात सही नहीं है अर्थात् मात्र यह तथ्य कि केवल एक ही दस्तावेज में यह दोनों बातें हैं, इससे आवश्यकतः यह अर्थ नहीं निकलता कि यह दस्तावेज बंधक होना चाहिए और यह विक्रय-विलेख नहीं हो सकता। दस्तावेज के अर्थान्वयन पर सर्वप्रथम स्वयं दस्तावेजों से ही आशय निकाला जाना चाहिए। यदि दस्तावेज के शब्द बिल्कुल स्पष्ट और प्रत्यक्ष हैं तो उन्हीं को प्रभावी किया जाना चाहिए और इस बारे में कोई बाह्य जांच नहीं की जानी चाहिए कि पक्षकारों का विचार या आशय क्या था। ऐसे मामले में वास्तविक प्रश्न यह नहीं होता है कि पक्षकार का आशय या अर्थ क्या था अपितु यह है कि उन शब्दों का क्या विधिक प्रभाव है जिनका प्रयोग किया गया है। तथापि, प्रयुक्त भाषा में यदि कुछ संदिग्धता है तो इस बात का अवधारण करने के लिए संबंधित परिस्थितियों पर ध्यान दिया जा सकता है कि पक्षकारों का-आशय क्या था। (पैरा 11)

निष्पादककर्ता ने अपने दायित्व के लिए 45,000 रूपये तक के प्रति निर्देश किया और यह बताया कि इस दस्तावेज को निष्पादित करने के सिवाय यह रकम एकत्र करना संभव नहीं था। यदि वह विक्रय-विलेख निष्पादित कर रहा था तो उसने यह कहा होता चूंकि, यह रकम एकत्रित करना संभव नहीं है, इसलिए उसके पास 45,000 रुपये की रकम के लिए संपत्ति बेचने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं था। यह बात महत्वपूर्ण है कि 45,000 रुपये की रकम "जरे कर्ज नकद" के रूप में वर्णित की गई है। प्राप्त हुए नकद ऋण के प्रति निर्देश ऋणदाता और ऋणी के संबंध स्थापित होने के प्रति स्पष्ट संकेत है और सदत्त कीमत की बजाय प्रतिफल, ऋण के रूप में प्राप्त किया गया है, जैसा कि सम्पत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 54 में "विक्रय" की परिभाषा में निर्दिष्ट किया गया है। (पैरा 16)

यह स्पष्ट है कि सशर्त विक्रय द्वारा बंधक में भी विक्रय की सभी प्रसंविदाएं शामिल की जाती हैं। न्यायालय अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल की इस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ है कि इन निबंधनों और शर्तों का शामिल करना यह दर्शित करता है कि यह दस्तावेज पुनः खरीदने की शर्त सहित विक्रय का एक शुद्ध दस्तावेज था और सशर्त विक्रय द्वारा बंधक का दस्तावेज नहीं। न्यायालय की राय यह है कि यह निबंधन सशर्त विक्रय द्वारा बंधक में भी शामिल किए जाते हैं। (पैरा 18)

इस मामले में पक्षकारों के बीच संबंध की प्रकृति के बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता और रुपये 45,000 की रकम को "जरे कर्जा नकद"

के रूप में निर्दिष्ट किया गया था। वादगत संपत्ति का कब्जा प्रतिवादी ग्रुप-II को दे दिया गया था। जहां बंधकदार को कब्जा दे दिया जाता है वहां प्रायः ब्याज के लिए कोई उपबंध नहीं किया जाता। (पैरा 19)

		पैरा
[1964]	ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 345 : चुनचुन **बनाम** इबादत अली और अन्य (Chunchun *Vs.* Ebadat Ali and others);	11
[1939]	(जिल्द 37) ए० एल० जे० आर० 377 : अब्दुल रहमान **बनाम** बिस्मिल्ला बेगम (Abdul Rehman *Vs.* Bismilla Begum)	10

अनुसरण किया गया।

[1963]	ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1906 ; भोजू मंडल **बनाम** देवनाथ भगत (Bhoju Mandal *Vs.* Debnath Bhagat);	12
[1952]	ए० आई आर० 1952 इलाहाबाद 200 : मुस्मात कयूमुन्निसा **बनाम** बसीद्उल मलिक (Mst. Qayumunissa *Vs.* Bashidul Malik);	14
[1949]	ए० आई० आर० 1949 इलाहाबाद 335 : मोहम्मद अमीन **बनाम** बजरंगी सिंह (Mohd. Amin *Vs.* Bajrangi Singh);	14
[1940]	ए० एल० जे० आर० 113 : ठाकुर सिंह **बनाम** शिवनाथ सिंह (Thakur Singh *Vs.* Sheo Nath Singh);	14
[1937]	1937 ए० एल० जे० आर० 849 : बिशनलाल **बनाम** बनवारी लाल (Bishan Lal *Vs.* Banwari Lal)	13

निर्दिष्ट किया गया।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1964 की प्रथम अपील सं० 229.

1963 के नियमित वाद सं० 5 में बलिया के सिविल न्यायाधीश, श्री भगवती प्रसाद शुक्ल द्वारा 15 अप्रैल, 1964 को पारित डिक्री और निर्णय के विरुद्ध प्रथम अपील।

किए गए उनके कथन निरर्थक बना देते हैं। धारा 164 के अधीन अभि० सा० 2 ने यह नहीं कहा है कि अपीलार्थी ने मृतक को नीचे गिरा दिया था और उसकी गर्दन पर सामने से लातें जमाई थीं तथा अपने पैर से उसकी गर्दन को दबा दिया था तथा मृतक चीखी थी और उसके पश्चात् एक भी शब्द नहीं बोल सकी थी। अभि० सा० 3 ने अन्वेषक अधिकारी से यह नहीं कहा है कि अपीलार्थी ने भैंसों का जोड़ा लेकर लौटने पर मृतक से हल्दी का पानी लाने के लिए कहा था तथा विलम्ब हो जाने के कारण उसने मृतक को बाहर घसीट लिया था और उस पर हमला किया था। धारा 164 के अधीन उसने यह नहीं कहा है कि अपीलार्थी के मारने के कारण कोरादाबदी के टुकड़े हो गए थे और यह कि इसके पश्चात् अपीलार्थी ने मृतक की गर्दन और पेट पर लातें जमाई थीं और आगे यह कि मृतक यह कहते हुए चिल्लाई थी कि वह मर रही है। अभि० सा० 9 ने धारा 164 के अधीन अपीलार्थी के भैंस का जोड़ा लेकर लौटने और यह पूछने के बारे में नहीं कहा है कि वह हल्दी का पानी लाई है या तेल। उसने यह भी नहीं कहा कि अपीलार्थी के पास कोरादाबदी था और यह कि वह मृतक को बाहर घसीट लाया था और उसने उस पर हमला किया था जिसके कारण कोरादाबदी टूट गया था और इसके पश्चात् उसने उसकी गर्दन और उसके पेट पर लातें जमाई थीं। अपीलार्थी को फंसाते हुए अभियोजन पक्ष के इस तात्त्विक भाग के कथन में किए गए लोप चूंकि अपीलार्थी को अपराधी नहीं बनाते, अतः इन लोपों को मामूली लोप नहीं कहा जा सकता और इन्हें इन साक्षियों के साक्ष्य में से तात्त्विक रूप से खण्डनात्मक माना जाएगा।

11. उपरोक्त कारणों के आधार पर हमारा यह मत है कि अभि० सा० सं० 2, 3 और 9 का साक्ष्य असत्य और अविश्वसनीय है और इस साक्ष्य के आधार पर कार्रवाई नहीं की जा सकती।

12. इस मामले में एक अन्य बहुत ही संदेहास्पद बात यह है कि अभि० सा० सं० 7 ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट (प्रदर्श 3) दर्ज कराने में ऐसा विलम्ब किया है जिसे स्पष्ट नहीं किया गया है। उसके स्वयं के अनुसार उसे अपीलार्थी द्वारा भेजा गया था तथा संदेशवाहक के माध्यम से उसे मृतक की मृत्यु के बारे में सूचित किया गया था। यदि अपीलार्थी अपराध करने वाला है तो यह बहुत ही असंभव है कि वह इस प्रकार की सूचना मृतक के भाई के अतिरिक्त, जिसके कि अपनी स्वयं की स्वीकृति के आधार पर अपीलार्थी के साथ अच्छे संबंध नहीं थे, अन्य व्यक्ति को भेजता। अभि० सा० 7 और

उसकी मां (अभि० सं० 3) का साक्ष्य यह है कि वे दोनों ही अपीलार्थी के घर आए तथा अभि० सा० 7 ने यह अभिसाक्ष्य दिया कि उसने मृतक के शरीर पर क्षतियां देखी थीं। अभि० सा० 7 के अनुसार अपीलार्थी ने उसे मार डालने की धमकी दी थी जिसके लिए उसने कोई रिपोर्ट दर्ज नहीं कराई। इस बात पर ध्यान देना उपयुक्त होगा कि अभि० सा० 8 ने, जो कि उस समय अभि० सा० 7 के साथ था, इस प्रकार की धमकी के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा है। जैसा कि अभि० सा० 6 और 7 द्वारा अभिसाक्ष्य दिया गया है, अभि० सा० 6 के पश्चात् अभि० सा० 7 के साले ने उसे पुलिस स्टेशन में रिपोर्ट दर्ज कराने की सलाह दी और इस तरह रिपोर्ट दर्ज कराई गई। यदि अभि० सा० 7 ने वह सब कुछ देखा होता, जिसका कि उसने घटना के दूसरे दिन मृतक के घर में देखने का दावा किया है, तो वह पुलिस स्टेशन गया होता जो कि घटनास्थल से बहुत दूर नहीं था और रिपोर्ट दर्ज कराई होती। ऐसा करने के बजाय प्रथम इत्तिला रिपोर्ट 13 अप्रैल, 1979 को काफी विलम्ब के बाद दर्ज कराई गई है। रिपोर्ट का विलम्ब से दर्ज कराना पश्चात्वर्ती विचारों के परिणामस्वरूप कुछ और जोड़ देना है और इससे आभासी बयान और वृतान्त गढ़ने का संकट उत्पन्न हो जाता है। यह अनिवार्य है कि रिपोर्ट दर्ज कराने में हुए विलम्ब का समाधानप्रद रूप में स्पष्टीकरण दिया जाना चाहिए किन्तु प्रस्तुत मामले में ऐसा नहीं किया गया है।

13. जो मत हमने अपनाया है उसके आधार पर कोरादाबदी (एम० ओ० 1) का प्रकट किया जाना या अपीलार्थी के घर के अन्दर से कुछ मिट्टी के बारे में यह संदेह किया जाना कि इसमें रक्त के धब्बे हैं से कोई परिणाम नहीं निकलता तथा यह अभियोजन पक्ष के पक्षकथन को अग्रसर नहीं करता।

14. इस साक्ष्य के अभाव में कि मृतक का मानव-वध किया गया है अपीलार्थी के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 201 के अधीन आरोप असफल होना चाहिए। यहां इस बात का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा कि मृतक के शव का दाह संस्कार गांव वालों की उपस्थिति में हुआ था और यद्यपि अभि० सा० 7 ने उस समय अपनी उपस्थिति के बारे में भी कहा है किन्तु ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है कि उसने कोई प्रतिवाद किया हो जैसा कि प्रतिवादी सा० सं० 1 द्वारा अभिसाक्ष्य दिया गया है।

15. परिणामतः, हम इस अपील को मंजूर करते हैं तथा दोषसिद्धि के आदेश और धारा 302 के अधीन अपीलार्थी के विरुद्ध पारित दण्डादेश को

तथा भारतीय दण्ड संहिता की धारा 201 के अधीन उसके विरुद्ध पारित दोषसिद्धि के आदेश को अपास्त करते हैं। अपीलार्थी को तुरन्त मुक्त किया जाए।

न्या० जी० बी० पटनायक :

मैं सहमत हूं।

अपील मंजूर की गई।

बंसल/चन्द

नि० प० 1984 : उड़ीसा—43

उजदा मजही उर्फ भोई बनाम राज्य

(Ujada Majhi *alias* Bhoi *Vs.* State)

तारीख 3 अक्तूबर, 1983

[न्या० बी० के० बेहरा]

साक्ष्य अधिनियम, 1972 धारा 3—न्यायिकेतर संस्वीकृति के बारे में दिए गए साक्ष्य के स्वरूप का निर्बल होना—मात्र इस कारण कि कुछ साक्षियों ने संस्वीकृति को प्रमाणित किया है और अपीलार्थी यह दर्शित नहीं कर सका है कि साक्षियों ने उसके विरुद्ध अभिसाक्ष्य क्यों दिया, न्यायिकेतर संस्वीकृति के बारे में उनके द्वारा दिए गए साक्ष्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता और न ही ऐसे साक्ष्य के आधार पर किसी व्यक्ति को दोषसिद्ध और दण्डादिष्ट किया जा सकता है।

प्रत्यर्थी ने अपीलार्थी पर यह आरोप लगाया कि जब उसकी मां और पत्नी घर में थीं तब उसने दरवाजा खटखटाया और उनसे आग मांगी किन्तु उनके आग देने से इनकार करने पर उसने भूसे के ढेर में आग लगाने की धमकी दी और माचिस की तीली जलाकर भूसे के ढेर में तथा पशुशाला में आग लगा दी। उसने यह भी कहा कि अपीलार्थी ने अपने अपराध की पंचायत की सभा में संस्वीकृति की है यद्यपि पहले उसने इससे इनकार किया था। विचारण न्यायालय और अपर सेशन न्यायाधीश ने अपीलार्थी को दण्ड संहिता

की धारा 436 के अधीन अपराध के लिए दोषी माना और अभियोजन पक्ष के पक्षकथन को स्वीकार करते हुए उसे दण्डादिष्ट किया। इससे व्यथित होकर अपीलार्थी ने इस न्यायालय में अपील की। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि क्या न्यायिकेतर संस्वीकृति के आधार पर अपीलार्थी को दोषसिद्ध और दण्डादिष्ट किया जा सकता है।

अभिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई।

जब पंचायत हुई तब अपीलार्थी पर कोई अभियोजन नहीं लगाया गया था। इसमें यह दर्शित करने के लिए ऐसी कोई सामग्री नहीं है कि अभि० सा० 1, 5, 6 और 7 अपीलार्थी के विश्वसनीय व्यक्ति थे जिससे कि वह उनके समक्ष स्वयं को अपराध में सम्मिलित करते हुए संस्वीकृति कर लेता। इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर ऐसा कोई कारण नहीं है कि इस निष्कर्ष पर पहुंचा जाए कि अपीलार्थी ने पश्चाताप या ग्लानि के कारण न्यायिकेतर संस्वीकृति की हो। मात्र इस कारण कि साक्षियों में से कुछ साक्षियों ने इसके बारे में अभिसाक्ष्य दिया है तथा अपीलार्थी ने यह दर्शित नहीं किया है कि उन्होंने उसके विरुद्ध कैसे और क्यों अभिसाक्ष्य दिया, न्यायिकेतर संस्वीकृति के संबंध में उनके साक्ष्य को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। (पैरा 2)

एक बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू, जिस पर विचारण न्यायालय ने ध्यान नहीं दिया है, यह है कि पंचायत की सभा के पश्चात् प्रथम इत्तिला रिपोर्ट, जिसमें कि अपीलार्थी के बारे में यह अभिकथित किया गया है कि उसने संस्वीकृति की है, अभि० सा० 5 के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा दर्ज नहीं कराई गई है और यह नहीं कहा गया है कि अभि० सा० 3 और 4 ने घटना को देखा है तथा यह कि अपीलार्थी को अपराध में फंसा दिया गया है या यह कि अपीलार्थी ने न्यायिकेतर संस्वीकृति की है। मानव आचरण और कार्य के सामान्य अनुक्रम में अभि० सा० 3 और 4 अभि० सा० 5 को यह सूचित करते कि अपीलार्थी अपराधी है यदि उन्होंने वास्तव में देखा होता कि अपीलार्थी ने भूसे के ढेर में और पशुशाला में आग लगाई होती और ऐसी दशा में वह तथ्य प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में इसके अभाव में स्पष्ट न होता। अभि० सा० 5 ने स्वयं यह कहा है कि वह उस समय उपस्थित था जबकि न्यायिकेतर संस्वीकृति की गई थी। किन्तु यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि इस तथ्य का भी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में उल्लेख नहीं किया गया है। विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश ने इन कमियों की ओर तथा साक्ष्य में इन संदेहास्पद

बातों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है तथा दोषसिद्धि का आदेश अभिलिखित किया है जिसे कायम नहीं रखा जा सकता। (पैरा 3)

		पैरा
[1982]	ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 1595 : हीरम्बा ब्रह्मा और एक अन्य **बनाम** आसाम राज्य (Heramba Brahma and another *Vs.* State of Assam);	2
[1975]	ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 259 : पंजाब राज्य **बनाम** भजन सिंह और अन्य (State of Punjab *Vs.* Bhajan Singh and others);	2
[1973]	ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 343 : रहीम बेग **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य (Rahim Beg *Vs.* State of U. P.)	2

का अवलम्ब लिया गया।

[1975]	ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1026 : राम कुमार पण्डा **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य (Ram Kumar Panda *Vs.* State of Madhya Pradesh)	3

निर्दिष्ट किया गया।

दाण्डिक अपीली अधिकारिता : 1981 की दाण्डिक अपील सं० 77.

1980 के सेशन मामले सं० 18-के/21 में भवानीपतन के अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा 20 नवम्बर, 1980 को पारित आदेश के विरुद्ध की गई दाण्डिक अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री शशिभूषण जेना, न्यायमित्र

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री इन्द्रजीत रे, अपर सरकारी अधिवक्ता

न्या० बी० के० बेहरा :

अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल, श्री जेना और अपर सरकारी अधिवक्ता, श्री इन्द्रजीत रे की सुनवाई करने के पश्चात्

मेरा यह मत है कि श्री डी० पाणिग्रही, तत्समय भवानीपतन के अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा अभिलिखित दोषसिद्धि का आदेश तथ्यों के आधार पर और विधि की दृष्टि से कायम नहीं रखा जा सकता। इस आदेश द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अपीलार्थी भारतीय दण्ड संहिता की धारा 436 के अधीन आरोप का दोषी है और जिसमें अभियोजन पक्ष के इस पक्षकथन को स्वीकार किया गया है कि नारायण प्रधान (अभि० सा० 5) की अनुपस्थिति में और उसकी मां ऊषा (अभि० सा० 3) उसकी पत्नी सीता (अभि० सा० 4) तेरासिंह गांव में उसके घर में थे, अपीलार्थी ने दरवाजे को खटखटाया और अभि० सा० 3 से आग मांगी तथा आग देने से इनकार करने पर उसने भूसे के ढेर में आग लगाने की धमकी दी और इसके पश्चात् माचिस की तीली जला कर भूसे के ढेर में और अभि० सा० 5 की पशुशाला में पशुओं को हांक देने के पश्चात् उसमें आग लगा दी और दूसरे दिन पंचायत की सभा में न्यायिकेतर संस्वीकृति की।

2. अभि० सा० 3 और 4 द्वारा जो यह वृतांत दिया गया है कि अपीलार्थी ने दरवाजे को खटखटाया था और आग मांगी थी तथा अभि० सा० 3 के आग देने से इनकार करने पर उसने पशुशाला और भूसे के ढेर में आग लगा दी। यह वृतांत सकृतदर्शने असत्य है और इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि अभि० सा० 3 और 4 के आधार पर आग लगाने की रिष्टि करने के आशय से अपीलार्थी ने दरवाजा खटखटाकर, आग मांग कर और गायशाला में तथा भूसे के ढेर में आग लगा कर निश्चित रूप से अपने विरुद्ध साक्ष्य उत्पन्न नहीं किया है। ऐसा कोई साक्ष्य नहीं दिया गया है कि जब रात्रि के समय काफी संख्या में ग्रामवासी आए तब या तो अभि० सा 3 ने या अभि० सा० 4 ने उनसे यह कहा हो कि उसने अपीलार्थी को गायशाला में या भूसे के ढेर में आग लगाते हुए देखा है। अभि० सा० 1, 5, 6 और 7 के माध्यम से अभियोजन पक्ष द्वारा जो साक्ष्य दिया गया है वह यह है कि अपीलार्थियों ने सर्वप्रथम पंचायत की सभा में पशुशाला और भूसे के ढेर में आग लगाने से मना किया किन्तु बाद में आग लगाने के विषय में न्यायिकेतर संस्वीकृति की जो कि दवाव डालने के पश्चात् उसके द्वारा की गई थी, जैसा कि अभि० सा० 1 द्वारा प्रमाणित किया गया है। न्यायिकेतर संस्वीकृति के संबंध में साक्ष्य का स्वभाव बहुत ही कमजोर होता है। (**स्टेट आफ पंजाब बनाम भजन सिंह और अन्य**[1] वाला मामला देखिए)। **हीरम्बा ब्रह्मा और एक**

---

1 ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 259.

अन्य बनाम **आसाम राज्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने **रहीम बेग** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले में अधिकथित सिद्धांतों का अवलम्ब लेते हुए न्यायिकेतर संस्वीकृति को स्वीकार करने के लिए जांच को अधिकथित करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि न्यायिकेतर संस्वीकृति को विश्वसनीय साक्ष्य माने जाने के लिए इसे उन यथावत् शब्दों का पुनः प्रोद्धृत करने के कारण या संस्वीकृति के हेतुक से संबन्धित जांच पर और उस व्यक्ति पर, जिस पर, विश्वास किया गया है। खरा उतरना चाहिए। प्रस्तुत मामले में जब पंचायत हुई तब अपीलार्थी पर कोई अभियोजनन हीं लगाया गया था। इसमें यह दर्शित करने के लिए ऐसी कोई सामग्री नहीं है कि अभि० सा० 1, 5, 6 और 7 अपीलार्थी के विश्वसनीय व्यक्ति थे जिससे कि वह उनके समक्ष स्वयं को अपराध में सम्मिलित करते हुए संस्वीकृति कर लेता। इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर ऐसा कोई कारण नहीं है कि इस निष्कर्ष पर पहुंचा जाए कि अपीलार्थी ने पश्चाताप या ग्लानि के कारण न्यायिकेतर संस्वीकृति की हो। मात्र इस कारण कि साक्षियों में से कुछ साक्षियों ने इसके बारे में अभिसाक्ष्य दिया है तथा अपीलार्थी ने यह दर्शित नहीं किया है कि उन्होंने उसके विरुद्ध कैसे और क्यों अभिसाक्ष्य दिया, न्यायिकेतर संस्वीकृति के संबंध में उनके साक्ष्य को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।

3. एक बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू, जिस पर विचारण न्यायालय ने ध्यान नहीं दिया है, यह है कि पंचायत की सभा के पश्चात् प्रथम इत्तिला रिपोर्ट, जिसमें कि अपीलार्थी के बारे में यह अभिकथित किया गया है कि उसने संस्वीकृति की है, अभि० सा० 5 के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा दर्ज नहीं कराई गई है और यह नहीं कहा गया है कि अभि० सा० 3 और 4 ने घटना को देखा है तथा यह कि अपीलार्थी को अपराध में फंसा दिया गया है या यह कि अपीलार्थी ने न्यायिकेतर संस्वीकृति की है। **राम कुमार पण्डा** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[3] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अधिकथित किया कि यथावत् रूप में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का इसे दर्ज कराने वाले की संपुष्टि के लिए या का खण्डन करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है किन्तु मामले की उन संभाव्यताओं को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण तथ्यों का लोप

---

[1] ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 1595.

[2] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 343.

[3] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1026.

अभियोजन पक्ष की सत्यता की जांच करने में साक्ष्य अधिनियम की धारा 11 के अधीन सुसंगत है। मानव आचरण और कार्य के सामान्य अनुक्रम में अभि० सा० 3 और 4 अभि० सा० 5 को यह सूचित करते कि अपीलार्थी अपराधी है यदि उन्होंने वास्तव में देखा होता कि अपीलार्थी ने भूसे के ढेर में और पशुशाला में आग लगाई होती और ऐसी दशा में वह तथ्य प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में इसके अभाव में स्पष्ट न होता। अभि० सा० 5 ने स्वयं यह कहा है कि वह उस समय उपस्थित था जबकि न्यायिकेतर संस्वीकृति की गई थी। किन्तु यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि इस तथ्य को, भी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में उल्लेख नहीं किया गया है। विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश ने इन कमियों की ओर तथा साक्ष्य में इस संदेहास्पद बातों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है तथा दोषसिद्धि का आदेश अभिलिखित किया है जिसे कायम नहीं रखा जा सकता।

4. परिणामतः, अपील मंजूर की जानी चाहिए और यह मंजूर की जाती है तथा अपीलार्थी के विरुद्ध पारित दोषसिद्धि के आदेश और दण्डादेश को अपास्त किया जाता है, यद्यपि जैसा कि अभिलेख से उल्लेखनीय है दोषसिद्धि के आदेश और दण्डादेश 20 नवम्बर, 1980 को अभिलिखित किए गए थे तथा उसके पश्चात् अपीलार्थी ने जेल से यह अपील की है और इस बीच उसे दण्डादेश भोगना पड़ा है।

अपील मंजूर की गई।

बंसल

———

नि० प० 1984 : उड़ीसा—48

अभिमन्यु उर्फ अबीना दास और एक अन्य बनाम उड़ीसा राज्य

(Abhimanyu *alias* Abina Das and another *Vs.* State of Urissa)

तारीख 4 अक्तूबर, 1983

[न्या० बी० के० बेहरा]

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 धारा 154—दाण्डिक मामले में स्पष्टीकरण रहित प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के विलम्ब से दर्ज कराए जाने का प्रभाव—यदि किसी मामले में रिपोर्ट दर्ज कराने में काफी विलम्ब किया जाता है और

विलम्ब के लिए कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया जाता तो रिपोर्ट की स्वाभाविकता तो समाप्त हो ही जाती है उसमें आभासी कथनों और पश्चात्वर्ती विचारों का समावेश हो जाने के कारण यह महत्त्वहीन, दूषित और गढ़ी हुई प्रतीत होती है। परिणामत: ऐसी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के आधार पर किसी व्यक्ति को दोषसिद्ध और दण्डादिष्ट नहीं किया जा सकता।

पिटीशनरों को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 394 के अधीन मठ-गृह में डकैती डालने के अपराध में आरोपित किया गया और उन्हें विचारण न्यायालय ने दोषसिद्ध और दण्डादिष्ट किया जिसे अपर सेशन न्यायाधीश ने भी कायम रखा। वास्तव में इस मामले में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट काफी विलम्ब से दर्ज कराई थी और विलम्ब के कारणों को स्पष्ट भी नहीं किया गया था। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि क्या किसी ऐसी रिपोर्ट के आधार पर, जो काफी विलम्ब से दर्ज कराई गई हो और स्पष्टीकरण भी न दिया गया हो, अपराध में आरोपित व्यक्ति को दोषसिद्ध और दण्डादिष्ट किया जा सकता है?

अभिनिर्धारित—पुनरीक्षण मंजूर किया गया।

किसी अपराध के किए जाने की बाबत पुलिस को शीघ्र रिपोर्ट दर्ज कराने के लिए बाध्य करने हेतु उद्देश्य यह है कि उन परिस्थितियों की बाबत, जिनमें अपराध किया गया है, वास्तविक अपराधियों के नाम तथा उनके द्वारा अदा किया गया रोल और घटनास्थल पर उपस्थित प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के नामों को शीघ्र प्राप्त किया जा सके। प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराने में विलम्ब के कभी-कभी यह परिणाम होते हैं कि इनका बढ़ा-चढ़ा कर कथन किया जाता है जो कि पश्चात्वर्ती विचार-विमर्श के आधार पर होता है। विलम्ब के कारण रिपोर्ट न केवल स्वाभाविक फायदे से ही वंचित रह जाती है वरन् इसमें आभासी कथनों के समावेश और इन्हें बढ़ा-चढ़ा कर कहे जाने या विचार-विमर्श और सलाह के परिणामस्वरूप गढ़े हुए वृतांत के उत्पन्न होने का खतरा पैदा हो जाता है। (पैरा 2)

		पैरा
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एम० सी० 1382 : राज्य (दिल्ली प्रशासन) **बनाम** वी० सी० शुक्ल और एक अन्य [State (Delhi Administration) *Vs.* V.C. Shukla and another];	3

[1975] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1026 : राम कुमार पण्डा **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य (Ram Kumar Panda *Vs*. The State of Madhya Pradesh); 3.

[1973] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 501 : थूलिया काली **बनाम** तमिलनाडु राज्य (Thulia Kali *Vs*. The State of Tamil Tadu) 2.

निर्दिष्ट किए गए ।

दाण्डिक पुनरीक्षण अधिकारिता : 1982 का दाण्डिक पुनरीक्षण मामला सं० 8.

1980 की दाण्डिक अपील सं० 87 में 1978 के जी० आर० मामले सं० 1280 में कटक के न्यायिक मजिस्ट्रेट, प्रथम वर्ग, श्री एस० एन० नन्दा द्वारा 16 अप्रैल, 1980 को दिए गए निर्णय और आदेश की पुष्टि करते हुए कटक के द्वितीय अपर सेशन न्यायाधीश, श्री डी० आर० पाणिग्रही द्वारा 22 दिसम्बर, 1981 को पारित आदेश से किया गया दाण्डिक पुनरीक्षण ।

पिटीशनरों की ओर से ... सर्वश्री जी० बोहीदर, एस० के० मुण्ड और यू० सी० मोहन्ती

विरोधी पक्षकार की ओर से ... श्री एस० के० दास, अपर स्थायी काउन्सेल

न्या० बी० के० बेहरा :

पिटीशनरों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल, श्री मुण्ड और विद्वान् अपर स्थायी काउन्सेल को सुनने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित दोषसिद्धि का आदेश, जिसे द्वितीय अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा कायम रखा गया है, कायम नहीं रखा जा सकता । दोनों पिटीशनरों को भारतीय दण्ड सहिता की धारा 394 के अधीन मठ-गृह में, जिस पर प्रथम इत्तिला देने वाले व्यक्ति (अभि० सा० 1) की बहन का अधिभोग था, 23/24 मई, 1978 की रात्रि में डकैती डालने के अपराध के लिए आरोपित किया गया है । इस डकैती के दौरान उन्होंने अभि० सा० 1 के पुत्र अभि० सा० 3 पर हमला किया जो कि उस समय उस गृह में ठहरा हुआ था और उन्होंने अभि० सा० 4 पर भी हमला किया तथा महत्त्वपूर्ण वस्तुएं ले गए । अभियोजन पक्ष की ओर से 9 साक्षियों की परीक्षा की गई जिनमें

से अभि० सा० 2 से लेकर 5 को घटना के साक्षी के रूप में चित्रित किया गया है। अभि० सा० 2 और 5 अभि० सा० 4 के फील्ड सेवक थे। घटना के बारे में इत्तिला प्राप्त करने के पश्चात् अभि० सा० 1 ने दूसरे दिन अभि० सा० 4 के गांव का निरीक्षण किया तथा उसकी बहन (अभि० सा० 4) और उसके पुत्र (अभि० सा० 3) के चिकित्सीय उपचार के लिए कार्रवाई की और तत्पश्चात् प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराई जिसके आधार पर अन्वेषण किया गया और अन्ततोगत्त्वा पिटीशनरों के विरुद्ध अभियोजन चलाया गया।

2. साक्षियों की हितबद्धता और न्यायालय में उनके साक्ष्य में मतभेद तथा अन्वेषण के दौरान तात्त्विक विशिष्टियों में उनके कथन, जिनको सूचीबद्ध किया जाना आवश्यक नहीं है, के अतिरिक्त मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि विचारण और अपील न्यायालयों ने इस तथ्य पर सम्यक् रूप से ध्यान नहीं दिया है कि इस मामले में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट 26 मई, 1978 को विलम्ब से दर्ज कराई गई थी। इस संवंध में अभि० सा० 1 ने कोई युक्तियुक्त स्पष्टीकरण नहीं दिया है। प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के महत्त्व पर उच्चतम न्यायालय ने **थूलिया काली** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[1] वाले मामले में जोर दिया है। जैसा कि उसमें मत व्यक्त किया गया है दाण्डिक मामले में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट विचारण में दिए गए मौखिक साक्ष्य की संपुष्टि करने के प्रयोजन के लिए एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् साक्ष्य होता है। अभियुक्त के हित को दृष्टि में रखते हुए रिपोर्ट के महत्त्व को मुश्किल से ही बढ़ा-चढ़ाकर कहा जा सकता है। किसी अपराध के किए जाने की बाबत पुलिस को शीघ्र रिपोर्ट दर्ज कराने के लिए बाध्य करने हेतु उद्देश्य यह है कि उन परिस्थितियों की बाबत, जिनमें अपराध किया गया है, वास्तविक अपराधियों के नाम तथा उनके द्वारा अदा किया गया रोल और घटना-स्थल पर उपस्थित प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के नामों को शीघ्र प्राप्त किया जा सके। प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराने में विलम्ब के कभी-कभी यह परिणाम होते हैं कि इनका बढ़ा-चढ़ा कर कथन किया जाता है जो कि पश्चात्वर्ती विचार-विमर्श के आधार पर होता है। विलम्ब के कारण रिपोर्ट न केवल स्वाभाविक फायदे से ही वंचित रह जाती है वरन् इसमें आभासी कथनों के समावेश और इन्हें बढ़ा-चढ़ा कर कहे जाने या विचार-विमर्श और सलाह के परिणामस्वरूप गढ़े हुए वृतांत के उत्पन्न होने का खतरा पैदा हो जाता है।

---

1 ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 501.

3. इस मामले में इस प्रकार की बहुत ही संदेहास्पद बात होने के बावजूद भी यहां इस बात पर ध्यान देना सुसंगत होगा कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट (प्रदर्श 1) में अपराधियों के नाम नहीं दिए गए हैं। दूसरी ओर "अभियुक्त का नाम और निवास" शीर्ष के अन्तर्गत "अज्ञात" कहा गया है। अभियोजन साक्षी 3 और 4 प्रथम इत्तिला देने वाले व्यक्ति (अभि० सा० 1) के क्रमशः पुत्र और बहन ही हैं। अपील न्यायालय द्वारा यह मत व्यक्त किया गया है कि प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों को पहले से ही दोनों पिटीशनरों के बारे में जानकारी थी। दोनों पक्षकारों के द्विवान् काउन्सेलों ने मेरे समक्ष यह निवेदन किया है कि साक्ष्य से यह स्पष्ट हो गया है कि अभि० सा० 2, 4 और 5 को पहले से ही पिटीशनरों के बारे में जानकारी थी। यदि ये साक्षी पिटीशनरों की अपराधियों के रूप में पहचान कर सकते होते तो इन्होंने अभि० सा० 1 के समक्ष जिसने कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराई थी, अपराधी के रूप में नाम दिया होता। प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का यथावत् रूप से उस रिपोर्ट के करने वाले की संपुष्टि करने या का खण्डन करने के प्रयोजन के लिए प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन जैसा कि **राम कुमार पण्डा बनाम मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने अधिकथित किया है, मामले की अधिसंभाव्यताओं को प्रभावित करने वाले प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में महत्वपूर्ण तथ्यों का लोप अभियोजन पक्ष के पक्षकथन की सत्यता की जांच करने में साक्ष्य अधिनियम की धारा 11 के अधीन सुसंगत होते हैं। अभि० सा० 3 के पिता और अभि० सा० 4 के भाई द्वारा प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में पिटीशनरों के नाम का उल्लेख न करना स्वयं ही इस बात को स्पष्ट करता है, जो अभियोजन पक्ष के पक्षकथन की सद्भाविकता को निश्चित रूप से प्रभावित करता है। अभि० सा० 3 ने न्यायालय में पिटीशनरों की पहचान की है और उसके साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि वह उन्हें पहले से नहीं जानता था। यदि ऐसा है तो ऐसे साक्षी के साक्ष्य को पूर्वतर जांच पहचान परेड द्वारा, जो कि नहीं की गई है, जांचा जाना चाहिए। बिना पूर्वतर जांच पहचान परेड के ऐसे व्यक्ति की बाबत जिसे वह पहले से नहीं जानता, पहचान का साक्ष्य इस मामले की परिस्थितियों में महत्त्वहीन हो सकता है। इस संबंध में **राज्य (दिल्ली प्रशासन) बनाम वी० सी० शुक्ला और एक अन्य**[2] वाले मामले में अधिकथित सिद्धान्तों के प्रति निर्देश किया जा सकता है। साक्ष्य में इस प्रकार की बहुत ही संदेहास्पद बातों के आधार पर

---

[1] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1026.

[2] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1382.

विद्वान् अपर स्थायी काउन्सेल ने ऋजुता से और निष्कपट रूप से यह निवेदन किया है कि दोषसिद्धि का आदेश सुआधारित नहीं है। चूंकि विचारण और अपील न्यायालयों द्वारा अभिलिखित निष्कर्ष अयुक्तियुक्त हैं, अतः इन निष्कर्षों में इस न्यायालय की पुनरीक्षण अधिकारिता द्वारा हस्तक्षेप किए जाने की आवश्यकता है।

4. परिणामतः मैं इस पुनरीक्षण को मंजूर करता हूं और पिटीशनरों के विरुद्ध दोषसिद्धि और दण्डादेशों संबंधी पारित आदेश को अपास्त करता हूं।

वसल

पुनरीक्षण मंजूर किया गया।

नि० प० 1984 : उड़ीसा—53

संयासी जैना और अन्य बनाम मीना जैना और अन्य

(Sanyasi Jena and others *Vs.* Mina Jena and others)

तारीख 16 नवम्बर, 1983

[न्या० आर० सी० पटनायक]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908—आदेश 9 नियम 8 और आदेश 9 नियम 13, सपठित धारा 151—विधि का यह सुस्थिर सिद्धांत है कि विभाजन का वाद तब तक आमतौर पर निष्प्रभावी रहेगा जब तक सम्पत्ति में हित रखने वाले तथा कार्यवाही के लिए सभी ऐसे पक्षकार जिनके समझौते द्वारा प्रतिकूलतः प्रभावित होने की सम्भावना है उसमें सम्मिलित न हों—समझौता पिटीशन फाइल किए जाने की दशा में न्यायालय का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह बहुत सावधान और सजग होकर मामले की छानबीन करे—ऐसे समझौते के मामले में विभिन्न पहलुओं पर विचार करना होता है, जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू यह सुनिश्चित करना है कि मामले में किसी अवस्यक व्यक्ति का हित तो अंतर्ग्रस्त नहीं है।

विरोधी पक्षकार सं० 6 ने अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय में विभाजन के लिए 1978 का हक वाद सं० 30 फाइल किया था, जिसके पैरा

6 में यह अभिकथन किया गया था कि वादग्रस्त संपत्ति में वादी का 1/4, प्रतिवादी सं० 1 से 3 का 1/4, प्रतिवादी सं० 4 से 8 का 1/4 और प्रतिवादी सं 9 से 12 का 1/4 हित था। वादी ने विभिन्न शाखाओं के अंशों की बाबत घोषणा किए जाने और विनिर्दिष्ट संपत्ति के आबंटन की ईप्सा की थी। वाद 20 मार्च, 1978 को फाइल किया गया था। तारीख 21 मार्च, 1978 को प्रतिवादी सं० 1 से 3 और 9,10 तथा 12 न्यायालय में उपसंजात हुए थे। नोटिस की तामील के बावजूद प्रतिवादी सं० 4 से 8 तथा 11 उपसंजात नहीं हुए और वे वाद से पृथक् कर दिए गए थे। वाद प्रतिवादी सं० 1 से 3, 9, 10 तथा 12 द्वारा लिखित कथन फाइल किए जाने के लिए 11 मई 1978 तक स्थगित कर दिया गया था। तथाकथित प्रतिवादियों ने 11 मई, 1978 को वाद के और स्थगित किए जाने की ईप्सा की थी और वाद 4 जुलाई, 1978 तक के लिए स्थगित कर दिया गया था। उस दिन तक एक समझौता फाइल किया गया था जो वादी और प्रतिवादी सं० 1 से 3, 9, 10 और 12 के मध्य हुआ था। समझौते के अधीन विनिर्दिष्ट सम्पत्तियां प्रतिवादी सं० 4 से 8 और 11 सहित विभिन्न शाखाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले पक्षकारों में आबंटित की गई थीं। तथाकथित समझौता आरंभिक और अंतिम दोनों ही प्रकार की डिक्री के रूप में था। प्रतिवादी सं० 4 से 9 और 11 समझौते में सम्मिलित नहीं हुए थे, परन्तु जिन पक्षकारों अर्थात् वादी और प्रतिवादी सं० 1 से 3, 9, 10 और 12 ने समझौता किया था, उन्होंने यह नियत किया था कि वाद हाजिर न होने वाले प्रतिवादी सं० 4 से 8 और 11 के विरुद्ध समझौते के निबंधनों के अनुसार एकपक्षीय डिक्री किया जाए। प्रतिवादी सं० 4 से 8 ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 के साथ पठित आदेश 9 के नियम 13 के अधीन वादी और प्रतिवादी सं० 1 से 3, 9, 10 और 12 द्वारा फाइल किए गए समझौता पिटीशन के आधार पर अपने विरुद्ध पारित की गई एकपक्षीय डिक्री को अपास्त कराने के लिए 4 मई, 1979 को एक आवेदन फाइल किया। यह आवेदन 1979 के प्रकीर्ण मामला सं० 77 के रूप में दर्ज किया गया था। उन्होंने वादी को ही विरोधी पक्षकार बनाया था और विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने 27 सितम्बर, 1979 को उनके विरुद्ध पारित एकपक्षीय डिक्री अपास्त कर दी थी। प्रतिवादी सं० 1 से 3 ने 15 दिसम्बर, 1979 को सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 के अधीन एक आवेदन फाइल किया जिसमें उन्होंने यह प्रार्थना की थी कि एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने वाला 27 सितम्बर, 1979 का आदेश अपास्त किया जाए। विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने यह आवेदन नामंजूर कर दिया।

प्रतिवादी स० 1 से 3 ने यह अभिवाक् किया कि वे प्रतिवादी सं० 4 से 8 की प्रार्थना पर सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9 नियम 13 के अधीन संस्थित कार्यवाही में पक्षकार नहीं बनाए गए थे। पिटीशनरों के विद्वान् काउंसेल ने यह निवेदन किया था कि पिटीशनर आदेश 9 नियम 13 के अधीन कार्यवाही के लिए आवश्यक पक्षकार थे और विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने उनकी अनुपस्थिति में पारित किए गए तारीख 27 दिसम्बर, 1979 के आदेश को रद्द करने से इनकार करने में भूल की थी। ऐसी स्थिति में न्यायालय के समक्ष निम्नलिखित प्रश्न विचारार्थ उद्भूत हुए थे : (1) क्या समझौता प्रतिवादी सं० 4 से 8 और 11 पर आबद्धकर था ? और (2) क्या प्रतिवादी सं० 1 से 3 (उच्च न्यायालय के समक्ष पिटीशनर) विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश का 27 सितम्बर, 1979 का आदेश अपास्त करा सकते थे।

अभिनिर्धारित—पुनरीक्षण पिटीशन खारिज किया गया।

कोई भी समझौता किसी विभाजन के वाद के सभी पक्षकारों पर तब तक आबद्धकर नहीं हो सकता, जब तक कि सभी पक्षकार समझौते में शामिल न हों। (पैरा 3)

एकपक्षीय समझौते के परिणामस्वरूप प्रतिवादी सं० 4 से 8 के प्रति जो अन्याय हुआ था वह एकपक्षीय डिक्री के, भले ही अनियमित रूप से, रद्द किए जाने के कारण अकृत हो गया था परंतु इस तथ्य का ध्यान रखते हुए कि न्याय किया जा चुका है, न्यायालय अतिविधिक दृष्टिकोण अपनाकर कार्यवाही को अकृत बनाने के पक्ष में नहीं है। अंततोगत्वा पुनरीक्षण अधिकारिता वैवेकिक होती है और उसका प्रयोग तब तक नहीं किया जा सकता जब तक आदेश को बनाए रखने से न्याय की विफलता न होती हो अथवा उस पक्षकार को अपूरणीय क्षति न होती हो जिसके विरुद्ध वह पारित किया गया था। (पैरा 6)।

		पैरा
[1928]	ए० आई० आर० 1928 मद्रास 594 : सी० थिरुवैंगाडा मुदाली **बनाम** सी० सी० थंगावेलु मुदालियर और अन्य (C. Thiruvengeda Mudali *Vs.* C. C. Thengavelu Mudaliar and others);	2

[1926] ए० आई० आर० 1926 लाहौर 280 : वीर सिंह और अन्य बनाम खड़क सिंह और अन्य (Vir Singh and others *Vs.* Kharak Singh and others); 3

[1924] ए० आई० आर० 1924 कलकत्ता 80 : तारूरसन्ना सरकार और एक अन्य बनाम कालिकामोहन सरकार और अन्य (Taroorsanna Sarkar and another *Vs.* Kalikamohan Sarkar and others); 3

[1911] (1911) 8 आई० सी० 210 : नित्यमणि दासी बनाम गोकुलचंद्र सेन (Nityamoni Dasi *Vs.* Gokul Chandra Sen) 3

का अवलम्ब लिया गया।

सिविल पुनरीक्षण अधिकारिता : 1980 का सिविल पुनरीक्षण सं० 123.

भद्रक के अधीनस्थ न्यायाधीश श्री० वी० मिश्र द्वारा 1979 के प्रकीर्ण मामला सं० 194 में पारित तारीख 17 दिसम्बर, 1979 के आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण।

पिटीशनरों की ओर से ... सर्वश्री के० एन० जैना और एन० साहू

विरोधी पक्षकारों की ओर से .. सर्वश्री पी० कार, जे० साहू, बी० सी० महाराणा, एम० एन० जैना और जी० एस० करण

न्या० आर० सी० पटनायक :

विरोधी पक्षकार सं० 6 ने भद्रक के अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय में विभाजन के लिए 1978 का हक वाद सं० 30 फाइल किया था। वादपत्र के पैरा 6 में यह अभिकथन किया गया था कि वादग्रस्त संपत्ति में वादी का 1/4, प्रतिवादी सं० 1 से 3 का 1/4, प्रतिवादी सं० 4 से 8 का 1/4 और प्रतिवादी सं० 9 से 12 का 1/4 हित था। वादी ने विभिन्न शाखाओं के अंशों की बाबत घोषणा की जाने और विनिर्दिष्ट संपत्ति के आवंटन के लिए ईप्सा की थी। वाद 20 मार्च, 1978 को फाइल किया गया था। अगले दिन, अर्थात् 21 मार्च, 1978 को, प्रतिवादी सं० 1 से 3 और 9, 10 तथा 12 न्यायालय

14. दावाकर्ता की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने हमारा ध्यान **न्यू एशियाटिक इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड** बनाम **पेस्सुमल धानामल अश्वनी और अन्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय की ओर भी आकर्षित किया है।

15. उस मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि मोटर यान अधिनियम के अध्याय 8 के उपबंधों का अर्थान्वयन ऐसी रीति से किया जाना चाहिए कि अधिनियमिति के उद्देश्य सुनिश्चित किए जा सकें। इस प्रतिपादना के बारे में कोई विवाद नहीं उठाया जा सकता परन्तु इसका अर्थान्वयन इस प्रकार भी नहीं किया जा सकता कि जिन बातों की अनुज्ञा विधि के अधीन प्रदान नहीं की गई है, उसकी अनुज्ञा न्यायालय से ले ली जाएगी। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत मामले के तथ्यों के आधार पर तथा इस बात को ध्यान में रखते हुए कि यान का अंतरण दुर्घटना की तारीख से काफी पहले हो गया था, हम यह अभिनिर्धारित करने के लिए बाध्य हैं कि हमारे समक्ष दिए गए इस तर्क में कोई सार नहीं है कि बीमा कंपनी प्रतिकर का संदाय करने के लिए दायी बनाई जानी चाहिए।

16. परिणामतः अपील मंजूर की जाती है। बीमा कंपनी (इस मामले में अपीलार्थी) तथा मूल प्रत्यर्थी सं० 4 जयशंकर (मूल स्वामी) के विरुद्ध अधिरोपित देयता एतद्द्वारा अपास्त की जाती है और प्रतिकर का संदाय करने की देयता मूल प्रत्यर्थी सं० 1 कालेगौडा और मूल प्रत्यर्थी सं० 2, के० वी० कृष्णप्पा पर अधिरोपित की जाती है। वे अधिनिर्णीत रकम तथा उस पर पिटीशन की तारीख से संदाय की तारीख तक 6% वार्षिक ब्याज तथा अधिकरण के समक्ष दावाकर्ता द्वारा किए गए व्यय का भी संदाय करेंगे। इस अपील के खर्चे की बाबत कोई आदेश नहीं दिया जा रहा है।

अपील मंजूर की गई।

अशोक

---

[1] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1736.

नि० प० 1984 : कर्नाटक—42

विशेष भूमि अर्जन अधिकारी बनाम बालप्पा हनुमंतदांडु

(The Special Land Acquisition Officer *Vs.* Balappa Hanumant Dandu)

तारीख 25 जुलाई, 1983

[न्या० जे० एन० सभाहित और आर० एस० महेन्द्र]

भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 25 (1), (2) और (3)—'ऐसी दावाकृत रकम' का अर्थान्वयन—'न्यायालय द्वारा दावाकर्ता के पक्ष में अधिनिर्णीत रकम इस प्रकार दावाकृत रकम से अधिक नहीं होगी' का अभिप्राय यह है कि दावाकृत रकम प्रत्येक मद के लिए दावाकृत रकम है।

अपर सिविल न्यायाधीश ने 28 मार्च, 1979 को निर्णय और डिक्री पारित करके विभिन्न मदों के संबंध में प्रतिकर प्रदान किया था। दावाकर्ता ने कुएं के प्रतिकर के रूप में 10,000 रुपये की मांग की थी परन्तु अपर सिविल न्यायाधीश ने कुएं की बाबत 10,000, रुपये के बजाए 14,415 रुपये की रकम प्रतिकर के रूप में अधिनिर्णीत कर दी थी। उच्च न्यायालय में सरकारी अभिववता ने केवल इसी मद के संबंध में अधिनिर्णीत प्रतिकर के प्रति यह तर्क देते हुए आक्षेप किया था कि न्यायालय दावाकर्ता द्वारा मांगे गए प्रतिकर से अधिक प्रतिकर प्रदान नहीं कर सकता। दावाकर्ता की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया था कि भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 25 के अधीन वर्जन केवल तभी प्रभावी होता है जब प्रतिकर की रकम कुल रकम से अधिक होती है न कि तब जब किसी विशेष मद की रकम अधिक होती है।

अत: न्यायालय के समक्ष विचारणीय प्रश्न यह था कि क्या विद्वान् सिविल न्यायाधीश दावाकर्ता द्वारा मांगे गए प्रतिकर से अधिक प्रतिकर अधिनिर्णीत कर सकता था।

अभिनिधारित—अपील भागत: मंजूर की गई।

मूल्यांकन से अभिप्राय प्रत्येक मद के मूल्यांकन से है न कि कुल भूमि, आदि के मूल्यांकन अथवा दावे की कुल रकम से। न्यायालय का यह निश्चित मत है कि जब दावाकर्ता ने स्वयं कुंए की कुल बाबत 10,000.00 रुपये प्रतिकर के रूप में दिये जाने का दावा किया है, विद्वान् सिविल न्यायाधीश के लिए यह उचित नहीं था कि वह उसे बढ़ाता। (पैरा 12)

पैरा

[1979]	ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1246 : गोबर्धन मेहतो **बनाम** बिहार राज्य (Gobardhan Mahto *Vs.* State af Bihar) का **अवलम्ब** लिया गया।	8
[1959]	ए० आई० आर० 1959 आन्ध्र प्रदेश 52 : कोम्पली नागेश्वर राव और अन्य **बनाम** विशेष उप-कलक्टर, भूमि अर्जन, बापतला (Kompalli Nageswara Rao and others *Vs.* Special Deputy Collector, Land Acquisition, Bapatla); निर्दिष्ट किया गया।	3

सिविल अपीली अधिकारिता : 1979 की प्रकीर्ण प्रथम अपील सं० 1511.

अपर सिविल न्यायाधीश, चिकोडी द्वारा 1978 के भूमि अर्जन मामला सं० 261 में पारित अधिनिर्णय और डिक्री के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्रीमती सोना जी, वक्कुंड, उच्च न्यायालय में सरकारी अभिवक्ता

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्रीमती हेमलता महिषी, अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्या० जी० एन० सभाहित और न्या० आर० एस० महेन्द्र ने दिया।

न्या० जी० एस० सभाहित :

राज्य (विशेष भूमि अर्जन अधिकारी, हिडकल बांध परियोजना, हिडकल) ने यह अपील अपर सिविल न्यायाधीश, चिकोडी, हुकेरी द्वारा अपनी फाइल पर पारित अधिनिर्णय और डिक्री के विरुद्ध की है जिनके द्वारा बागात की भूमि के लिए प्रति एकड़ 6,000.00 रुपये जरात की भूमि के लिए प्रति एकड़ 4,000.00 रुपये, कुएं के लिए 14,415.00 रुपये, झौंपड़ी के लिए 600.00 रुपये तथा फलदार वृक्षों के लिए 500.00 रुपये प्रति की दर पर प्रतिकर, ब्याज तथा तोषण सहित दिए जाने का आदेश दिया गया है।

2. उच्च न्यायालय में विद्वान् सरकारी अभिवक्ता ने केवल एक मद, अर्थात् कुएं के लिए 14,415.00 रुपये का प्रतिकर, के प्रति आक्षेप किया था। उसने यह निवेदन किया था कि भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 9 के अधीन जारी की गई सूचना के प्रत्युत्तर में दावाकर्ता ने कुएं के लिए 10,000.00 रुपये के प्रतिकर का दावा किया था। यह बात भूमि अर्जन अधिकारी ने अधिनिर्णय में

स्पष्ट रूप से दर्ज की है और इसलिए विद्वान् सिविल न्यायाधीश इससे अधिक प्रतिकर की रकम अधिनिर्णीत नहीं कर सकता था। इस अपील में हमारे विचारार्थ केवल यही मुद्दा उद्भूत होता है।

3. दावाकर्ता की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने यह निवेदन किया था कि भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 25 के अधीन वर्जन केवल तभी प्रभावी होता है जब प्रतिकर की रकम कुल रकम से अधिक होती है, न कि तब जब किसी विशेष मद की रकम अधिक होती है। इस तर्क के लिए उसने **कोम्पल्ली नागेश्वर राव और अन्य** बनाम **विशेष उप-कलक्टर, भूमि अर्जन, बापतला**[1] वाले मामले में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ के विनिश्चय का अवलंब लिया था।

4. यह बात निस्संदेह सच है कि उक्त विनिश्चय में न्यायमूर्ति उमा महेश्वरम् ने, जिन्होंने न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाया था, निर्णय के पैरा 35 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :—

> "इस मद का विचारण बंद करने से पूर्व हम यह मत व्यक्त करेंगे कि हमने इस तथ्य का ध्यान रखा है कि अपीलार्थियों ने कलक्टर के समक्ष सपोटा, अमरूद, रसीले फलों और नींबू के प्रत्येक वृक्ष के लिए केवल 40.00 रुपये की दर पर प्रतिकर का दावा किया था। परंतु धारा 25 के अधीन इस संबंध में न तो कोई मुद्दा उठता है और न ही सरकार की ओर से उठाया गया है।
>
> इसका कारण यह है कि धारा 25 में प्रयुक्त इन शब्दों "इस प्रकार दावाकृत रकम" का अभिप्राय कलक्टर के समक्ष दावाकृत कुल रकम से है न कि कुल रकम में सम्मिलित किसी विशेष मद अथवा शीर्ष के अधीन किसी दावे से। [22 मद्रास ला जर्नल 379 (एल); सेक्रेटरी आफ स्टेट **बनाम** एफ० ई० दिनशा—ए० आई० आर० 1933 सिन्ध 21 (आर)]। अपीलार्थियों ने कलक्टर के समक्ष प्रतिकर की जिस कुल रकम का दावा किया है वह हमारे द्वारा मंजूर की गई रकम से कहीं अधिक है।"

5. यह निस्संदेह सच है कि प्रश्नास्पद विनिश्चय दावाकर्ता की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल द्वारा हमारे समक्ष प्रस्तुत किए गए तर्क का समर्थन करता है। परंतु उच्च न्यायालय में विद्वान् सरकारी अभिवक्ता ने हमारे समक्ष जोरदार शब्दों में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि भूमि अर्जन अधिनियम की

[1] ए० आई आर० 1959 आन्ध्र प्रदेश 52.

धारा 25 (1), (2) और (3) की संयुक्त अभिव्यक्ति ऐसे अर्थान्वयन का समर्थन नहीं करेगी।

6. भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 25 की भाषा इस प्रकार है :—

*"**प्रतिकर की रकम की बाबत नियम :**

(1) जबकि किसी हितबद्ध व्यक्ति ने प्रतिकर का कोई दावा धारा 9 के अधीन दी गई किसी सूचना के अनुसरण में किया है तब न्यायालय द्वारा उसको अधिनिर्णीत रकम इस प्रकार दावा की गई रकम से अधिक नहीं होगी और न उपायुक्त द्वारा धारा 11 के अधीन अधिनिर्णीत रकम से कम होगी।

(2) जबकि किसी हितबद्ध व्यक्ति ने ऐसा दावा करने से इनकार कर दिया है या दावा करने का लोप ऐसे पर्याप्त कारण के बिना (जो न्यायाधीश द्वारा अनुज्ञात किया जाएगा) किया है, तब न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत रकम उपायुक्त द्वारा अधिनिर्णीत रकम से किसी भी दशा में अधिक नहीं होगी।

(3) जबकि किसी हितबद्ध व्यक्ति ने ऐसा दावा करने का लोप ऐसे पर्याप्त कारण से (जो न्यायाधीश द्वारा अनुज्ञात किया जाएगा) किया है, तब न्यायालय द्वारा उसको अधिनिर्णीत की जाने वाली रकम

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

Rules as to amount of compensation :—

(1) When a person interested has made a claim to compensation, pursuant to any notice given under section 9, the amount awarded to him by the court shall not exceed the amount so claimed or less than the amount awarded by the Deputy Commissioner underSection 11.

(2) When a person interested has refused to make such claim or has omitted without sufficient reason to be allowed by the judge to make such claim, the amount awarded by the court shall, in no case exceed the amount awarded by the Deputy Commissioner.

(3) When a person interested has omitted for sufficient reason to be allowed by the Judge to make such claim, the amount awarded to him by the court shall not

कलक्टर द्वारा अधिनिर्णीत रकम से कम नहीं होगी, किन्तु अधिक हो सकेगी।"

7. इस प्रकार इन तीनों उपधाराओं को एक साथ पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'न्यायालय द्वारा दावाकर्त्ता के पक्ष में अधिनिर्णीत रकम इस प्रकार दावाकृत रकम से अधिक नहीं होगी' का अभिप्राय यह होगा कि दावाकृत रकम प्रत्येक विशेष मद के लिए दावाकृत रकम है, कुल रकम मात्र नहीं। यदि हमें यही निर्वचन करना है कि अधिनिर्णीत रकम कुल दावाकृत रकम से अधिक नहीं होगी तो भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 25 की उपधारा (2) में यह कहने की आवश्यकता नहीं थी कि न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत रकम किसी भी दशा में उपायुक्त द्वारा अधिनिर्णीत रकम से अधिक नहीं होगी।

8. इस मत का समर्थन **गोबर्धन मेहतो** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय से होता है जिसमें न्यायपीठ की ओर से निर्णय देते हुए मुख्य न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ ने निर्णय के पैरा 8 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :—

"विद्वान् काउंसेल ने यह निवेदन किया है कि कुएं की बाबत अधिनिर्णीत प्रतिकर को कम करने की उच्च न्यायालय की कार्रवाई न्यायोचित नहीं थी। इस तर्क का अपूर्ण उत्तर भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 25 के उपबंधों में तलाश किया जाना है। जब कोई आवेदक उसे धारा 9 के अधीन दी गई सूचना के अनुसरण में प्रतिकर का दावा करेगा तो इस धारा की उपधारा (1) के अनुसार न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत प्रतिकर की रकम दावाकृत रकम से अधिक नहीं होगी। यदि आवेदक ने ऐसा दावा करने से इनकार कर दिया है अथवा पर्याप्त कारण के बिना ऐसा दावा करने में लोप कर दिया है तो धारा 25 की उपधारा (2) के अनुसार न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत प्रतिकर की रकम किसी भी दशा में कलक्टर द्वारा अधिनिर्णीत रकम से अधिक नहीं होगी। इसी एक आधार पर आवेदक ने धारा 9 के अधीन दी गई सूचना के अनुसरण में यह कथन करते हुए स्वयं विवाद किया था कि भूमि पर एक गहरा और चौड़ा कुआं था। उसने कुएं के मूल्य के रूप में कोई विनिर्दिष्ट रकम दी जाने की याचना नहीं की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्वान्

---

be less than, and may exceed the amount awarded by the Deputy Commissioner."

---

1 ए० आई० आर 1979 एस० सी० 1246.

जिला न्यायाधीश ने धारा 25 (2) के उपबंधों को अनदेखा कर दिया था और किसी भी स्थिति में उसके निर्णय से यह दर्शित नहीं होता कि उसने यह निष्कर्ष निकाला था कि अपीलार्थी कुएं के संबंध में प्रतिकर का कोई दावा करने से रोक दिया गया था।"

9. इससे स्पष्ट रूप से यह दर्शित होगा कि यदि दावाकर्त्ता ने संपूर्ण भूमि का दावा करने के बावजूद किसी विशेष मद के संबंध में दावा करने में लोप कर दिया है तब भी उसका यह कार्य भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 25 (2) के अर्थान्तर्गत लोप की कोटि में आएगा। न्यायमूर्ति द्वारा किए गए इस धारा के इस विश्लेषण से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होगा कि लोप किसी विशेष मद के संबंध में भी हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि दावे में सम्मिलित सभी मदों का लोप हो। यदि किसी मद के संबंध में लोप हुआ तो वह तब भी भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 25 (2) के अर्थान्तर्गत लोप होगा। इसी प्रकार तथाकथित अधिनियम की धारा 25 (1) में उल्लिखित मूल्यांकन सभी मदों का पृथक्-पृथक् रूप से और सामूहिक रूप से मूल्यांकन होगा। क्योंकि यदि किसी विशेष मद का मूल्यांकन नहीं किया गया है तो वह तथाकथित अधिनियम की धारा 25 (2) में यथा-विनिर्दिष्ट किसी विशेष मद के मूल्यांकन का लोप होगा। यदि हम दावाकर्ता की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान काउंसेल द्वारा अपने समक्ष प्रस्तुत किए गए निर्वचन को स्वीकार कर लें तो वह लोप तभी कहलायेगा जब सभी मदों के संबंध में कोई दावा न किया गया हो—दूसरे शब्दों में जब दावाकर्ता कुल प्रतिकर का दावा करने में असफल रहा हो। ऐसा मत उच्चतम न्यायालय द्वारा पूर्वोक्त विनिश्चय में अभिव्यक्त मत के प्रतिकूल होगा।

10. उच्चतम न्यायालय द्वारा विनिश्चित विनिश्चय में उस स्थिति में जबकि दावाकर्ता ने किसी प्रतिकर की याचना नहीं की थी मांगा गया प्रतिकर निश्चित रूप से अधिक था, तो भी उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 25 (2) के उपबंध लागू होंगे।

11. ऐसी दशा में उच्चतम न्यायालय द्वारा न्यायादिष्ट इस विद्यमान विधि के बारे में समाधान हो गया है कि भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 25 (1) और (2) के अधीन मूल्यांकन का अभिप्राय दावे की प्रत्येक मद के मूल्यांकन से है न कि दावाकर्ता द्वारा बताए गए कुल मूल्यांकन मात्र से।

12. प्रस्तुत मामले में यह निस्संदेह सच है कि उसमें किसी विशेष मद के मूल्यांकन के बारे में कोई लोप नहीं किया गया है। दावाकर्त्ता ने भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 9 के अधीन जारी की गई सूचना के प्रत्युत्तर में दावा विवरण में विनिर्दिष्ट रूप से यह उल्लेख किया है कि उसे कुएं की बाबत

10,000.00 रुपये की रकम प्रतिकर के रूप में दी जाए। न्यायालय के समक्ष ऐसी स्थिति में प्रश्न यह है कि क्या वह इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, कि दावा-कर्ता ने जिस कुल रकम की मांग की है वह तब भी नहीं बढ़ेगी यदि कुएं के बारे में कुछ अधिक रकम प्रतिकर के रूप में दे दी जाती है, कुएं के लिए अधिक रकम प्रतिकर के रूप में दिए जाने का अधिनिर्णय कर सकता है। उच्चतम न्यायालय के इस मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल्यांकन से अभिप्राय प्रत्येक मद के मूल्यांकन से है न कि कुल भूमि, आदि के मूल्यांकन अथवा दावे की कुल रकम से। अतः हमारा निश्चित मत यह है कि जब दावाकर्ता ने स्वयं कुएं की बाबत 10,000.00 रुपये प्रतिकर के रूप में दिए जाने का दावा किया है, विद्वान् सिविल न्यायाधीश के लिए यह उचित नहीं था कि वह उसे बढ़ाता। प्रस्तुत मामले में सिविल न्यायाधीश ने कुएं की बाबत 14,415.00 रुपये की रकम प्रतिकर के रूप में अधिनिर्णीत की है जबकि दावा केवल 10000.00 रुपये की रकम के लिए किया गया है।

13. परिणामतः अपील भागतः मंजूर की जाती है। कुएं की बाबत अधिनिर्णीत प्रतिकर की रकम 14,415.00 रुपये से घटाकर 10,000.00 रुपये की जाती है जिसकी मांग दावाकर्त्ता ने की थी। शेष अधिनिर्णय की अभिपुष्टि की जाती है।

इस अपील के खर्चे की बाबत कोई आदेश नहीं है।

अपील भागतः मंजूर की गई।

अशोक

नि० प० 1984 : कर्नाटक—48

गुरुबासप्पा सिद्दप्पा कांपली बनाम नगेन्द्रप्पा वीरभद्रप्पा अंगदी

(Gurubasappa Siddappa Kampli *Vs.* Nagendrappa Virabhadrappa Angadi)

तारीख 25 और 26 जुलाई 1983.

[न्या० जी० एन० सभाहित और आर० एस० महेन्द्र]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908—आदेश 22, नियम 4(4)—प्रतिवादी के विधिक वारिसों (प्रतिनिधियों) को अभिलेख पर लाने से छूट का आवेदन उस

न्यायालय के समक्ष किया जा सकता है जिसके समक्ष विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने का आवेदन किया जा सकता है—ऐसा आवेदन करने की अन्य शर्तें इस प्रकार हैं : ऐसा प्रतिवादी समन की तामील के पश्चात् न्यायालय के समक्ष उपसंजात होने में असफल रहा हो अथवा उसने उपसंजात होने के पश्चात् लिखित कथन फाइल न किया हो अथवा लिखित कथन फाइल करने के पश्चात् वह सुनवाई के समय न्यायालय में उपसंजात होने और वाद का प्रतिवाद करने में असमर्थ रहा हो।

वादी ने चार प्रतिवादियों के विरुद्ध कब्जे और अंतःकालीन लाभ के लिए 1967 का एल० सी० सं० 224 संस्थित किया था। प्रतिवादी सं० 3 को इसके बारे में समन की सम्यक्-रूपेण तामील की गई थी परन्तु वह अनुपस्थित रहा था और रानीबेन्नूर के मुख्य मुन्सिफ ने, जिसके समक्ष तथाकथित वाद संस्थित किया गया था और सुनवाई के लिए शेष था, उसे 2 सितम्बर, 1968 को वाद से पृथक् कर दिया था। उसके पश्चात् वाद वादी की चूक के कारण खारिज कर दिया गया था। वादी ने विद्वान् मुन्सिफ के समक्ष 17 जून, 1971 को 1971 का प्रकीर्ण आवेदन सं० 6 संस्थित किया था। प्रतिवादी सं० 3 कार्यवाही में पुनः अनुपस्थित रहा और अंततोगत्वा 23 मार्च, 1973 को उसकी मृत्यु हो गई। तथाकथित प्रकीर्ण आवेदन 29 सितम्बर, 1973 को मंजूर कर लिया गया था और वाद 15 अक्तूबर, 1973 को फाइल में प्रत्यावर्तित कर दिया गया था। वाद के दौरान 23 जनवरी, 1974 को अंतर्वर्ती आवेदन सं० 2 प्रतिवादी सं० 3 के विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने के लिए और अंतर्वर्ती आवेदन सं० 3 वाद को इस आधार पर खारिज कराने के लिए प्रतिवादी सं० 1 और 2 द्वारा संस्थित किया गया था कि वाद प्रतिवादी सं० 3 के विधिक प्रतिनिधियों को उचित समय के भीतर अभिलेख पर न लाए जाने और विद्वान् मुन्सिफ के समक्ष उपशमन के आदेश को अपास्त कराने का कोई आवेदन न किए जाने के कारण उपशमित हो गया था। तदनुसार अंतर्वर्ती आवेदन सं० 2 खारिज कर दिया गया था और अंतवर्ती आवेदन सं० 3 मंजूर कर लिया गया था तथा तथाकथित वाद उपशमित वाद के रूप में खारिज कर दिया गया था। इस निर्णय और डिक्री के विरुद्ध वादी ने सिविल न्यायाधीश, हावेरी के समक्ष 1974 की नियमित अपील सं० 185 फाइल की थी। इस अपील के दौरान वादी ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 4(4) के अधीन अंतर्वर्ती आवेदन सं० 9 यह प्रार्थना करते हुए फाइल किया था कि उसे प्रतिवादी सं० 3 के विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने से छूट प्रदान की जाए। विद्वान् अपील न्यायाधीश ने अंतर्वर्ती आवेदन मंजूर कर लिया, छूट प्रदान कर दी तथा अपील की सुनवाई करने के पश्चात् विचारण न्यायालय के निर्णय तथा आदेश को अपास्त करते हुए वाद को इस आदेश के साथ

विद्वान् मुन्सिफ के पास प्रतिप्रेषित कर दिया कि उसका नए सिरे से निपटारा विधि के अनुसार किया जाए। तथाकथित निर्णय और आदेश से व्यथित होकर प्रतिवादी सं० 1 और 2 के विधिक प्रतिनिधियों ने दूसरी अपील उच्च न्यायालय के समक्ष की।

अपीलर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने उच्च न्यायालय के समक्ष यह निवेदन किया कि 1976 के संशोधनकारी अधिनियम द्वारा यथा संशोधित सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 4(4) के अधीन अनुध्यात शक्तियों का प्रयोग करने की कोई अधिकारिता सिविल न्यायाधीश के पास नहीं थी। इसके विरुद्ध प्रत्यर्थी वादियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने विद्वान् सिविल न्यायाधीश के निर्णय ओर आदेश के समर्थनकारी तर्क प्रस्तुत किए। न्यायालय के समक्ष विचारार्थ उद्भूत होने वाले प्रश्न निम्नलिखित थे :—

(i) क्या विद्वान् सिविल न्यायाधीश सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 4(4) के अधीन किए गए आवेदन पर विचार करने और वादी को प्रतिवादी सं० 3 के विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने से छूट प्रदान करने के लिए सक्षम था ?

(ii) सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 4(4) के अधीन छूट का आवेदन न्यायालय के समक्ष किस प्रक्रम पर किया जाना चाहिए ?

अभिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई।

प्रतिवादी सं० 3 की मृत्यु 23 मार्च, 1973 को उस समय हो गई थी, जब 1971 का प्रकीर्ण आवेदन सं० 6 रानीबेन्नूर के विद्वान् मुन्सिफ के समक्ष विचारार्थ लंबित था। अतः वह उचित न्यायालय जिसके समक्ष सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4(4) के अधीन अनुध्यात आवेदन किया जाना चाहिए था, रानीवेन्नूर के मुन्सिफ का न्यायालय था। यह स्पष्ट है कि ऐसा आवेदन उस स्थिति में विद्वान् सिविल न्यायाधीश के समक्ष नहीं किया जा सकता था, जब वह विद्वान् मुन्सिफ द्वारा पारित निर्णय और डिक्री के विरुद्ध अपील की सुनवाई कर रहा था। (पैरा 9)

न्यायालय छूट प्रदान करने की शक्ति का प्रयोग मामले का निपटारा निर्णय सुनाकर किए जाने तक कर सकता है। (पैरा 10)

		पैरा
[1979]	ए० आई० आर० 1979 पटना 239 : राजनाथ सहगल और अन्य **बनाम** शिवप्रसाद सिन्हा और अन्य (Rajnath	13

Sahgal and others *Vs*. Shiva Prasad Sinha and others);

[1977] ए० आई० आर० 1977 कर्नाटक 20 : एस० ए० मोहम्मद और एक अन्य **बनाम** राजम्मा और अन्य (S. A. Mohammad and another *Vs*. Rajamma and others); 13

[1976] 1976 (1) कर्नाटक लॉ जर्नल 500 : रहीम एस० ए० और एक अन्य **बनाम** राजम्मा और अन्य (Rahim S. A. and another *Vs*. Rajamma and others); 7

[1969] ए० आई० आर० 1969 मद्रास 309 : वेलप्पन पिल्लई वरप्पन पणिक्कर (Velappan Pillai *Vs*. Varappan Panickar); 13

[1956] ए० आई० आर० 1956 पटना 273 : मिसेज ग्लेड़ीज कूट्स **बनाम** धड़कन सिंह और अन्य (Mrs. Gladys Coutts *Vs*. Dharkhan singh and others) 15

का **अवलम्ब** लिया गया।

[1964] ए० आई० आर० 1964 उड़ीसा 39 : लक्ष्मी चरण पंडा **बनाम** सत्यवादी बेहरा (Lakshmi Charan Panda *Vs*. Satyabadi Behra) 13

से **प्रभेद** बताया गया।

[1975] ए० आई० आर० 1975 कलकत्ता 12 : अन्नपूर्णा देवी **बनाम** श्रीमती हरसुन्दरी दासी और अन्य (Annapurna Devi *Vs*. Smt. Harsundari Dassi and others) 13

निर्दिष्ट किया गया।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1979 की प्रकीर्ण द्वितीय अपील सं० 179.

सिविल न्यायाधीश हावेरी द्वारा 1974 की नियमित अपील सं० 185 में 16 दिसम्बर, 1978 को पारित निर्णय और डिक्री के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री बी० एल० रवीन्द्र, अधिवक्ता

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री के० टी० भट्ट, अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्या० जी० एन सभाहित ने दिया।

न्या० सभाहित :

इस न्यायालय के एकल न्यायाधीश द्वारा निर्देश किए जाने पर सम्माननीय मुख्य न्यायाधीश ने यह प्रकीर्ण द्वितीय अपील इस न्यायपीठ के समक्ष निपटारे के लिए प्रेषित की है, चूंकि इसमें विधि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न अंतर्वलित है।

2. विधि का प्रश्न निम्नलिखित के कारण उद्भूत हुआ है :—

वादी ने चार प्रतिवादियों के विरुद्ध कब्जे और अंतःकालीन लाभ के लिए 1967 का एल० सी० सं० 224 संस्थित किया था। प्रतिवादी सं० 3 को इसके बारे में सूचना की सम्यक्रूपेण तामील की गई थी परन्तु वह अनुपस्थित रहा और रानीबेन्नूर के मुख्य मुन्सिफ ने, जिसके समक्ष तथाकथित वाद संस्थित किया गया था और सुनवाई के लिए शेष था, उसे 2 सितम्बर, 1968 को वाद से पृथक् कर दिया था। उसके पश्चात् 2 जून, 1971 को तथाकथित वाद वादी की चूक के कारण खारिज कर दिया गया था। वादी ने विद्वान् मुन्सिफ के समक्ष 17 जून, 1971 को 1971 का प्रकीर्ण आवेदन सं० 6 संस्थित किया था। प्रतिवादी सं० 3 कार्यवाही में पुनः अनुपस्थित रहा और उसकी अंततोगत्वा 23 मार्च, 1973 को मृत्यु हो गई है। तथाकथित प्रकीर्ण आवेदन 29 सितम्बर, 1973 को मंजूर कर लिया गया था और वाद 15 अक्तूबर, 1973 को फाइल में प्रत्यावर्तित कर दिया गया था। वाद के दौरान 23 जनवरी, 1974 को अंतर्वर्ती आवेदन सं० 2 प्रतिवादी सं० 3 के विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने के लिए और अंतर्वर्ती आवेदन सं० 3 वाद को इस आधार पर खारिज कराने के लिए प्रतिवादी सं० 1 और 2 द्वारा संस्थित किया गया था कि वाद प्रतिवादी सं० 3 के विधिक प्रतिनिधियों को उचित समय के भीतर अभिलेख पर न लाये जाने और विद्वान् मुन्सिफ के समक्ष उपशमन के आदेश को अपास्त कराने का कोई आवेदन न किए जाने के कारण उपशमित हो गया था। तदनुसार, अंतर्वर्ती आवेदन सं० 2 खारिज कर दिया गया था और अंतर्वर्ती आवेदन सं० 3 मंजूर कर लिया गया था तथा तथाकथित वाद उपशमित वाद के रूप में खारिज हो गया था। उक्त निर्णय और डिक्री के विरुद्ध वादी ने सिविल न्यायाधीश हावेरी के समक्ष 1974 की नियमित अपील सं० 185 फाइल की थी। इस अपील के दौरान वादी ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 4(4) के अधीन अंतर्वर्ती आवेदन सं० 9 यह प्रार्थना करते हुए फाइल किया था कि उसे प्रतिवादी सं० 3 के विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने से छूट प्रदान की जाए। विद्वान् अपील न्यायाधीश ने अंतर्वर्ती आवेदन मंजूर कर लिया, छूट प्रदान कर दी तथा अपील की सुनवाई करने के पश्चात् विचारण न्यायालय के निर्णय तथा आदेश को अपास्त करते हुए वाद को इस आदेश के साथ विद्वान् मुन्सिफ के पास प्रतिप्रेषित कर दिया कि उसका नए सिरे से निपटारा विधि के अनुसार किया जाए। तथाकथित निर्णय और आदेश से

व्यथित होकर प्रतिवादी सं० 1 और 2 के कुछ विधिक प्रतिनिधियों ने उपर्युक्त दूसरी अपील इस न्यायालय के समक्ष संस्थित की है।

3. अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने हमारे समक्ष जोरदार शब्दों में यह निवेदन किया है कि 1979 के संशोधनकारी अधिनियम द्वारा यथा संशोधित सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 4(4) के अधीन अनुध्यात शक्तियों का प्रयोग करने की कोई अधिकारिता विद्वान् सिविल न्यायाधीश के पास नहीं थी।

4. इसके विरुद्ध प्रत्यर्थी/वादियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने विद्वान् सिविल न्यायाधीश के निर्णय और आदेश के समर्थनकारी तर्क प्रस्तुत किए।

5. इस अपील में विचारार्थ उद्भूत होने वाला एकमात्र विधि विषयक प्रश्न निम्नलिखित है :—

> "क्या विद्वान् सिविल न्यायाधीश सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 4(4) के अधीन किए गए आवेदन पर विचार करने और वादी को प्रतिवादी सं० 3 के विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने से छूट प्रदान करने के लिए सक्षम था ?"

6. सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 4(4) की भाषा निम्नलिखित है :—

> "न्यायालय, जब कभी वह ठीक समझे, वादी को किसी ऐसे प्रतिवादी के जो लिखित कथन फाइल करने में असफल रहा है या जो उसे फाइल कर देने पर सुनवाई के समय उपसंजात होने में और प्रतिवाद करने में असफल रहा है, विधिक प्रतिनिधि को प्रतिस्थापित करने की आवश्यकता से छूट दे सकेगा और ऐसे मामले में निर्णय उक्त प्रतिवादी के विरुद्ध उस प्रतिवादी की मृत्यु हो जाने पर भी सुनाया जा सकेगा और उसका वही बल और प्रभाव होगा मानो वह मृत्यु होने के पूर्व सुनाया गया हो।"

इस प्रकार सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4 के उपनियम (4) से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि आवेदन उस न्यायालय के समक्ष किया जाएगा जिसमें संबंधित प्रतिवादी की मृत्यु के समय कार्यवाहियां लंबित थीं।

7. इस न्यायालय ने **रहीम एस० ए० और एक अन्य बनाम राजम्मा**

और अन्य[1] वाले मामले में यह स्पष्ट किया है कि न्यायालय वाद के निपटारे से पूर्व उस स्थिति में, जब भी वह ठीक समझे, छूट प्रदान करने की शक्ति का प्रयोग करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4(4) की अभिव्यक्त भाषा द्वारा सशक्त बनाया गया है, भले ही अनुरोध मृत प्रतिवादी की मृत्यु के 90 दिन बाद किया गया हो।

8. बहरहाल यह स्पष्ट हो जाता है कि आवेदन और संबंधित न्यायालय द्वारा आदेश का पालन मामले में निर्णय सुनाए जाने से पूर्व किया जाना चाहिए।

9. प्रस्तुत मामले में प्रतिवादी सं० 3 की मृत्यु 23 मार्च, 1973 को उस समय हो गई थी जब 1971 का प्रकीर्ण आवेदन सं० 6 रानीबेन्नूर के विद्वान् मुन्सिफ के समक्ष विचारार्थ लंबित था। अतः वह उचित न्यायालय जिसके समक्ष सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4(4) के अधीन अनुध्यात आवेदन किया जाना चाहिए था रानीबेन्नूर के मुन्सिफ का न्यायालय था। यह स्पष्ट है कि ऐसा आवेदन उस स्थिति में विद्वान् सिविल न्यायाधीश के समक्ष नहीं किया जा सकता था जब वह ऊपर बताए गए अनुसार विद्वान् मुन्सिफ द्वारा पारित निर्णय और डिक्री के विरुद्ध अपील की सुनवाई कर रहा था। हमारे समक्ष यह तर्क अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने प्रस्तुत किया है और हमारा यह निश्चित मत है कि उसके इस तर्क में सार है।

10. सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4(4) को ध्यानपूर्वक पढ़ने के पश्चात् हमारा यह मत है कि विधिक वारिसों को अभिलेख पर लाने से छूट का आवेदन उस न्यायालय के समक्ष किया जा सकता है जिसके समक्ष विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने का आवेदन किया जा सकता है। ऐसा आवेदन करने की अन्य शर्तें इस प्रकार हैं: ऐसा प्रतिवादी समन की तामील के पश्चात् न्यायालय के समक्ष उपसंजात होने में असफल रहा हो अथवा उसने उपसंजात होने के पश्चात् लिखित कथन फाइल न किया हो अथवा लिखित कथन फाइल करने के पश्चात् वह सुनवाई के समय न्यायालय में उपसंजात होने और वाद का प्रतिवाद करने में असमर्थ रहा हो। ऐसी परिस्थितियों में प्रतिवादी इस आशय का आवेदन फाइल कर सकता है कि उसे ऐसे प्रतिवादी के विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने से छूट प्रदान की जाए। अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि ऐसा आवेदन अपील न्यायालय के समक्ष नहीं किया जा सकता था और प्रश्न यह है कि अपील न्यायालय के लिए ऐसा आवेदन किए जाने पर कौन-सा मार्ग अपनाना उचित होगा?

---

[1] 1976 (1) कर्नाटक ला जर्नल 500.

11. अपील न्यायालय को, यदि वह सारवान् न्याय करने की आवश्यकता समझता हो तो उसे न्याय के हित में अपील मंजूर कर लेनी चाहिए थी और आवेदन को विचारण न्यायालय के विचारार्थ भेज देना चाहिए था क्योंकि वैसा आवेदन विचारण न्यायालय के समक्ष किया जाना चाहिए था।

12. हमारे समक्ष विचारार्थ उद्भूत होने वाला अगला प्रश्न उस प्रक्रम के संबंध में है जिस पर सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4(4) के अधीन छूट का आवेदन न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

13. जैसा कि ऊपर बताया गया है, इस न्यायालय ने **एस० ए० मोहम्मद और एक अन्य** बनाम **राजम्मा और अन्य**[1] वाले मामले में **लक्ष्मीचरण पडा** बनाम **सत्यवादी बेहरा**[2] वाले मामले में उड़ीसा उच्च न्यायालय द्वारा अभिव्यक्त मत से मतभेद व्यक्त करते हुए इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि आवेदन मामले में निर्णय सुनाए जाने से पूर्व दिया जा सकता था। इस न्यायालय ने ऐसी ही परिस्थितियों में **वेलप्पन पिल्लई** बनाम **वरप्पन पणिक्कर**[3] वाले मामले में मद्रास उच्च न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लेकर तथा सिविल प्रक्रिया संहिताके आदेश 22 के नियम 4 (4) का विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला था। इस न्यायालय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :—

> "इसके अतिरिक्त, उपनियम (4), जिसमें यह उपबंधित है कि न्यायालय जब भी ठीक समझे उपनियम (4) के अधीन छूट प्रदान कर सकता है, की भाषा को ध्यानपूर्वक पढ़ने के पश्चात् यह प्रतीत होता है कि उससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि उच्च न्यायालय की छूट प्रदान करने की शक्ति परिसीमित कर दी गई है। न्यायालय उपनियम (4) की अभिव्यक्त भाषा द्वारा, इसकी बाबत सशक्त बनाया गया है कि वह वाद के निपटारे से पूर्व, जब भी उचित समझे, छूट प्रदान करने की शक्ति का प्रयोग कर सकता है।"

ऐसा ही मत **राजनाथ सहगल और अन्य** बनाम **शिव प्रसाद सिन्हा और अन्य**[4] वाले मामले में पटना उच्च न्यायालय के खंड न्यायपीठ के एक अपेक्षाकृत अर्वाचीन विनिश्चय में व्यक्त किया गया है। हम इस न्यायालय का यह पूर्ववर्ती मत सादर स्वीकार करते हैं कि न्यायालय छूट प्रदान करने की शक्ति का प्रयोग मामले का निपटारा निर्णय सुनाकर किए जाने तक कर सकता है, यद्यपि उड़ीसा और

---

[1] ए० आई० आर० 1977 कर्नाटक 20.

[2] ए० आई० आर० 1964 उड़ीसा 39.

[3] ए० आई० आर० 1969 मद्रास 309.

[4] ए० आई० आर० 1979 पटना 239.

कलकत्ता उच्च न्यायालयों ने यह मत व्यक्त किया है कि न्यायालय तथाकथित छूट प्रदान करने की शक्ति का प्रयोग उपशमन की कार्यवाही होने से पहले कर सकता है—**लक्ष्मीचरण पंडा** बनाम **सत्यबादी बेहरा**[1] और **अन्नपूर्णा देवी** बनाम **श्रीमती हरसुन्दरी दासी और अन्य**[2] देखिए।

14. इसी संदर्भ में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि सिविल प्रक्रिया संहिता में वैध कारण बताकर उपशमन को अपास्त कराने का उपबंध है तथा उपशमन के प्रयोजनार्थ परिसीमा अवधि जानकारी की तारीख से प्रारंभ होती है। सामर्थ्य प्रदान करने वाले ऐसे उपबंध सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 4(4) में नहीं हैं। यही कारण है कि हमें इस न्यायालय का यह मत स्वीकार करने के लिए कायल किया गया है कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 4(4) के रूप में समाविष्ट उपबंध को दृष्टि में रखकर छूट प्रदान करने की शक्ति का प्रयोग मामले का निर्णय सुनाए जाने से पूर्व किया जा सकता है।

15. अब हम प्रस्तुत मामले के तथ्यों पर विचार करते हैं। अभिलेख पर के साक्ष्य से यह दर्शित होता है कि प्रतिवादी सं० 1 की मृत्यु 23 मार्च, 1973 को तब हुई थी जब प्रकीर्ण आवेदन सं० 6/71 विचारण न्यायालय के समक्ष लंबित था। तथापि, वादी ने उसके विधिक प्रतिनिधियों को मामले के अभिलेख पर लाने के लिए कोई कदम नहीं उठाया था। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि तथाकथित प्रकीर्ण आवेदन के संबंध में सभी कार्यवाहियां प्रत्यर्थी सं० 3 की मृत्यु के बाद विधि की दृष्टि से अकृत हो जायेंगी (**मिसेज ग्लैडीज कूट्स** बनाम **धड़कन सिंह और अन्य**[3] देखिए)। वैसी स्थिति में आवेदन सं० 6/71 के संबंध में पारित आदेश की तारीख से प्रारंभ होने वाली सभी कार्यवाहियां अकृत हो जाती और उन्हें अपास्त करना पड़ता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 4(4) के अधीन छूट के लिए दिए गए आवेदन के संबंध में कार्यवाही प्रकीर्ण आवेदन सं० 6/71 के संबंध में सुनवाई करने वाले न्यायालय को करनी है क्योंकि उस कार्यवाही में अभी तक विधि के अनुसार आदेश पारित नहीं किया गया है।

16. इस सदर्भ में यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि यद्यपि यह उपबंध, अर्थात् सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 22, नियम 4(4), सिविल प्रक्रिया संहिता में 1976 के संशोधनकारी अधिनियम द्वारा समाविष्ट किया गया था, तो भी तथाकथित उपबंध कर्नाटक को लागू होने वाली सिविल प्रक्रिया संहिता

---

[1] ए० आई० आर० 1964 उड़ीसा 39.

[2] ए० आई० आर० 1975 कलकत्ता 12.

[3] ए० आई० आर० 1956 पटना 273.

कथन किया जाना पर्याप्त नहीं होगा कि पिटीशनरों के डिपो के रूप में प्रयुक्त सभी परिसर में किए जा रहे कार्य की प्रकृति पर विचार करने के पश्चात, जैसा कि उपदर्शित किया गया है, उक्त अधिनियम के प्रयोजनार्थ ग्राहक के परिसर पर विक्रय होता है। प्राधिकारियों के पास न्यायालय का समाधान करने के लिए हर एक सुविधा थी जो कि समाधान का आधार हो सकती थी और उन्होंने ऐसे अवसर का लाभ न उठाने का विकल्प अपनाया अतः विधि में उनके विरुद्ध उपधारणा की जानी चाहिए।

18. ऐसी स्थिति होने पर भले ही मैं यह अभिनिर्धारित नहीं करता हूं और मेरा यह निष्कर्ष नहीं है कि आक्षेपित अधिसूचना उक्त अधिनियम के उपबंधों के शक्तिबाह्य है तो भी उसे उन सिद्धान्तों और नियमों का, जिन्हें ऊपर उपदर्शित किया गया है, अनुपालन किए बिना प्रभावी नहीं किया जाना चाहिए अथवा उस पर कार्यवाही नहीं की जानी चाहिए। वस्तुतः उक्त अधिनियम की धारा 2(13) के उपबंध सम्बद्ध दुकान पर किए जा रहे कार्य की प्रकृति पर विचार करने के पश्चात् अधिसूचना का जारी किया जाना प्राधिकृत करते हैं और अवसर के पश्चात् दुकान की बाबत आवश्यक घोषणा किए जाने से पूर्व सुनवाई और आवश्यक विचार अपेक्षित है। स्वीकृत रूप से इस मामले में यह नहीं किया गया था।

19. इस प्रकार न्यायादेश आत्यंतिक बनाया जाता है। खर्च के बारे में कोई आदेश नहीं किया जा रहा है। वस्तुतः इस आदेश से सम्बद्ध प्राधिकारियों पर कानून की अपेक्षाओं का अनुपालन करने के पश्चात् और जैसा कि इस अवधारण में उपदर्शित किया गया है, अधिसूचना जारी करने पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।

न्यायादेश आत्यंतिक बनाया गया।

शा०

नि० प० 1984 : कलकत्ता –50

शान्तुन दान का मामला

(In re. Shantnu Dan)

तारीख 1 सितम्बर, 1983

[न्या० जी० एम० रे]

संविधान, 1950 अनुच्छेद 14 और 19—सपठित कलकत्ता विश्वविद्यालय अधिनियम, 1966 की धारा 53 और प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा से संबंधित विनियमों का विनियम सं० 4 (संशोधन से पूर्व और पश्चात् यथाविद्यमान) उक्त परीक्षा को चार लगातार अवसरों में पास करने की अपेक्षा का निबंधन-उक्त निबंधन अत्यन्त अयुक्तियुक्त और कठोर नहीं है तथा संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 का अतिक्रमण नहीं करता है।

कलकत्ता विश्वविद्यालय अधिनियम, 1966, धारा 53 के अधीन विरचित प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा से संबंधित विनियमों का विनियम 4 (संशोधन से पूर्व और पश्चात् यथा विद्यमान)—"परीक्षा पास करने के लिए चार अवसर" अभिव्यक्ति केवल उन अवसरों के प्रति निर्देश नहीं करती जिनका लाभ उम्मीदवार वस्तुतः परीक्षा में बैठकर प्राप्त कर सकता है—'चार अवसरों' से परीक्षा में बैठने तथा/अथवा पास करने के अवसर अभिप्रेत हैं।

कलकत्ता विश्वविद्यालय अधिनियम, 1966—धारा 53 के अधीन विरचित प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा विनियमों का विनियम सं० 4—एक राज्य के चिकित्सा महाविद्यालय में अध्ययन करने वाले उम्मीदवार द्वारा दूसरे राज्य में स्थित चिकित्सा महाविद्यालय में अन्तरण के लिए आवेदन—ऐसे अंतरण की अनुज्ञा का दावा अधिकारतः नहीं किया जा सकता—तथापि, ऐसा अंतरण अनुज्ञात करने के लिए कोई प्रतिषेध भी नहीं है।

पिटीशनर को कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधीन साढ़े चार वर्ष के एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में कलकत्ता नेशनल मेडिकल कालिज में प्रवेश दिया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि पिटीशनर जून, 1981 में आयोजित प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा में बैठा था किन्तु वह उक्त परीक्षा में असफल हो गया था। तत्पश्चात् पिटीशनर सितम्बर, 1981 में आयोजित प्रथम वृत्तिक अनुपूरक परीक्षा में भी बैठा था किन्तु उक्त अनुपूरक परीक्षा में भी वह असफल हो गया था। पिटीशनर यह दलील देता है कि पिटीशनर का पिता हृदय रोग से पीड़ित था और कलकत्ता में आवासीय कठिनाई के कारण

उसे अत्यंत मानसिक चिंता के दौरान ही परीक्षा में बैठना पड़ा था। तत्पश्चात् पिटीशनर ने मई/जून, 1982 में आयोजित प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा के लिए फीस और आवेदन पत्र जमा कर दिया था। किन्तु वह अपनी ही बीमारी के कारण उस परीक्षा में नहीं बैठ सका। अपनी इस दलील के समर्थन में पिटीशनर ने 16 अगस्त, 1982 का एक चिकित्सा प्रमाण-पत्र संलग्न किया है। 16 अगस्त, 1982 से प्रथम वृत्तिक अनुपूरक परीक्षा 1981 आयोजित होनी थी। पिटीशनर उक्त अनुपूरक परीक्षा में बैठने के लिए अपना आवेदन फार्म नहीं भेज सका क्योंकि उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं था और अभी भी वह आराम कर रहा था। तत्पश्चात् पिटीशनर ने राज्य सरकार को वर्दमान मेडिकल कालिज में अध्ययन करने की अनुमति के लिए आवेदन किया। 17 अगस्त, 1982 को पिटीशनर ने सचिव, अवर स्नातक अध्ययन परिषद, कलकत्ता विश्वविद्यालय को कलकत्ता मेडिकल कालिज के प्रधानाचार्य के माध्यम से, प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० सत्र 1982-83 में अध्ययन जारी रखने के लिए आवेदन किया।

सचिव के पत्र द्वारा कलकत्ता मेडिकल कालिज के प्रधानाचार्य को यह सूचित किया गया कि पिटीशनर द्वारा 17 अगस्त, 1982 के आवेदन में जो अनुमति मांगी गई थी वह अनुमति उसे नहीं दी गई है और चूंकि पिटीशनर ने विद्यमान विनियमों के अधीन परीक्षा के अवसरों की उपबंधित और विहित संख्या समाप्त कर ली थी इसलिए उसे चिकित्सा पाठ्यक्रम का अध्ययन छोड़ना था। 6 सितम्बर, 1982 को पिटीशनर ने एक अभ्यावेदन कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलाधिपति को भेजा। पिटीशनर ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलाधिपति को दिये गये उक्त अभ्यावेदन में अन्य बातों के साथ-साथ यह दलील दी थी कि सचिव, अवर स्नातक अध्ययन परिषद् द्वारा अपनाया गया यह रुख प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा से सम्बन्धित विनियमों के प्रतिकूल है और अन्यायपूर्ण है। उक्त अभ्यावेदन में पिटीशनर ने यह दलील दी थी कि चार अवसरों से चार लगातार अवसर अभिप्रेत नहीं है और उक्त तथ्य कलकत्ता विश्वविद्यालय के 3 मार्च, 1982 के पत्र द्वारा अधिसूचित विनियम के संशोधन से भी स्पष्ट हो जाता है जिस संशोधन से प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा से संबंधित संकलपना विनियमों के विनियम 4 में विनिर्दिष्ट रूप से अंतःस्थापित की गई थी। पिटीशनर ने अपने अभ्यावेदन में यह भी दलील दी थी कि पिटीशनर के इस मामले में प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश के समय आरम्भतः जो विनियम प्रवृत्त था उसके प्रति निर्देश किया जाए और चूंकि पश्चात्वर्ती संशोधन केवल भविष्यलक्षी है इसलिए उसे पिटीशनर के मामले में लागू नहीं

किया जा सकता। पिटीशनर ने यह भी दलील दी थी कि कठिन परिस्थितियों में वह उक्त परीक्षा पास करने के केवल दो ही अवसरों का लाभ उठा सका था और इसलिए मूल विनियम के अधीन उसे दो ऐसे अधिक अवसर अभी भी उपलब्ध थे तथा मई/जून, 1982 या अगस्त, 1982 में आयोजित प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा में न बैठने के कारण हुई चूक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम का आगे अध्ययन करने के विषय में किसी वर्जन के रूप में कार्य नहीं कर सकती। पिटीशनर ने विधि के अनुसार उसके मामले पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने तथा सचिव, अवर स्नातक अध्ययन परिषद् के पत्र द्वारा उसे संसूचित विनिश्चय का पुनर्विलोकन करने के लिए निवेदन किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चातवर्ती अभ्यावेदन में पिटीशनर ने यह भी बताया था कि यदि कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा पिटीशनर को एम० बी० बी० एम० पाठ्यक्रम में आगे अध्ययन करने के अवसर का लाभ उठाने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाता तो पिटीशनर को बर्दवान विश्वबिद्यालय के अधीन बर्दवान मेडिकल कालिज में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम का अध्ययन करने का ऐसा अवसर अनुज्ञात कर दिया जाना चाहिए, जहां कि ऐसा निर्बन्धन नहीं है।

चूंकि पिटीशनर के मामले पर विश्वविद्यालय अधिकारियों द्वारा और आगे कोई विचार नहीं किया गया था इसलिए पिटीशनर ने यह रिट पिटीशन न्यायालय में फाइल किया। इस सम्बन्ध में इस बात पर ध्यान दिया जा सकता है कि पिटीशनर ने कलकत्ता नेशनल मेडिकल कालिज से बर्दवान मेडिकल कालिज में अध्ययन हेतु अपना अंतरण करवाने के लिये उसे अनुमति देने के लिए राज्य सरकार को भी एक अभ्यावेदन किया था ताकि पिटीशनर बर्दवान में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम का अध्ययन जारी रख सके। पिटीशनर ने यह दलील भी दी कि चूंकि पिटीशनर का पिता बहुत देर से बीमार चल रहा था और चूंकि वह हृदय-रोग का रोगी था इसलिए बर्दवान में पिटीशनर की उपस्थिति की आवश्यकता थी।

श्री चक्रवर्ती, पिटीशनर की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि विधि के अधीन कलकत्ता मेडिकल कालिज से बर्दवान के मेडिकल कालिज में अंतरण के लिए किसी विद्यार्थी को ऐसी अनुज्ञा देने के बारे में कोई वर्जन नहीं है और ऐसा अनुज्ञा अनेक मामलों में दी गई है। श्री चक्रवर्ती ने यह दलील दी कि पिटीशनर ने अपने स्वास्थ्य के आधार पर और अपने पिताजी की अस्वस्थ्यता के आधार पर अंतरण की मांग की है। राज्य सरकार का गुणागुण के आधार पर ऐसे अभ्यावेदन पर विचार करना और विनिश्चय करना एक

कर्त्तव्य था किन्तु राज्य सरकार ने उस आदेश पर विचार करने के पश्चात्, जिस आदेश का पिटीशनर के मामले से कोई संबंध नहीं था, पिटीशनर के अभ्यावेदन को नामंजूर कर दिया था। श्री चक्रवर्ती ने यह और दलील दी है कि यदि तर्क की दृष्टि से यह मान भी लिया जाए कि उम्मीदवार को प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा पास करने के लिये केवल चार अवसर ही मिलेंगे और ऐसे चार अवसरों से उम्मीदवार द्वारा परीक्षा में बैठने के वास्तविक चार अवसर अभिप्रेत नहीं हैं तो यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि ऐसा विनियम बहुत कठोर है और इस विनियम ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधीन एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों पर अयुक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित किया है। श्री चक्रवर्ती ने यह दलील दी कि अन्य विश्वविद्यालयों के अधीन अन्य चिकित्सा महाविद्यालयों में ऐसा कोई निर्बन्धन नहीं है और आज भी यदि पिटीशनर को बर्दवान विश्वविद्यालय के अधीन एम०बी० बी० एस० पाठ्यक्रम जारी रखने के लिए अनुज्ञात किया जाता है तो पिटीशनर ऐसा कर सकता है और बर्दवान विश्वविद्यालय के विनियम ऐसा कोई निर्बंधन अधिरोपित नहीं करते कि जब तक कि उम्मीदवार चार अवसरों के भीतर ही प्रथम एम० बी० बी० एस० परीक्षा पास नहीं कर लेता तो ऐसे उम्मीदवार को अपना अध्ययन छोड़ना पड़ेगा। श्री चक्रवती ने यह दलील दी कि विश्वविद्यालय, विद्यार्थियों के शैक्षणिक अध्ययन को नियंत्रित करने के लिए नियम और विनियम विरचित करने का अधिकार रखता है किन्तु ऐसे नियम और विनियम इतने अयुक्तियुक्त नहीं होने चाहिए जिनसे संविधान के अनुच्छेद 19 के अधीन गारंटीकृत उनके मूल अधिकार का हनन हो। उन्होंने यह भी दलील दी है कि एक अयुक्तियुक्त नियम विधि शासन का प्रत्याख्यान है और इसलिए ऐसा नियम संविधान के अनुच्छेद 14 का भी अतिक्रमणकारी है।

तथापि, राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया है कि पिटीशनर के मामले पर विचार किया गया था किन्तु सरकार उसे बर्दवान मेडिकल कालिज में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम के अध्ययन की अनुज्ञा देने के लिए सहमत नहीं थी। राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह कहा है कि चयन के आधार पर विभिन्न उम्मीदवारों को विभिन्न विश्वविद्यालयों के अधीन विभिन्न चिकित्सा महाविद्यालयों में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम के अध्ययन की अनुज्ञा दी जाती है। पिटीशनर को, प्रस्तुत मामले में, नेशनल मेडिकल कालिज में प्रवेश चयन परीक्षा में उसकी योग्यता के आधार पर नहीं दिया गया था अपितु, एक दान-दाता के लिए एक आरक्षित कोटे में से दिया गया था। उन्होंने यह

निवेदन किया है कि कोई उम्मीदवार अधिकारतः एक भिन्न चिकित्सा महाविद्यालय में अध्ययन की अनुज्ञा की मांग नहीं कर सकता और प्रत्येक चिकित्सा महाविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या इस प्रकार से नियंत्रित की जाती है जिससे विद्यार्थी उक्त चिकित्सा महाविद्यालय में समुचित रूप में अध्ययन कर सकें।

अभिनिर्धारित—पिटीशन खारिज किया गया।

कोई उम्मीदवार किसी भी दूसरे चिकित्सा महाविद्यालय में अध्ययन करने की अनुज्ञा का दावा अधिकारतः नहीं कर सकता और राज्य सरकार समुचित मामलों में ऐसी अनुज्ञा प्रदान कर सकती है। तथापि, एक महाविद्यालय से दूसरे महाविद्यालय में अंतरण के लिए किसी उम्मीदवार को ऐसी अनुज्ञा प्रदान करने में कोई विधिक वर्जन नहीं है, भले ही ऐसा अंतरण एक भिन्न विश्वविद्यालय में किया जाता है। (पैरा 4)

प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा के बारे में कलकत्ता विश्वविद्यालय विनियम 4, जो विनियम उस समय प्रवृत्त था जबकि पिटीशनर को एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश दिया गया था, यह स्पष्ट दर्शित करता है कि विद्यार्थी को परीक्षा पास करने के लिए, अनुपूरक परीक्षा को शामिल करते हुए, चार अवसर मिलेंगे, जिनमें असफल रहने के पश्चात् उसे चिकित्सा पाठ्यक्रम छोड़ देना पड़ेगा। उक्त उपबंध यह बिल्कुल स्पष्ट कर देता है कि एक विद्यार्थी को परीक्षा पास करने के लिए चार अवसर मिलेंगे और ऐसे अवसरों से वे अवसर अभिप्रेत नहीं हैं जिनका लाभ परीक्षा में बैठकर उम्मीदवार द्वारा वस्तुतः उठाया जाता है। अवसर से, परीक्षा में बैठने अथवा/और पास करने का अवसर अभिप्रेत है। विनियम 4 के सबसे नीचे लिखित इस कथन से कि अवसर का लाभ उठाने वाले प्रत्येक उम्मीदवार के लिए एक रजिस्टर/डोजियर तैयार किया जायेगा, यह अभिप्रेत नहीं है कि अवसर की केवल तभी गिनती की जायेगी यदि उम्मीदवार वस्तुतः लाभ उठाता है। उक्त अभिव्यक्ति से केवल यह अभिप्रेत है कि यदि कोई उम्मीदवार किसी अवसर का वस्तुतः लाभ उठाता है किन्तु असफल हो जाता है तो ऐसे असफल उम्मीदवारों के लिए, जिन्होंने परीक्षा में बैठने का लाभ उठाया था, एक रजिस्टर/डोजियर बनाकर रखा जायेगा। पूर्वोक्त परिस्थितियों में प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम के लिए विरचित विनियम यह बिल्कुल स्पष्ट अधिकथित करता है कि विद्यार्थी प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम पास करने के लिए, अनुपूरक परीक्षा को शामिल करते हुए, चार अवसर प्राप्त

करेगा, जिनमें असफल होने पर उसे चिकित्सा पाठ्यक्रम छोड़ना पड़ेगा। ऐसी परिस्थितियों से भविष्यलक्षी रूप से संशोधित विनियम के लागू करने का कोई प्रश्न ही उद्भूत नहीं होता क्योंकि पुराने नियम के अधीन उम्मीदवार के लिए चार अवसरों में ही परीक्षा पास कर लेना अपेक्षित था और अवसर से परीक्षा में बैठने और पास करने का अवसर अभिप्रेत है और इससे वस्तुतः परीक्षा में बैठने का अवसर अभिप्रेत नहीं है। (पैरा 5)

प्रथम वृत्तिक ए० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम को पास करने के लिए चार अवसरों या चार लगातार अवसरों का उक्त विनियम एक सामान्य नियम है और वह सभी मामलों को एक जैसे ही तौर पर लागू किया जाता है किन्तु उक्त नियम अनमनीय नहीं है और किसी समुचित मामले में यदि विश्वविद्यालय प्राधिकारियों को यह प्रतीत होता है कि उम्मीदवार उक्त परीक्षा को चार अवसरों में पास नहीं कर सका और प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम को पास करने के लिए चार अवसरों का लाभ अपने नियंत्रण से परे वाले कारणों से नहीं उठा सका और उसे असंभावित और अत्यंत कठिनाई हुई है तो सिंडीकेट ऐसा विनिश्चय कर सकता है जिसके द्वारा उक्त नियम के उपबंध शिथिल किये जा सकते हैं। अतः यह अधिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि उक्त नियम अनमनीय है और किसी भी दशा में उक्त नियम पर विचार करना अनुज्ञेय नहीं है। अतः न्यायालय को उक्त नियम को अयुक्तियुक्त रूप से कठोर और इस प्रकार से, जैसा कि पिटीशनर द्वारा दलील दी गई है, संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 का अतिक्रमणकारी अभिनिर्धारित करने का कोई अवसर नहीं है। (पैरा 8 और 9)

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से	...	श्री चक्रवर्ती और सजीव मिश्र
प्रत्यर्थियों की ओर से	...	—
विश्वविद्यालय की ओर से	...	सर्वश्री सुधेन्दु मुकर्जी, तापन मुकर्जी, गौतम सौम और एच० बरुआ
राज्य की ओर से	...	मो० युसुफ अली और श्रीमती ईला चटर्जी

न्याय० जी० एन० रे :

इस रिट पिटीशन की सुनवाई प्रत्यर्थियों को नोटिस दिये जाने के पश्चात् उनकी ओर से प्रतिवाद का आवेदन किये जाने के रूप में की गई है तथा

कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से और सचिव, अवर स्नातक अध्ययन परिषद्, कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से विद्वान् काउन्सेल हाजिर हुए हैं। प्रत्यर्थी सं० 1 अर्थात् पश्चिमी बंगाल राज्य और स्वास्थ्य सेवा निदेशक एवं (पदेन) सचिव, पश्चिमी बंगाल सरकार, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण विभाग की ओर से भी विद्वान् काउन्सेल हाजिर हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पिटीशनर को कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधीन साढ़े चार वर्ष के एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में कलकत्ता नेशनल मैडिकल कालिज में एक दान-दाता श्री एस० एन० डे को आवंटित स्थान पर प्रवेश दिया गया था और उसने 1979-80 के सत्र में उक्त कालिज में प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम के एक विद्यार्थी के रूप में प्रवेश लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि पिटीशनर जून, 1981 में आयोजित प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा में बैठा था किन्तु वह उक्त परीक्षा में असफल हो गया था। तत्पश्चात् पिटीशनर सितम्बर, 1981 में आयोजित प्रथम वृत्तिक अनुपूरक परीक्षा में भी बैठा था किन्तु उक्त अनुपूरक परीक्षा में भी वह असफल हो गया था। पिटीशनर यह दलील देता है कि पिटीशनर का पिता, जो कि स्वयं एक डाक्टर है, हृदय रोग से पीड़ित था और पिटीशनर को अपने पिताजी की बीमारी और कलकत्ता में आवासीय कठिनाई के कारण अत्यंत मानसिक चिंता के दौरान ही परीक्षा में बैठना पड़ा था। तत्पश्चात् पिटीशनर ने मई/जून, 1982 में आयोजित प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा के लिए फीस और आवेदन पत्र जमा कर दिया था। किन्तु वह अपनी ही बीमारी के कारण उस परीक्षा में नहीं बैठ सका। पिटीशनर का यह पक्षकथन है कि वह "प्ल्यूरल एफूशन" के रोग से मई, 1982 से ग्रस्त है और उसे तीन मास के लिए पूर्णरूपेण आराम करने के लिए सलाह दी गई थी। अपनी इस दलील के समर्थन में पिटीशनर ने 16 अगस्त, 1982 का एक चिकित्सा प्रमाण पत्र इस रिट पिटीशन के उपाबंध "डी" के रूप में संलग्न किया है। 16 अगस्त, 1982 से प्रथम वृत्तिक अनुपूरक परीक्षा 1981 आयोजित होनी थी। पिटीशनर उक्त अनुपूरक परीक्षा में बैठने के लिए अपना आवेदन फार्म नहीं भेज सका क्योंकि उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं था और अभी भी वह आराम कर रहा था। तत्पश्चात् पिटीशनर ने राज्य सरकार को बर्दमान मेडिकल कालिज में अध्ययन करने की अनुमति के लिए आवेदन किया। 17 अगस्त, 1982 को पिटीशनर ने सचिव, अवर स्नातक अध्ययन परिषद्, कलकत्ता विश्वविद्यालय को कलकत्ता मेडिकल कालिज के प्रधानाचार्य के माध्यम से, प्रथम वृत्तिका एम० बी० बी० एस० सत्र 1982-83 में अध्ययन जारी रखने के लिए आवेदन किया। पिटीशनर ने उक्त प्राधिकारी की अनुमति

उक्त प्रयोजन के लिए मांगी। उक्त पत्र में पिटीशनर ने अपने पिताजी की बीमारी के तथ्य तथा अपनी बीमारी के भी वे तथ्य संसूचित किए जिनके कारण वह गत दो परीक्षा में नहीं बैठ सका था। 17 अगस्त, 1982 के ऐसे आवेदन की एक प्रति इस रिट पिटीशन के उपाबंध "डी" के रूप में उपाबद्ध की गई है। सचिव, अवर स्नातक अध्ययन परिषद्, कलकत्ता विश्वविद्यालय के 26 अगस्त, 1982 के पत्र द्वारा कलकत्ता मेडिकल कालिज के प्रधानाचार्य को यह सूचित किया कि पिटीशनर द्वारा 17 अगस्त, 1982 के आवेदन में जो अनुमति मांगी गई थी वह अनुमति उसे नहीं दी गई है और चूंकि पिटीशनर ने विद्यमान विनियमों के अधीन परीक्षा के अवसरों की उपबंधित और विहित संख्या समाप्त कर ली थी इसलिए उसे चिकित्सा पाठ्यक्रम का अध्ययन छोड़ना था। उक्त पत्र की एक प्रति, तत्पश्चात् कालिज के प्रधानाचार्य द्वारा अपने 3 सितम्बर, 1982 के ज्ञापन के साथ पिटीशनर को भेज दी गई थी, जिस ज्ञापन की एक प्रति इस पिटीशन के उपाबंध "ई" के रूप में उपाबद्ध की गई है। 6 सितम्बर, 1982 को पिटीशनर ने एक अभ्यावेदन कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलाधिपति को भेजा। पिटीशनर ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलाधिपति को दिये गये उक्त अभ्यावेदन में अन्य बातों के साथ-साथ यह दलील दी थी कि सचिव, अवर स्नातक अध्ययन परिषद् द्वारा अपनाया गया यह रुख कि पिटीशनर को इसलिए चिकित्सा पाठ्यक्रम छोड़ना पड़ेगा क्योंकि वह लगातार (परीक्षा के) चार अवसरों में प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा पास करने में असफल हो गया था, प्रथम वृत्तिका एम० बी० बी० एस० परीक्षा से संबंधित विनियमों के प्रतिकूल है और अन्यायपूर्ण है। उक्त अभ्यावेदन में पिटीशनर ने यह दलील दी थी कि चार अवसरों से, चार लगातार अवसर अभिप्रेत नहीं हैं और उक्त तथ्य कलकत्ता विश्वविद्यालय के 3 मार्च, 1982 के पत्र द्वारा अधिसूचित विनियम के संशोधन से भी स्पष्ट हो जाती है जिस संशोधन से प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा से संबंधित संकल्पना विनियमों के विनियम 4 में विनिर्दिष्ट रूप से अंतःस्थापित की गई थी। पिटीशनर ने अपने अभ्यावेदन में यह भी दलील दी थी कि पिटीशनर के इस मामले में प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश के समय आरम्भतः जो विनियम प्रवृत्त था उसके प्रति निर्देश किया जाय और चूंकि पश्चात्वर्ती संशोधन केवल भविष्यलक्षी है इसलिए उसे पिटीशनर के मामले में लागू नहीं किया जा सकता। कुलाधिपति को भेजे गये थे ऐसे एक अभ्यावेदन की प्रति रिट पिटीशन के साथ उपाबद्ध की गई है और जिसे उपाबंध "एफ" के रूप में अंकित किया गया है। पिटीशनर ने यह भी दलील दी थी कि कठिन

परिस्थितियों में वह उक्त परीक्षा पास करने के केवल दो ही अवसरों का लाभ उठा सका था और इसलिए मूल विनियम के अधीन उसे दो ऐसे अधिक अवसर अभी भी उपलब्ध थे तथा मई/जून, 1982 या अगस्त, 1982 में आयोजित प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा में न बैठने के कारण हुई चूक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम का आगे अध्ययन करने के विषय में किसी वर्जन के रूप में कार्य नहीं कर सकती। पिटीशनर ने विधि के अनुसार उसके मामले पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने तथा सचिव, अवर स्नातक अध्ययन परिषद् के पत्र द्वारा उसे संसूचित विनिश्चय का पुर्नविलोकन करने के लिए निवेदन किया। चूंकि पिटीशनर को कलकत्ता विश्वविद्यालय से कोई और सूचना प्राप्त नहीं हुई थी इसलिए पिटीशनर ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलाधिपति को 28 फरवरी, 1983 का एक और पत्र भेजा। सचिव, पश्चिमी बंगाल सरकार, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण विभाग तथा (पदेन) निदेशक स्वास्थ्य सेवा को 6 सितम्बर, 1982 के अपने पूर्ववर्ती अभ्यावेदन की एक प्रति संलग्न की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चात्‌वर्ती अभ्यावेदन में पिटीशनर ने यह भी बताया था कि यदि कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा पिटीशनर को एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में आगे अध्ययन करने के अवसर का लाभ उठाने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाता तो पिटीशनर को बर्दवान विश्वविद्यालय के अधीन बर्दवान मेडिकल कालिज में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम का अध्ययन करने का ऐसा अवसर अनुज्ञात कर दिया जाना चाहिए, जहां कि ऐसा निर्बन्धन नहीं है। पिटीशनर यह दलील देता है कि तत्पश्चात् उसने 11 अप्रैल, 1983 के अपने एक पत्र के द्वारा उक्त अधिकारियों से न्याय की मांग की और जब उक्त पत्र डाक में भेज दिया गया तो पिटीशनर को 6 अप्रैल, 1983 का एक पत्र कलकत्ता विश्वविद्यालय, अवर स्नातक अध्ययन परिषद् के सचिव की ओर से मिला। उक्त पत्र में कुलाधिपति को लिखे गये 28 फरवरी, 1983 के पिटीशनर के अभ्यावेदन के प्रति निर्देश किया गया था और यह कहा था कि एम० बी० बी० एस० का अध्ययन जारी रखने की अनुमति के लिए इन दो अभ्यावेदनों पर इसलिए अनुमति नहीं दी जा सकती थी क्योंकि पिटीशनर ने लगातार चारों अवसरों को समाप्त कर दिया था। उक्त पत्र में यह भी कहा गया था कि इस न्यायालय द्वारा हाल ही में 3 मामलों पर निर्णय किया गया है जिनमें लगातार चार अवसरों के उक्त नियम को कायम रखा गया था। यह भी कहा गया था कि चूंकि ऐसा एक विनिर्दिष्ट नियम था इसलिए कुलाधिपति उस सुसंगत नियम से परे या उसके विरुद्ध कुछ भी विनिश्चित करने में असमर्थ था, जो नियम प्रवृत्त था। ऐसा प्रतीत होता है कि सचिव, स्नातक अध्ययन परिषद् को भेजे गये 29 अप्रैल, 1983 के पत्र द्वारा पिटीशनर

ने उक्त सचिव का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया था कि पिटीशनर के इस अभ्यावेदन पर विचार नहीं किया गया था कि लगातार चार अवसरों से संबंधित नियम पिटीशनर के मामले को लागू नहीं होता था। पिटीशनर ने यह भी कहा था कि सचिव ने यह भी संकेत नहीं दिया था कि न्यायालय द्वारा विनिश्चित मामले पिटीशनर के मामले जैसे ही थे अथवा नहीं। पिटीशनर ने यह भी दलील दी थी कि ऐसा कोई विनिर्दिष्ट नियम नहीं था जो पिटीशनर के मामले पर विधि के अनुसार विचार करने के रास्ते में बाधक हो सकता हो। चूंकि पिटीशनर के मामले पर विश्वविद्यालय अधिकारियों द्वारा और आगे कोई विचार नहीं किया गया था इसलिए पिटीशनर ने यह रिट पिटीशन न्यायालय में फाइल किया। इस संबंध में इस बात पर ध्यान दिया जा सकता है कि पिटीशनर ने कलकत्ता नेशनल मेडिकल कालिज से बर्दवान मेडिकल कालिज में अध्ययन हेतु अपना अंतरण करवाने के लिए उसे अनुमति देने के लिए राज्य सरकार को भी एक अभ्यावेदन किया था ताकि पिटीशनर बर्दवान में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम का अध्ययन जारी रख सके। पिटीशनर नें यह दलील भी दी कि चूंकि पिटीशनर का पिता बहुत देर से बीमार चल रहा था और चूंकि वह हृदय-रोग का रोगी था इसलिए उसे बर्दवान में पिटीशनर की उपस्थिति की आवश्यकता थी। पिटीशनर को कलकत्ता नेशनल मेडिकल कालिज से बर्दवान मेडिकल कालिज में अपना अंतरण करवाने के लिए अनुज्ञा प्रदान कर दी जानी चाहिए। पिटीशनर यह दलील देता है कि बर्दवान विश्वविद्यालय के नियमों के अधीन इस कारण से वहां एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम का अध्ययन जारी रखने पर कोई पाबंदी नहीं है क्योंकि पिटीशनर चार लगातार अवसरों के भीतर प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा पास नहीं कर सका था। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी बंगाल राज्य की ओर से उत्तर में फाइल किए गये शपथ-पत्र में यह कहा गया है कि चिकित्सा विद्यार्थियों का अंतरण सरकारी आदेश संख्या मैडिकल/1884/2 एम-169/77, तारीख 13 मार्च, 1978 के खण्ड 9 के अनुसार किया जाता है। उक्त खण्ड 9 इस प्रकार है :—

> *"9. चूंकि पश्चिमी बंगाल ने विभिन्न चिकित्सा तथा दंत चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए उम्मीदवारों का चयन और आबंटन गुणता के आधार पर किया जाता है, इसलिए इस सिद्धांत का कि वे

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

> "9. Since selection and allotment of candidates for admission to the differeut Medical and Dental Colleges in West Bengal is made on the basis of merit, the

तब तक तत्संबंधी चिकित्सा और दंत चिकित्सा महाविद्यालयों में ही रहेंगे जब तक उत्तीर्ण नहीं हो जाते, पालन किया जाना चाहिए और केवल निम्नलिखित दशाओं को छोड़कर, अतः महाविद्यालय अंतरण अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए :—

(1) निष्क्रांत विद्यार्थी, मूलतः पश्चिमी बंगाल के थे या भूतपूर्व अविभाजित बंगाल के थे और जिन्होंने भूतपूर्व पूर्वी पाकिस्तान, वर्मा और श्रीलंका के चिकित्सा महाविद्यालयों से क्रमशः 1-1-64, 1-1-63, 1-11-64 को या इसके पश्चात् पश्चिमी बंगाल में प्रवास किया है।

(2) केन्द्र, राज्य सा संघ शासित प्रदेशों के सरकारी कर्मचारियों के या केन्द्र, राज्य या संघ शासित प्रदेशों की सरकारों के कानूनी या निगमित उद्यमों के उन कर्मचारियों के पुत्र और पुत्रियों, जो पश्चिमी बंगाल में अंतरण के पश्चात् तैनात किये गये हैं।

ऐसा पश्चिमी बंगाल चिकित्सा/दंत चिकित्सा महाविद्यालयों में उपलब्ध स्थानों के अधीन तथा पश्चिमी बंगाल में संबंधित विश्वविद्यालय द्वारा और भारतीय चिकित्सा परिषद् द्वारा अनुज्ञा दिये जाने के अधीन किया जा सकेगा।"

---

principle that they shall remain in the respective Medical and Dental Colleges till they pass out, should be adhered to and no inter-collegiate transfer should be allowed except in the following cases:

(1) Evacuee students, who originally belonged to the State of West Bengal or to erstwhile undivided Bengal, and have migrated to West Bengal from Medical Colleges in EAST Pakistan (erstwhile), Burma and Sri Lanka on or after 1-1-64, 1-6-63 and 1-11-64 respectively, and

(2) Sons and daughters of employees of Central, State or U.T. Government(s) of employees of statutory or corporate undertakings of the Central, State or U.T. Government (s) posted, on transfer, in West Bengal.

Subject to availability of seats in West Bengal Medical/Dental Colleges and also subject to permission by the oncerned University in West Bengal and the Medical Council of India."

यह और कहा गया है कि पिटीशनर उपर्युक्त उपबंधों में से किसी के अधीन भी नहीं आता है और पिटीशनर का प्रवेश गुणता के आधार पर भी नहीं किया गया था। प्रत्युत्तर में फाइल किये गये शपथ-पत्र में यह कहा गया है कि बर्दवान मैडिकल कालिज में अंतरण के लिए प्रार्थना करते हुए पिटीशनर के आवेदन पर पश्चिमी बंगाल स्वास्थ्य और परिवार कल्याण विभाग द्वारा विचार किया गया था किन्तु उक्त आवेदन पर विचार करने के पश्चात् कलकत्ता मेडिकल कालिज के प्रधानाचार्य को यह सूचित कर दिया गया था कि ऐसा अंतरण सम्भव नहीं था।

2. श्री चक्रवर्ती, पिटीशनर की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल, ने यह दलील दीं है कि प्रत्युत्तर में फाइल किये गये शपथ-पत्र से, जो कि राज्य सरकार की ओर से फाइल किया गया है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अंतरण के लिए पिटीशनर के मामले पर उचित प्रकार से विचार नहीं किया गया था और प्रति शपथ-पत्र में निर्दिष्ट सरकारी आदेश पर गलत प्रकार से विचार किये जाने के कारण बर्दवान मेडिकल कालिज में अंतरण के लिए पिटीशनर की प्रार्थना नामंजूर कर दी गई थी। श्री चक्रवर्ती ने यह दलील दी कि उक्त सरकारी आदेश बिल्कुल ही एक भिन्न प्रयोजन के लिए किया गया आदेश है और वह पिटीशनर के मामले को लागू नहीं होता। उन्होंने यह निवेदन किया है कि विधि के अधीन कलकत्ता मेडिकल कालिज से बर्दवान के मेडिकल कालिज में अंतरण के लिए किसी विद्यार्थी को ऐसी अनुज्ञा देने के बारे में कोई वर्जन नहीं है और ऐसी अनुज्ञा अनेक मामलों में दी भी गई है। श्री चक्रवर्ती ने यह दलील दी कि पिटीशनर ने अपने स्वास्थ्य के आधार पर और अपने पिताजी की अस्वस्थ्यता के आधार पर अंतरण की मांग की है। राज्य सरकार का गुणागुण के आधार पर ऐसे अभ्यावेदन पर विचार करना और विनिश्चय करना एक कर्त्तव्य था किन्तु राज्य सरकार के उस आदेश पर विचार करने के पश्चात्, जिस आदेश का पिटीशनर के मामले से कोई संबंध नहीं था, पिटीशनर के अभ्यावेदन को राज्य सरकार द्वारा नामंजूर कर दिया गया था। अतः उनका निवेदन है कि राज्य सरकार को न्यायालय द्वारा यह निदेश दिया जाये कि राज्य सरकार पिटीशनर के अभ्यावेदन पर गुणता के आधार पर विचार करे और अविलंब उसके बारे में विनिश्चय करे। जहां तक कलकत्ता विश्वविद्यालय के विनिश्चय का सम्बन्ध है, श्री चक्रवर्ती ने यह दलील दी कि एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम के अध्ययन को लागू होने वाला विनियम, जो विनियम एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में पिटीशनर के प्रवेश के समय प्रवृत्त था, पटीशनर के मामले को लागू किया जाना चाहिए और ऐसे विनियम में किया गया कोई भी संशोधन

भविष्यलक्षी अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए और इस विनियम को किसी भी प्रकार से पिटीशनर के मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को लागू नहीं किया जा सकता। श्री चक्रवर्ती ने यह कहा है कि प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम को लागू होने वाले कलकत्ता विश्वविद्यालय के विनियम से यह प्रतीत होता है कि अनुपूरक परीक्षा को शामिल करते हुए एक वर्ष में दो परीक्षाएं होंगी। विद्यार्थियों को परीक्षा पास करने के लिए अनुपूरक परीक्षा सहित चार अवसर मिलेंगे, जिनमें असफल होने पर उन्हें चिकित्सा पाठ्यक्रम छोड देना पड़ेगा। उम्मीदवारों को उसी फीस का संदाय कर देने पर अनुपूरक/अगली वार्षिक परीक्षा में बैठने के लिए अनुज्ञात किया जायेगा और वह फीस प्रधानाचार्य के समाधानपर्यन्त भेजी जानी चाहिए। अनुपूरक परीक्षा वास्तविक परिणाम के प्रकाशन की तारीख से चार सप्ताह पश्चात् आयोजित की जायेगी। अवसरों का लाभ उठाने वाले प्रत्येक असफल उम्मीदवार के लिए महाविद्यालय द्वारा और परीक्षा नियंत्रक अधिकारी के संवीक्षा अनुभाग द्वारा एक रजिस्टर/डोजियर बनाकर रखा जायेगा। श्री चक्रवर्ती की दलील यह है कि उक्त विनियम के उस उपबंध का अर्थ यह है कि उम्मीदबार को परीक्षा में बैठने के लिए चार अवसर दिये जाने चाहिए। यदि किसी कारण से कोई उम्मीदवार परीक्षा में बैठने से निवारित कर दिया जाता है या उक्त परीक्षा में नहीं बैठ सकता है तो परीक्षा में इस प्रकार बैठने में हुई असफलता अवसरों की गणना के प्रयोजनों के लिए विचार में नहीं ली जायेगी। श्री चक्रवर्ती ने यह दलील दी है कि यदि कोई उम्मीदवार परीक्षा में नहीं बैठता तो ऐसी परीक्षा के बारे में रजिस्टर अथवा डोजियर बनाये रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः वह यह निवेदन करते हैं कि यह स्पष्ट है कि अवसरों से अभिप्रेत है, परीक्षा में बैठने के लिए उठाये गये वास्तविक अवसरों का लाभ। उन्होंने यह भी दलील दी है कि चूंकि उक्त स्थिति को विश्वविद्यालय द्वारा वाद में संशोधित करने का प्रयास किया गया है और यह कहा गया है कि विनियम 4 में आने वाले अवसरों के स्थान पर "चार लगातार अवसर" प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए। अतः उनका निवेदन है कि उक्त संशोधन भी यह स्पष्ट करता है कि पूर्ववर्ती विनियम के अधीन चार अवसरों से, चार लगातार अवसर अभिप्रेत नहीं थे अपितु परीक्षा में बैठने के लिए उम्मीदवार द्वारा वस्तुतः उठाये गये चार अवसरों का लाभ अभिप्रेत है। अतः उनका निवेदन है कि संशोधन से पूर्व वाले विनियम को प्रथम एम० बी० बी० एस० परीक्षा में बैठने के अन्य अवसरों के लिए और/अथवा अपना एम० बी० बी० एस० अध्ययन जारी रखने के लिए पिटीशनर पर वर्जन नहीं समझा जाना चाहिए। अतः उनका निवेदन है कि पिटीशनर को एम० बी०

बी० एस० पाठ्यक्रम में अध्ययन करने अथवा/और प्रथम एम० बी० बी० एस० परीक्षा में और आगे बैठने से विवर्जित करने के बारे में विश्वविद्यालय प्राधिकारियों का विनिश्चय अवैध है और इसे अभिखण्डित किया जाना चाहिए। श्री चक्रवर्ती ने यह और दलील दी है कि यदि तर्क की दृष्टि से यह मान भी लिया जाए कि उम्मीदवार को प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा पास करने के लिए केवल चार अवसर ही मिलेंगे और ऐसे चार अवसरों से उम्मीदवार द्वारा परीक्षा में बैठने के वास्तविक चार अवसर अभिप्रेत नहीं हैं तो यह अधिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि ऐसा विनियम बहुत कठोर है और इस विनियम ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधीन एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों पर अयुक्तियुक्त निर्बंधन अधिरोपित किया है। श्री चक्रवर्ती ने यह दलील दी कि अन्य विश्वविद्यालयों के अधीन अन्य चिकित्सा महाविद्यालयों में ऐसा कोई निर्बंधन नहीं है और आज भी यदि पिटीशनर को बर्दवान विश्वविद्यालय के अधीन एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम जारी रखने के लिए अनुज्ञात किया जाता है तो पिटीशनर ऐसा कर सकता है और बर्दमान विश्वविद्यायय के विनियम ऐसा कोई निर्बंधन अधिरोपित नहीं करते कि जब तक कि उम्मीदवार चार अवसरों के भीतर ही प्रथम एम० बी० बी० एस० परीक्षा पास नहीं कर लेता तो ऐसे उम्मीदवार को अपना अध्ययन छोड़ना पड़ेगा। श्री चक्रवर्ती ने यह दलील दी कि विश्वविद्यालय, विद्यार्थियों के शैक्षणिक अध्ययन को नियन्त्रित करने के लिए नियम और विनियम विरचित करने का अधिकार रखता है किन्तु ऐसे नियम और विनियम इतने अयुक्तियुक्त नहीं होने चाहिए जिससे संविधान के अनुच्छेद 19 के अधीन गारंटीकृत उनके मूल अधिकार का हनन हो। उन्होंने यह भी दलील दी है कि एक अयुक्तियुक्त नियम विधि शासन का प्रत्याख्यान है और इसलिए ऐसा नियम संविधान के अनुच्छेद 14 का भी अतिक्रमणकारी है।

3. तथापि, राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया है कि पिटीशनर के मामले पर विचार किया गया था किन्तु सरकार उसे बर्दवान मेडिकल कालिज में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम के अध्ययन की अनुज्ञा देने के लिए सहमत नहीं थी। राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह कहा है कि चयन के आधार पर विभिन्न उम्मीदवारों को विभिन्न विश्वविद्यालयों के अधीन विभिन्न चिकित्सा महाविद्यालयों में एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम के अध्ययन की अनुज्ञा दी जाती है। पिटीशनर को, प्रस्तुत मामले में, नेशनल मेडिकल कालिज में प्रवेश चयन परीक्षा में उसकी योग्यता के आधार पर नहीं दिया गया था अपितु, एक दान-दाता के लिए अनुज्ञात एक आरक्षित कोटे में

से दिया गया था। उन्होंने यह निवेदन किया है कि कोई उम्मीदवार अधिकारत: एक भिन्न चिकित्सा महाविद्यालय में अध्ययन की अनुज्ञा की मांग नहीं कर सकता और प्रत्येक चिकित्सा महाविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या इस प्रकार से नियन्त्रित की जाती है जिससे विद्यार्थी उक्त चिकित्सा महाविद्यालय में समुचित रूप में अध्ययन कर सके।

4. पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेलों की तत्संबंधी दलीलों पर विचार करने के पश्चात् मुझे यह प्रतीत होता है कि कोई उम्मीदवार किसी भी दूसरे चिकित्सा महाविद्यालय में अध्ययन करने की अनुज्ञा का दावा अधिकारत: नहीं कर सकता और राज्य सरकार समुचित मामलों में ऐसी अनुज्ञा प्रदान कर सकती है तथापि, एक महाविद्यालय से दूसरे महाविद्यालय में अंतरण के लिए किसी उम्मीदवार को ऐसी अनुज्ञा प्रदान करने में कोई विधिक वर्जन नहीं है, भले ही ऐसा अंतरण एक भिन्न विश्वविद्यालय में किया जाता है। मुझे यह भी प्रतीत होता है कि ऐसी अनुज्ञा अनेक बार प्रदान की गई है। प्रतिशपथ-पत्र से यह प्रतीत होता है कि पिटीशनर के मामले पर राज्य सरकार द्वारा गुणता के आधार पर समुचित रूप से विचार नहीं किया गया है और ऐसा लगता है कि पिटीशनर के मामले पर सरकार द्वारा इसमें इससे पूर्व निर्दिष्ट उस सरकारी आदेश के आधार पर विचार किया गया था जिसका पिटीशनर के मामलों से कोई संबंध्र नहीं है। प्रस्तुत मामले में पिटीशनर ने अपनी अस्वस्थता के आधार पर, अन्य कठिनाइयों के आधार पर तथा अपने पिता की अस्वस्थता के आधार पर अंतरण की मांग की है। ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि राज्य सरकार ने पिटीशनर के अभ्यावेदन में अंतर्विष्ट तथ्यों के आधार पर उसके अभ्यावेदन पर विचार किया है। अत: मुझे यह प्रतीत होता है कि राज्य सरकार को पिटीशनर के अभ्यावेदन में लिखित तथ्य और परिस्थितियों को ध्यान में रखने के पश्चात् उसके अभ्यावेदन पर पुन: विचार करना चाहिए। तथापि, यहां यह स्पष्ट कर दिया जाए कि इस न्यायालय ने पिटीशनर के अभ्यावेदन के बारे में कोई राय व्यक्त नहीं की है और राज्य सरकार ऐसा कोई भी विनिश्चय करने में बिल्कुल स्वतंत्र है जो उसे न्यायोचित और समुचित प्रतीत हो। तथापि, राज्य सरकार द्वारा इस प्रकार का विचार यथासंभव शीघ्र और अधिमानत: आज से एक मास के भीतर किया जाना चाहिए।

5. जहां तक पिटीशनर को संसूचित कलकत्ता विश्वविद्यालय के विनिश्चय का सम्बन्ध है, मुझे यह प्रतीत होता है कि प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा के बारे में कलकत्ता विश्वविद्यालय का विनिमय 4, जो

आक्षेप किया जा सके जो पिटीशनर को डाक से प्राप्त हुआ था जब वह इस न्यायालय की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के भीतर निवास कर रहा था। अतः मैं इस रिट पिटीशन के चलने के सम्बन्ध में प्रारम्भिक आक्षेप को इस आधार पर नामंजूर करता हूं कि इस न्यायालय को इस रिट पिटीशन को ग्रहण करने की कोई राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता नहीं है।

7. पिटीशनर को उपलभ्य अपील करने के आनुकल्पिक उपचार के सम्बन्ध में प्रत्यर्थियों द्वारा दी गई दूसरी दलील भी है। इसके समर्थन में रिट पिटीशन के पैरा 9 में किया गया प्रकथन इस प्रकार है :—

> "सेवा से हटाए जाने का आदेश पूर्ण रूप से अधिकारिता के बिना है और नियमों के विरुद्ध है और उससे भारत के संविधान के अनुच्छेद 311 का प्रत्यक्ष रूप से ही अतिक्रमण होता है। सेवा से हटाए जाने के लिए दर्शाए गए कारणों से संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) और (ग) के अधीन पिटीशनर को गारंटी किए गए मूल अधिकारों का उल्लंघन होता है। इन परिस्थितियों में यह आरम्भिक पिटीशन बहुत नम्रतापूर्वक फाइल किया गया और नियमों में उपबन्धित अपील के सम्बन्ध में आनुकल्पिक उपचारों का सहारा नहीं लिया गया......।"

यहां तक कि पिटीशनर ने जो दृष्टिकोण अपनाया है, वह यह है कि उसके मूल अधिकारों का अतिलंघन हुआ है और इसी कारण उसने ऐसे अधिकार के प्रवृत्त किए जाने के लिए यह रिट पिटीशन फाइल किया है। मेरा यह विचार नहीं है कि अपील के आनुकल्पिक उपचार के कारण, जिसे पिटीशनर प्रभावी और कारगर नहीं समझता था, पिटीशनर के इस न्यायालय में आवेदन करने के अधिकार से वह वंचित होगा।

8. अब प्रदर्श पी० 5 के सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न, जो पिटीशनर ने उठाया है, दो प्रकार का है। पहला पत्र के लेखक के सम्बन्ध में सबूत के बारे में है जो प्रदर्श पी० 5 में पुनः उद्धृत किया गया है जो इंडियन एक्सप्रेस में 4-8-1981 को मुद्रित हुआ था और दूसरा उसकी विषय-वस्तु के मूल्यांकन से सम्बन्धित है। दलील यह है कि यह साबित नहीं किया गया है कि पिटीशनर प्रकाशन के लिए जिम्मेदार है क्योंकि पिटीशनर के मतानुसार यह साबित नहीं हुआ था कि यह उसका पत्र था जो प्रेस में मुद्रित हुआ था और दूसरी बात यह है कि यह साबित नहीं हुआ है कि उससे आचरण नियमों के नियम 3(1)(i), 3(1)(iii) और 19(1) में अंतर्विष्ट उपबन्धों का अतिक्रमण हुआ था। उक्त नियम इस प्रकार है :—

* "3. साधारण—(1) प्रत्येक रेल सेवक सभी समय :—

(i) आत्यंतिक ईमानदारी बनाए रखेगा .

× × ×

(iii) ऐसा कोई काम नहीं करेगा जो किसी रेलवे या सरकारी सेवक के लिए अशोभनीय है......

19. कार्यों को न्यायसंगत ठहराना और रेल सेवकों का आचरण—कोई भी रेल सेवक सरकार की पूर्व मंजूरी के सिवाय किसी शासकीय कार्य को न्यायसंगत ठहराने के लिए, जिसके बारे में प्रतिकूल आलोचना या मानहानिकारक स्वरूप का आक्रमण हुआ हो, न्यायालय या प्रेस का सहारा नहीं लेगा।"

इस संदर्भ में पिटीशनर के काउन्सेल ने **यूनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट के पिकरिंग** बनाम **बोर्ड आफ एजुकेशन**[1] वाले मामले के विनिश्चय का अवलम्ब लिया है। वह ऐसा मामला था जिसमें स्कूल के करों की वृद्धि के प्रस्ताव के स्थानीय मतदाताओं के द्वारा विफल किए जाने के कुछ दिन बाद एक पब्लिक स्कूल के शिक्षक ने एक स्थानीय समाचार-पत्र के सम्पादक को एक पत्र लिखा

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"3. General—(1) Every railway servant shall at all times :—

(i) maintain absolute integrity;

× × ×

(iii) do nothing which is unbecoming of a railway or government servant......

19. Vindication of Acts and Character of Railway servants. (1) No railway servant shall except with the previous sanction of the Government, have recourse to any court or to the press for the vindication of any official act which has been the subject matter of adverse criticism or an attack of a defamatory character."

---

[1] 20 लायर्स एडीशन 2 डी, एस० 11 (1968 के लेबर एण्ड इन्डस्ट्रियल केसिज पृष्ठ 1372 पर उद्धृत).

जिसमें उस तरीके की आलोचना की गई जिसमें बोर्ड आफ एजुकेशन और सुप्रिन्टेंडेंट आफ स्कूल ने स्कूलों के लिए नए राजस्वों में वृद्धि करने के प्रस्तावों पर कार्यवाही की थी। उक्त पत्र के प्रकाशित होने के पश्चात् बोर्ड आफ एजुकेशन ने यह अवधारित किया कि उसका प्रकाशन जिले के लिए हानिकारक था और यह कि स्कूल के हितों की दृष्टि से शिक्षक का पदच्युत किया जाना अपेक्षित था। विल काउन्टी इलीनायस के सर्किट न्यायालय ने उक्त पदच्युति को कायम रखा और इलीनायस के सुप्रीम कोर्ट ने, जिसमें दो न्यायाधीशों ने विसम्मति व्यक्त की, सर्किट न्यायालय के निर्णय की पुष्टि की तथा शिक्षक की यह दलील रद्द कर दी कि पत्र और उसकी टिप्पणियां, वाक्स्वातंत्र्य के सांविधानिक अधिकार द्वारा संरक्षित थीं। सरशियोरेरांई में यूनाइटेड स्टेट्स सुप्रीम कोर्ट ने इलीनायस के सुप्रीम कोर्ट के विनिश्चय को उलट दिया। मार्शल जे० द्वारा व्यक्त किए गए मत में न्यायालय के 6 सदस्यों ने अपना मत व्यक्त करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि शिक्षक द्वारा जानबूझकर या बिना सोचे-विचारे किए गए मिथ्या कथनों के सबूत के अभाव में लोक महत्त्व के विवाद्यकों के बारे में बोलने के उसके अधिकार के कारण उसकी पदच्युति नहीं की जा सकती। और यह कि मामले की परिस्थितियों में उसकी पदच्युति से वाक्स्वातंत्र्य के उसके सांविधानिक अधिकार का अतिक्रमण हुआ है। प्रस्तुत मामले में यह नहीं कहा जा सकता कि प्रदर्श पी० 5 में पिटीशनर द्वारा अभिव्यक्त किया गया मत किसी विशिष्ट अधिकारी या प्राधिकारी के विरुद्ध व्यक्त किया गया है जिसके अधीन पिटीशनर सीधे नियोजन में था या जिससे उसका सम्बन्ध था या यह कि उसका आशय रेल प्रशासन की छवि को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करने का था। प्रदर्श पी० 5 के पैरा 1 में यह बतलाया गया है कि हाल के महीनों में रेल दुर्घटनाओं में एकाएक काफी वृद्धि हुई है और आगे उसमें यह कहा गया है कि रेल मंत्री और रेल बोर्ड के सभापति उन दुर्घटनाओं का दोष मानव असफलता और अभिध्वंस सम्बन्धी कार्यवाहियों पर लगा रहे हैं। उसके पैरा 2 में इस बात पर जोर दिया गया है कि समय की पाबन्दी महत्त्वपूर्ण है किन्तु ऐसा सुरक्षा को खतरे में डालकर नहीं किया जाना चाहिए और यह बतलाया गया कि लोको रनिंग स्टाफ पर इस बात के लिए जोर देना उचित नहीं है कि वे समुचित विश्राम किए बिना अतिकाल पर कार्य करें। अंतिम पैरा में जो कुछ बतलाया गया है, वह ट्रेक और पुलों को अच्छी हालत में बनाए रखने के काम में लगे निम्नतर श्रेणियों के दक्ष कर्मकारों की मृत्यु से सम्बन्धित हैं। उक्त पैरा को सम्पूर्ण रूप से पढ़ने और समझने पर किसी भी दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता कि सम्पादक को लिखे गए पत्र का उद्देश्य रेल प्रशासन का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना

था कि वह दुर्घटनाओं के बार-बार घटित होने को रोकने के लिए सुरक्षा सम्बन्धी अध्युपाय करने की आवश्यकता को समझे और साथ ही वह यह समझे कि रेल कर्मकारों के विरुद्ध दमनकारी अध्युपायों का किस प्रकार प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा था। इस संदर्भ में यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि दुर्घटनाओं का बार-बार घटित होना राष्ट्रीय विचार-विमर्श का विषय बन गया था और उस संवंध में संसद् में भी विचार-विमर्श हुआ था, जैसा कि प्रदर्श पी० 4 से स्पष्ट है। संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन गारंटी किए गए वाक्स्वातंत्र्य के सांविधानिक अधिकार का उदार निर्वचन करते हुए मेरा यह मत है कि पिटीशनर को आचरण नियमों के नियम 3(1)(i), 3(1)(iii) और 19(1) के अधीन आरोप के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

9. मैं द्वितीय प्रत्यर्थी या जांच अधिकारी द्वारा जांच कार्यवाहियों के अनुक्रम में अपनाई गई प्रक्रिया के सही होने या अन्यथा के सम्बन्ध में कोई मत व्यक्त नहीं कर रहा हूं क्योंकि इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह जरूरी नहीं है, जैसा निष्कर्ष मैंने निकाला है कि पिटीशनर के विरुद्ध यथाविरचित आरोप साबित नहीं किए गए हैं।

10. ऊपर वर्णित कारणों से यह रिट पिटीशन मंजूर किया जाता है और द्वितीय प्रत्यर्थी को यह निदेश दिया जाता है कि वह पिटीशनर को आनुषंगिक फायदों सहित तत्काल सेवा में बहाल कर दे। मामले की परिस्थितियों में खर्चे के सम्बन्ध में कोई आदेश नहीं दिया जाता है।

रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

मि०

नि० प० 1984 : केरल—68

परमेश्वरन नायर नारायणन नायर बनाम कृष्णा पिल्लई चेलप्पन पिल्लई

(Parameswaran Nair Narayanan Nair *Vs.* Krishna Pillai Chellappan Pillai)

तारीख 14 अक्तूबर, 1983

[न्या० के० के० नरेन्द्रन]

केरल बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रेंट कन्ट्रोल) ऐक्ट, 1965 धारा 2(3) और 11(16)—मकान मालिक के अभिकर्ता के तौर पर मकान का आजीवन

अधिभोग करने के अधिकार सहित किराया इकट्ठा करने का अधिकार—ऐसा अभिकर्ता मकान-मालिक की लिखित सम्मति के बिना किराएदार की बेदखली के लिए आवेदन फाइल करने के लिए हकदार नहीं है भले ही वह किराया इकट्ठा करने के लिए अभिकर्ता हो।

प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी ने निष्कासन के लिए पिटीशन फाइल किया था। प्रत्यर्थी के कथनानुसार विक्रय-विलेख के अनुसार उसे भवन का किराया इकट्ठा करने और भवन में रहने का अधिकार प्राप्त था। पिटीशनर किराएदार ने बेदखली के लिए फाइल किए गए पिटीशन के उत्तर में अपने आक्षेपों में यह दलील दी कि मकान-मालिक की पूर्ववर्ती लिखित सम्मति के बिना प्रत्यर्थी निष्कासन के लिए पिटीशन फाइल नहीं कर सकता और इस प्रकार उसे बेदखली के लिए पिटीशन फाइल करने की शक्ति प्राप्त नहीं थी। प्रस्तुत मामले में विचार किए जाने के लिए निम्नलिखित प्रश्न उद्भूत होते हैं : (1) क्या कोई व्यक्ति, जो मकान-मालिक के अभिकर्ता के तौर पर किराया इकट्ठा करता है, केरल बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रैंट कंट्रोल) अधिनियम, 1965 की धारा 11(16) को ध्यान में रखते हुए मकान-मालिक की पूर्ववर्ती लिखित सम्मति के बिना बेदखली के लिए पिटीशन फाइल कर सकता है। क्या स्थिति उस समय भिन्न होगी यदि उसे कुछ अधिकार दिए जाते हैं जिसके अन्तर्गत विक्रेता द्वारा अपने जीवनपर्यन्त भवन का अधिभोग करने का अधिकार सम्मिलित है, और (2) क्या बेदखली के लिए पिटीशन फाइल करने का अधिकार भवन के विक्रेता द्वारा प्रदत्त किया जा सकता है और क्या किराएदार यह दलील दे सकता है कि विक्रय-विलेख से क्रेता के सिवाय किसी अन्य व्यक्ति को ऐसा कोई अधिकार प्रदत्त नहीं किया जा सकता।

अभिनिर्धारित—सिविल पुनरीक्षण मंजूर किया गया।

केरल बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रैंट कन्ट्रोल) ऐक्ट, 1965 की धारा 11 के अधीन बेदखली के लिए पिटीशन मकान-मालिक द्वारा फाइल किया जाना होगा। धारा 2(3) में मकान-मालिक की परिभाषा सम्मिलित करने वाली परिभाषा है। परिभाषा के अनुसार मकान-मालिक के अन्तर्गत न केवल वह व्यक्ति है जो किराया प्राप्त करता है या स्वयं अपनी ओर से (अर्थात् स्वामी के तौर पर) किराया प्राप्त करने के लिए हकदार है किन्तु उसके अन्तर्गत कोई अभिकर्ता, न्यासी, निष्पादक, प्रशासक, प्रापक या संरक्षक भी सम्मिलित हैं। अधिनियम की धारा 11 के अधीन बेदखली के लिए पिटीशन मकान-मालिक द्वारा फाइल किया जाएगा किन्तु उपधारा (16) में एक निबन्धन अधिरोपित किया गया है कि ऐसा व्यक्ति जो मकान-मालिक के मात्र अभिकर्ता के तौर पर किराया प्राप्त

करता है, मकान-मालिक की पूर्ववर्ती लिखित सम्मति के बिना बेदखली के लिए पिटीशन फाइल नहीं कर सकता। अतः केवल वे सब ही जो धारा 2(3) में सम्मिलित की जाने वाली परिभाषा में सम्मिलित किए गए हैं, सिवाय वहां वर्णित अभिकर्ता के, मकान-मालिक की पूर्व सम्मति के बिना बेदखली के लिए आवेदन फाइल कर सकते हैं। इसके लिए कारण है क्योंकि अभिकर्ता के सिवाय, न्यासी, निष्पादक और अन्य सभी ऐसे व्यक्ति हैं जो विधितः वाद चलाने के लिए सक्षम हैं। यह बात विवादास्पद नहीं है कि कोई अभिकर्ता केवल उतना कार्य ही कर सकता है जितना उसके स्वामी ने उसे प्राधिकृत किया है। जीवनपर्यन्त सम्पदा धारक या कोई व्यक्ति जिसे भवन में रहने का अधिकार दिया गया है, जो मकान-मालिक की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आता है, वह भी, भले ही वह किराया इकट्ठा करने के लिए अभिकर्ता है, मकान-मालिक की सम्मति के बिना बेदखली के लिए पिटीशन फाइल नहीं कर सकता। "मात्र एक अभिकर्ता के तौर पर" शब्दों से उसे यहां कोई सहायता नहीं मिलेगी। प्रश्न यह है कि सम्मति कौन दे। उपधारा (16) में यह स्पष्ट है कि मकान-मालिक को चाहिए कि वह सम्मति दे। अतः मकान-मालिक का विक्रेता सम्मति नहीं दे सकता। अन्यथा भी प्रदर्श ए० 8 विक्रय-विलेख से प्रत्यर्थी को किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं। (पैरा 5)

		पैरा
[1982]	1982 के० एल० टी० एम० एन० 55 : रबेका टामस **बनाम** सी० जे० जोसफ (Rebecca Thomas *Vs.* C. J. Joseph);	4
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1253 : श्री राज लक्ष्मी डाइंग वर्क्स **बनाम** रंगास्वामी (Shri Raja Lakshmi Dyeing Works *Vs.* Rangaswamy);	4
[1976]	ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 2335 : श्री राम पसरीचा **बनाम** जगन्नाथ (Sri Ram Pasricha *Vs.* Jagannath);	4
[1975]	ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1750 : एस० एम० जी० चेट्टी **बनाम** गणेशन (S. M. G. Chetty *Vs.* Ganeshan);	4

[1973] ए० आई० आर० 1973 गुजरात 131 : नाना लाल **बनाम** ओ० जे० मोटरवाला (Nanalal *Vs.* O. J. Motorwala); 4

[1970] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 504 : एम० सी० चाको **बनाम** स्टेट बैंक आफ ट्रावनकोर (M. C. Chacko Vs. State Bank of Travancore); 4

[1961] 1961 (1) एन० एल० जे० 150 : पहालेमल खटूमल **बनाम** टी० वी० एण्ड ब्रदर्स (Pahalaimal Khatumel Vs. T. V. & Brothers) 4

निर्दिष्ट किए गए ।

सिविल पुनरीक्षण अधिकारिता : 1983 का सिविल पुनरीक्षण पिटीशन सं० 2192.

मावेलीकारा के अपर जिला न्यायाधीश के 1982 के आर० सी० आर० पी० सं० 12 और मावेलीकारा के किराया नियंत्रक, अपील प्राधिकारी के 1982 के आर० सी० ए० सं० 10 और मावेलीकारा के किराया नियंत्रण न्यायालय के 1980 के बी० आर० सी० (ओ० पी०) सं० 4 के विरुद्ध पुनरीक्षण ।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री एस० ए० नगेन्द्रन और एन० एन० डी० पिल्लई

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री के० सी० जान

न्या० के० के० नरेन्द्रन :

प्रत्यर्थी-किराएदार केरल बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रैंट कंट्रोल) अधिनियम, 1965 (संक्षेप में अधिनियम) (1965 का अधिनियम सं० 2) की धारा 11 के अधीन निष्कासन के लिए पिटीशन में प्रस्तुत सिविल पुनरीक्षण पिटीशनर है। निष्कासन के लिए पिटीशन, यहां प्रत्यर्थी, ने फाइल किया था। भवन उसके पुत्र और भतीजे का है। प्रत्यर्थी के कथनानुसार विक्रय-विलेख (प्रदर्श ए० 8) के अनुसार उसे भवन का किराया इकट्ठा करने और भवन में रहने का अधिकार प्राप्त है। पिटीशनर-किराएदार ने बेदखली के लिए फाइल किये गये पिटीशन के उत्तर में अपने आक्षेपों में यह दलील दी कि मकान-मालिक की पूर्ववर्ती लिखित सम्मति के बिना प्रत्यर्थी निष्कासन के लिए पिटीशन फाइल नहीं कर सकता और विक्रय-विलेख में के परिवर्णन इस प्रकार लिखित सम्मति की कोटि के नहीं हैं और उनसे उसे बेदखली के लिए पिटीशन फाइल करने की शक्ति प्राप्त नहीं होती है।

2. किराया नियंत्रक न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रदर्श ए० 8 में अंतर्विष्ट प्राधिकृत किए जाने को सम्मति के तौर पर माना जा सकता है जैसा कि 1965 के अधिनियम सं० 2 की धारा 11(16) में जोर दिया गया है और इसलिए प्रदर्श ए० 7 के न होने पर भी प्रत्यर्थी बेदखली के लिए पिटीशन फाइल कर सकता है। तद्नुसार किराया नियंत्रक न्यायालय ने बेदखली के लिए पिटीशन मंजूर कर दिया। पिटीशनर ने अपील प्राधिकारी के समक्ष अपील फाइल की। अपील प्राधिकारी ने यह अभिनिर्धारित किया कि मकान-मालिक द्वारा किराया इकट्ठा करने के प्रयोजन के लिए नियोजित किसी व्यक्ति के पास अधिनियम की धारा 11(16) द्वारा जोर दी गई पूर्ववर्ती लिखित सम्मति होनी चाहिए और प्रत्यर्थी के समान व्यक्ति, जिसे किराया प्राप्त करने का अधिकार है, धारा 2(3) के अर्थांतर्गत मकान-मालिक है और इसलिए वह बेदखली के लिए पिटीशन फाइल कर सकता है। आगे यह अभिनिर्धारित किया गया कि धारा 11(16) के अधीन, प्रदर्श ए० 8 में किए गये प्राधिकरण के आधार पर प्रत्यर्थी पर्याप्त रूप से बेदखली के लिये पिटीशन चला सकता है। तद्नुसार अपील प्राधिकारी ने अपील खारिज कर दी। पिटीशनर ने धारा 20 के अधीन पुनरीक्षण में जिला न्यायाधीश के समक्ष ऊपर वर्णित निर्णय पर आक्षेप किया। विद्वान् जिला न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 11(16) द्वारा लगाया गया अवरोध अभिकर्ता-मकान-मालिक पर है जैसा कि धारा 2(3) के अधीन अनुध्यात है और इसलिए प्रत्यर्थी को निष्कासन के लिए पिटीशन चालू रखने के लिए स्वामियों से अनुज्ञा प्राप्त करनी चाहिए थी। तब विद्वान् जिला न्यायाधीश ने विक्रय-विलेख, प्रदर्श ए० 8 में विक्रेता द्वारा दिये गये प्राधिकरण को उद्धृत किया और यह अभिनिर्धारित किया कि अधिनियम की धारा 11(16) के अधीन आवश्यक अनुज्ञा प्रदर्श ए० 6 में है। आगे यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि आवश्यक अनुज्ञा प्रदर्श ए० 7 वाले पत्र में है। अधिनियम की धारा 20 के अधीन पिटीशनर का पुनरीक्षण विद्वान् जिला न्यायाधीश द्वारा खारिज कर दिया गया। ऊपर वर्णित परिस्थितियों में पिटीशनर ने इस सिविल पुनरीक्षण के माध्यम से इस न्यायालय के समक्ष आवेदन पेश किया है।

3. जो प्रश्न विचार किये जाने के लिये उद्भूत होते हैं, वे इस प्रकार हैं: (1) क्या कोई व्यक्ति जो मकान-मालिक के अभिकर्ता के तौर पर किराया इकट्ठा करता है, केरल बिल्डिंग्ज (लीज एण्ड रैंट कंट्रोल) अधिनियम, 1965 (1965 का अधिनियम सं० 2) की धारा 11(16) को ध्यान में रखते हुए मकान मालिक की पूर्ववर्ती लिखित सम्मति के बिना बेदखली के लिए पिटीशन फाइल कर सकता है। क्या स्थिति उस समय भिन्न होगी यदि उसे कुछ अधिकार दिए

जाते हैं जिसके अन्तर्गत विक्रेता द्वारा अपने जीवनपर्यन्त भवन का अधिभोग करने का अधिकार सम्मिलित है और (2) क्या बेदखली के लिए पिटीशन फाइल करने का अधिकार भवन के विक्रेता द्वारा प्रदत्त किया जा सकता है और क्या किराएदार यह दलील दे सकता है कि विक्रय-विलेख से क्रेता के सिवाय किसी अन्य व्यक्ति को ऐसा कोई अधिकार प्रदत्त नहीं किया जा सकता।

4. **पहालेमल खाटूमल** बनाम **टी० वी० एण्ड ब्रदर्स**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है :—

> "मकान-मालिक के 'अभिकर्ता मात्र के तौर पर' अभिव्यक्ति आवश्यक रूप से ही पूर्ववर्ती खण्ड के साथ पढ़ी जायेगी जो यह है कि 'जो किराया प्राप्त कर रहा है या किराया प्राप्त करने के लिए हकदार है।' अतः 'मात्र' अभिकर्ता की शक्तियों के विस्तार तक की विशेषताएं बतलाता है और जहां ऐसी शक्ति केवल किराया प्राप्त करने तक ही सीमित हो या किराया प्राप्त करने के लिए हकदार हो तो ऐसा अभिकर्ता किराएदार की बेदखली के लिए तब तक आवेदन नहीं कर सकता, जब तक कि उसके पास मकान-मालिक की सम्मति से पूर्ववर्ती लिखित कथन उपलब्ध न हो।" (पृष्ठ 51)

मद्रास बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रैंट कंट्रोल), ऐक्ट, 1947 की धारा 7(7) में एक उपबन्ध अंतर्विष्ट है जो केरल अधिनियम की धारा 11(16) के समान है। **नाना लाल** बनाम **ओ० जे० मोटरवाला**[2] वाले मामले में जो प्रश्न विचार हेतु उद्भूत हुआ, वह यह था कि भवन के दो सहस्वामियों में से एक स्वयं ही बेदखली के लिए पिटीशन फाइल कर सकता है। पूर्ण न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया :—

> "अतः हमारा यह मत है कि धारा 5 की उपधारा (3) में 'मकान-मालिक' शब्द की परिभाषा का व्यापक अर्थ लगाया जाना चाहिए। किन्तु वह अर्थ धारा 12 और धारा 13 की उपधारा (1) का नहीं लगाया जा सकता है। धारा 12 और धारा 13(1) में निर्देशित मकान-मालिक धारा 5 की उपधारा (3) में यथापरिभाषित मकान-मालिक नहीं है। किन्तु ऐसा मकान-मालिक जो मकान-मालिक और किराएदार की सामान्य विधि के अधीन अभिधृति के समाप्त किये जाने पर परिसरों के कब्जे के लिए हकदार है। एक सहस्वामी जो अपनी ओर

---

1 1961 (1) एन० एल० जे० 150.

2 ए० आई० आर० 1973 गुजरात 131.

से ही किराया प्राप्त करता है और अन्य सहस्वामी या किराया प्राप्त करने वाला किसान या नियंत्रक के बारे में यह नहीं माना जा सकता कि उन्हें ऐसे परिसरों का कब्जा वापस प्राप्त करने का हक है जो धारा 5 की उपधारा (3) में 'मकान-मालिक' की कृत्रिम परिभाषा के बल पर एक किराएदार को किराए पर दिया गया था।" (पैरा 19)

एस० एम० जी० चेटी बनाम **गणेशन वाले मामले में**[1] मद्रास बिल्डिंग्स, (लीज एण्ड रैंट कंट्रोल) ऐक्ट, 1960 की धारा 2(6) और 14(1)(बी) के उपबन्धों का निर्वचन करते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया :—

"मकान-मालिक की यह सम्मिलित करने वाली परिभाषा के अन्तर्गत वर्तमान मकान-मालिक स्पष्ट रूप से आता है जिसका परिसर में आजीवन हित होता है और जो जैसाकि माना गया है, अपने अधिकार से ही व्यवस्थापन विलेख के अधीन न्यासी के तौर पर किराएदारों से परिसरों का किराया प्राप्त कर रहा है......यह स्पष्ट है कि जब इस आधार पर आपत्ति कि मकान-मालिक आजीवन हित धारक है और इस कारण धारा 14(1)(ख) का सहारा लेने में असमर्थ है, असफल होता है, तो वाद में डिक्री की ही जानी चाहिए।" (पैरा 7 और 8)

श्री राम पसरीचा बनाम **जगन्नाथ**[2] वाले मामले में जो प्रश्न अवधारण हेतु न्यायालय के समक्ष उठाया गया था, वह यह था कि क्या कोई मकान-मालिक जो अन्य व्यक्तियों के साथ भवन का सहस्वामी है, वैस्ट बंगाल प्रेमिसिज टैनेन्सी ऐक्ट, 1956 की धारा 13(1)(च) के अर्थान्तर्गत स्वामी है। ऊपर वर्णित विनिश्चय में **नाना लाल**[3] वाले मामले के प्रति निर्देश किया गया था, जहां एक सहस्वामी का बेदखली के लिए पिटीशन इस आधार पर अनुज्ञात किया गया था कि वह ही ऐसा व्यक्ति था जिसने किराएदार को मकान किराए पर दिया था। **श्री राज लक्ष्मी डाईंग वर्क्स** बनाम **रंगास्वामी**[4] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

"साक्ष्य पर एक ही निष्कर्ष कि मकान-मालिक को अपने स्वयं के उपयोग और अधिभोग के लिए परिसर की सद्भावी आवश्यकता नहीं

---

[1] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1750.
[2] ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 2335.
[3] ए० आई० आर० 1973 गुजरात 131.
[4] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1253.

> थी, हमारे मतानुसार ऐसा निष्कर्ष नहीं है जिस पर तमिलनाडु बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रैंट कंट्रोल) ऐक्ट, 1960 की धारा 25 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करते हुए उच्च न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप किया जाए।" (पैरा 4)

रबेका टामस बनाम **सी० जे० जोसफ**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि सद्भावी आवश्यकता के बारे में निष्कर्ष, तथ्य और विधि का प्रश्न हो सकता है या नहीं हो सकता है। किन्तु अधिकरणों द्वारा इस प्रश्न पर निष्कर्ष, जो प्राथमिक रूप से तथ्यों के लिए जिम्मेदार हैं, हल्के-फुल्के रूप से उलटा नहीं जा सकता है और यह कि यदि दो मत सम्भव थे तो न्यायालयों द्वारा एक समान निकाला गया निष्कर्ष निस्संदेह ही अधिक महत्वपूर्ण माने जाने के लिए हकदार होगा, भले ही उसके तर्क में खामियां हों। **एम० सी० चाको** बनाम **स्टेट बैंक आफ ट्रावनकोर**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है :—

> "यह सुस्थिर विधि है कि ऐसा व्यक्ति जो किसी संविदा का पक्षकार नहीं है, कतिपय सुमान्यता प्राप्त अपवादों के अधीन संविदा के निबन्धनों को प्रवृत्त नहीं कर सकता। मान्यताप्राप्त अपवाद ये हैं कि संविदा के निबन्धनों के अधीन फायदाग्राही या जहां संविदा कौटुम्बिक व्यवस्था का एक भाग है, प्रसंविदा का सहारा ले सकता है।" (पैरा 9)

यह विनिश्चय भी प्रभेदनीय है क्योंकि इस मामले में पिटीशनर किराएदार विक्रय-विलेख प्रदर्श ए० बी० के अधीन किसी भी अधिकार को प्रवृत कराना नहीं चाहता है। उसकी दलील यह है कि विक्रेता प्रदर्श ए० 8 के द्वारा प्रत्यर्थी को कोई अधिकार प्रदत्त नहीं कर सकता है जिससे कि वह बेदखली के लिए पिटीशन फाइल कर सके और यह कि यह बात अधिनियम की धारा 11(16) में दिए गए प्राधिकरण की कोटि की नहीं होगी।

5. अधिनियम की धारा 2(3) और 11(16) इस प्रकार है :—

> *"(3) मकान-मालिक के अन्तर्गत है ऐसा व्यक्ति जो भवन का किराया प्राप्त कर रहा है या जो भवन का किराया प्राप्त करने के लिए

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

> "(3) landlord includes the person who is receiving or is entitled to receive the rent of a building, whether

1 1982 के० एल० टी० एस० एन० 55.

2 ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 504.

हकदार है चाहे अपनी या दूसरे व्यक्ति की ओर से या स्वयं की ओर से या अन्य व्यक्तियों की ओर से या अभिकर्ता, न्यासी, निष्पादक, प्रशासक, प्रापक या संरक्षक के तौर पर या यदि भवन किसी किराएदार को किराए पर दिया गया हो जो उसका किराया प्राप्त करने के लिए हकदार हो।"

"(16) इस धारा में किसी बात के अन्तर्विष्ट होते हुए भी कोई व्यक्ति जो मकान-मालिक के अभिकर्ता के तौर पर किसी भवन का किराया प्राप्त कर रहा है या किराया प्राप्त करने के लिए हकदार है, मकान-मालिक की पूर्ववर्ती लिखित सम्मति के सिवाय किसी किराएदार की बेदखली के लिए आवेदन प्रस्तुत करने के लिए हकदार नहीं होगा।"

अधिनियम की धारा 11 के अधीन बेदखली के लिए पिटीशन मकान-मालिक द्वारा फाइल किया जाना होगा। धारा 2(3) में मकान-मालिक की परिभाषा सम्मिलित करने वाली परिभाषा है। परिभाषा के अनुसार मकान-मालिक के अन्तर्गत है न केवल वह व्यक्ति जो किराया प्राप्त करता है या स्वयं अपनी ओर से (अर्थात् स्वामी के तौर पर) किराया प्राप्त करने के लिए हकदार है किन्तु उसके अन्तर्गत कोई अभिकर्ता, न्यासी, निष्पादक, प्रशासक, प्रापक या संरक्षक भी सम्मिलित हैं। अधिनियम की धारा 11 के अधीन बेदखली के लिए पिटीशन मकान-मालिक द्वारा फाइल किया जाएगा किन्तु उपधारा (16) में एक निर्बन्धन अधिरोपित किया गया है कि ऐसा व्यक्ति जो मकान-मालिक के मात्र अभिकर्ता के तौर पर किराया प्राप्त करता है, मकान-मालिक की पूर्ववर्ती लिखित सम्मति के बिना बेदखली के लिए पिटीशन फाइल नहीं कर सकता। अतः केवल वे सब ही जो धारा 2(3) में सम्मिलित की जाने वाली परिभाषा में सम्मिलित

---

on his own account or on behalf of another or on behalf of himself and others or as an agent, trustee, executor, administrator, receiver or guardian or who would so receive the rent or be entitled to receive the rent, if the building were let to a tenant."

"(16) Notwithstanding anything contained in this section, no person who is receiving or is entitled to receive the rent of a building merely as an agent of the landlord shall, except with the previous written consent of the landlord, be entitled to apply for the eviction of a tenant."

किये गये हैं, सिवाय वहां वर्णित अभिकर्ता के, मकान-मालिक की पूर्व सम्मति के बिना बेदखली के लिए आवेदन फाइल कर सकते हैं। इसके लिए कारण हैं क्योंकि अभिकर्ता के सिवाय, न्यासी, निष्पादक और अन्य सभी ऐसे व्यक्ति हैं जो विधितः वाद चलाने के लिए सक्षम हैं। यह बात विवादास्पद नहीं है कि कोई अभिकर्ता केवल उतना कार्य ही कर सकता है जितना उसके स्वामी ने उसे प्राधिकृत किया है। जीवनपर्यन्त सम्पदा धारक या कोई व्यक्ति, जिससे भवन में रहने का अधिकार दिया गया है जो मकान-मालिक की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आता है, वह भी भले ही वह किराया इकट्ठा करने के लिए अभिकर्ता है, मकान-मालिक की सम्मति के बिना बेदखली के लिए पिटीशन फाइल नहीं कर सकता। "मात्र एक अभिकर्ता के तौर पर" शब्दों से उसे यहां कोई सहायता नहीं मिलेगी। प्रश्न यह है कि सम्मति कौन दे ? उपधारा (16) में यह स्पष्ट है कि मकान-मालिक को चाहिए कि वह सम्मति दे। अतः मकान-मालिक का विक्रेता सम्मति नहीं दे सकता। अन्यथा भी प्रदर्श ए० 8 विक्रय-विलेख से प्रत्यर्थी को किसी प्रकार के भी अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं। परिवर्णनों के पश्चात् जो तत्काल और सीधे विक्रय की कोटि के हैं, हमें यह ज्ञात होता है कि प्रदर्श ए० 8 में प्रत्यर्थी के पक्ष में कुछ अधिकारों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। पिटीशन प्रदर्श ए० 8 द्वारा प्रत्यर्थी पर कोई भी अधिकार प्रदत्त नहीं किए जा सकते हैं। अतः यह तथ्य कि पिटीशनर प्रदर्श ए० 8 का पक्षकार नहीं है उसके मार्ग में बाधा नहीं आएगी क्योंकि वह प्रदर्श ए० 8 के अधीन कोई अधिकार प्रवृत्त नहीं कर रहा है। बेदखली के लिए पिटीशन फाइल करने का अधिकार क्रेता को दिया जा सकता है। भले ही वह न लिया गया हो फिर भी विक्रय-विलेख के अनुसार केरल बिल्डिंग्स (लीज एण्ड रैंट कंट्रोल) ऐक्ट, 1965 (1965 का अधिनियम सं० 2) के अधीन मकान-मालिक को क्रेता के सभी अधिकार प्राप्त होंगे। किन्तु किसी अन्य व्यक्ति को ये अधिकार प्राप्त नहीं होंगे। जहां तक प्रदर्श ए० 7 का सम्बन्ध है चूंकि वह उचित रूप से साबित नहीं किया गया है, अतः उससे प्रत्यर्थी की मदद नहीं हो सकती।

6. मामले पर इस दृष्टि से विचार करने पर अपील प्राधिकारी ने किराया नियंत्रक न्यायालय द्वारा आदेश किये गये अनुसार बेदखली में हस्तक्षेप नहीं करके विधि की दृष्टि से त्रुटि की है। ऐसा प्रत्यर्थी द्वारा बेदखली के लिए फाइल किये गये पिटीशन में किया गया है। उस मामले में जिला न्यायाधीश पुनरीक्षण में उस विनिश्चय में हस्तक्षेप करने के लिए आबद्ध था। ऐसा न कर पाने के कारण जिला न्यायाधीश ने अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने में सारभूत अवैधता की है। अतः आक्षेपित आदेश अपास्त किया जाता है। बेदखली के लिए

पिटीशन खारिज किया जाता है। सिविल पुनरीक्षण मंजूर किया जाता है। खर्च के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाता है।

सिविल पुनरीक्षण मंजूर किया गया।

मि०

नि० प० 1984 : केरल—78

केरल राज्य बनाम सुब्रामणियन

(State of Kerala *Vs.* Subramanian)

तारीख 21 अक्तूबर, 1983

[न्या० के० के० नरेन्द्रन और एम० पातिमा बीबी]

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 धारा 374(3), 381 और 397—द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट द्वारा की गई दोषसिद्धि के विरुद्ध सेशन न्यायालय में अपील फाइल किया जाना—सेशन न्यायालय द्वारा उक्त अपील मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के हवाले कर दिए जाने पर उक्त अपील खारिज किए जाने पर सेशन न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण चलाने योग्य है।

इस मामले में द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट द्वारा की गई दोषसिद्धि और दण्डादेश के विरुद्ध अपील सेशन न्यायालय के समक्ष फाइल की गई। सेशन न्यायालय ने मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को यह मामला निर्देशित कर दिया जिसने अपील खारिज कर दी और दोषसिद्धि और दण्डादेश की पुष्टि कर दी। सेशन न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण में अभियुक्त ने उस विनिश्चय पर आक्षेप किया और अपर सेशन न्यायालय ने अभियुक्त को दोषमुक्त करते हुए उस पुनरीक्षण का निपटारा कर दिया। ऊपर वर्णित दोषमुक्ति के विरुद्ध ही इन मामलों में आक्षेप किया गया है। उठाया गया मुद्दा यह है कि क्या सेशन न्यायालय, जिसके समक्ष द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट द्वारा की गई दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील फाइल की जा सकती है, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के, जिसके हवाले अपील की गई थी, विनिश्चय के विरुद्ध पुनरीक्षण ग्रहण कर सकता है।

अभिनिर्धारित—निर्देश का उत्तर दिया गया।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 381 से यह स्पष्ट है कि प्रत्यायोजन का कोई भी प्रश्न ऐसे मामले में उद्भूत नहीं होता है जहां सेशन न्यायालय मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट या सहायक सेशन न्यायाधीश के हवाले कोई अपील कर देता है क्योंकि दोनों को ही अपील की सुनवाई करने और उसका निपटारा करने की शक्तियां प्राप्त हैं। (पैरा 2)

द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट द्वारा की गई दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील की सुनवाई सहायक सेशन न्यायाधीश या मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा की जा सकती है और ऐसी अपील का निपटारा किया जा सकता है। किन्तु अपील केवल सेशन न्यायालय के समक्ष ही फाइल की जा सकती है। सेशन न्यायालय स्वयं अपील की सुनवाई कर सकता है या ऐसी अपील को सहायक सेशन न्यायाधीश या मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के हवाले कर सकता है। सहायक सेशन न्यायाधीश या मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट यथास्थिति दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 381(1) के परन्तुक के अधीन निहित शक्ति का प्रयोग करते हुए अपील का निपटारा करता है। अतः प्रत्यायोजन की बाबत धारा 381(2) के अधीन मामले को किसी के हवाले करने का प्रश्न उद्भूत नहीं होता है क्योंकि प्रत्यायोजन अपनी शक्तियों का किसी अन्य व्यक्ति को प्रदत्त करना है जिसे ऐसा किए बिना किसी मामले में कोई शक्ति प्राप्त नहीं होती। धारा 397 के अधीन सेशन न्यायालय को सब अवर दाण्डिक न्यायालयों के आदेशों के विरुद्ध, जो उसकी स्थानीय अधिकारिता में हों, पुनरीक्षण शक्तियां प्राप्त हैं। यह बात स्पष्ट है कि मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट धारा 397 के अधीन पुनरीक्षण अधिकारिता का प्रयोग करने में सेशन न्यायाधीश से अवर (निम्नतर) है। यह बात उपधारा के स्पष्टीकरण से भी स्पष्ट कर दी गई है। अतः यह सीधी-सी बात है कि सेशन न्यायालय द्वारा मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के हवाले की गई अपील में मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा किए गए विनिश्चय के विरुद्ध पुनरीक्षण सेशन न्यायालय में हो सकता है। (पैरा 4)

		पैरा
[1981]	1981 के० एल० टी० 890 : गोपालन **बनाम** केरल राज्य (Gopalan *Vs.* State of Kerala) से **सहमति** प्रकट की गई।	1
[1963]	ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1503 : रूप चन्द **बनाम** पंजाब राज्य (Roopchand *Vs.* State of Punjab) से **प्रभेद** बतलाया गया।	1

दाण्डिक अपीली अधिकारिता : 1980 की दाण्डिक अपील सं० 210 और दाण्डिक पुनरीक्षण पिटीशन सं० 174.

एर्नाकुलम के अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा 1979 के दाण्डिक पुनरीक्षण पिटीशन सं० 54 में किए गए निर्णय के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी (परिवादी) की ओर से ... लोक अभियोजक

प्रत्यर्थी (अभियुक्त) की ओर से ... सर्वश्री एम० एन० सुकुमारन नायर, एन० ए० मुरलीधरण, बी० रमण पिल्लई और के० दिनेश

पुनरीक्षण पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री जार्ज वर्गीज, कन्नन थन्नम, ई० सी० जोसेफ, वे० जे० पारम्बिल, अब्राहम थक्कनाल और उरियन जार्ज कन्नन थन्नम

प्रत्यर्थियों (श्री सुब्रामण्यम और केरल राज्य) की ओर से ... सर्वश्री एन० ए० मुरलीधरण और बी० रमण पिल्लई

न्यायालय का निर्णय न्या० के० के० नरेन्द्रन ने दिया।

न्या० नरेन्द्रन :

इस न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश ने **गोपालन** बनाम **केरल राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा किए गए विनिश्चय के सही होने के सम्बन्ध में शंका व्यक्त की है और इस कारण इन मामलों को वृहत्तर न्यायपीठ को निर्देशित किया है। ऊपर वर्णित मामले में न्यायालय की ओर से बोलते हुए न्या० भट्ट ने यह अभिनिर्धारित किया कि द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट द्वारा की गई दोषसिद्धि के विरुद्ध सेशन न्यायालय में पुनरीक्षण हो सकेगा जहां मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट या किसी सहायक सेशन न्यायाधीश द्वारा दोषसिद्धि के विरुद्ध की गई अपील में पुनरीक्षण ऐसे सेशन न्यायालय द्वारा उसके हवाले कर दिया गया हो। निर्देश आदेश से यह देखा जा सकता है कि **रूप चन्द** बनाम **पंजाब राज्य**[2] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय का विनिश्चय उस न्यायपीठ की जानकारी में नहीं लाया गया था जिसने **गोपालन**[1] के मामले का विनिश्चय किया था और निर्देश करने के कारणों में से एक कारण वह भी था।

---

1 1981 के० एल० टी० 890.

2 ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1503.

सीमा तक कानूनी वचन उपान्तरित समझा जाएगा और इन उपबन्धों का अतिक्रमण करने पर राज्य सरकार कोई कार्यवाही नहीं कर सकती। (पैरा 25)

		पैरा
[1981]	(1981) 1 उम० नि० प० 259=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1042 : आल सेन्ट्स हाई स्कूल **बनाम** आन्ध्र प्रदेश सरकार (All Saints High School *Vs.* Govrnment of Andhra Pradesh);	15, 16
[1971]	(1971) 3 उम० नि० प० 356=ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 1737 : डी० ए० वी० कालेज, जलन्धर **बनाम** पंजाब राज्य (D. A. V. College, Jullundur *Vs.* State of Punjab)	12

का अवलम्ब लिया गया।

[1979]	(1979) 1 उम० नि० प० 998=ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 52 : लिली कूरियन **बनाम** सीनियर (सिस्टर) लेवीना (Lilly Kurian *Vs.* Sr. Lewina);	14
[1974]	ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1389 : सेन्ट ज़ेवियर कालेज **बनाम** गुजरात राज्य (St. Xavier's College *Vs.* State of Gujarat);	13, 15, 17
[1970]	ए० आई० आर० 1970 एस० सी० पृ० 2079 : केरल राज्य **बनाम** वेरी रेवरेण्ड मदर प्रोविंशियल (State of Kerala *Vs.* Very Rev. Mother Provincial);	11
[1969]	ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 465 : रेवरेण्ड फादर डब्ल्यू प्रुस्ट **बनाम** बिहार राज्य (W. Proost *Vs.* State of Bihar);	10, 11, 12
[1966]	(1966) 3 एस० सी० आर० 328=ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1307 : कटरा एजूकेशन सोसाइटी **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य (Katra Education Society *Vs.* State of U. P.);	11

[1965] ए० आई० आर० 1965 केरल 75 (पूर्ण न्यायपीठ) : ए० एम० पट्रोनी **बनाम** केशवन (A. M. Patroni *Vs.* Kesavan); 9

[1963] (1963) 3 एस० सी० आर० 837=ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 540 : सिद्धरजभाई **बनाम** गुजरात राज्य (Sidhrajbhai *Vs.* State of Gujarat); 8, 11

[1963] (1963) सप्ली० (1) एस० सी० आर० 112= ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 703 : गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद **बनाम** कृष्णा रंगनाथ मुधोलकर (Gujarat University, Ahmedabad *Vs.* Krishna Ranganath Mudholkar); 11

[1959] (1959) एस० सी० आर० 955=ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 956 : केरल एजूकेशन बिल वाला मामला (In Re the Kerala Education Bill); 11

[1954] ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 561=(1955) 1 एस० सी० आर० 568 : मुम्बई राज्य **बनाम** मुम्बई एजूकेशन सोसाइटी (State of Bombay *Vs.* Bombay Education Society); 11

[1951] (1951) एस० सी० आर० 525=ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 226 : मद्रास राज्य **बनाम** एस० सी० दोराईराजन (State of Madras *Vs.* S. C. Dorairajan) 11

निर्दिष्ट किए गए ।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1978 का विशेष सिविल आवेदन संख्या 820, जिसके साथ 1979 के विशेष सिविल आवेदन संख्या 972 और 1323 भी सुने गए ।

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन ।

पिटीशनरों की ओर से ... श्री डी० डी० व्यास

प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से (1978 और 1979 की विशेष अपील संख्या 820 और 972 में)	...	श्री आर० एम० विन, सरकारी अधिवक्ता और श्री एम० एम० जडेजा
प्रत्यर्थी सं० 2 और 3 की ओर से (1978 और 1979 की विशेष सिविल अपील सं० 820 और 1313 में)	...	श्री एस० एन० शैलत
प्रत्यर्थी सं० 4 की ओर से (1979 की विशेष सिविल अपील संख्या 972 में)	...	श्री आर० एन० शाह

न्यायालय का निर्णय न्या० बी० के० मेहता ने दिया।

न्या० मेहता :

इन तीन पिटीशनों को, जो 1979 का विशेष सिविल आवेदन संख्या 305 है और इनसे सम्बन्धित मामलों को, पिटीशनों के समूह से अलग कर दिया गया है चूंकि इन पिटीशनों का जिन विद्यालयों से सम्बन्ध है, उनका प्रबन्ध अल्पसंख्यक धार्मिक समुदाय द्वारा किया जा रहा है। इन तीनों पिटीशनों में यह प्रार्थना की गई है कि मुम्बई प्राइमरी एजूकेशन रूल्स, 1949 के नियम 106(3)(ङ), 107(3), 109(2) और (4) और 115 को संविधान के अधिकारातीत घोषित करने और स्कूल बोर्ड, अहमदाबाद के प्रशासनिक अधिकारी द्वारा जारी किए गए परिपत्रों को अभिखण्डित करने और अपास्त करने के लिए उचित रिट, आदेश और निर्देश जारी किए जाएं। इन परिपत्रों को उन्होंने मुम्बई प्राइमरी एजूकेशन (गुजरात अमेंडमेंट रूल्स, 1978) की अनुसूची (च) के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए प्राइवेट प्राइमरी विद्यालयों के अध्यापकों के वेतन-मान और महंगाई भत्ते के सम्बन्ध में आदेश देते हुए जारी किया है। राज्य सरकार को इस परिपत्र को लागू करने के सम्बन्ध में आदेश दिया जाए।

2. 1978 के विशेष सिविल आवेदन सं० 820 में एक और यह अनुतोष चाहा गया है कि प्रशासनिक अधिकारी, स्कूल बोर्ड, द्वारा 1 अप्रैल, 1978 और 11 अप्रैल, 1978 को जारी की गई दो सूचनाओं को, जिनमें विद्यालय प्रबन्धतन्त्र से यह अपेक्षा की गई है कि चूंकि विद्यालय देसाई वेतन आयोग की सिफारिशों

को, जो कि वेतन और भत्तों के सम्बन्ध में हैं, लागू करने में असफल रहा है और इस प्रकार उपर्युक्त नियम की अनुसूची (च) के उपबन्धों का पालन नहीं किया है, अतः क्यों न उसकी मान्यता को समाप्त कर दिया जाए, अभिखण्डित करने और अपास्त करने के लिए समुचित रिट, आदेश या निदेश जारी किया जाए। सूचना की तारीख से 7 दिन के भीतर यदि हेतुक दर्शित नहीं किया गया तो यह उपधारणा की जाएगी कि हेतुक दर्शित करने की सूचना के जवाब में प्रबन्धतन्त्र को कुछ भी नहीं कहना है।

3. वे आधार, जिन पर इन पिटीशनों में अनुतोष की मांग की गई है, वैसे ही हैं जैसे कि विशेष सिविल आवेदन सं० 305/79 और अन्य आनुषंगिक मामलों में हैं। किन्तु इन पिटीशनों में जो विशेष आधार लिया गया है वह यह है कि नियम 106(2), जहां तक यह पिटीशनरों पर यह बाध्यता अधिरोपित करता है कि वे यह वचन दें कि उनके द्वारा चलाए जा रहे विद्यालयों में अध्यापकों की सेवा की शर्तें वही होंगी जो अनुसूची (च) में विनिर्दिष्ट हैं, मान्यता प्रदान करने की किसी भी शर्त के भंग के परिणामतः नियम 109(2) में मान्यता को वापस या समाप्त करने वाला उपबन्ध संविधान के अधिकारातीत है क्योंकि वह संविधान के अनुच्छेद 30 में अल्पसंख्यकों द्वारा उनकी रुचि के शैक्षणिक संस्थान चलाने के मूल अधिकार का अतिक्रमण करता है, शक्तिबाह्य है।

4. वे आधार जिन पर नियम और परिपत्रों को चुनौती दी गई है वैसे ही हैं जैसे कि विशेष सिविल आवेदन सं० 305/79 और अन्य आनुषंगिक मामलों में दिए गए हैं, जैसा कि ऊपर कहा गया है, ये आधार निम्नलिखित हैं :---

(1) गुजरात अमेंडमेंट रूल्स, 1978 द्वारा संशोधित अनुसूची (च) में विहित विनियम, जिनमें प्राइवेट विद्यालयों के अध्यापकों की सेवा की शर्तें, वेतन और भत्ते, अनुशासन और आचरण और सेवा निवृत्ति लाभ को शासित करना भी सम्मिलित हैं, मुम्बई प्राइमरी एजूकेशन ऐक्ट के अधिकारातीत हैं क्योंकि अधिनियम में इस निमित्त उपबन्ध करने की तो बात ही क्या उसमें अनुध्यात भी नहीं किया गया है।

(2) उपर्युक्त संशोधित नियम और अनुसूची (च) विधि की दृष्टि से अवैध और शून्य हैं क्योंकि न तो उन्हें प्रकाशित किया गया है और न ही उन्हें राज्य विधानमण्डल के पटल पर प्रस्तुत किया गया है, जैसा कि अधिनियम में अपेक्षित है।

(3) उपर्युक्त संशोधित अनुसूची (च) के विनियमों का जो अध्यापकों के वेतन और भत्ते सहित उनकी सेवा की शर्तों को शासित

करते हैं, प्राइमरी शिक्षा के मानक, प्रोन्नति, विकास और विस्तार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे संविधान के अनुच्छेद 19 के अधीन अनुज्ञेय युक्तियुक्त निर्बन्धन हैं, इसलिए उपर्युक्त विनियम के अधीन प्राप्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए जारी किया गया आक्षेपित परिपत्र विधि की दृष्टि से अवैध और शून्य है।

(4) यदि यह मान भी लिया जाए कि उपर्युक्त अनुसूची (च) अधिनियम के अधिकारातीत है तो शिक्षा निदेशक की मंजूरी से प्रशासनिक अधिकारी द्वारा जारी किए गए आक्षेपित परिपत्र, जिनमें प्राइवेट विद्यालयों में कार्यरत अध्यापकों के वेतन और भत्तों को विहित किया गया है, विधि की दृष्टि से अवैध और शून्य हैं क्योंकि शिक्षा निदेशक राज्य सरकार का प्रतिनिधि होने के कारण उसे इस सिद्धान्त के आधार पर अनुसूची (च) के खण्ड (i) के अधीन वेतनमान और भत्ते उसी रीति से विहित करने की कोई अधिकारिता, प्राधिकार या शक्ति नहीं है कि राज्य सरकार अधीनस्थ विधायन अधिनियमित करते समय निदेशक को अपनी शक्ति उप-प्रत्यायोजित नहीं कर सकती।

(5) गुजरात अमेंडमेंट रूल्स, 1978 द्वारा यथासंशोधित नियम 106 उन विद्यालयों पर लागू नहीं होता जो इस संशोधन के प्रवृत्त होने से पहले ही मान्यताप्राप्त थे और जब एक बार विद्यालय अनुमोदित विद्यालयों के रूप में मान्यताप्राप्त कर लेते हैं, तब वे तब तक मान्यता प्राप्त बने रहते हैं जब तक कि उनकी मान्यता को नियम 109(2) के अधीन वापस नहीं ले लिया जाता।

(6) नियम 109(2) के अधीन सक्षम प्राधिकारी को, जो कि मान्यता को वापस ले सकता है, अनियन्त्रित और असीमित शक्ति दी गई है क्योंकि व्यथित प्रबन्धतन्त्र को इसके विरुद्ध अपील करने का कोई कानूनी अधिकार न होने के कारण यह शक्ति असीमित और मनमानी है अतः यह भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी है।"

5. इन तीनों पिटीशनों में निम्नलिखित विशेष दलीलें दी गई हैं :—

"जहां तक, नियम 109(2) सरकार को मुम्बई प्राइमरी एजूकेशन (गुजरात थर्ड अमेंडमेंट रूल्स, 1970 द्वारा यथा संशोधित नियम 106(2), जिसमें कि विद्यालय प्रबन्धतन्त्र को यह वचनबन्ध फाइल करने के लिए व्यादिष्ट किया गया है कि अध्यापकों की सेवा की शर्तें वही

होंगी जो गुजरात प्राइमरी एजूकेशन (गुजरात अमेंडमेंट) रूल्स, 1978 द्वारा यथा संशोधित अनुसूची (च) में विनिर्दिष्ट हैं, के भंग के लिए मान्यता को वापस लेने की शक्ति प्रदान करता है वहां तक यह संविधान के अनुच्छेद 30 में धर्म के आधार पर अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं को स्थापित करने और उनका प्रशासन करने का जो अधिकार दिया गया है, उसका ह्रास करता है और इस तरह यह उक्त अनुच्छेद का सारवान् रूप से अतिलंघन करता है, अतः यह इस विस्तार तक शून्य है।

6. जहां तक सामान्य दलीलों का सम्बन्ध है, इन्हें इस सामान्य निर्णय, जिसके द्वारा इसमें के पिटीशन, जोकि 1979 का विशेष सिविल आवेदन सं० 305 है, और अन्य सहभागी विषयों का निपटारा किया गया है, में अभिलिखित कारणों से खारिज किया जाना चाहिए। अनुसूची (च) के साथ पठित नियम 109(2) और 106(2) की विधिमान्यता के सम्बन्ध में दी गई अतिरिक्त दलील पर, जो कि संविधान के अनुच्छेद 30 के अतिलंघन के बारे में है, ही विचार किया जाना शेष रह जाता है।

7. यहां पर यह बता दिया जाए कि केवल वे निजी विद्यालय अनुमोदित विद्यालय के रूप में मान्यता प्राप्त करने के हकदार हैं जो इस निमित्त विहित शर्तों को पूरा करते हैं। धारा 39(2) के अधीन मान्यता विद्यालय बोर्ड या राज्य सरकार या इस सम्बन्ध में उनके द्वारा प्राधिकृत कोई अधिकारी ही प्रदान करेगा और ऐसे अनुमोदित विद्यालयों को सहायता अनुदान नियम में विहित ढंग के अनुसार दी जाएगी। निजी विद्यालयों के प्रबन्ध-तन्त्र, जो मान्यता प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए नियम 106(2) में यह बाध्यता विहित है कि उन्हें विहित प्ररूप में एक आवेदन देना होगा जिसमें उन्हें लिखित में यह वचन देना होगा कि विद्यालय में कार्यरत अध्यापकों की नियुक्ति की शर्तें वैसी ही हैं जैसी कि गुजरात तृतीय संशोधन नियम, 1970 द्वारा 1949 से पूर्व यथा-संशोधित अनुसूची (च) में विहित की गई हैं। जो वचन दिया जाना है वह यह है कि अध्यापकों की नियुक्ति की शर्तें, जहां तक सम्भव हो, अनुसूची (च) में विहित शर्तों के अनुसार होंगी। इस बात के प्रति निर्देश करना आवश्यक नहीं है कि अनुसूची (च) के गुजरात संशोधन नियम, 1978 द्वारा प्रतिस्थापित किए जाने से पूर्व, विभिन्न खण्ड क्या थे। यह कहना पर्याप्त होगा कि 1978 के नियम द्वारा प्रतिस्थापित नई अनुसूची (च) नियुक्ति की शक्ति, नियुक्ति की शर्तें, जिनमें वेतन-मान, पदोन्नति, छुट्टी, सेवा निवृत्ति फायदे इत्यादि सम्मिलित हैं, पूरी तरह से विनियमित होते हैं तथा विद्यालय प्रबन्ध-तन्त्र के नियोजन में के

अध्यापकों में अनुशासन को भी विनियमित करते हैं। नई अनुसूची (च) का खण्ड 1(2), जो प्रबन्धमण्डल द्वारा अध्यापकों की नियुक्ति को नियन्त्रित करता है, इस प्रकार है :—

*"(2) विद्यालय में नियुक्त करने के लिए अध्यापकों के चयन के प्रयोजन के लिए न्यास या सोसाइटी का प्रबन्ध निकाय एक चयन समिति का गठन करेगा जिसमें कि निम्नलिखित व्यक्ति होंगे, अर्थात् —

(i) न्यास या समिति के प्रबन्ध-तन्त्र का प्रतिनिधि,

(ii) विद्यालय का प्रधानाध्यापक,

(iii) प्रशासनिक अधिकारी का एक प्रतिनिधि।"

अध्यापन कर्मचारिवृन्द के गलती करने वाले सदस्यों के विरुद्ध अनुशासनिक कार्रवाई करने का प्रबन्ध-तन्त्र का अधिकार भी खण्ड 13 द्वारा विनियमित किया जाता है। यह खण्ड निम्न प्रकार है :—

** "13(1) **अध्यापक की सेवा का पर्यवसान**—किसी निजी विद्यालय का प्रबन्ध-तन्त्र शास्ति से भिन्न किसी रूप में किसी स्थायी प्रशिक्षित अध्यापक की सेवाओं का पर्यवसान प्रशासनिक अधिकारी की पूर्व अनुमति के बिना नहीं करेगा।

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"(2) The managing body of the trust or the Society shall constitute, for the purpose of selecting teachers for appointment in the school, a selection committee consisting of the following persons, namely—

(i) One representative of the managing body of the trust or the society;

(ii) The Head master of the school;

(iii) One representative of the Administrative officer."

** "13(1) **Termination of services of a Teacher**—The management of a private school shall not terminate otherwise than as a measure of penalty the services of any permanent trained teachers without the previous permission of an Administrative Officer.

(2) किसी स्थायी प्रशिक्षित अध्यापक को, जिसकी 3 वर्ष की सेवा के पश्चात् सेवा का पर्यवसान प्रशासनिक अधिकारी की अनुज्ञा से किया जाता है, प्रतिकर प्राप्त करने का अधिकार होगा—

(क) यदि कर्मचारी ने विद्यालय में 5 वर्ष से अनधिक की सेवा की है तो वह 6 माह के वेतन, जिसमें भत्ते भी सम्मिलित हैं, के बराबर, और

(ख) यदि कर्मचारी ने विद्यालय में 5 वर्ष से अधिक अवधि के लिए कार्य किया है तो वह पहले 5 वर्षों के लिए 6 माह का वेतन, जिसमें भत्ते भी सम्मिलित हैं, और 5 वर्ष से अधिक की अवधि के प्रत्येक वर्ष के लिए एक माह का वेतन प्रतिकर के रूप में पाने का हकदार होगा :

परन्तु यह कि खण्ड (क) या (ख) के अधीन प्राप्त किया गया कुल प्रतिकर 12 मास के वेतन, जिसमें कि भत्ते भी सम्मिलित हैं, से अधिक नहीं होगा :

---

(2) A permanent trained teacher whose services are terminated with the permission of the Administrative Officer after three years of his service shall be entitled to a compensation—

(a) equal to a 6 month's salary including allowances if the employee has put in service in the school for a period not exceeding five years, and

(b) equal to six months' salary including allowances for the first five years and a month's salary for every year of the period exceeding five years, if the employee has put in service in the school for a period exceeding five years :

Provided that total compensation payable under clauses (a) or (b) shall not exceed twelve months' salary including allowances :

परन्तु यह और भी कि अध्यापक के मामले में निम्नलिखित व्यक्तियों को मिलाकर एक जांच समिति गठित की जाएगी, अर्थात्—

(i) प्रबन्ध-तन्त्र का एक प्रतिनिधि ;

(ii) विद्यालय का प्रधानाध्यापक ; और

(iii) सम्बन्धित अध्यापक का एक प्रतिनिधि। तदनुसार अध्यापक के विरुद्ध औपचारिक जांच प्रबन्ध-तन्त्र या जांच अधिकारी के बजाए उक्त समिति द्वारा ऐसे की जाएगी मानो कि 'प्रबन्ध-तन्त्र' या 'जांच अधिकारी' के स्थान पर, जहां संदर्भ से ऐसा प्रतीत हो, 'जांच समिति' शब्दों को प्रतिस्थापित किया गया है।"

अनुसूची का खण्ड 9 वेतनमान विहित करता है जो निम्न प्रकार हैं :—

** "9. **वेतनमान**—शिक्षक और शिक्षकेतर कर्मचारिवृन्द को देय वेतनमान और भत्ते वे होंगे जो राज्य सरकार द्वारा समय-समय पर अनुमोदित किए जाएं।"

Provided further that in the case of a teacher on Inquiry Committee shall be constituted consisting of the following persons, namely—

(i) One representative of the management ;

(ii) The Head Master of the School ; and

(iii) A representative of the concerned teacher and accordingly the formal inquiry against the teacher shall be held by the said committee instead of the management or an inquiry officer as if where the context so requires for the words 'the management' or 'inquiry officer' the word 'Enquiry Committee' had been substituted."

**"9. Scale of salaries—Scales of pay and allowance payable to the teaching and non-teaching staff shall be such as may be approved by the State Government from time to time."

अनुसूची (च) के खण्ड 15 में किसी स्थायी कर्मचारी की सेवा के पर्यवसान के लिए की जाने वाली जांच में अनुसरित की जाने वाली प्रक्रिया का उपबन्ध किया गया है। खण्ड 16 में लघु और बड़ी शास्तियों के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है। खण्ड 18 में पंक्तिच्युत, सेवा से हटाने और पदच्युति जैसी बड़ी शास्तियां अधिरोपित करने के लिए प्रक्रिया विहित की गई है। खण्ड 19 में लघु शास्तियां अधिरोपित किए जाने के लिए प्रक्रिया का उपबन्ध किया गया है। नियम 108 में मान्यताप्राप्त विद्यालयों को होने वाले फायदे के लिए उपबन्ध किया गया है। अनुमोदित विद्यालय को मान्यता, विद्यालय के प्रबन्ध-तन्त्र को इस बात का अधिकार प्रदान करती है कि वे राज्य सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा आयोजित किसी सार्वजनिक परीक्षा में अपने विद्यार्थियों को भेज सकते हैं और अपने विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति के उम्मीदवारों के रूप में और दूसरे लाभों के लिए भी, जो कि सरकार समय-समय पर घोषित करे, प्रस्तुत कर सकते हैं। नियम 109(2) सक्षम प्राधिकारी को सक्षम अधिकारी, यदि कोई हो, की इस सिफारिश पर कि जिस शर्त के आधार पर विद्यालय को मान्यता प्रदान की गई थी उस शर्त का उसके द्वारा पालन नहीं किया जा रहा है, मान्यता को वापस लेने के लिए सशक्त करता है। नियमों के इस संदर्भ में अल्पसंख्यक समुदाय के अपनी रुचि के विद्यालय स्थापित करने और उनका प्रबन्ध करने के अधिकार के अतिलंघन के बारे में दलील दी गई है।

8. सिद्धान्ततः और साथ ही साथ प्राधिकार पूर्ण रूप से यह भली-भांति सिद्ध हो चुका है कि सभी अल्पसंख्यक वर्गों को, चाहे वे भाषा पर आधारित हों या धर्म पर, अनुच्छेद 30(1) के अधीन अपनी रुचि की शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने और उनका प्रशासन करने का आत्यंतिक अधिकार होने के कारण अनुच्छेद 30(1) के अधीन अधिकार का सारतः अतिक्रमण करने वाली कोई भी विधि या कार्यपालक निदेश अतिक्रमण की सीमा तक शून्य होगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य दक्ष शिक्षण, अनुशासन, स्वास्थ्य, सफाई, नैतिकता, लोक व्यवस्था और इसी प्रकार की बातों के वास्तविक हित में निर्बन्धन अधिरोपित नहीं कर सकता। ऐसे विनियमों का उस अधिकार के सार पर निर्बन्धन के रूप में अर्थान्वयन कभी भी नहीं किया जा सकता जो इस अनुच्छेद के अधीन प्रत्याभूत हो, क्योंकि ये उन विषयों में, जो वास्तव में शिक्षा से संबंधित हैं, संस्थाओं के उचित कार्यकरण को सुनिश्चित करने के लिए परिकल्पित हैं। ऐसे विनियम के लिए यह आवश्यक है कि वह इन दो कसौटियों को अवश्य पूरा करे—युक्तियुक्तता की कसौटी को और इस कसौटी को कि यह संस्था के शैक्षणिक स्वरूप को विनियमित करता है और यह संस्था के शैक्षणिक ढांचे को अल्पसंख्यक वर्गों या दूसरे अन्य व्यक्तियों को, जो कि इसको चलाते हैं, सुचारू रूप से चलाने में

सहायता करे। (**सिद्ध राम भाई** बनाम **गुजरात राज्य**[1] वाला मामला देखिए)।

9. यह भी भली-भांति सिद्ध हो चुका है कि अनुच्छेद 30 उन विद्यालयों पर लागू होता है जो कि अल्पसंख्यकों द्वारा स्थापित किए गए हैं चाहे वे संविधान से पूर्व या उसके पश्चात् स्थापित किए गए हों, चाहे उनकी शिक्षा की प्रकृति कैसी भी हो या उनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी अल्पसंख्यक वर्गों से भिन्न किसी भी वर्ग के क्यों न हों। यह एक ऐसा आत्यन्तिक अधिकार है जिसको किसी भी विधि या कार्यपालक निदेश द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता और यदि ऐसा करने का प्रयत्न किया जाता है तो यह प्रयत्न उस सीमा तक शून्य होगा जहां तक कि यह अनुच्छेद 30 का अतिक्रमण करता है। यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि कोई ऐसा विनियम बनाया जाता है जो कि अल्पसंख्यक शिक्षण संस्था के हित में न होकर सम्पूर्ण जनता या राष्ट्र के लिए है तो उसे भी ऐसे अधिकार का ह्रास करने वाला माना जाएगा। (**ए० एम० पट्रोनी** बनाम **केशवन**[2] वाला मामला देखिए)।

10. **रेवरेण्ड फादर डब्ल्यू प्रूस्ट** बनाम **बिहार राज्य**[3] वाले मामले में विहार विश्वविद्यालय अधिनियम की धारा 48-क को, जिसमें यह उपबन्धित है कि विश्वविद्यालय सेवा आयोग की स्थापना की जाएगी और सम्बद्ध प्राइवेट महाविद्यालयों में अध्यापकों का चयन, पदच्युति, सेवा से हटाना, सेवा का पर्यवसान या पंक्तिच्युति आयोग की सिफारिश पर और विश्वविद्यालय की अनुमति से की जाएगी, इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि वह संविधान के अनुच्छेद 30(1) का अतिक्रमण करती है। इस सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय के मु० न्या० हिदायतुल्लाह (जैसे कि वे तब थे) ने यह अभिनिर्धारित किया कि उपरोक्त उपबन्ध महाविद्यालय के शासी निकाय की स्वायत्तता पूरी तरह से समाप्त कर देता है और महाविद्यालयों का नियंत्रण विश्वविद्यालय सेवा आयोग के अधीन हो जाता है, इसलिए वह उस सीमा तक शून्य है।

11. **केरल राज्य** बनाम **वेरी रेवरेण्ड मदर प्रोविंशियल**[4] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने केरल विश्वविद्यालय अधिनियम, 1969 के विभिन्न उपबंधों पर विचार किया था जिनमें से कुछ को केरल उच्च न्यायालय ने

---

1 ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 540.

2 ए० आई० आर० 1965 केरल 75 (पूर्ण न्यायपीठ).

3 ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 465.

4 ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 2079.

विधिमान्य ठहराया था। मदर प्रोविंशियल वाले उपरोक्त मामले में धारा 53 की उपधारा (1), (2) और (3) में अंतर्विष्ट उपबंधों को, जिनके द्वारा प्रधानाचार्य का चयन करने में शासी निकाय या प्रबंध परिषद् के कार्य में विश्वविद्यालय की सिंडीकेट (अभिषद्) को रोध अधिकार (वीटो) की शक्ति दी गई थी और इसके साथ-ही-साथ धारा 5 की उपधाराएं (2) और (4) में अंतर्विष्ट उपबंधों को चुनौती दी गई थी जिनके द्वारा अनुशासन सम्बन्धी कार्यवाही करने के शासी निकाय और प्रबन्ध परिषद् की शक्ति को छीन कर विश्वविद्यालय को दे दिया गया था। इस संदर्भ में, मु० न्या० हिदायतुल्लाह ने निर्णय के पैरा 9 और 10 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

"9. इस अधिकार का अगला भाग इस प्रकार की संस्थाओं के प्रशासन से सम्बन्धित है। प्रशासन से संस्था के क्रियाकलापों का प्रबन्ध अभिप्रेत है। यह प्रबन्ध नियंत्रण से मुक्त होना चाहिए जिससे कि संप्रवर्तक या नामनिर्देशिती संस्था को वैसा बना सकें जैसा वे उचित समझें, और उनके दृष्टिकोण के अनुसार सामान्य समुदाय का और विशेषकर संस्था का हित अधिक से अधिक सुनिश्चित किया जा सके। इस प्रबन्ध का कोई भी भाग छीना नहीं जा सकता और उसे प्रत्याभूत अधिकार में अतिक्रमण किए बिना किसी अन्य निकाय में विनिहित नहीं किया जा सकता।

10. किंतु इसका एक अपवाद भी है और वह अपवाद यह है कि शिक्षा के स्तर स्वयं प्रबन्ध के भाग नहीं हैं। ये दूरदर्शी निकाय के विषय होते हैं जो देश तथा उसके लोगों की प्रगति द्वारा अधिप्रेरित होते हैं। अतएव यदि विश्वविद्यालय परीक्षाओं के लिए पाठ्यक्रम बनाते हैं तो उन्हें उस विषय का या विशेष विषय का अनुसरण करना चाहिए जिसका संस्थाएं अध्यापन कराना चाहती हैं और कुछ सीमा तक राज्य को अध्यापकों के नियोजन की शर्तों और विद्यार्थियों के स्वास्थ्य और स्वास्थ्य विज्ञान को विनियमित करना चाहिए। ऐसे विनियम स्वयं प्रबन्ध-तंत्र से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित नहीं होते, यद्यपि वे अप्रत्यक्षतः उस पर प्रभाव डाल सकते हैं। इसके बावजूद भी शिक्षा, शैक्षिक स्तरों और समनुषंगी विषयों का विनियमन करने के राज्य के अधिकार से इनकार नहीं किया जा सकता। अल्पसंख्यक वर्गों की संस्थाओं को श्रेष्ठता के उस स्तर से नीचे गिरने की अनुमति नहीं दी जा सकती जिसकी ऐसी शैक्षिक संस्थाओं से आशा की जाती है, या प्रबन्ध के अनन्य अधिकार के

बढ़ाने सामान्य पद्धति का अनुसरण करने के लिए उनका ह्रास नहीं होने दिया जाएगा। चूंकि प्रबन्ध उन्हीं के पास रहेगा अतः, उन्हें अन्य संस्थाओं के बराबर चलने के लिए विवश किया जा सकता है। ये प्रतिपादनायें निम्नलिखित मामलों में पूर्ण रूप से निश्चित हो चुकी हैं—मुम्बई राज्य **बनाम** मुम्बई एजूकेशन सोसाइटी (1955), एस० सी० आर० 568=ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 561); मद्रास राज्य **बनाम** एस० सी० दोरैराजन [(1951) एस० सी० आर० 525=ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 226]; केरल एजूकेशन बिल 1957 वाला मामला [(1959 एस० सी० आर० 95= ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 956)]; सिद्धारजभाई **बनाम** गुजरात राज्य [(1963) 3 एस० सी० आर० 837=ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 540]; कटरा एजूकेशन सोसाइटी **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य [(1966) 3 एस० सी० आर० 328=ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1307]; गुजरात विश्वविद्यालय अहमदाबाद **बनाम** कृष्णा रंगनाथ मुधोलकर [(1963) सप्ली० (1) एस०सी०आर० 112=ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 703] और रेवरेण्ड फादर डब्ल्यू० प्रुस्ट **बनाम** बिहार राज्य [(1969) 2 एस० सी० आर० 73=ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 465]। अन्तिम मामले में यह कहा गया है कि इस अधिकार का विस्तार करने और इसे कम करने की आवश्यकता नहीं है। संविधान में प्रशासन के विषय में केवल यह कहा गया हैं कि इसे अल्पसंख्यक वर्गों की संस्थाओं पर छोड़ दिया जाना चाहिए और इससे अधिक कुछ भी नहीं कहा गया है। अब हम इन सिद्धांतों को लागू करते हुए अधिनियम के उपबन्धों पर विचार करेंगे।" (रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

12. **डी० ए० वी० कालेज, जलन्धर** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने गुरु नानक यूनिवर्सिटी, अमृतसर ऐक्ट (1969 का 21) के कतिपय उपबन्धों की विधिमान्यता पर विचार किया था। अन्य बातों के साथ-साथ उसने परिनियमों के अध्याय V खंड 2(1)(क), 17 और 18 के उपबन्धों पर भी विचार किया था। खंड 2(1)(क) में यह उपबन्ध किया गया है कि विश्वविद्यालय द्वारा विशेषाधिकार प्रदान किए जाने के लिए आवेदन करने वाला कोई महाविद्यालय रजिस्ट्रार को आवेदन पत्र भेजेगा और सीनेट (अभिषद्) का इन बातों का समाधान करेगा कि महाविद्यालय का नियमित रूप

[1] (1971) 3 उम० नि० प० 356=ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 1737.

से गठित शासी निकाय होगा जिसमें सीनेट (अभिषद्) द्वारा अनुमोदित 20 से अधिक व्यक्ति नहीं होंगे और अन्य व्यक्तियों में विश्वविद्यालय के दो प्रतिनिधि और महाविद्यालय का पदेन प्रधानाचार्य होगा। खंड 17 में यह उपबन्ध किया गया है कि आरंभिक रूप से नियुक्त किए गए कर्मचारिवृन्दों का कुलपति द्वारा अनुमोदन किया जाएगा और बाद में किए गए परिवर्तनों की रिपोर्ट कुलपति के अनुमोदन के लिए विश्वविद्यालय को की जाएगी। खंड 18 में यह विहित किया गया है कि गैर-सरकारी महाविद्यालय, विश्वविद्यालय द्वारा विरचित अध्यादेशों में अधिकथित उन अपेक्षाओं का पालन करेंगे जो गैर-सरकारी महाविद्यालयों में अध्यापकों की सेवा और आचरण को शासित करती हैं। उच्चतम न्यायालय का निर्णय देते हुए न्या० जगनमोहन रेड्डी ने **रेवरेण्ड फादर डब्ल्यू० प्रूस्ट वाले मामले**[1] के प्रति निर्देश करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि खंड 2(1)(क) और 17 न्यायोचित नहीं है क्योंकि ये उपबंध निश्चित रूप से पिटीशनर महाविद्यालय के प्रबन्ध-तन्त्र के अधिकारों में हस्तक्षेप करते हैं। अतः इन उपबन्धों को सम्बद्ध किए जाने के लिए शर्तें नहीं बनाया जा सकता, और इनके अननुपालन का परिणाम असम्बद्ध किया जाना होगा। परिणामस्वरूप इन उपबन्धों को संविधान के अनुच्छेद 30(1) के अतिलंघन में होने के कारण समाप्त किया जाना चाहिए। किन्तु, खंड 18, जो गैर-सरकारी महाविद्यालयों को उनमें अध्यापकों की सेवा और आचरण को शासित करने वाले अध्यादेशों में अधिकथित अपेक्षाओं का अनुपालन करने के लिए व्यादिष्ट करता है, की बाबत यह अभिनिर्धारित किया गया कि इसमें वह दोष नहीं है जो खंड 17 में है क्योंकि वह उपबन्ध, जहां तक कि अल्पसंख्यक संस्थाओं को लागू होता है, विश्वविद्यालय को उन विनियमों को विहित करने के लिए सशक्त करता है जिनसे अध्यापकों की सेवा और आचरण शासित होते हैं तथा जिनका अधिनियमन संस्थाओं की दक्षता और श्रेष्ठता को सुनिश्चित करने के लिए इनके व्यापक हित को ध्यान में रखते हुए किया गया है। इस सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय ने पैरा 38, पृष्ठ 1749 में यह निम्न मत व्यक्त किया है :—

> "38. ...... विश्वविद्यालय उन अध्यापकों के लिए, जिन्हें इन संस्थाओं द्वारा या तो साधारण विषयों के लिए या विशिष्ट विषयों के लिए नियोजित किया जाना हो, अधिवर्षिता की आयु या न्यूनतम अर्हताओं के सम्बन्ध में अध्यादेश जारी कर सकता है। सभी गैर-सरकारी महाविद्यालयों में अध्यापकों की सेवा की शर्तों और आचरण में एकरूपता,

---

1 ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 465.

सौहार्दता उत्पन्न करेंगे और नैराश्य से बचा जा सकेगा। वास्तव में निर्देशित विषयों के सम्बन्ध में अध्यादेश बनाने की शक्ति साधारण बात है, किन्तु अनुच्छेद 30(1) के अधीन अधिकार, यदि कोई है, के अतिलंघन की प्रकृति अध्यादेश विरचित किए जाने के समान उसके वास्तविक प्रयोजन और आशय तथा उस रीति पर आश्रित होगा जिसमें इसका शैक्षणिक संस्थाओं के प्रशासन पर प्रभाव डालना संभाव्य हो और इसकी बाबत इस समय कल्पना करना संभव नहीं है।" (रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)।

13. **सेन्ट जेवियर कालेज** बनाम **गुजरात राज्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के 9 न्यायाधीशों द्वारा गठित बृहत्तर न्यायपीठ ने दो प्रश्नों पर अर्थात् (1) क्या मान्यता और सम्बद्धता ऐसे निबन्धनों के आधार पर अनुदत्त की जा सकती है जिसमें अनुच्छेद 30(1) द्वारा प्रदत्त अधिकारों का अभ्यर्पण करना पड़े, और (2) क्या अनुच्छेद 30(1) द्वारा प्रदत्त अधिकार में मान्यता या सम्बद्ध किए जाने का अधिकार भी सम्मिलित है, विचार किया ? सभी 9 न्यायाधीश इस बात से सहमत थे कि मान्यता या सम्बद्ध किया जाना ऐसी शर्तों पर आधारित नहीं हो सकता जिसके परिणामस्वरूप संविधान के अनुच्छेद 30(1) द्वारा प्रदत्त अधिकार का वस्तुतः अभ्यर्पण करना पड़े। दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में 7 न्यायाधीशों ने उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि का अनुमोदन करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि इस अधिकार में मान्यता प्रदान करने या सम्बद्ध किए जाने का अधिकार भी सम्मिलित है। **सेन्ट जेवियर वाले मामले**[1] में विभिन्न न्यायाधीशों द्वारा अभिव्यक्त किए गए मतों से जो स्थिति उभर कर आती है वह संक्षेप में यह है कि 8 न्यायाधीशों ने बहुमत से यह दृष्टिकोण अभिव्यक्त किया कि गुजरात विश्वविद्यालय अधिनियम की धारा 40 और 41, जिनके द्वारा सम्बद्ध महाविद्यालय संघटक महाविद्यालयों में परिवर्तित हो गए हैं, अनुच्छेद 30(1) का अतिक्रमण करती हैं और उन्हें अनिवार्यतः धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों द्वारा स्थापित और प्रशासित महाविद्यालयों पर लागू नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार धारा 33-क(1)(क), जिसमें यह उपबन्धित है कि प्रत्येक महाविद्यालय एक ऐसी शासी निकाय के, जिसमें इसके सदस्यों सहित कुलपति द्वारा नामनिर्दिष्ट विश्वविद्यालय का एक प्रतिनिधि, महाविद्यालय के अध्यापकों शिक्षकेत्तर कर्मचारिवृन्द और विद्यार्थियों के प्रतिनिधि होंगे, प्रबन्धतन्त्र के अधीन होगा, को 8 न्यायाधीशों ने बहुमत से अनुच्छेद 30(1)

---

[1] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1389.

का अतिक्रमण करने वाला अभिनिर्धारित किया। धारा 51-क(1)(ख) और 2(ख) को, जो प्रबन्धतन्त्र के शैक्षिक और शिक्षकेत्तर कर्मचारिवृन्द के किसी सदस्य की सेवा का उसमें विहित जांच किए बिना और कुलपति से अनुमोदन अभिप्राप्त करने के पश्चात् ही पर्यवसान, पदच्युति, पंक्तिच्युत या सेवा से हटाए जाने के बारे में है, प्रबन्धतन्त्र के अधिकार को नियन्त्रित करती है, सात न्यायाधीशों के बहुमत द्वारा संविधान के अनुच्छेद 30(1) का अतिक्रमणकारी माना गया। परिणामतः इन धाराओं को अल्पसंख्यक वर्गों की संस्थाओं को लागू नहीं किया जा सकता था। इसी प्रकार धारा 52-क को सम्बद्ध महाविद्यालय के शैक्षिक और शिक्षकेत्तर कर्मचारिवृन्द और प्रबन्धतन्त्र के बीच किसी विवाद को शासी निकाय द्वारा नियुक्त किए गए सदस्य से गठित माध्यस्थम् अधिकरण और कुलपति द्वारा नियुक्त किए गए अधिनिर्णायक को निर्दिष्ट किया जाना निर्देशित किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 30(1) का अतिक्रमण करने वाला अभिनिर्धारित किया गया है।

14. **लिली कूरियन** वनाम **सीनियर (सिस्टर) लेबीना**[1] वाले मामले में केरल विश्वविद्यालय अधिनियम, 1957 के अधीन जारी किए गए अध्यादेश के खण्ड 32(4) को, जिसमें अध्यापकों को यह अधिकार दिया गया था कि वे शास्ति के आदेश के विरुद्ध कुलपति को अपील कर सकते हैं, अनुच्छेद 30(1) का अतिक्रमणकारी अभिनिर्धारित किया गया था क्योंकि यह कुलपति को अनुशासनिक मामलों में हस्तक्षेप करने की निरंकुश शक्ति प्रदत्त करता है और इस प्रकार संस्थाओं के प्रशासन को स्पष्ट रूप से प्रभावित करता है।

15. **आल सेन्ट्स हाई स्कूल** बनाम **आन्ध्र प्रदेश सरकार**[2] वाले मामले में न्यायालय ने आन्ध्र प्रदेश रेकग्नाइज्ड प्राइवेट एजूकेशनल इनस्टिट्यूशन्स कंट्रोल ऐक्ट, 1975 की धारा 3(1) और (2) में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की विधिमान्यता पर विचार किया था। इस विनिश्चय के प्रति विस्तार से निर्देश करना आवश्यक है क्योंकि उस अधिनियम के उपबन्ध, जिनको प्रश्नगत किया गया था, मुम्बई प्राइमरी एजूकेशन नियमावली के उन उपबन्धों के समान ही हैं जिनको इन पिटीशनों में चुनौती दी गई है। **आल सेन्ट्स हाई स्कूल वाले मामले**[2] में जिन उपबन्धों को प्रश्नगत किया गया था, वे विभिन्न धाराओं में अन्तर्विष्ट हैं। ये धाराएं निम्न प्रकार हैं—आंध्रप्रदेश रेकग्नाइज्ड प्राइवेट एजूकेशनल इनस्टिट्यूशन्स कंट्रोल ऐक्ट, 1975 की धारा 3(3), जो जांच के विचारण और उसके दौरान निलम्बन से सम्बन्धित है, धारा 4, जो अध्यापकों पर अधिरोपित दण्डादेश के

---

1 [1979] 1 उम० नि० प० 998=ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 52.

2 [1981] 1 उम० नि० प० 259=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1042.

विरुद्ध अपील करने के सम्बन्ध में है ; धारा 5, जो पारिणामिक उपबंध है और जिसमें लम्बित अपीलों को अपील प्राधिकारी को अन्तरित करने का निदेश दिया गया है ; धारा 6, जो शिक्षा था पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में सरकार द्वारा किए गए आदेश से अध्यापकों की छंटनी के सम्बन्ध में है ; धारा 7, जो अध्यापकों के वेतन और भत्तों के सम्बन्ध में है; धारा 10 और 11, जो विद्यालय भवन या प्रयोगशाला के निरीक्षण या जांच के लिए और विद्यालय प्रबन्धतन्त्र द्वारा सक्षम प्राधिकारी को निरीक्षण, जांच, विवरणियां, सांख्यिकी और अन्य सूचनाएं भेजने के लिए उपबध करती हैं ; धारा 12 और 13, जो अधिनियम के उपबंधों के उल्लंघन के लिए शास्तियों के संबंध में है ; धारा 15, जो सरकार को पुनरीक्षण की अधिकारिता और इस पुनरीक्षण की अधिकारिता को प्रत्यायोजित करने की शक्ति प्रदान करती है ; धारा 16, जो सिविल न्यायालयों की अधिकारिता की समाप्ति के लिए उपबंध करती है; और धारा 17, जो अधिकारियों द्वारा सद्भावपूर्वक किए गए किसी कृत्य से परिमाण के लिए उपबंध करती है। इन धाराओं को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि वे संविधान के अनुच्छेद 30 का अतिक्रमण करती हैं। इस संबंध में न्या० फज़ल अली ने अनुच्छेद 30(1) में दिए गए मूल अधिकार की परिधि और सीमा के संबंध में निर्णयज विधि का विस्तार के साथ विश्लेषण किया है। विश्लेषण से निकले निष्कर्ष निम्न प्रकार हैं। यह आवश्यक नहीं है कि इन सिद्धांतों का विस्तार से उल्लेख किया जाए। यह कहना ही पर्याप्त होगा कि भाषाई या धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों ने न्यास या सोसाइटी को उनके शैक्षणिक संस्थाओं का प्रबन्ध और उनका प्रशासन करने का अधिकार आत्यन्तिक है तथापि ऐसी किसी दुर्व्यवस्था को सहन नहीं किया जाएगा जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा की श्रेष्ठता और पूर्णता पर बुरा प्रभाव पड़े। यद्यपि राज्य को अल्पसंख्यक वर्गों की संस्थाओं के प्रशासन या प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है, तथापि यह शैक्षणिक स्तरों में दक्षता और श्रेष्ठता की प्रोन्नति के लिए और साथ-ही-साथ संस्था के अध्यापकों या अन्य कर्मचारियों की सेवाओं की सुरक्षा के प्रयोजनार्थ विनियामक सदुपाय कर सकता है। किन्तु राज्य विनियामक सदुपायों के बहाने ऐसे उपबंध विरचित नहीं कर सकता जिससे कि संस्था की स्वायत्तता ही नष्ट हो जाए या संस्था के प्रबंध में इस प्रकार हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दे जिससे कि सम्बंधित संस्था के प्रशासन और प्रबन्ध का अधिकार नगण्य या नाममात्र ही रह जाए। अनुच्छेद 30 के स्वरूप से ही यह विवक्षित होता है कि राज्य बिना किसी पर्याप्त कारण के संस्था को सम्बद्ध करने से इनकार करते समय कोई ऐसी शर्त अधिरोपित नहीं कर सकता जो शैक्षणिक संस्था के स्वायत्त प्रशासन को पूर्ण रूप से नष्ट कर दे। राज्य द्वारा सीधे ही स्वयं या उसके नाम-निर्देशिती द्वारा प्रशासन निकाय या प्रबन्ध समिति के मामलों के

संचालन में हस्तक्षेप करना अनुच्छेद 30 का अतिक्रमणकारी होगा। न्या० फ़ज़ल अली द्वारा पृष्ठ 1067 पर व्यक्त किए गए मत शिक्षाप्रद हैं :—

"अतएव सरकार या विश्वविद्यालय को अध्यापकों की सेवा की शर्तों को शासित करने वाले नियम और विनियम विरचित करने की छूट है जिससे कि उनकी सेवा धृति को सुनिश्चित किया जा सके और एक ऐसे उच्च प्राधिकारी की नियुक्ति की जा सके जो इस बात का मार्गदर्शन करने के लिए पूर्ण रूप से सशक्त हो कि उक्त नियमों का उल्लंघन नहीं किया जा रहा है या कर्मचारिवृन्द के सदस्यों के साथ मनमाना व्यवहार नहीं किया जा रहा है या निर्दोष होते हुए भी उनके साथ अत्याचार नहीं किया जा रहा है। ऐसे मामले में संस्था के आंतरिक प्रशासन में हस्तक्षेप करना प्रयोजन नहीं है अपितु यह मात्र शैक्षिक श्रेष्ठता और दक्षता में सुधार करने के लिए है क्योंकि वस्तुत: अच्छी शिक्षा केवल तभी प्राप्त की जा सकती है जब अध्यापकों के लिए ऐसा वातावरण बनाया जाए जिससे कि वे विद्यार्थियों को लगन और त्याग के साथ पढ़ा सकें और उन्हें हर प्रकार के संविवाद से दूर रखें। किन्तु ऐसे प्राधिकारी को नियुक्त करते समय इस बात को देखना आवश्यक है कि उक्त प्राधिकारी को असीमित और अनिर्बन्धित तथा मनमानी शक्तियां न दी जाएं जिससे कि संस्था के उद्देश्य की अवहेलना करके वे अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर सकें। यह उचित होगा यदि सम्बन्धित प्राधिकारी, शासी निकाय या उनके नामनिर्देशिती के ऐसे सदस्यों को सहयोजित करें जिनका व्यवहार संस्था के संप्रवर्तकों या उनके द्वारा गठित समितियों में विश्वास पैदा कर सके।

अध्यापन कर्मचारिवृन्द के पर्यवेक्षण के लिए एक उच्च प्राधिकारी नियोजित करने में, जिससे कि उनके कार्य पर कड़ी नजर रखी जाए और उनके लिए सेवा की अवधि की सुरक्षा को सुनिश्चित किया जाए, कोई आपत्ति नहीं की जा सकती, किन्तु सम्बद्ध प्राधिकारी के लिए उस निर्बन्धित क्षेत्र में, जो उसके अन्तर्गत आता है, समुचित मार्गदर्शन की व्यवस्था की जानी चाहिए। किसी ऐसे निष्कर्ष पर, जो प्रबन्ध समिति पर आबद्धकर हो, पहुंचने से पूर्व, संस्था के प्रधान या प्रबन्ध समिति के ज्येष्ठ सदस्यों को सहयोजित किया जाना चाहिए और उन्हें मामले में प्रत्यक्ष मत देने की इजाजत होनी चाहिए। कुछ मामलों में बाह्य प्राधिकारियों की अल्पसंख्यक वर्ग की संस्थाओं के सम्बन्ध में उनकी सुनवाई के बिना विनिश्चय करने में पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है और ये

आदेश संस्था पर आबद्धकर होते हैं। इस प्रकार की कार्यवाही, जहां तक अल्पसंख्यक वर्ग की संस्था का सम्बन्ध है, सांविधानिक रूप से अनुज्ञेय नहीं है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष रूप से संस्था की प्रशासनिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करता है। प्राधिकारी के आदेश के विरुद्ध कर्मचारिवृन्द के व्यथित सदस्य द्वारा अपील या पुनरीक्षण के लिए कोई उपबन्ध करना या माध्यस्थम् अधिकरण बुलाना अनुज्ञेय नहीं है क्योंकि सेन्ट जेवियर वाले (पूर्वोक्त) मामले में मुख्य न्यायाधिपति रे ने इस बात की ओर संकेत करते हुए कि ऐसी कार्रवाई से मुकदमेबाजी का सिलसिला उत्पन्न हो जाता है जिससे कि संस्था कभी न समाप्त होने वाली मुकदमेबाजी में धंस जाती है और इस कारण संस्था की शैक्षिक दक्षता का ह्रास होता है और अध्यापकों के लिए एक नवीन क्षेत्र खुल जाता है जिसके कारण उन्हें अल्पसंख्यक वर्ग की संस्थाओं के शुद्ध शैक्षिक वातावरण से जिसके लिए उन्हें स्थापित किया गया है, बाहर घसीटा जाता है। दूसरे शब्दों में, कोई ऐसी बात नहीं की जानी चाहिए जो ऐसी संस्थाओं के संप्रवर्तकों के आशयों के प्रतिकूल जाती हो।" (रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

16. **आल सैन्ट हाई स्कूल वाले मामले**[1] में आक्षेपित उपबन्धों पर बहुमत ने विभिन्न मत अभिव्यक्त किए हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—उच्चतम न्यायालय के बहुमत के दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हुए न्या० फजल अली और मु० न्या० चन्द्रचूड़ ने यह कहा कि धारा 3(1), जिसमें यह उपबन्ध किया गया है कि इस निमित्त बनाए गए नियमों के अध्यधीन रहते हुए किसी अध्यापक की पदच्युति, या सेवा से हटाए जाने, पंक्तिच्युत किए जाने की मुख्य शास्तियों के लिए सक्षम प्राधिकारी की पूर्वानुमति प्राप्त करना अनिवार्य है तथा धारा 3(2) जो ऐसे सक्षम प्राधिकारी को उसका यह समाधान हो जाने पर कि कार्यवाही किए जाने के लिए पर्याप्त और युक्तियुक्त हेतुक हैं, अनुमोदन मंजूर करने की शक्ति प्रदान करती है, संविधान के अनुच्छेद 30 की अतिक्रमणकारी हैं क्योंकि व्यवहार में ये उपबन्ध उनके अपनी रुचि की संस्था के प्रशासन करने के अधिकार पर सारवान् रूप से हस्तक्षेप करेंगे। न्या० कैलाशम् ने इसके विपरीत मत अपनाया। जहां तक धारा 3(3) और 3(4) का संबंध है जो जांच के परिणामस्वरूप किए जाने वाले निलंबन और उसकी अवधि के बारे में उपबन्ध करते हैं, बहुमत का निर्णय देते हुए मु० न्या० चन्द्रचूड़ और न्या० कैलाशम् ने इन धाराओं को विधिमान्य माना। धारा 4, जो बड़ी शास्ति के आदेश के विरुद्ध अपील करने के संबंध में उपबन्ध करती है और धारा 5, जो लम्बित अपीलों का अन्तरण करने के लिए

[1] [1981] 1 उम० नि० प० 259=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1042.

पारिणामिक उपबन्ध करती है, संविधान के अनुच्छेद 30 का अतिक्रमणकारी अभिनिर्धारित किया क्योंकि सरकार को प्रबन्धतन्त्र द्वारा पारित आदेशों का पुनरीक्षण करने की असीमित शक्ति प्रदान की गई है, अतः यह प्रबन्धतन्त्र के अधिकार को समाप्त करने वाली है। धारा 6 को, जो छंटनी के अधिकार को नियंत्रित करती है, बहुमत की ओर से मु० न्या० चन्द्रचूड़ और कैलाशम् ने वैध माना जबकि न्या० फजल अली ने इसे मनमाना बताया। धारा 7 को विनियामक सदुपाय को प्रकृति की होने के कारण वैध माना गया। धारा 10 और 11 को भी विनियामक न कि संविधान के अनुच्छेद 30(1) का अतिक्रमण करने वाला माना गया।

17. उपर्युक्त सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए हमें इस बात की परीक्षा करनी है कि क्या पिटीशनर-विद्यालय प्रबन्धतन्त्र द्वारा किए गए आक्षेप सुआधारित हैं। इस बात पर अधिक विचार-विमर्श करने की आवश्यकता नहीं है कि जब तक कि अल्पसंख्यक वर्गों के विद्यालय का प्रबन्धतन्त्र लिखित में यह वचन नहीं देता कि विद्यालय में अध्यापकों की नियुक्ति की शर्तें वही होंगी जो अनुसूची (च) में विनिर्दिष्ट हैं जैसा कि नियम 106(2) में विहित किया गया है, तब तक उसे मान्यताप्राप्त करने का अधिकार नहीं होगा। परिणामतः यह मान्यताप्राप्त अनुमोदित विद्यालयों को प्राप्त विशेषाधिकारों का उपभोग नहीं करेंगे। इस बात पर भी विवाद नहीं किया जा सकता कि गुजरात थर्ड अमैंडमेंट रूल्स, 1970 द्वारा यथासंशोधित मुम्बई प्राइमरी एजूकेशन रूल्स और साथ ही गुजरात अमैंडमेंट रूल्स, 1978 जिसके द्वारा नियमावली में नई अनुसूची (च) प्रतिस्थापित की गई है, के अधीन अनुसूची (च) का अनुपालन अल्पसंख्यक वर्गों की संस्था की मान्यता को समाप्त करना संभव बना सकेगा, जिसके परिणामस्वरूप मान्यता-प्राप्त विद्यालय प्राप्त विशेषाधिकारों से वंचित हो जाएंगे। इस संशोधनकारी नियमों का वास्तविक संचयी प्रभाव यह है कि राज्य मान्यता ऐसे निबंधनों के आधार पर मंजूर करेगी जिसमें संविधान के अनुच्छेद 30(1) द्वारा प्रदत्त अधिकारों का अभ्यर्पण है। **सेन्ट जेवियर कालेज वाले मामले**[1] में उच्चतम न्यायालय के 9 न्यायाधीशों से गठित न्यायपीठ ने बहुमत द्वारा सिद्धांततः और अधिकारतः यह दृष्टिकोण अपनाया था कि यदि मान्यता संविधान के अनुच्छेद 30(1) द्वारा प्रदत्त अधिकारों का लगभग त्याग करने से ही दी जाती है तो ऐसे निबन्धन और शर्तें संविधान के अधिकारातीत होंगी। यह भी सुस्थापित है कि अनुच्छेद 30(1) में दिए गए अधिकार के अन्तर्गत मान्यता प्रदान करने का अधिकार भी सम्मिलित है।

---

[1] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1389.

अपेक्षा कर सकेगा कि वे उस तारीख को ऐसा कोई साक्ष्य जो वे प्रस्तुत करना चाहते हों, प्रस्तुत करें।"

दावे से सम्बन्धित कार्यवाहियों के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए यह देखने का दायित्व अधिकरण पर डाला गया है कि सूचनाएं तामील हो जाएं नियमों में हमें ऐसा कोई उपबन्ध नहीं ज्ञात होता है जिसके द्वारा विरोधी पक्षकार को सूचना जारी किए जाने के लिए न्यायालय फीस के संदाय का कोई उपबन्ध हो। यह बात सिविल प्रक्रिया संहिता में उपबन्धित प्रक्रिया से बिल्कुल भिन्न है। हमारा यह मत है कि कार्यवाहियों की प्रकृति और उनके गुण को ध्यान में रखते हुए विधान-मण्डल ने यह बहुत ही उपयुक्त समझा कि दावेदार को जो दुर्घटना का शिकार होता है, किसी प्रकार की न्यायालय फीस का संदाय नहीं करना चाहिए और न उस पर किसी प्रकार का दायित्व डाला जाना चाहिए सिवाय इसके कि वह विरोधी पक्षकारों के नाम और पते उपलब्ध कराए जिससे कि आदेशिकाएं तामील की जा सकें। जहां तक साक्षियों के समन किए जाने का सम्बन्ध है, हमें इन नियमों के नियम 8 में यह ज्ञात होता है कि वह केवल तब तामील किया जाता है जब अंतर्वलित व्ययों का संदाय कर दिया गया हो। नियम 9 द्वारा ऐसी कार्यवाहियों में विधि व्यवसायियों के उपस्थित होने पर निर्बन्धन है। इन परिस्थितियों में अधिकरणों को चाहिए कि वे दावेदार का मार्गदर्शन करें और न्यायालय के निदेशों के अपालन के परिणाम उन्हें बतलाएं। प्रस्तुत मामले में दावेदार ने रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा सूचनाओं की तामील किए जाने के लिए खर्च संदत्त कर दिए थे। उसने पक्षकार का ज्ञात पता भी बतलाया था और इस प्रकार उसने अपना दायित्व पूरा कर दिया था। यदि डाकघर की रिपोर्ट से यह ज्ञात हो कि प्रेषिती को पोस्टमैन नहीं जानता था तो विद्वान् अधिकरण को यह चाहिए था कि वह न्यायालय की आदेशिका तामीलकर्ता के माध्यम से तामील करवाते। नियमों के नियम 6 द्वारा अधिकरण पर यह बाध्यता डाली गई है।

4. जो भी स्थिति हो, हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि विद्वान् अधिकरण ने पिटीशनर के मामले को खारिज करने में अपनी अधिकारिता से परे कार्य किया है। जबकि बीमाकर्ता विरोधी पक्षकार सं० 2 न्यायालय में हाजिर हुआ और उसने अपना लिखित कथन प्रस्तुत किया और इस प्रकार

---

the application and may call upon the parties to produce on that date any evidence which they may wish to tender."

मामला जहां तक इस मामले का सम्बन्ध है, खारिज नहीं किया जा सकता था। नियम के नियम 20 के अधीन आदेश नियम 9 से 13, 15 से 30, आदेश 13 नियम 21, आदेश 16, आदेश 17 और आदेश 23 का नियम 1 और 2 यावतशक्य लागू किए गए हैं। हमारे मतानुसार सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश और नियम यथावत् रूप से लागू नहीं किए जाने थे। किन्तु इनका प्रयोग केवल मामलों के अनुशासन युक्त ढंग से निपटाए जाने के लिए ही किया जा सकता है। अब हम आदेश 9 के उपबन्धों पर इस बात का पता लगाने के लिए विचार करेंगे कि क्या विद्वान् अधिकरण दावेदार के पूरे मामले को ही खारिज कर सकता था जब विरोधी पक्षकार सं० 2 ने लिखित कथन फाइल किया था। आदेश 9 में ऐसा कोई नियम नहीं है जिससे न्यायालय को विरोधी पक्षकार सं० 2 के विरुद्ध किए गए मामले को खारिज करने की शक्ति है। हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि आदेश 9 के नियम 2 में वाद के खारिज किए जाने का उपबन्ध किया गया है जब वादी द्वारा न्यायालय फीस या डाक प्रभार का संदाय करने में असफल होने के परिणामस्वरूप प्रतिवादी पर समन तामील न किए गए हों और किसी अन्य कारण से वाद खारिज नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत मामले में विरोधी पक्षकार को समन करने के लिए किसी न्यायालय फीस या डाक प्रभार का संदाय किया जाना अपेक्षित नहीं है। यह अनुमान करने पर भी कि न्यायालय फीस और डाक प्रभार का संदाय करने का दायित्व वादी पर था, फिर भी विद्वान् अधिकरण ने कोई भी साधारण या विनिर्दिष्ट आदेश पारित नहीं किया और दावेदार को यह निदेश नहीं दिया कि वह न्यायालय फीस या डाक प्रभारों का संदाय करे और इस कारण संहिता के आदेश 9 के नियम 2 के अधीन वाद को खारिज करने की कोई शास्ति अधिरोपित नहीं की जा सकी। आदेश 9, नियम 5 में अधिकथित है कि जब प्रतिवादी को कोई समन जारी कर दिया जाता है या विभिन्न प्रतिवादियों में से किसी एक को समन जारी कर दिया जाता है और वह बिना तामील हुए वापस आ जाता है और वादी वापसी की तारीख से एक मास की कालावधि में अधिकारी द्वारा न्यायालय में विवरणी पेश करने की तारीख से एक मास की कालावधि के लिए वादी असफल रहता है और न्यायालय को मामूली तौर पर प्रमाणित करने वाले अधिकारी द्वारा आदेशिकाएं तामील करने वाले अधिकारियों को विवरणियां प्रस्तुत की जाती हैं और नए समन जारी किए जाने के लिए वह आवेदन करता है तो न्यायालय इस प्रकार का आदेश करेगा कि वाद ऐसे प्रतिवादी के विरुद्ध खारिज कर दिया जाए। अतः विरोधी पक्षकार सं० 2 के विरुद्ध मामले का खारिज किया जाना संहिता के आदेश 9 नियम 5 द्वारा प्रकल्पित नहीं है।

5. अगला प्रश्न यह है कि क्या विद्वान् अधिकरण संहिता के आदेश 9, नियम 5 के उपबन्धों का अनुसरण करते हुए जब अधिकारी द्वारा समन तामील न किए गए हों जो मामूली तौर पर ऐसी विवरणियां न्यायालय के लिए प्रमाणित करते हैं। "संहिता के अधीन" आदेशिका की तामील न्यायालय की आदेशिका के तामीलकर्ताओं द्वारा की जाती है जिन्हें न्यायालय को इस सम्बन्ध में प्रमाणपत्र देना होता है कि विवरणियों और सूचनाओं की तामील किस प्रकार हुई। प्रस्तुत मामले में विवरणी मामूली तौर पर विवरणियों को प्रमाणित करने वाले अधिकारी द्वारा प्रमाणित नहीं की गई थी अर्थात् नाजिर और अन्य आदेशिक तामीलकर्ताओं के द्वारा। विवरणी पर डाकपाल के डाकिये द्वारा केवल एक टिप्पण किया गया था जो अधिकरण को संसूचित किया गया था। यह स्वीकार किया गया है कि समन न्यायालय के तामीलकर्ता अधिकारियों द्वारा तामील नहीं किए गए थे और तामील किए जाने की रीति और समय के बारे में उस पर कोई पृष्ठांकन नहीं है और न ही वह इस रीति में तामील किया गया था जो सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन अपेक्षित था। हमारा यह मत है कि डाक कर्मचारी की रिपोर्ट न्यायालय के किसी अधिकारी का प्रमाणपत्र नहीं है जो मामूली तौर पर समनों के तामील किए जाने को प्रमाणित करता है। इन परिस्थितियों में हमारी यह राय है कि आदेश 9, नियम 5 लागू नहीं होता है। असम मोटर एक्सीडैंट क्लेम ट्रायब्युनल रूल्स के नियम 6 के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए अधिकरण का यह कर्तव्य था कि वह संहिता के अधीन आदेशिका तामीलकर्ता द्वारा सूचना की तामील करवाता। विशेष रूप से उस समय जब विरोधी पक्षकार सं० 1 पर डाक सेवा के माध्यम से तामील नहीं की जा सकी थी।

6. परिणामस्वरूप, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि विद्वान् अधिकरण को अनुयोजन संक्षिप्ततः खारिज करने की अधिकारिता नहीं थी और आक्षेपित आदेश अविधिमान्य है और अपास्त किए जाने योग्य है। हम उसे एतद्द्वारा अपास्त करते हैं।

7. हमने जो मत अपनाया है उसकी पुष्टि **शमसुल हुदा बनाम मैसर्स लन्दन एण्ड लंका शायर इन्श्योरेंस कम्पनी लिमिटेड**[1] द्वारा होती है। इन **वर्कमैन आफ सोतई टी एस्टेट के मामले**[2] **एसोसिऐटिड इन्डस्ट्रीज असम बनाम**

---

[1] ए० आई० आर० 1972 गोहाटी 35.

[2] ए० आई० आर० 1965 असम=नागालैंड 80.

जदू मनी भांजो[1] और **हाजी अली निवास** बनाम **राधेश्याम काटोवाल**[2] वाले मामले में यद्यपि विभिन्न संदर्भ में, किन्तु इस न्यायालय ने समान मत ही अभिव्यक्त किए हैं।

किसी व्यक्ति के वाद को खारिज करने की शक्ति कानून द्वारा स्पष्ट रूप से और विनिर्दिष्ट रूप से प्रदत्त की जानी चाहिए। जब तक कि कोई मामला स्पष्ट रूप से शक्ति के व्याप्ति क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता है, तब तक अधिकरण अनुयोजन को खारिज करने के लिए सक्षम नहीं है। खारिज करने की शक्ति प्रबल, दाण्डिक और घातक अस्त्र है जिसका प्रयोग उस समय ही किया जाना चाहिए जब अधिकरण को ऐसी शक्ति अभिव्यक्त रूप से और असंदिग्ध रूप से प्रदत्त की गई हो। हमारे समक्ष जो मामला है, उसमें खारिजी का आदेश स्पष्ट रूप से ही संहिता के उपबन्धों के साथ पठित असम मोटर एक्सीडेंट क्लैम्स ट्राब्युनल रूल्स, 1960 का अतिक्रमण करते हुए पारित किया गया था।

8. परिणामस्वरूप, हम आक्षेपित आदेश को अपास्त करते हैं और अपील मंजूर करते हैं तथापि खर्चे के सम्बन्ध में हम कोई आदेश नहीं करते हैं। हम अपीलार्थी को यह निदेश देते हैं कि वह विरोधी पक्षकार सं० 1 को अधिकरण को अभिलेख के प्राप्त हो जाने की तारीख से दस दिन के भीतर सूचना तामील किए जाने के लिए तत्काल कार्यवाही करे। जैसी प्रार्थना की गई है, अपीलार्थी को ऊपर वर्णित कालावधि के भीतर सही पते प्रस्तुत करने की स्वतन्त्रता है। मामले का अभिलेख तत्काल विद्वान् अधिकरण को भेज दिया जाए जिससे कि मामले का शीघ्र निपटारा किया जा सके।

मि० अपील मंजूर की गई।

---

[1] 1971 (2) एल० एण्ड आई० केसिज।

[2] ए० आई० आर० 1978 गोहाटी 9.

नि० प० 1984 : गोहाटी—45

नृपेन्द्र नाथ शर्मा बनाम असम राज्य और अन्य

(Nripendra Nath Sharma *Vs.* State of Assam & others)

तारीख 17 जून, 1983

[न्या० बी० एल० हंसारिया और न्या० टी० एन० सिंह]

सिविल सेवा विधि-प्रोन्नति—निलम्बनाधीन सरकारी सेवक या लम्बित या अनुध्यात अनुशासनिक कार्यवाही के अधीन सरकारी सेवक—ऐसे सरकारी सेवक की प्रोन्नति—जांच पूर्ण होने तक संबंधित अधिकारी की प्रोन्नति विधारित करना अंतः कालीन व्यवस्था है—यदि किसी व्यक्ति की दक्षता या ईमानदारी पर संदेह किया जाता है तो उसे उच्चतर पद पर प्रोन्नत किया जाना लोकहित में नहीं होगा—ऐसे कर्मचारी के विरुद्ध जांच शीघ्रातिशीघ्र पूरी की जानी चाहिए और जांच के परिणाम के अनुसार कार्यवाही की जानी चाहिए।

इस पिटीशन में अवधारण के लिए अपेक्षित प्रश्न यह है कि यदि कोई सरकारी सेवक निलंबनाधीन है या उसके विरुद्ध कोई अनुशासनिक कार्यवाही लंबित है या अनुध्यात है, उस समय यदि उसकी प्रोन्नति होने वाली होती है तो उसके मामले पर कार्यवाही करते समय कौन सी प्रक्रिया का अनुसरण किया जाएगा, इस प्रश्न का अवधारण इस पिटीशन में किया जाना आपेक्षित है। ऊपर वर्णित प्रकार के अधिकारियों पर सभी अन्य पात्र अभ्यर्थियों के साथ उस समय विचार किया जाएगा, जब उनकी प्रोन्नति या पुष्टि किए जाने के प्रश्न का विनिश्चय किया जाएगा। किन्तु तब उनकी उपयुक्तता के संबंध में चयन समिति का निष्कर्ष जो उनकी प्रोन्नति/पुष्टि की बाबत है, अलग से अभिलिखित किया जाएगा और एक सीलबंद लिफाफे में रखा जाएगा। यह निष्कर्ष उस समय बता दिया जाएगा जब अनुशासनिक कार्यवाहियां पूरी हो जाएंगी और उनके संबंध में अंतिम आदेश पारित कर दिए जाएंगे।

यह प्रक्रिया उस प्रक्रिया के समरूप है जो केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों या अन्य राज्य सरकारों के कर्मचारियों को लागू होती है। प्रश्न यह है कि क्या संबंधित अधिकारी के चयन समिति द्वारा प्रोन्नति के लिए उपयुक्त पाए जाने के बावजूद उसकी प्रोन्नति न किया जाना, उसकी प्रोन्नति का विधारण माना जा सकता है जो संबंधित अनुशासन संबंधी नियमों द्वारा दण्ड के रूप में प्रकल्पित है।

अभिनिर्धारित—पिटीशन खारिज किया गया ।

यदि कोई अधिकारी पूर्णरूप से आरोप से विमुक्त कर दिया जाता है या निलम्बित अधिकारी की दशा में यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि निलंबन पूर्णरूप से अन्यायपूर्ण था तो अधिकारी को तत्काल ही उसकी ज्येष्ठता को हानि पहुंचाए बिना प्रोन्नत या पुष्ट कर दिया जाना चाहिए यदि चयन समिति के निष्कर्ष उसके पक्ष में हों । (पैरा 1)

असम सरकार के एपाइंटमैंट (बी) विभाग की ओर से अधिसूचना द्वारा ऐसे मामले पर विचार किए जाने का विवर्जन नहीं है जिसमें सरकारी सेवक फंसे हों । किन्तु केवल सीलबंद लिफाफे में सिफारिश के रखे जाने की वांछा की गई । कुछ मामलों में किसी मामले पर विचार न किए जाने को भी नुकसानदायक नहीं माना गया था चूंकि जांच के पूर्ण होने तक संबंधित अधिकारी को प्रोन्नति से वंचित किया गया है, अतः ऐसी प्रोन्नति को स्थायी रूप से विधारित करना वास्तव में ही नहीं माना जा सकता है । यह कि जो प्रक्रिया अनुध्यात की गई है, वह अन्तःकालीन व्यवस्था है । इस प्रकार व्यक्त किया गया दृष्टिकोण बहुत अधिक सही है कि यदि किसी व्यक्ति की दक्षता या ईमानदारी पर संदेह किया जाता है, तो उसे ऐसे उच्चतर पद पर जिसके साथ उस पर जिम्मेदारी भी बढ़ जाती है, प्रोन्नत किया जाना लोकहित में नहीं होगा । कोई अधिकारी जो इस प्रकार की कार्यवाही का सामना कर रहा है, ऐसे व्यक्तियों के समान स्थिति में नहीं आता है जिनका अभिलेख साफ है । अतः विभेद का कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होता है । (पैरा 5)

		पैरा
[1980]	1980 (2) एस० एल० आर० 662 : निदेशक, डाक सेवा **बनाम** सी० मुनेश्वर राव (Director of Postal Services *Vs.* C. Muneswara Rao);	2
[1973]	1973 (2) एस० एल० आर० 131 : बी० जार्ज **बनाम** आई० जी० पी० (B. George *Vs.* I.G.P.)	2
	प्रभेद बतलाया गया ।	
[1978]	1978 (2) एस० एल० आर० 728 : जितेन्द्र जयन्तिया लाल **बनाम** गुजरात राज्य (Jitendra Jayantialal *Vs.* State of Gujarat);	5

[1973]	1973 (1) एस० एल० आर० 961 : एस० एस० करीर बनाम दिल्ली प्रशासन (S. S. Karir *Vs.* Delhi Administration)	4
[1980]	1980 एस० एल० जे० 384 : रूपलाल बनाम राज्य (Ruplal *Vs.* State)	5

का **अनुसारण** किया गया ।

[1983]	ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 109 : बोर्ड आफ ट्रस्टीज बनाम दिलीप कुमार (Board of Trustees *Vs.* Dilip Kumar);	5
[1982]	1982 (2) आन्ध्र प्रदेश वीकली रिपोर्ट 376 : ए० पी० नायडू बनाम महाप्रबंधक, दक्षिण और मध्य रेलवे (A. P. Naidu *Vs.* General Manager, South & Central Railway);	2
[1978]	1978 एस० एल० जे० 201 : जगदीश्वर राव बनाम महा डाकपाल (Jagdiswar Rao *Vs.* Postmaster General);	2
[1970]	1970 एस० एल० आर० 284 : चन्द्रगुप्त बनाम सभापति, डाकतार बोर्ड (Chandragupta *Vs.* Chairman, Post & Telegraphs Board)	4

निर्दिष्ट किए गए ।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1981 का सिविल रूल सं० 483
संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री पी० जी० बरुआ, एन० एन० साइकिया, ज़े० एम० चौधरी और डी० गोस्वामी

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री पी० राय, सरकारी अधिवक्ता, असम

न्यायालय का निर्णय न्या० बी० एल० हंसारिया ने दिया

न्या० हंसारिया :

यदि कोई सरकारी सेवक निलम्बनाधीन है या उसके विरुद्ध कोई अनुशासनिक कार्यवाही लम्बित है या अनुध्यात है, उस समय यदि उसकी प्रोन्नति होने वाली होती है तो उसके मामले पर कार्यवाही करते समय कौनसी प्रक्रिया का अनुसरण किया जाएगा, इस प्रश्न का अवधारण इस पिटीशन में किया जाना अपेक्षित है। इस पहलू पर असम सरकार के सचिव द्वारा संसूचना सं० ए० बी० पी० 230/75/6 तारीख 6 जुलाई, 1976 में वर्णन किया गया है। उक्त संसूचना नियुक्ति (बी) विभाग द्वारा जारी की गई थी और जो सभी विभागों के प्रमुखों को सम्बोधित थीं। यह वणन किया गया है कि ऊपर वर्णित प्रकार के अधिकारियों पर सभी अन्य पात्र अभ्यर्थियों के साथ उस समय विचार किया जाएगा, जब उनकी प्रोन्नति या पुष्टि किए जाने के प्रश्न का विनिश्चय किया जाएगा। किन्तु तब उनकी उपयुक्तता के सम्बन्ध में चयन समिति का निष्कर्ष जो उनकी प्रोन्नति/पुष्टि की बावत है, अलग से अभिलिखित किया जाएगा और एक सलिबंद लिफाफे में रखा जाएगा। यह निष्कर्ष उस समय बता दिया जाएगा जब अनुशासनिक कार्यवाहियां पूरी हो जाएंगी और उनके सम्बन्ध में अंतिम आदेश पारित कर दिए जाएंगे। यदि कोई अधिकारी पूर्ण रूप से आरोप से विमुक्त कर दिया जाता है या निलम्बित अधिकारी की दशा में यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि निलम्बन पूर्णरूप से अन्यायपूर्ण था तो अधिकारी को तत्काल ही उसकी ज्येष्ठता को हानि पहुंचाए बिना प्रोन्नत या पुष्ट कर दिया जाना चाहिए यदि चयन समिति के निष्कर्ष उसके पक्ष में हों। ऊपर वर्णित सूचनाओं में कुछ आनुषंगिक और परिणामिक बातों पर विचार किया गया।

2. यह प्रक्रिया उस प्रक्रिया के समरूप है जो केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों या अन्य राज्य सरकारों के कर्मचारियों को लागू होती हैं। प्रश्न यह है कि क्या सम्बन्धित अधिकारी के चयन समिति द्वारा प्रोन्नति के लिए उपयुक्त पाये जाने के बावजूद उसकी प्रोन्नति न किया जाना, उसकी प्रोन्नति का विधारण माना जा सकता है जो सम्बन्धित अनुशासन सम्बन्धी नियमों द्वारा दण्ड के रूप में प्रकल्पित है। इस सम्बन्ध में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों में मतभेद है। आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने यह मत अपनाया है कि कम से कम 1973 से (बी जार्ज बनाम आई० जी० पी०[1] वाले मामले में) आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने यह मत अपनाया था कि इस सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है कि

---

[1] 1973 (2) एस० एल० आर० 131.

क्या जांच में अधिकारी दोषी पाया गया है और प्रोन्नति न किया जाना एक शास्ति है। 1973 वाले विनिश्चिय का उच्च न्यायालय द्वारा **जगदीश्वर राव** बनाम **महा डाकपाल**[1], **के० सोमैया** बनाम **महाप्रबन्धक**[2], **निदेशक डाक सेवा** बनाम **सी० मुनेश्वर राव**[3] और **ए० पी० नायडू** बनाम **महाप्रबन्धक दक्षिण और मध्य रेलवे**[4] वाले मामले में अनुसरण किया गया गया था।

3. पिटीशनर की ओर से हाजिर होते हुए श्री बरुआ ने आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के इन विनिश्चयों का बहुत जोरदार अवलम्ब लिया है और विशेष रूप से **मुनेश्वर राव**[3] वाले मामले का जिसमें यहां तक अभिनिर्धारित किया गया है कि केन्द्रीय सरकार के एक समानान्तर परिपत्र में ऐसे अधिकारियों के सम्बन्ध में सिपारिश का सीलयुक्त लिफाफे में रखा जाना शून्य है। क्योंकि वह शास्ति की कोटि का है और इस कारण संविधान के अनुच्छेद 309 के परन्तुक के अधीन विरचित सम्बन्धित अनुशासनिक नियमों का उससे अतिक्रमण होता है।

4. इस बात का प्रतिवाद नहीं किया गया है कि ऐसे अनुदेशों को प्रोन्नति विधारित करने वाले अनुदेशों की कोटि का अभिनिर्धारित किया गया है। अतः वे शून्य होंगे क्योंकि यद्यपि कार्यपालक अनुदेशों के द्वारा सेवा नियमों में छूट गई कुछ बातों की पूर्ति की जा सकती है किन्तु ऐसे अनुदेश नियमों के प्रतिकूल नहीं हो सकते हैं। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या ऐसे अनुदेश दण्ड की कोटि में आते हैं। प्रत्यर्थियों की ओर से श्री राय ने **एस० एस० करीर** बनाम **दिल्ली प्रशासन**[5] वाले मामले का अवलम्ब लेकर यह दलील दी है कि ऊपर वर्णित प्रक्रिया शास्ति बिलकुल नहीं है किन्तु वह एक तरीका है जिसके द्वारा एक ओर लोक हित की रक्षा की जाती है और दूसरी ओर पदधारी के व्यक्तिगत हित का ध्यान रखा जाता है। यह कहा गया है कि यदि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई कार्यवाही लम्बित होनी है तो वह उच्चतर पद पर तब तक प्रोन्नति किए जाने के लिए सुयोग्य नहीं होता है जब तक कि उसे आरोप से विमुक्त न कर दिया जाए क्योंकि सरकारी सेवा में प्रोन्नति के लिए चरित्र ऊंचे स्तर का होना अनिवार्य है। ऊपर वर्णित विनिश्चय में, सुसंगत अनुदेशों

---

[1] 1978 एस० एल० जे० 201.

[2] एफ० सी० आई० 1978 एस० एल० जे० 295.

[3] 1980 (2) एस० एल० आर० 662.

[4] 1982 (2) आन्ध्र प्रदेश वीकली रिपोर्ट 376.

[5] 1973 (1) एस० एल० आर० 961.

को ईमानदारी के ऊंचे स्तर को कायम रखने और व्यक्तिगत पद्धारी को होने वाले सम्भावित अन्याय के बीच बहुत अच्छे ढंग से संतुलन बनाए रखने वाला माना गया है। इस बात पर जोर दिया गया है कि वैयक्तिक अभिलाभ के लिए लोक हित का बलिदान नहीं किया जाना चाहिए। निस्संदेह यह स्वीकार किया गया था कि सरकार को अन्वेषण या जांच में तेजी लानी ही चाहिए क्योंकि ऐसा करने से एक पदाधिकारी को होने वाले सम्भाव्य प्रतिकूल प्रभाव को टाला जाना सम्भव हो सकता है जो अधिकारी अनिश्चितता की स्थिति में डाल दिया गया है। इस सम्बन्ध में मैसूर उच्च न्यायालय द्वारा **चन्द्रगुप्त** बनाम **सभापति, डाकतार बोर्ड**[1] वाले मामलों में मैसूर उच्च न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया गया था।

5. **जितेन्द्र जयन्तिया लाल** बनाम **गुजरात राज्य**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि ऐसा सरकारी सेवक जिसके विरुद्ध विभागीय जांच लम्बित है, उच्चतर पद पर प्रोन्नत किए जाने के लिए दावा कर सकता है। उच्चतर पद पर प्रोन्नति के लिए विचार किए जाने की बात को विधारित करना जबकि उक्त जांच लम्बित है, बिल्कुल भी दण्ड नहीं माना गया। किन्तु उसे उस दुष्कृत्य का परिणाम पाया गया जिसके सम्बन्ध में सम्बन्धित सरकारी सेवक के द्वारा किए जाने का अभिकथन किया गया है। हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ ने भी **रूपलाल** बनाम **राज्य**[3] वाले मामले में इसी प्रकार का मत अपनाया है। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि कोई ऐसा व्यक्ति जिसके विरुद्ध गम्भीर आरोप लगाए गए हैं और यदि आरोप इस प्रकार के हैं जिनके परिणामस्वरूप कड़ा दंड दिया जा सकता है, तो यह बात लोकहित में नहीं होगी और न प्रशासन के हित में होगी कि उसे प्रोन्नत केवल इस कारण ही कर दिया जाए क्योंकि सम्बन्धित जांच पूरी नहीं हुई है। तथापि जांच पूरी होने में बहुत अधिक समय लगने से ऐसे मामले में सरकारी सेवक को बहुत अधिक कठिनाई का अनुभव करना पड़ सकता है। अतः यह मत व्यक्त किया गया है कि ऐसे मामलों में उचित उपचार दिलाया जाना विभाग का काम है जो जांच शीघ्र पूरी करके किया जा सकता है।

---

1 1970 एस० एल० आर० 284.

2 1978 (2) एस० एल० आर० 728.

3 1980 एस० एल० जे० 384.

6. इस पहलू पर हमने विभिन्न दृष्टिकोणों पर विचार कर लिया है और अब हमें यह प्रतीत होता है कि दिल्ली, मैसूर, गुजरात और हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालयों द्वारा व्यक्त किए गए मत के सम्बन्ध में हम सादर सहमत हैं। आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा अपनाई गई स्थिति इसके विपरीत है। ऐसा इसलिए और है क्योंकि असम सरकार के एपाइंटमेंट (बी) विभाग की ओर से ऊपर वर्णित अधिसूचना द्वारा ऐसे मामले पर विचार किए जाने का विवर्जन नहीं है जिसमें सरकारी सेवक फंसे हों। किन्तु केवल सीलबन्द लिफाफे में सिफारिश के रखे जाने की बांछा की गई है। यह वर्णित किया जा सकता है कि ऊपर वर्णित कुछ मामलों में किसी मामले पर विचार न किए जाने को भी नुकसानदायक नहीं माना गया था चूंकि जांच के पूर्ण होने तक सम्बन्धित अधिकारी को प्रोन्नति से वंचित किया गया है, अतः ऐसी प्रोन्नति को स्थायी रूप से विधारित करना वास्तव में हीं नहीं माना जा सकता है। यह कि जो प्रक्रिया अनुध्यात की गई है, वह अंतःकालीन व्यवस्था है। इस प्रकार व्यक्त किया गया दृष्टिकोण बहुत अधिक सही है कि यदि किसी व्यक्ति की दक्षता या ईमानदारी पर संदेह किया जाता है, तो उसे ऐसे उच्चतर पद पर जिसके साथ उस पर जिम्मेदारी भी बढ़ जाती है, प्रोन्नत किया जाना लोकहित में नहीं होगा। कोई अधिकारी जो इस प्रकार की कार्यवाही का सामना कर रहा है, ऐसे व्यक्तियों के समान स्थिति में नहीं आता है जिनका अभिलेख साफ है। अतः विभेद का कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होता है। वास्तव में इस संदर्भ में श्री बरुआ ने ऐसी दलील नहीं दी है। अतः हम यह मत व्यक्त करते हैं कि यह बात संदेहपूर्ण है कि किसी अधिकारी का निलम्बित होना मात्र या उसके विरुद्ध किसी जांच का अनुध्यात किया जाना मात्र न्यायालयों द्वारा संवीक्षा किए जाने पर उचित ठहराया जाएगा। यह बात इस क्षेत्र में अनुच्छेद 21 के प्रवर्तन को ध्यान में रखकर कही गई है जैसा कि **बोर्ड आफ ट्रस्टीज बनाम दलीप कुमार**[1] वाले मामले में बतलाया गया है कि सम्यक् प्रक्रिया अभिव्यक्ति के अनुच्छेद 21 के खण्ड में स्थापित किए जाने से इस अनुच्छेद का व्याप्ति-क्षेत्र बढ़ गया है तथापि हम इस सम्बन्ध से इस कार्यवाही में अपनी कोई राय देने की प्रस्थापना नहीं करते हैं क्योंकि हमारे समक्ष एक ऐसा मामला है जिसमें पिटीशनर के विरुद्ध विभागीय कार्यवाही लम्बित है। हम एक अन्य उपरिका (राइडर) जोड़ते हैं। वह यह है कि हमारे अपने संदेह हैं यदि किसी कार्यवाही का लम्बित रहना भले ही ऐसा बहुत छोटे अभिकथन के आधार पर हो, इस सम्बन्ध में न्यायसंगत, उचित और तर्कपूर्ण माना जाएगा। तथापि प्रस्तुत मामला ऐसा मामला है जहां

[1] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 109.

पिटीशनर बहुत बड़ी राशि के दुर्विनियोग से सम्बन्धित कार्यवाही का सामना कर रहा है। अतः ऐसे आरोप को गम्भीर प्रकृति का माना जाना चाहिए।

7. श्री बरुआ की एकमात्र अन्य व्यथा यह है कि यद्यपि पिटीशनर को प्रोन्नति से वंचित किया गया था कि, प्रत्यर्थी सं० 24 जिसके विरुद्ध एक कार्यवाही लम्बित थी, 27-10-1979 को प्रोन्नत कर दिया गया यद्यपि उसके विरुद्ध जारी की गई कार्यवाही 23-1-1980 को ही पूरी हुई। चूंकि इस प्रत्यर्थी से सम्बन्धित प्रोन्नति का आदेश हमारे समक्ष नहीं है, अतः यह बात जानना कठिन हो गया है कि क्या उसकी प्रोन्नति भूतलक्षी रूप से तारीख 23-1-1980 के पश्चात् आदेश पारित करके की गई है। इसके अलावा चूंकि यह प्रत्यर्थी न्यायालय में हाजिर नहीं हुआ अतः हम यह जानने की स्थिति में नहीं हैं कि क्या उसकी स्थिति पिटीशनर की स्थिति के समान ही है। जैसा कि **श्री एस० एस० करीर**[1] वाले मामले में उल्लेख किया है जिसके सम्बन्ध में श्री राय द्वारा निर्देश किया गया है कि एक अवैधता दूसरी अवैधता करने के लिए आधार नहीं हो सकती क्योंकि दो गलतियां मिलकर एक सही नहीं बन जाती हैं।

8. मामले पर ऊपर वर्णित दृष्टिकोण से विचार करते हुए हमारी यह राय है कि एकमात्र अनुतोष जो हम पिटीशनर को दे सकते हैं, वह यह है कि हम प्रत्यर्थियों को यह निदेश दें कि वे उससे सम्बन्धित जांच की कार्यवाही तेजी से करवाएं। ऐसा निदेश 1981 के सिविल नियम सं० 680 में पहले ही आवेदन पर दिया जा चुका है जहां हमने यह भी वर्णित कर दिया है कि यदि 6 मास की कालावधि के दौरान जांच पूरी नहीं होती है तो सम्पूर्ण कार्यवाही ही अभिखंडित हो जाएगी। अतः हमारा यह विचार नहीं है कि इस मामले में कोई और अन्य आदेश अपेक्षित है। यदि पिटीशनर के मामले पर विचार नहीं किया गया था, तो मामले के अनुसार अब उस पर विचार किया जाए।

9. अतः प्रस्तुत पिटीशन—1981 के सिविल न्यादेश सं० 680 में व्यक्त किए गए मतों के अधीन खारिज किया जाता है।

न्या० टी० एन० सिंह :

मैं सहमत हूं।

पिटीशन खारिज किया गया।

मि०

---

[1] 1973 (1) एस० एल० आर० 961.

नि० प० 1984 : गोहाटी—53

मोतोई मियां और अन्य बनाम अब्दुल हक और अन्य

(Motoi Mia and others. *Vs.* Abdul Haque and others.)

तारीख 11 अगस्त, 1983

[न्या० (डा०) टी० एन० सिंह]

निर्वचन का सिद्धांत—मामले के किसी पहलू विशेष पर प्रभाव डालने वाले किसी कानून के विभिन्न उपबन्धों को एक साथ पढ़ा जाना चाहिए ताकि उनके बीच सम्भावित किसी विरोध से बचा जा सके और वास्तविक विधायी आशय इस प्रकार से प्राप्त किया जा सके जिससे दोनों उपबन्धों में समरस सह-अस्तित्व बना रह सके।

सिविल प्रक्रिया संहित, 1908—धारा 99 तथा आदेश 1, नियम 9 सपठित आदेश 1, नियम 10 (2) तथा आदेश 6, नियम 17, सपठित 1976 के संशोधन द्वारा प्रथम वर्णित उपबन्धों में जोड़ा गया परन्तुक—संहिता की धारा 99 तथा आदेश 1, नियम 9 में 1976 के संशोधन द्वारा आवश्यक पक्षकारों को वाद में जोड़ने से सम्बन्धित विधि में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है इसीलिए विधानमण्डल ने संहिता के आदेश 1, नियम 10 (2) और आदेश 6, नियम 17 में किसी प्रकार का परिणामिक संशोधन करना आवश्यक नहीं समझा।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908-1976 के संशोधन द्वारा धारा 99 और आदेश 1, नियम 9 में जोड़ा गया परन्तुक सपठित आदेश 1, नियम 10(2) तथा आदेश 6, नियम 17—उक्त परन्तुक का तात्पर्य वादी को वाद फाइल करने के अयोग्य बनाना नहीं है, यदि संहिता के आदेश 1, नियम 10 (2) और आदेश 6, नियम 17 के प्रयोग में न्यायालय द्वारा उसे वाद-पत्र में आवश्यक पक्षकार जोड़ने का अनुतोष दिया जा सकता है।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908-1976 के संशोधन द्वारा धारा 99 और आदेश 1, नियम 9 में जोड़ा गया परन्तुक सपठित आदेश 1, नियम 10 (2) तथा आदेश 6, नियम 17—उक्त परन्तुक का वास्तविक उद्देश्य यह नहीं है कि मात्र इस कारण से कि किसी वाद में आवश्यक पक्षकारों का अभाव है अतः वाद खारिज कर दिया जाना चाहिए—यदि ऐसा विनिश्चय किया जाता है तो उसे संहिता के असंशोधित उपचारक उपबन्धों द्वारा नहीं बचाया जा सकता।

भूमि के अपूर्ण विभाजन को प्रभावी किए जाने पर वादियों के तत्संबंधी अशो के अवधारण के लिए वाद किया गया था। अभिवाक किये जाने पर, 6 विवाद्यक विरचित किए गए थे जिनमें से विवाद्यक सं० 1, 3 और 5 का विनिश्चय वादियों के पक्ष में किया गया था। यह वाद विवाद्यक सं० 2 और 4 के बारे में न्यायाधीश द्वारा निकाले गए निष्कर्षों के आधार पर खारिज कर दिया गया था। ये विवाद्यक एक मामले में तो पक्षकारों के असंयोजन से और दूसरे मामले में वाद चलाये जाने की योग्यता से सम्बन्धित थे। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि वाद विभाजन के लिए था इसलिए सभी सह-अंशधारी आवश्यक पक्षकार थे और चूंकि साक्ष्य से यह पाया जा चुका है कि कुछ सह-अंशधारियों को वादियों ने वाद में पक्षकार नहीं बनाया था इसलिए उन्होंने विवाद्यक सं० 7 को यह अभिनिर्धारित करते हुए प्रतिवादियों के पक्ष में विनिश्चित कर दिया कि वादी किसी भी अनुतोष के लिए हकदार नहीं थे और तद्नुसार वाद खारिज कर दिया।

अपील करने पर विद्वान् अवर अपील न्यायालय ने विवाद्यक सं० 2 और 4 के बारे में साक्ष्य का पुर्नमूल्यांकन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि अवर न्यायालय के अनुसार पक्षकारों के बीच में झगड़े की जड़ यह थी कि क्या एक व्यक्ति इशान मिया भी, सह-अंशधारी था अथवा नहीं। अतः यह वाद विद्वान् अपील न्यायालय के अनुसार, इशान मिया के वारिसों को पक्षकार न बनाए जाने के कारण खारिज नहीं किया जा सकता था।

आक्षेपित निर्णय और डिक्री पर आक्षेप करते हुए अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह मुख्य दलील दी कि विद्वान् अपर न्यायालय ने विधि की दृष्टि से यह अभिनिर्धारित करने में गलती की है कि इस मामले को इस सुस्थिर विधि को देखते हुए पुरानी (असंशोधित) सिविल प्रक्रिया संहिता लागू होती थी कि प्रक्रिया के बारे में कोई निहित अधिकार नहीं हो सकता और चूंकि 1976 के सिविल प्रक्रिया संहिता संशोधन अधिनियम में धारा 99 और आदेश 1, नियम 9 में अन्तर्विष्ट सुसंगत उपबन्धों के सम्बन्ध में अभिव्यक्त रूप से कोई व्यावृत्ति नहीं की गई थी इसलिए उस मामले को असंशोधित उपबंध ही लागू होने चाहिएं थे। यह और निवेदन किया गया कि किसी भी दशा में यदि यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि इस मामले को असंशोधित उपबंध लागू होते हैं तो वादी धारा 99 या आदेश 1, नियम 9 में से किसी भी उपबंध का लाभ उठाने के हकदार नहीं हैं क्योंकि इन उपबंधों के अधीन जो कुछ बहुत गहन रूप से अनुध्यात किया गया है वह यह है कि कोई भी डिक्री उस दशा में उल्टी नहीं जाएगी या उसमें सारवान

फेरफार नहीं किया जाएगा और कोई भी मामला उस दशा में अपील में परिप्रेषित नहीं किया जाएगा जबकि त्रुटि या अनियमितता मामले के गुणागुण या न्यायालय की अधिकारिता को प्रभावित नहीं करती है। तथ्य यह और है कि कोई भी वाद ऐसे मामले में विफल नहीं होगा जहां कि त्रुटि मात्र साधारणत: पक्षकारों के असंयोजन या कुसंयोजन से सम्बन्धित है तथा ये उपबंध उस दशा में लागू नहीं होते जबकि मामला "आवश्यक पक्षकारों" के पक्षकार न बनाए जाने का मामला है।

इस मामले का मुख्य बिन्दु सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 6, नियम 17 के अधीन अभिवचनों का संशोधन अनुज्ञात करने के बारे में न्यायालय की शक्ति की व्याप्ति और सीमा का अवधारण करने में है, चूंकि जब किसी पक्षकार का नाम वाद में जोड़ दिए जाने के लिए अनुज्ञात कर दिया जाता है तो उसका अन्तिम परिणाम संशोधन में परिलक्षित होता है। एक मुद्दा यह भी है कि क्या संहिता में 1976 के संशोधन द्वारा धारा 99 और आदेश 1, नियम 9 में जोड़े गए परन्तुकों के कारण आवश्यक व्यक्तियों को वाद में पक्षकार न बनाए जाने के कारण वाद खारिज कर दिया जाना चाहिए और क्या ऐसे मामले में आदेश 1, नियम 10 (2) तथा आदेश 6, नियम 17 के उपबंधों के अधीन शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है।

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

ऐसे मामलों में सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 6, के नियम 17 के उपबंधों की प्रमुखता पर इस कारण भी बल दिया गया है कि हितकर निर्वचन का एक यह नियम है कि किसी मामले के पक्ष विशेष पर प्रभाव डालने वाले कानून के विभिन्न उपबधों को इसलिए एक साथ पढ़ा जाना चाहिए ताकि उनके बीच किसी सम्भाव्य परस्पर विरोध से बचा जा सके और ऐसी रीति में विधायी आशय को पढ़ा जा सके जो सुसंगत उपबंधों के बारे में समदर्शी सह-अस्तित्व की प्राप्ति कर सके। 'कार्य मात्र से आशय का पता चलता है', यह कहावत वस्तुत: इसी सिद्धांत का रूप है। वह विधि एक घिसी-पिटी विधि होती है जो प्रक्रिया को न्याय का मात्र एक सेवक समझती है और इसलिए न्यायालय ऐसे निर्वचन का पक्ष लेने का प्रयत्न करेंगे कि केवल किसी तकनीकी आधार पर वादी को वाद लाने में असमर्थ न बनाया जा सके। अत: इसी संदर्भ में सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 (2) के उपबंधों को भी पढ़ना आवश्यक होगा जो अन्य बातों के साथ-साथ, न्यायालय को किसी मामले में किसी पक्षकार को, कार्यवाही के किसी भी प्रक्रम पर वादी या प्रतिवादी के रूप में शामिल करने के लिए सशक्त करते हैं ताकि न्यायालय

"वाद में अन्तर्वलित सभी प्रश्नों के बारे में प्रभावी और पूर्ण रूप से न्याय-निर्णयन कर सके और वाद में अन्तर्विष्ट सभी प्रश्नों को तय कर सके।" (पैरा 6)

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 1, नियम 10 (2) और आदेश 6, नियम 17 के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए तथा विवेचित विभिन्न विनिश्चयों में प्रतिपादित विधिक स्थिति की विवेचना को ध्यान में रखते हुए मेरी यह दृढ़ राय है कि धारा 99 और आदेश 1, नियम 9 में दो परन्तुकों को जोड़कर सन् 1976 में सिविल प्रक्रिया संहिता में किए गए संशोधन द्वारा आवश्यक पक्षकारों के जोड़े जाने से सम्बन्धित विधि में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। इन सभी उपबंधों को एक साथ पढ़ा जाना होगा और इसलिए इस स्थिति पर ध्यान देना आवश्यक है कि दो परन्तुकों के जोड़े जाने के परिणामस्वरूप भी दो में से किसी भी उपबंध [आदेश 1, नियम 10 (2) और आदेश 6, नियम 17] के मामले में विधानमण्डल द्वारा किसी प्रकार का कोई संशोधन करना आवश्यक नहीं समझा गया था। अतः दोनों परन्तुकों का आशय वादी को वाद फाइल करने से वंचित करना नहीं है, यदि उसे न्यायालय द्वारा आदेश 1, नियम 10 और आदेश 6, नियम 17 के अधीन अपनी शक्ति के प्रयोग में अनुतोष उपलब्ध करा दिया जाता है। यह बात संदेह रहित है कि परन्तुक का साधारण तात्पर्य मुख्य उपबंध के प्रवर्तन की परिधि को मात्र सीमित करना या कम करना होता है। अतः परन्तुक आमतौर पर मुख्य उपबंध की परिधि को विस्तृत न तो करता है और न कर सकता है और न इसमें अपने आपमें ही कोई अधिष्ठायी अधिकार या नियम या प्रक्रिया ही अन्तर्विष्ट होती है। इस स्थिति के बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता कि धारा 99 और आदेश 1, नियम 9, दोनों ही उपचारात्मक उपबंध हैं। इन दोनों उपबंधों का उद्देश्य यह संसूचित करना है कि मुकदमों में एक ओर तो अति-विलम्बता से बचा जाय और दूसरी ओर उन तकनीकी बातों को न्याय के उद्देश्य को असफल बनाने नहीं दिया जाना चाहिए जो अनिवार्य रूप से प्रक्रिया पर अपना प्रभाव डालती हैं। मेरी राय में इन दो परन्तुकों के कारण किसी भी प्रकार से इस उद्देश्य पर प्रभाव नहीं पड़ा है। क्योंकि ऐसी दशा में इसका उद्देश्य स्पष्ट रूप से मुख्य भाग में अन्तर्विष्ट अधिष्ठायी उपबंधों के विरुद्ध होगा किन्तु निर्वचन के किसी भी सिद्धांत के द्वारा किसी परन्तुक को ऐसा परिणाम प्राप्त करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता। दोनों परन्तुकों का वास्तविक उद्देश्य यह है कि किसी भी वाद में आवश्यक पक्षकारों के अभाव में कोई विनिश्चय नहीं किया जाना चाहिए और यदि ऐसा किया जाता है तो ऐसा विनिश्चय मुख्य भाग में या धारा 99 और आदेश 1, नियम 9 के

ने भी पिटीशनर को सुना था और उसके द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण पर विचार किया था। इस प्रकार अंत में दिया गया निष्कर्ष कुलपति द्वारा गठित की गई समिति का नहीं है वरन् परिनियम 16 में वर्णित सक्षम प्राधिकारी कुलपति द्वारा दिया गया निष्कर्ष है। इस बात को उपाबंध ख-1 के पैराग्राफ 2 में और स्पष्ट कर दिया गया है। इस पैरा द्वारा पिटीशनर से यह स्पष्टीकरण देने के लिए कहा गया था कि सक्षम प्राधिकारी द्वारा प्रस्तावित दण्ड क्यों न दिया जाए। इस प्रकार आक्षेपित आदेश पर पिटीशनर द्वारा किये गये प्रहार का मुख्य आधार भी असफल है।

10. अब नैसर्गिक-न्याय के अतिक्रमण के बारे में यह है कि प्रदर्श ग-1 सक्षम प्राधिकारी ने पिटीशनर के स्पष्टीकरण पर विचार-विमर्श के बाद पारित किया था। इससे पूर्व पिटीशनर को दो सूचनाएं दी गई थीं। नैसर्गिक-न्याय के अतिक्रमण का प्रश्न वहां उत्पन्न होता है जहां पर किसी व्यक्ति के विरुद्ध उसकी सुनवाई किए बिना उसके अहित में कुछ किया जाता है। यह मामला इस प्रकार का नहीं है। विश्वविद्यालय के काउन्सेल द्वारा प्रस्तुत की गई फाइलों में मैंने एक टिप्पणी पाई है जिसमें पिटीशनर के हस्ताक्षर भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह टिप्पणी सक्षम प्राधिकारी द्वारा 21 दिसम्बर, 1982 को की गई कार्रवाइयों के बारे में है। अंतिम दो महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों को नीचे उद्धृत करना उपयुक्त होगा :—

> "विभिन्न बाहरी और अंदर के पृष्ठों के बीच में पंच सुराख और स्टैपल निशानों की असमानता के बारे में अन्य प्रश्नों की बाबत अभ्यर्थी कोई भी संतोषजनक उत्तर नहीं दे सका है। परीक्षा के संचालन से संसक्त किसी व्यक्ति से वैमनस्यता के बारे में उसने यह कहा कि उसकी ऐसे किसी व्यक्ति से कोई वैमनस्यता नहीं है जिसका सम्बन्ध परीक्षा से रहा हो और न ही वह ऐसे किसी व्यक्ति से विद्वेष रखता है जो परीक्षा के संचालन से संसक्त हो। उपरोक्त कथन सही है।"

इस सामग्री के होते हुए पिटीशनर पक्षपात या द्वेष भाव की दलील नहीं दे सकता।

11. पिटीशनर के काउन्सेल ने मेरा ध्यान इस न्यायालय के न्यायाधीश आनन्द द्वारा हरिदयाल और एक अन्य बनाम **जम्मू और कश्मीर राज्य और अन्य**[1]

---

[1]ए० आई० आर० 1977 जम्मू और कश्मीर 1.

में दिए गए विनिश्चय की तरफ आकृष्ट किया है जिसमें विद्वान् न्यायाधीश ने एक ऐसे विद्यार्थी के प्रवेश के पश्चात् निरस्तीकरण पर विचार किया था जिसका प्रवेश मेडिकल कालेज में हो गया था और वह कालेज फीस जमा करने के बाद कई प्राख्यानों में उपस्थित हुआ था। इस आदेश पर अन्य आधारों सहित इस आधार पर आक्षेप किया कि इसमें नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का अनुपालन नहीं किया गया है। उस मामले में अपेक्षित हेतुक दर्शित करने की सूचना जारी नहीं की गई थी। विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि सूचना देने की अपेक्षा को सिर्फ इस उपधारणा से विलग नहीं किया जा सकता कि अपने प्रवेश के निरस्तीकरण के बारे में ऐसे किसी सूचना का जवाब देने के लिए उस विद्यार्थी के पास प्रतिरक्षा के लिए कोई आधार नहीं था। यह विनिश्चय प्रस्तुत मामले के तथ्यों पर लागू नहीं होता।

12. उच्च और जिम्मेदार पूर्ण शैक्षणिक निकायों के बारे में व्यवहार करते समय न्यायालय की यह नीति रहती है कि वह उनके विनिश्चयों में तब तक हस्तक्षेप नहीं करता जब तक कि कोई बाध्यकर कारण न हो। **पी० एम० कुरीन** बनाम **पी० एल० राघवन और अन्य**[1] में न्यायाधीश **कृष्णा अय्यर** ने निम्नलिखित कहा है :—

> "न्यायालयों को उत्तरदायी शैक्षणिक निकायों के विनिश्चय को अपास्त करने में जल्दबाजी करने से इनकार करना चाहिए और अनुपालन करने में भय महसूस करना चाहिए......।"

बी० एम० उन्नीराजा और अन्य बनाम **प्रधानाचार्य, मैडीकल कालेज, त्रिवेंद्रम**[2] में मुझे निम्नलिखित मत व्यक्त करने का अवसर प्राप्त हुआ था :—

> "शैक्षणिक निकायों द्वारा दिए गए विनिश्चयों पर विचार करने में संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन की अपनी विवेकाधिकार सम्बन्धी शक्तियों का प्रयोग करते समय साधारणतया न्यायालयों की कतिपय सीमाओं और स्वयं अधिरोपित निर्वन्धन होते हैं। न्यायालयों ने उच्च शैक्षणिक निकायों द्वारा दिए गए विनिश्चयों में हस्तक्षेप करने से अपने को तब तक बराबर दूर रखा है जब तक कि इन निकायों द्वारा दिए गए आदेशों में उन्हें यह पता न चले कि यह आदेश पक्षपात या विद्वेष पर आधारित हैं......"

इस निर्णय में केरल उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने उन विद्यार्थियों की प्रेरणा पर, जिन पर गंभीर रूप से गलत तरीके अपनाने का अभियोग था,

---

[1] ए० आई० आर० 1970 केरल 142.

[2] ए० आई० आर० 1983 केरल 200.

कुछ ऐसे ही पिटीशनों पर विचार किया जिनमें ऐसे प्रश्न उठाए गए थे जो मेरे समक्ष वाले पिटीशन में उठाए गए हैं। मैं स्वयं अभिनिर्धारित की गई राय पर अडिग हूं और यह अभिनिर्धारित करता हूं कि मेरे समक्ष वाला मामला ठीक उसी प्रकार का है। मेरे मतानुसार उच्च शैक्षणिक निकाय द्वारा पारित आक्षेपित आदेश, जिसमें गलत तरीके अपनाए जाने के काफी गंभीर आरोप थे, एक ऐसा विनिश्चय है जो सम्यक् विचार-विमर्श और प्रक्रिया के नियमों तथा नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का यथावत् रूप से पालन करते हुए लिया गया है, अतः इसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है।

13. उपाबंध 'ग' के द्वारा पिटीशनर को यह बताया गया कि वह अधिसूचना जारी किए जाने की तारीख से 45 दिन के भीतर सिंडीकेट अपील फाइल कर सकता था, यदि वह इस आदेश के द्वारा व्यथित है। उसके द्वारा फाइल किये गये पिटीशन में इस तथ्य को प्रकट नहीं किया गया है कि क्या उसने इस अनुतोष का नाम लिया है। अभिषद् अपील में तथ्यों और साक्ष्य पर अपनी रिट अधिकारिता के अधीन इस न्यायालय से अधिक इस उपचार का आशय न लिए जाने के बारे में कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है।

14. विश्वविद्यालय पर शैक्षणिक पद्धति को चालू रखने, उसमें उत्पन्न हुई गंदगी को दूर करने, अस्वस्थ पद्धति का मार्जन करने तथा अपने विद्यार्थियों की सक्षमता और दक्षता के बारे में जनसाधारण में विश्वास जागृत करने की बड़ी भारी जिम्मेदारी है यह शांत नहीं रह सकती और पिटीशनर की भांति के विद्यार्थियों को दण्ड दिए बिना भी नहीं रह सकती। ऐसे मामले में कार्यवाही न करने से समाज में इसकी छवि गिरेगी और जन साधारण के मन में सम्पूर्ण शैक्षणिक व्यवस्था के प्रति विश्वास नष्ट हो जाएगा। विश्वविद्यालय के कुछ विभागों में इस प्रकार के लालची व्यक्तियों के प्रति मैं अपनी आखें बन्द नहीं रख सकता; जो पिटीशनर की तरह के व्यक्तियों से धन प्रांप्त करते हैं और जो इस प्रकार की गलत परिपाटी के पीछे हैं, क्योंकि इस प्रकार के गलत व्यक्तियों की सहायता के बिना पिटीशनर की तरह के व्यक्ति इस प्रकार के गलत कार्यों को नहीं कर सकते। मैं आशा करता हूं कि उनके साथ भी निर्दयतापूर्वक कार्रवाई की जाए।

यह रिट पिटीशन असफल है, अतः इसे खारिज किया जाता है।

रिट पिटीशन खारिज किया गया

शर्मा/बंसल

नि० प० 1984 : जम्मू-कश्मीर—44

धीरेन्द्र ब्रह्मचारी बनाम जम्मू-कश्मीर राज्य

(Dhirendra Brahamchari *Vs.* State of J. & K.)

तारीख 7 दिसम्बर, 1983

[मु० न्या० वी० खालिद]

जम्मू-कश्मीर क्रिमिनल प्रोसीजर कोड, 1933—धारा 497(ए)—पिटीशनर द्वारा अजमानतीय अपराधों के बारे में अपनी प्रत्याशित गिरफ्तारी के लिए अग्रिम जमानत हेतु आवेदन किया जाना—यदि कोई व्यक्ति न्यायालय का यह समाधान कर देता है कि उसे अजमानतीय अपराध के लिए गिरफ्तार किए जाने का डर है तो न्यायालय अग्रिम जमानत मंजूर कर सकता है किन्तु इससे उस व्यक्ति को जमानत को साधिकार मंजूर कराने का अधिकार नहीं मिल जाता क्योंकि न्यायालय अग्रिम जमानत को मंजूर करने या उससे इनकार करने में अपने विवेक का प्रयोग कर सकेगा।

इस आवेदन में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या किसी व्यक्ति को अग्रिम जमानत को साधिकार मंजूर कराने का अधिकार होता है अथवा न्यायालय इसके लिये अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है ?

अभिनिर्धारित—आवेदन मंजूर किया गया।

अग्रिम जमानत के लिए न्यायालय में पहुंचने वाले व्यक्ति को हकदार बनाने के लिए इन दो शर्तों का समाधान किया जाता है: (1) कि उसे यह डर है कि उसे गिरफ्तार किया जाएगा और (2) यह कि प्रत्याशित गिरफ्तारी अजमानतीय अपराध के लिए है। यदि केवल इन दो शर्तों का समाधान हो जाता है तो आवेदन कायम रखा जा सकता है। किन्तु इससे किसी को जमानत को साधिकार मंजूर कराने का अधिकार नहीं मिल पाता। न्यायालय को प्रत्येक मामले में उसके तथ्यों पर विचार करने का विवेक रहता है और अग्रिम जमानत मंजूर करने या उससे इनकार करने का भी विवेक रहता है। यह कहना पर्याप्त है कि पिटीशनर का काउन्सेल अपनी इस दलील में उचित नहीं है कि न्यायालय के समक्ष अग्रिम जमानत को मंजूर कराने के लिए आवेदक को उस समय अधिकार मिल जाता है जब वह न्यायालय का इस बारे में समाधान कर देता है कि उसे अजमानतीय अपराध के लिए गिरफ्तार किया जा सकता है। इससे भी अधिक किए जाने की जो आवश्यकता है वह न्यायालय के विवेक पर निर्भर करता है। यह कहना पर्याप्त होगा कि प्रकट किये गये तथ्य गम्भीर प्रकृति के है। अभिकथनों के शाखा

विस्तार की पूरी जांच करनी बहुत जरूरी है क्योंकि चारों तरफ विद्यमान चिन्ताजनक स्थिति के संदर्भ में ऐसा करना बहुत आवश्यक है। यह गम्भीर अभिकथन है कि पिटीशनर ने बिना विधिमान्य दस्तावेजों के विदेश से तैयार की गई बन्दूकें आयात की हैं। इसके अतिरिक्त यह भी अभिकथित किया गया है कि पेश की गई दस्तावेजों को भी गड़बड़ किया गया है। न्यायालय पिटीशनर द्वारा दिये गये इन अभिकथनों के ऊपर कुछ कारण से टिप्पणी नहीं करता है कि इन अभिकथनों की शुद्धता उपयुक्त प्रक्रम पर देखी जायेगी और अब नहीं, किन्तु न्यायालय 24 नवम्बर, 1983 और 1 दिसम्बर, 1983 के बीच चिन्ताजनक परिवर्तन की अनदेखी नहीं कर सकता। 24 नवम्बर, 1983 को विद्वान् महाधिवक्ता ने न्यायालय के समक्ष स्पेन में बनाई गई बन्दूक की नाली और जर्मनी में बनाए गए बट प्रदर्शित किए। उसने यह कहा कि ये शैड नम्बर 6 से अभिगृहीत किए गए संघटक के भाग थे और ऐसी प्रकृति वाली 500 बन्दूकें भी अभिगृहीत की गई थीं, उस समय पिटीशनर की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान काउन्सेल ने इस बारे में कोई विवाद नहीं किया था कि ऐसी बन्दूकें उसके कारखाने से अभिगृहीत की गई थीं। जो कुछ भी उसने कहा था वह यह था कि महाधिवक्ता द्वारा प्रदर्शित करना न्यायालय को गुमराह करना था और उस पर प्रतिकूल प्रभाव डालना था। किन्तु 1 दिसम्बर, 1983 को पिटीशनर की ओर से हाजिर होने वाले उसी काउन्सेल ने यह जोरदार प्राख्यान किया कि पहले अवसर पर प्रदर्शित की गई बन्दूक का 500 अभिगृहीत बन्दूकों का पिटीशनर की फर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है और यह कि वे पुलिस द्वारा अपने कारखाने में विनिर्मित की गई थीं। इस प्राख्यान से महाधिवक्ता और मध्यक्षेपी की ओर से हाजिर होने वाले काउन्सेल से एक तीव्र प्रतिक्रिया हुई। किन्तु पिटीशनर के काउन्सेल ने एक अन्य बन्दूक की नाली और कुछ संघटक भाग कपड़े के टुकड़े में लपेटे हुए प्रदर्शित किए और यह कहा कि ये वे भाग थे जो कि पिटीशनर के कारखाने में विनिर्मित किए गए थे। उन्होंने न्यायालय को यह बताने का प्रयास नहीं किया था कि ये तैयार की गई बन्दूक की नालियां और अन्य भाग उसके द्वारा कहां से अभिप्राप्त किए गए थे। 24 नवम्बर, 1983 को न्यायालय ने यह महसूस किया कि केवल यह देशी प्रक्रिया है कि पिटीशनर का कारखाना स्वयं स्पेन में बनी बन्दूक की नाली और जर्मनी में बने वट को जोड़ने में कार्यरत है, जिससे एक परिसाधित बन्दूक बन जाती है। उस तारीख को न्यायालय का यह विचार था कि न्यायालय के समक्ष जो कुछ प्रदर्शित किया गया था, पिटीशनर के कारखाने से अभिगृहीत की गई बन्दूकों के भाग थे। उस समय न्यायालय ने मामले में और आगे जांच करना ठीक नहीं समझा था। अब न्यायालय प्रत्यक्षतः इस तथ्य को नहीं छुपा सकता और पिटीशनर के काउन्सेल द्वारा न्यायालय के समक्ष किए गए जोरदार शब्दों में

प्राख्यान को पूर्णतः नहीं झुटला सकता कि पिटीशनर का कारखाना इन परिसाधित उत्पादों का स्वामी था। यह चिन्ताजनक परिवर्तन न्यायालय को यह अभियुक्ति करने के लिए मजबूर करता है कि मामले में और अधिक बारीकी से पूरी जांच की जानी चाहिए। एक अन्य परिवर्तन हुआ जिससे न्यायालय को क्षोभ कारित हुआ। उसके तथ्य ये हैं कि पिटीशनर इस न्यायालय द्वारा पारित आदेश द्वारा स्वतंत्र किए जाने के पश्चात् प्रेस वालों से मिला और उसने मामले के सम्बन्ध में अभियुक्तियां दीं। पिटीशनर के काउन्सेल ने इस बात को स्वीकार किया है और इसके लिए क्षमा मांगी है। यह अभियुक्ति देना आवश्यक है कि पिटीशनर का ऐसा आचरण बिल्कुल ही अनुचित है और विधि की प्रक्रिया में रुकावट डालने वाला है। न्यायालय द्वारा उसकी जमानत मंजूर करने में उसमें हस्तक्षेप करके थोड़ा दुरुपयोग किया गया है अपराध का कोई अभियुक्त व्यक्ति उसको पूछताछ के समय उसकी सहायता करने के लिए अधिवक्ता की उपस्थिति की मांग साधिकार नहीं कर सकता। यदि काउन्सेल उपस्थित है भी तो भी उसे उस समय चुप रहना होता है जबकि अभियुक्त व्यक्ति से पूछताछ की जा रही है न्यायालय इन पश्चात् वर्ती परिवर्तनों के बारे में चिन्ता व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता किन्तु चूंकि पिटीशनर ने पूछताछ के लिए अपने आपको पेश करने में पुलिस के साथ सहयोग किया है इसलिए न्यायालय अपने तारीख 25 नवम्बर, 1983 के आदेश में न्यायालय द्वारा दिए गए पूर्व निदेशों को उसके साथ संलग्न शर्तों के साथ आगामी आदेशों तक प्रभावी रखने का आदेश देता है। यदि पिटीशनर द्वारा उक्त शर्तों में से किसी शर्त का अतिक्रमण किया जाता है तो राज्य को उसकी जमानत को रद्द कराने के लिए न्यायालय में कार्यवाही करने की स्वतंत्रता होगी। इस मामले को समाप्त करने से पूर्व न्यायालय इस राज्य के समान छोटे और सुरक्षा की दृष्टि से नाजुक राज्य में बन्दूकों के कारखानों के आधिक्य के बारे में अत्यधिक चिन्ता अभिव्यक्त करता है। प्रस्तुत संदर्भ में इन कारखानों के ऊपर बहुत अधिक सतर्कता और निगरानी रखने की आवश्यकता है। असैनिक प्रयोग के लिए भी बन्दूकों का विनिर्माण सामान्यतः केन्द्रीय सरकार के अधिकार में होना चाहिए। कोई भी यह अंदाजा लगा सकता है कि क्या इन कारखानों में छुपे तौर पर विनिर्मित बन्दूकें ऐसे स्थानों को भेजी जाती हैं जहां उन्हें राष्ट्र-विरोधी क्रियाकलापों में प्रयोग किया जा सकता है। राज्य में बन्दूक के कारखानों का इतना अधिक होना, चाहे उसका कारण ऐतिहासिक हो या अन्यथा, उनके बारे में कड़ी सतर्कता बरतनी होगी और यह देखना होगा कि विनिर्मित प्रत्येक बन्दूक का हिसाब रखा जाए। जब न्यायालय यह कहता है तो उससे किसी अन्य बन्दूक के कारखाने के बारे में संदेह नहीं करता है। इससे चारों

तरफ फैली हुई प्राक्षेपिकी क्रियाशीलता के बारे में चिन्ता व्यक्त की जाती है। (पैरा 6, 8, 9, 10, 11, 12 और 13)

पैरा

[1981] [1981] 1 उम० नि० प० 1231=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1632 : गुरबख्श सिंह सीबिया और अन्य बनाम सर्वजीत सिंह और अन्य (Gurbaksh Singh Sibbia and others *Vs.* Sarvjeet Singh and others) का अवलम्ब लिया गया। 6

[1979] [1979] 2 उम० नि० प० 380=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1025 : (श्रीमती) नन्दनी सत्पथी बनाम पी० एल० दानी और एक अन्य (Shrimati Nandini Satpathy *Vs.* P. L. Dani and another) 10

से प्रभेद बताया गया।

दाण्डिक अधिकारिता : 1983 का अग्रिम जमानत का आवेदन सं० 68.

जम्मू-कश्मीर क्रिमिनल प्रोसीजर कोड, 1933, की धारा 497-ए के अधीन फाइल किया गया आवेदन।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री ओ० पी० शर्मा, जोगिन्द्र सिंह और के० आर० गुप्ता

प्रत्यर्थी की ओर से ... सर्वश्री महाधिवक्ता और आर० पी० सेठी

मु० न्या० खालिद :

यह दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 497-ए के अधीन पिटीशनर को अग्रिम जमानत को मंजूर करने के लिए इस आधार पर फाइल किया गया है कि उसे यह विश्वास करने का कारण है कि उसे भारतीय आयुद्ध अधिनियम की धारा 3/5, 10, 12, 25, 26 और 30 के अधीन दण्डनीय अपराधों और अन्य अजमानतीय अपराधों के लिए गिरफ्तार किया जा सकता है। पिटीशन में यह कथन किया गया है कि उसके अनेक बाहुल्य क्रियाकलापों और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए प्रयोजनों में से वह औद्योगिक समुत्थानों में भी कार्यरत है। ऐसी औद्योगिक परियोजना, जिसमें वह एक भागीदार है, "शिव गन फैक्टरी" है जिसमें एम० एल/ बी० एल० बन्दूकों के विनिर्माण का कारबार चलाया जा रहा है। यह कारखाना (फैक्टरी) भारतीय आयुद्ध अधिनियम के उपबन्धों के अधीन अनुज्ञप्ति है। यह

कारखाना 3.000 बन्दूकों का प्रति वर्ष विनिर्माण करने के लिए प्राधिकृत है। इस प्रकार अनुज्ञात बन्दूकों के विनिर्माण विधि के उपबन्धों के अनुसार संसार में कहीं से अभिप्राप्त संघटकों द्वारा किया जा सकता है। तद्नुसार संघटक भाग विधि के अनुसार मैसर्स केरेरो वाई० अस्टेलेरा, स्पेन से आयात किए गए थे। पिटीशनर के अनुसार संघटक भागों का स्पेन से आयात इसे शासित करने वाले नियमों और विनियमों के अनुसार ही था। पिटीशनर ने अपनी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के कारण कुछ व्यक्तियों से "शत्रुता" मोल ले ली है और पिटीशनर को यह जानकारी मिली कि 1983 की एक दाण्डिक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं० 364 थाना गांधी नगर, जम्मू में उसके विरुद्ध दर्ज की गई है। परिवाद का सार यह है कि बंदूक की नालियां (बैरल्स) और बन्दूकें विदेशी पहचान चिह्न के साथ फर्म के शेड सं० 6 में भण्डार की गई हैं, जिसका पिटीशनर एक भागीदार है और जिससे आयुद्ध अधिनियम के सुसंगत उपबन्धों का अतिक्रमण होता है। तीन व्यक्ति गिरफ्तार किए गए थे। इस गिरफ्तारी का व्यापक रूप से प्रचार किया गया था। उक्त व्यक्तियों की गिरफ्तारी की खबर प्राप्त करके पिटीशनर को काफी आश्चर्य हुआ। समाचार-पत्रों से उसे यह जानकारी मिली थी कि उसकी गिरफ्तारी के लिए भी कदम उठाए जा रहे हैं। इस बारे में पिटीशन में अनेक अन्य विवरण अंतर्विष्ट हैं कि आशंकित गिरफ्तारी असद्भापूर्ण है और उसको गिरफ्तार करने के लिए एक विशेष दल दिल्ली आ रहा है। उसे भय है कि उसका अपमान करने के लिए उसे गिरफ्तार किया जाएगा और उसे जनता की नजरों में गिराया जाएगा जो कि उसके लिए बहुत सम्मान रखती है। इसलिए जमानत मंजूर करने के लिए यह आवेदन किया गया है। आवेदन के साथ पिटीशनर ने यह दर्शाने के लिए कुछ उपाबन्ध पेश किए हैं कि बन्दूकों के विनिर्माण का कार्य पूर्णतः विधि के अनुसार ही किया जा रहा था। उसने अपने मामले को औचित्यपूर्ण ठहराने के लिए इस बारे में प्रमुख समाचार-पत्रों से उद्धरण भी पेश किए हैं कि उसकी गिरफ्तारी जल्दी ही होने वाली है।

2. राज्य ने विद्वान् महाधिवक्ता के माध्यम से आवेदन के लिए आक्षेप फाइल किए हैं। आक्षेपों में निम्नलिखित तथ्य प्रकट किए गए हैं :—

> विश्वसनीय जानकारी के प्राप्त होने पर पुलिस ने मैसर्स शिव गन फैक्टरी, इन्डस्ट्रियल ऐस्टेट गांधी नगर, जम्मू के शैड नम्बर 6 की तलाशी ली थी और उसकी प्रथम मंजिल से 500 बन्दूक की नालियां और सम्बद्ध संघटक अभिगृहीत किए गए थे। वे जापान में बनाए गए थे। प्रबंधक, भण्डारी और एक भागीदार, जो वहां पर उपस्थित थे, उन अग्नि शस्त्रों के सम्बन्ध में किसी दस्तावेज के पेश करने में असफल रहे थे। 19 नवम्बर, 1983 को भागीदार ने एक अनुज्ञप्ति पेश की थी जो कि

उसको केवल शैड नम्बर 9 पर 3,000 एच० एल०/बी० एल० बन्दूकों के विनिर्माण के लिए प्राधिकृत करती थी। अनुज्ञप्ति विदेशी अग्नि शस्त्रों के संघटकों के समंजन के प्रयोजन के लिए विधिमान्य नहीं थी। अभिगृहीत बन्दूक की नालियां और अग्नि-शस्त्र यंत्रीकरण विदेशी बन्दूकों के सम्पूर्ण संघटक थे और जो कुछ किया जाना अपेक्षित था उन्हें पूरी बन्दूक बनाने के लिए उनको फिट करना था। कोई विधिमान्य आयात अनुज्ञप्ति पेश नहीं की गई थी। पुलिस ने आयुद्ध अधिनियम के उपबन्धों के उल्लंघन का संदेह किया और आयुद्धों को छुपे तौर पर आयात करने और उनके अननुज्ञप्ति परिसरों में भण्डार रखने के बारे में भी संदेह किया। इस अभियोग का पूरा अन्वेषण किया जाना था, जिसके लिए सम्बद्ध व्यक्तियों से पूछताछ किया जाना बहुत आवश्यक था और पिटीशनर, जो कि फर्म का प्रमुख भागीदार है, भी पूछताछ की जानी थी। आक्षेपों में यह कहा गया है कि यदि पिटीशनर को जमानत पर रिहा कर दिया जाता है तो उससे अन्वेषण में बाधा पड़ेगी। यह भी कहा गया है कि वह अभियोजन साक्षियों पर दबाव डालेगा।

3. श्री भरत विनोद दत्त, भूतपूर्व निगम पार्षद् ने एक आवेदन फाइल किया जिसमें उसने मध्यक्षेपी के रूप में पिटीशन में विनिश्चय के लिए इस न्यायालय की सहायता करने की आज्ञा मांगी थी। पिटीशन में यह कहा गया है कि श्री धर्म चन्द नामक व्यक्ति केवल बन्दूकों की मरम्मत के लिए अनुज्ञप्ति रखता था और यह कि पिटीशनर ने उक्त अनुज्ञप्ति को अपने प्रभाव का प्रयोग करते हुए बन्दूक विनिर्माण अनुज्ञप्ति में सम्परिवर्तित करा लिया। इस प्रकार से सम्परिवर्तित अनुज्ञप्ति मूल अनुज्ञप्तिधारी और पिटीशनर के नाम में परिवर्तित की गई थी। बन्दूकों का विनिर्माण उन परिसरों में शुरू किया गया था जहां पर उसका कोई अधिकार नहीं था। पिटीशनर के पास उक्त अभिगृहीत बन्दूकों के आयात करने के लिए विधिमान्य दस्तावेज नहीं था। पिटीशनर के विरुद्ध अभियोग गम्भीर प्रकृति का है और उसकी जमानत मंजूर नहीं की जानी चाहिए क्योंकि जमानत मंजूर करने से अन्वेषण के अनुक्रम में गम्भीर रूप से प्रभाव पड़ेगा।

4. इस न्यायालय के एक अधिवक्ता, श्री भीम सिंह ने भी उसको मध्यक्षेप करने की अनुज्ञा के लिए एक आवेदन फाइल किया। आवेदन में ऐसी सामग्री अंतर्विष्ट है जो कि पिटीशन के लिए सुसंगत नहीं है यद्यपि पिटीशन में यह कथन किया गया है कि पिटीशनर, शिव गन फैक्टरी के पक्ष में अनुज्ञप्ति के आधार पर स्पेन में बनाई गई अभिगृहीत बन्दूकों का आयात नहीं कर सकता है।

5. 25 नवम्बर, 1983 को मैंने पिटीशनर को अग्रिम जमानत मंजूर करते हुए और उस पर कतिपय शर्तों का पालन करने के लिए शर्तें अधिरोपित करते हुए आदेश पारित किए थे। मैंने मामले को मेरे समक्ष 1 दिसम्बर, 1983 को पेश करने के लिए कहा था। उस दिन मेरे समक्ष मामले में विस्तार से बहस की गई थी। पिटीशनर ने अपने मामले के समर्थन में एक शपथपत्र के साथ और दस्तावेज भी पेश किए।

6. मैं पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दिए गए इस प्रभाव के बारे में भ्रम दूर करना चाहूंगा जिसका उन्होंने **गुरबख्श सिंह सीबिया और अन्य बनाम सर्वजीत सिंह और अन्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लेते हुए यह कहा था कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 497(ए) के अधीन आवेदन में आवेदक को जो कुछ अग्रिम जमानत अभिप्राप्त करने के लिए करना होता है, वह है न्यायालय का इस बारे में समाधान करना कि उसे यह आशंका है कि उसे गिरफ्तार किया जाएगा। इस प्रकार न्यायालय ने कोई विधि अधिकथित नहीं की है। उच्चतम न्यायालय के समक्ष इस मामले से भिन्न प्रकृति का मामला था जैसा कि मेरे समक्ष है। उस मामले की पृष्ठभूमि उसके पैरा 8 में व्यक्त किए गए निम्नलिखित मतों से अच्छी प्रकार समझी जा सकती है :—

> "किन्तु कभी-कभी अपराधों, अपराधियों और परिवादियों की भी असाधारण विशिष्टताएं हो सकती हैं, जबकि जीवन की शान्त धारा में गन्दगी आ जाती है, तो पुलिस से यह कहा जाता है कि वह राजनीतिक प्रतिद्विन्द्वता के परिणामस्वरूप लगाए गए आरोपों की जांच करे। तब अपने परतर उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दण्ड विधि की शक्तिशाली प्रक्रियाओं को उलट-पुलट दिया जाता है। जबकि पुलिस अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र के भीतर स्वतंत्र अभिकर्ता नहीं रहती है, तो ऐसे अन्वेषणों के परिणामस्वरूप काफी असुविधा, परेशानी तथा अपमान होता है। वह सामान्य व्यक्ति को हथकड़ी लगाकर सड़क पर परेड करने का रूप धारण कर सकता है, जो कि आभासी रूप से न्यायालय की ओर ले जाने का प्रदर्शन-मात्र हो सकता है। बुरी बात उस समय की जाती है, जबकि किसी प्रतिद्वंद्वी को सामाजिक उपहास और बदनामी का पात्र बनाया जाता है और यह बात महत्वहीन रहती है। ऐसी कि दोषसिद्धि कब होती है या क्या वह कतई सम्भव है। ऐसी स्थितियों का मुकाबला करने की दृष्टि से ही, यद्यपि वे उन आकस्मिकताओं तक ही सीमित नहीं हैं,

---

[1] [1981] 1 उम० नि० प० 1231=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1632.

अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की शक्ति 1973 की संहिता में पुरःस्थापित की गई है।"

अग्रिम जमानत के लिए न्यायालय में पहुंचने वाले व्यक्ति को हकदार बनाने के लिए इन दो शर्तों का समाधान किया जाना है :(1) कि उसे यह डर है कि उसे गिरफ्तार किया जाएगा और (2) यह कि प्रत्याशित गिरफ्तारी अजमानतीय अपराध के लिए है। यदि केवल इन दो शर्तों का समाधान हो जाता है तो आवेदन कायम रखा जा सकता है। किन्तु इससे किसी को जमानत को साधिकार मंजूर कराने का अधिकार नहीं मिल पाता। न्यायालय को प्रत्येक मामले में उसके तथ्यों पर विचार करने का विवेक रहता है और अग्रिम जमानत मंजूर करने या उससे इनकार करने का भी विवेक रहता है। उच्चतम न्यायालय ने उपर्युक्त मामले में अग्रिम जमानत को मंजूर करने के लिए न्यायालय की शक्तियों का उल्लेख किया और दिए गए मामले में उसकी विशिष्ट तथ्यों के सम्बन्ध में न्यायालय में निहित विवेक का भी उल्लेख किया है। पैरा 14 में उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

"उन विषयों के सम्बन्ध में, जो कि विवेकाधिकार पर निर्भर होते हैं, साधारणीकरण से तथा व्यापक रूप से लागू करने के लिए आवश्यक फार्मूले की तब खोज करने की कोशिश से जबकि एक मामले से दूसरे मामले के तथ्यों का भिन्न होना निश्चित है, विवेकाधिकार प्रदत्त करने के प्रयोजन में बाधा उत्पन्न होती है। तथ्यों के आधार पर दो मामले समान नहीं होते और इसी कारण से, यदि वैवेकिक शक्ति के प्रदत्त करने को अर्थपूर्ण होना है, तो, न्यायालयों को ऐसे संयोजन में कुछ स्वतन्त्रता देनी चाहिए। अग्रिम जमानत अनुदत्त करने में सेशन न्यायालय और उच्च न्यायालय की विस्तृत विवेकाधिकार देने में कोई भी जोखिम अन्तर्वलित नहीं है, क्योंकि प्रथमतः वे ऐसे उच्चतर न्यायाल हैं जिनमें अनुभवी व्यक्ति काम करते हैं, द्वितीयतः उनके आदेश अन्तिम नहीं होते, किन्तु उनकी अपीली या पुनरीक्षणात्मक समीक्षा की जा सकती है और इन सब के अलावा इसलिए भी क्योंकि न्यायालयों द्वारा विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायिक रूप सें, न कि खब्त, सनक या अटकल के आधार पर किया जाता है। दूसरी ओर, ऐसे मामलों के प्रवर्गों को पूरोबन्धित करने में जोखिम है, जिनमें अग्रिम जमानत इसलिए अनुज्ञात की जा सकती है, क्योंकि जीवन में अप्रत्याशित सम्भावनाएं होती हैं और नई-नई चुनौतियां सामने आती हैं।"

यह कहना पर्याप्त है कि पिटीशनर का काउन्सेल अपनी इस दलील में उचित नहीं है कि न्यायालय के समक्ष अग्रिम जमानत को मंजूर कराने के लिए आवेदक

को उस समय अधिकार मिल जाता है जब वह न्यायालय का इस बारे में समाधान कर देता है कि उसे अजमानतीय अपराध के लिए गिरफ्तार किया जा सकता है। इससे भी अधिक किए जाने की जो आवश्यकता है वह न्यायालय के विवेक पर निर्भर करता है।

7. दोनों ओर के काउन्सेलों ने आयात और निर्यात नीति (रेड बुक और उसके विभिन्न अनुसूचियों) के सुसंगत उपबन्धों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। किसी भी ओर से दी गई दलीलों की विधिमान्यता पर विनिश्चय करना समय से पूर्व बात होगी और इसलिए मैं ऐसा नहीं करता हूं।

8. चूंकि यह केवल जमानत के लिए आवेदन है, अतः मैं यह नहीं समझता हूं कि मैं मामले के गुणागुण को देखने में औचित्यपूर्ण रहूंगा। यह कहना पर्याप्त होगा कि प्रकट किए गए तथ्य गम्भीर प्रकृति के हैं। अभिकथनों के शाखा विस्तार की पूरी जांच करनी बहुत जरूरी है क्योंकि चारों तरफ विद्यमान चिन्ता-जनक स्थिति के संदर्भ में ऐसा करना बहुत आवश्यक है। यह गम्भीर अभिकथन है कि पिटीशनर ने बिना विधिमान्य दस्तावेजों के विदेश से तैयार की गई बन्दूकें आयात की हैं। इसके अतिरिक्त यह भी अभिकथित किया गया है कि पेश की गई दस्तावेजों को भी गड़बड़ किया गया है। मैं पिटीशनर द्वारा दिए गए इन अभिकथनों के ऊपर कुछ कारणों से टिप्पणी नहीं करता हूं कि इन अभिकथनों की शुद्धता उपयुक्त प्रक्रम पर देखी जाएगी और अब नहीं। किन्तु मैं 24 नवम्बर, 1983 और 1 दिसम्बर, 1983 के बीच चिन्ताजनक परिवर्तन की अनदेखी नहीं कर सकता। 24 नवम्बर, 1983 को विद्वान् महाधिवक्ता ने मेरे समक्ष स्पेन में बनाई गई बन्दूक की नाली और जर्मनी में बनाये गये बट प्रदर्शित किए। उसने यह कहा कि यें शैड नम्बर 6 से अभिगृहीत किए गए संघटक के भाग थे और ऐसी ही प्रकृति वाली 500 बन्दूकें भी अभिगृहीत की गई थीं। उस समय पिटीशनर की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने इस बारे में कोई विवाद नहीं किया था कि ऐसी बन्दूकें उसके कारखाने से अभिगृहीत की गई थीं। जो कुछ भी उसने कहा था वह यह था कि महाधिवक्ता द्वारा प्रदर्शित करना न्यायालय को गुमराह करना था और मुझ पर प्रतिकूल प्रभाव डालना था। किन्तु 1 दिसम्बर, 1983 को पिटीशनर की ओर से हाजिर होने वाले उसी कान्उसेल ने यह जोरदार प्राख्यान किया कि पहले अवसर पर प्रदर्शित की गई बन्दूक को 500 अभिगृहीत बन्दूकों का पिटीशनर की फर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है और यह कि वे पुलिस द्वारा अपने कारखाने में विनिर्मित की गई थीं। इस प्राख्यान से महाधिवक्ता और मध्यक्षेपी की ओर से हाजिर होने वाले श्री आर० पी० सेठी से एक तीव्र प्रतिक्रिया हुई, किन्तु पिटीशनर के काउन्सेल ने एक अन्य बन्दूक की नाली

और कुछ संघटक भाग कपड़े के टुकड़े में लपेटे हुए प्रदर्शित किए और यह कहा कि ये वे भाग थे जो कि पिटीशनर के कारखाने में विनिर्मित किए गए थे। उन्होंने मुझे यह बताने का प्रयास नहीं किया था कि ये तैयार की गई बन्दूक की नालियां और अन्य भाग उसके द्वारा कहां से अभिप्राप्त किए गए थे। 24 नवम्बर, 1983 को मैंने यह महसूस किया कि केवल यह देशी प्रक्रिया है कि पिटीशनर का कारखाना स्वयं स्पेन में बनी बन्दूक की नाली और जर्मनी में बने बट को जोड़ने के कार्यरत है जिससे एक परिसाधित बन्दूक बन जाती है। उस तारीख को मेरा यह विचार था कि मेरे समक्ष जो कुछ प्रदर्शित किया गया था पिटीशनर, के कारखाने से अभिगृहीत की गई बन्दूकों के भाग थे। उस समय मैंने मामले में और आगे जांच करना ठीक नहीं समझा था। अब मैं प्रत्यक्षतः इस तथ्य को नहीं छुपा सकता और पिटीशनर के काउन्सेल द्वारा मेरे समक्ष किए गए जोरदार शब्दों में प्राख्यान को पूर्णतः नहीं झुटला सकता कि पिटीशनर का कारखाना इन परिसाधित उत्पादों का स्वामी था। यह चिन्ताजनक परिवर्तन मुझे यह अभियुक्ति करने के लिए मजबूर करता है कि मामले में और अधिक बारीकी से पूरी जांच की जानी चाहिए।

9. एक अन्य परिवर्तन हुआ जिससे मुझे क्षोभ कारित हुआ। उसके तथ्य हैं कि पिटीशनर इस न्यायालय द्वारा पारित आदेश द्वारा स्वतंत्र किए जाने के पश्चात् प्रेस वालों से मिला और उसने मामले के सम्बन्ध में अभियुक्तियां दीं। पिटीशनर के काउन्सेल ने इस बात को स्वीकार किया है और इसके लिए क्षमा मांगी है। यह अभियुक्ति देना आवश्यक है कि पिटीशनर का ऐसा आचरण बिल्कुल ही अनुचित है और विधि की प्रक्रिया में रुकावट डालने वाला है। न्यायालय द्वारा उसको जमानत मंजूर करने में उसमें हस्तक्षेप करके घोर दुरुपयोग किया गया है।

10. विद्वान् महाधिवक्ता ने मेरे समक्ष यह कथन किया कि जब वह पूछताछ के लिए जम्मू आया था तो उसके साथ अनेक व्यक्ति थे। उसमें प्राक्षेपिकी-विज्ञानी, अधिवक्ता और अन्य व्यक्ति थे। उनकी उपस्थिति ने उचित पूछताछ में रुकावट डाली थी। उन्होंने पुलिस द्वारा पूछताछ करने पर पुलिस से झगड़ा किया था। पिटीशनर के काउन्सेल ने पिटीशनर के साथ कुछ व्यक्तियों की उपस्थिति के बारे में कोई गम्भीर विवाद नहीं किया था। यह पुनः इस न्यायालय द्वारा दी गई अनुज्ञा का दुरुपयोग है। पिटीशनर के काउन्सेल ने अधिवक्ताओं की उपस्थिति को **(श्रीमती) नन्दनी सत्पथी बनाम पी० एल० दानी और एक अन्य**[1]

---

[1] [1979] 2 उम० नि० प० 380=ए० आई० आर०·1978 एस०·सी० 1025.

वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय के आधार पर औचित्यपूर्ण ठहराया था। मैं तुरन्त ही यह कह सकता हूं कि प्रस्तुत मामले के तथ्य उस मामले के तथ्यों से भिन्न हैं। अपराध का कोई अभियुक्त व्यक्ति उसको पूछताछ के समय उसकी सहायता करने के लिए अधिवक्ता की उपस्थिति की मांग साधिकार नहीं कर सकता। यदि काउन्सेल उपस्थित है भी तो भी उसे उस समय चुप रहना होता है जबकि अभियुक्त व्यक्ति से पूछताछ की जा रही है।

11. मैं इन पश्चात्वर्ती परिवर्तनों के बारे में चिन्ता व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता किन्तु चूंकि पिटीशनर ने पूछताछ के लिए अपने आपको पेश करने में पुलिस के साथ सहयोग किया है, इसलिए मैं अपने तारीख 25 नवम्बर, 1983 के आदेश में मेरे द्वारा दिए गए पूर्व निदेशों को उसके साथ संलग्न शर्तों के साथ आगामी आदेशों तक प्रभावी रखने का आदेश देता हूं, किन्तु इसके साथ निम्न-लिखित शर्तें भी हैं :—

(क) पिटीशनर कोई सार्वजनिक कथन नहीं करेगा या प्रैस वालों से नहीं मिलेगा और पूछताछ से सम्बद्ध मामलों में कुछ नहीं कहेगा।

(ख) पिटीशनर पूछताछ से पूर्व परामर्श के लिए अपनी पसंद के काउन्सेल की सेवाएं लेगा, किन्तु वह पूछताछ के समय उपस्थित नहीं रहेगा।

12. यदि पिटीशनर द्वारा उपर्युक्त शर्तों में से किसी शर्त का अतिक्रमण किया जाता है तो राज्य को उसकी जमानत को रद्द कराने के लिए न्यायालय में कार्यवाही करने की स्वतंत्रता होगी।

13. इस मामले को समाप्त करने से पूर्व मैं इस राज्य के समान छोटे और सुरक्षा की दृष्टि से नाजुक राज्य में बन्दूकों के कारखानों के आधिक्य के बारे में अत्यधिक चिन्ता अभिव्यक्त करता हूं। प्रस्तुत संदर्भ में इन कारखानों के ऊपर बहुत अधिक सतर्कता और निगरानी रखने की आवश्यकता है। असैनिक प्रयोग के लिए भी बन्दूकों का विनिर्माण सामान्यतः केन्द्रीय सरकार के अधिकार में होना चाहिए। कोई भी यह अंदाजा लगा सकता है कि क्या इन कारखानों में छुपे तौर पर विनिर्मित बंदूकें ऐसे स्थानों को भेजी जाती हैं जहां उन्हें राष्ट्र-विरोधी क्रियाकलापों में प्रयोग किया जा सकता है। राज्य में बन्दूक के कारखानों का इतना अधिक होना, चाहे उसका कारण ऐतिहासिक हो या अन्यथा उनके बारे में कड़ी सतर्कता बरतनी होगी और यह देखना होगा कि विनिर्मित प्रत्येक बन्दूक का हिसाब रखा जाए। जब मैं यह कहता हूं तो उससे किसी अन्य

बन्दूक के कारखाने के बारे में संदेह नहीं करता हूं। इससे चारों तरफ फैली हुई प्राक्षेपिकी क्रियाशीलता के बारे में चिन्ता व्यक्त की जाती है।

14. मैं उपरोक्त कारणों से आवेदन का निपटारा करता हूं।

आवेदन मंजूर किया गया।

चन्द

नि० प० 1984 : जम्मू-कश्मीर—55

राज्य बनाम निधान सिंह और अन्य

(State *Vs.* Nidhan Singh and others)

तारीख 2 मार्च, 1984

[मु० न्या० वी० खालिद और न्या० डा० ए० एस० आनंद]

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973—धारा 157—प्रथम इत्तिला रिपोर्ट प्राप्त होने पर अगर यह संदेह करने का कारण हो कि कोई संज्ञय अपराध किया गया है तो उस अपराध की रिपोर्ट उस मजिस्ट्रेट को तत्काल भेजी जाएगी जो ऐसे संज्ञेय अपराध का पुलिस रिपोर्ट पर संज्ञान करने के लिए सशक्त है—अगर युक्तियुक्त समय के भीतर ऐसा नहीं किया जाता है तो इससे अभियोजन पक्ष के कथन के प्रति अविश्वास पैदा हो जाता है और बिना किसी सम्पोषक साक्ष्य के इस पर विश्वास करना जोखिमपूर्ण हो जाता है।

18 जून, 1971 को प्रातःकाल 6 बजे अड्डा बरियान में हरनाम सिंह नामक एक व्यक्ति की अभिकथित हत्या के संबंध में गांव संजवान, तहसील साम्बा के 9 व्यक्तियों को अभियुक्त बनाया गया। अभियुक्त व्यक्तियों का रणबीर पीनल कोड की धारा 302/34/120-ख के अधीन किए गए अपराध के लिए विचारण किया गया। जम्मू के सेशन न्यायाधीश ने दिनांक 6 नवम्बर, 1972 वाले अपने निर्णय द्वारा उन सभी को समस्त अपराधों से दोषमुक्त कर दिया। राज्य ने इस दोषमुक्ति के विरुद्ध यह अपील की है। दिनांक 2 मार्च, 1973 को प्रत्यर्थी सं० 1, 2, 3 अर्थात् निधान सिंह, जगजीत सिंह और कुलदीप सिंह के विरुद्ध अपील किए जाने की इजाजत दे दी गई। बाकी के 6 अभियुक्तों

के विरुद्ध अपील की इजाजत को आरम्भ में ही खारिज कर दिया गया। परिणामस्वरूप, विवक्षा द्वारा उनकी दोषमुक्ति की पुष्टि हो गई है। अभियोजन का पक्षकथन यह है कि 17 जून, 1971 की रात्रि में सभी 9 अभियुक्त, कुलदीप सिंह प्रत्यर्थी सं० 3 के घर पर एकत्र हुए और उन्होंने हरनाम सिंह की मृत्यु कारित करने के लिए एक दाण्डिक षड्यंत्र रचा। इस षड्यंत्र को अग्रसर करने के लिए प्रथम तीन प्रत्यर्थी, अर्थात् निधान सिंह, कुलदीप सिंह और जगजीत सिंह 18 जून, 1971 को मृतक की राह में छिप कर उसका इंतजार करने लगे। उन्होंने जम्मू-पठानकोट राजमार्ग पर स्थित अड्डा बरियान् के नजदीक सुबह हरनाम सिंह को देखा और उस पर आक्रमण कर दिया। यह अभिकथन किया गया है कि मृतक हरनाम सिंह साइकिल पर आ रहा था और प्रत्यर्थी निधान सिंह ने उसे देखकर ललकारते हुए यह कहा कि इसे पकड़ लो और उसे जिन्दा मत जाने दो। इसी के अनुसार प्रत्यर्थी सं० 3 कुलदीप सिंह ने हरनाम सिंह को कमर से पकड़ लिया और प्रत्यर्थी सं० 1, निधान सिंह ने मृतक के सिर पर दरात से 2-3 प्रहार किए। प्रत्यर्थी सं० 2 ने भी उसकी पीठ पर लाठी से प्रहार किया। हरनाम सिंह गिर गया और इन क्षतियों के कारण उसकी मृत्यु हो गई। मृतक के पुत्र ने, जो कि कुछ खरीदारी करने के लिए अपने पिता के पीछे-पीछे अड्डे बरियान आ रहा था, तमाम घटना घटित होते हुए देखी। उसने शोर मचाया, जिसे सुनकर अभियुक्त व्यक्ति भाग गये। तब मृतक का पुत्र अकेले ही साम्बा पुलिस स्टेशन की ओर भाग कर गया और पूर्वाह्न 8 बज कर 30 मिनट पर उसने वहां पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखाई। प्रथम तीन प्रत्यर्थियों को अभियुक्त के रूप में लिखवाया गया था और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में यह भी लिखवाया गया था कि इसके अतिरिक्त कुछ और व्यक्ति भी वहां पर उपस्थित थे और उन्होंने मृतक की हत्या में भाग लिया था। पुरानी मुकदमेबाजी और शत्रुता को मृतक पर हमला करने का हेतु बताया गया।

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

साधारण तौर पर दोषमुक्ति के आदेश में उच्च न्यायालय अनिच्छापूर्वक हस्तक्षेप करता है। जब तक कि उसमें गंभीर अन्याय न हुआ हो और उसको अपास्त किए जाने के ठोस कारण न हों तब तक दोषमुक्ति के विरुद्ध की गई अपील में उच्च न्यायालय को उस न्यायालय से भिन्न शक्ति प्राप्त नहीं है जैसा कि दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील को सुनने वाले न्यायालय को प्राप्त है। ऐसी अपील की सुनवाई करते समय उच्च न्यायालय तथ्य और विधि संबंधी सभी प्रश्नों पर विचार कर कसता है और साक्ष्य के आधार पर अपने निष्कर्ष

मजिस्ट्रेट को वास्तविक विवेकाधिकार प्राप्त है भले ही उसे इसका प्रयोग न्यायिक रूप से करना चाहिए उससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह इसे उस दशा में अभ्यर्पित कर दे जब सिविल न्यायालय का इस बावत समाधान हो गया हो कि पति सद्भाविक रूप से पत्नी का भरण-पोषण करने के लिए तैयार है। अतः यह अभिनिर्धारित किया गया है कि दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की डिक्री जो भरणपोषण के लिए मजिस्ट्रेट के आदेश को रद्द करने के उद्देश्य से अभिप्राप्त की गई हो, मजिस्ट्रेट को अपने आदेश रद्द करने के लिए न्यायोचित नहीं ठहराएगी। देखें **पक्कल बनाम अथप्पा गौंडन**[1], **फकरुद्दीन शमसुद्दीन सैयद** बनाम **बाई जेनब**[2] और **कुन्तीबाला दासी** बनाम **नवीनचन्द्रदास**[3]। जहां से सिविल न्यायालय द्वारा पारित डिक्री किसी न किसी कारणवश अनिष्पादनीय हो जाती है वहां धारा 125 के अधीन आदेश किया जा सकता है और बनाए रखा जा सकता है : देखें **मोहम्मद अली मीठाभाई वाला मामला**[4] और **गोविन्दसामी मुदलियार** बनाम **मुथुलक्ष्मी अम्माल**[5]। जहां विवाह का कोई यथार्थ सबूत न हो और पक्षकारों ने किसी रूप में विवाह किया हो और वे पति और पत्नी के रूप में रहे हों तो मजिस्ट्रेट कार्य सम्पन्न होने पर पर वैध होने वाला सिद्धांत लागू कर सकता है और विधिमान्य विवाह की उपधारणा कर सकता है : **पार्वती अम्माल** बनाम **गोपाल गौंडर और एक अन्य**[6] और **पचीगोल्ला श्रीनिवास राव** बनाम **पचीगोल्ला समुद्रम और अन्य**[7]। अतः यह प्रश्न कि क्या सिविल न्यायालय की डिक्री अथवा आदेश संहिता की धारा 125 के अधीन किसी आदेश का वर्जन करता है हर एक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करेगा। **लिंगा गौंडर** बनाम **रमन**[8] वाले मामले में न्या० नटराजन ने यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 125 न तो यह अधिकथित करती है कि सिविल न्यायालय द्वारा पारित भरण-पोषण की डिक्री का अस्तित्व में होना मजिस्ट्रेट को भरणपोषण के लिए पिटीशन ग्रहण करने की अधिकारिता को वर्जित करता है और न ही यह कि यदि सिविल न्यायालय द्वारा कोई पूर्ववर्ती डिक्री हो तो मजिस्ट्रेट को अपना अधिनिर्णय केवल सिविल न्यायालय द्वारा नियत की गई राशि तक ही सीमित रखना चाहिए। मैं लिंगा गौंडर वाले पूर्वोक्त मामले में कथित दृष्टिकोण से सादर सहमत हूं।

---

[1] ए० आई० आर० 1925 मद्रास 1218.

[2] ए० आई० आर० 1944 मुम्बई 11.

[3] ए० आई० आर० 1955 कलकत्ता 108.

[4] ए० आई० आर० 1930 मुम्बई 130.

[5] 1966 क्रिमिनल लॉ जर्नल 732.

[6] 1956 एम० एल० जे० 480.

[7] 1975 क्रिमिनल लॉ जर्नल 1581.

[8] 1978 क्रिमिनल लॉ जर्नल 469.

संहिता की धारा 125 का प्रयोजन और जोर इस बात पर है कि यदि किसी व्यक्ति के पास पर्याप्त साधन हैं तो भी अपनी पत्नी, बच्चों और ऐसे माता-पिता का, जो अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ हैं, भरण-पोषण करने से उपेक्षा अथवा इनकार करता है तो उसे उनके भरण-पोषण के लिए मासिक भत्ता देने के लिए विवश किया जा सकता है। इसका उनके भरण-पोषण के अधिकारों से कोई सरोकार नहीं है। सिविल न्यायालय के अवधारण पर सम्बन्ध और भरणपोषण के बारे में तब विचार किया जा सकता है जब आदेश किया जाए, उसमें फेरफार किया जाए अथवा उसे रद्द किया जाए। इस मामले में विद्वान मजिस्ट्रेट का आदेश बहुत ही न्यायोचित था क्योंकि पति अधिनियम की धारा 25 के अधीन सिविल न्यायालय के आदेश के बावजूद भरण-पोषण का संदाय करने से लगातार इनकार कर रहा था और उसके वेतन की कुर्की भी उस आदेश का अनुपालन करने के लिए अपर्याप्त थी। अतः मैं आदेश में हस्तक्षेप करने के लिए तैयार नहीं हूं। विद्वान सेशन न्यायाधीश ने पहले ही 200 रुपये प्रति मास के भरण-पोषण का आदेश किया है। यदि मजिस्ट्रेट के आदेश को अपास्त किया जाता है तो उसका एक स्पष्ट परिणाम यह होगा कि पत्नी लगभग 10 मास के लिए भरण पोषण से वंचित हो जाएगी क्योंकि जबकि सिविल न्यायालल ने यह निदेश दिया था कि भरण-पोषण 21 सितम्बर, 1981 से संदत्त किया जाए, मजिस्ट्रेट ने यह निदेश किया था कि इसका सदाय 20 नवम्बर, 1980 से किया जाए। इसके अलावा बकाया का संदाय करने से इनकार किये जाने के कारण पत्नी निष्पादन पिटीशन फाइल करने के लिए विवश हुई जो स्वयं में पति की ओर से पत्नी का भरण-पोषण करने से इनकार करने के आशय का साक्ष्य है। अतः पहली दलील अस्वीकार की जाती है।

8. विद्वान काउन्सेल ने यह आनुकल्पिक दलील दी है कि इस न्यायालय को यह निदेश देना चाहिए कि दोनों आदेश साथ-साथ निष्पादित न किए जाएं। ऐसा निदेश पूर्णतः अनावश्यक है यदि पिटीशनर, पत्नी को निष्पादन के लिए विवश किए बिना रकम का संदाय कर रहा होता। किन्तु मैं यह स्पष्ट करना चाहूंगा कि सिविल न्यायालय के आदेश अथवा दाण्डिक न्यायालय के आदेश के आधार पर संदत्त कुल रकम किसी भी दशा में 200 रु० प्रति मास की रकम से अधिक नहीं होगी और परिणामस्वरूप किसी भरण-पोषण आदेश अथवा अन्यथा किसी आदेश के निष्पादन में पति द्वारा संदत्त रकमों का आकलन सिविल न्यायालय अथवा दाण्डिक न्यायालय के आदेश के निष्पादन में किया जाएगा। पिटीशनर को दो बार संदाय नहीं करना होगा।

तद्नुसार पिटीशन नामंजूर किया जाता है।

पिटीशन नामंजूर किया गया।

नि० प० 1984—दिल्ली—123

श्रीमती सावित्री खन्ना बनाम भारत संघ

(Smt. Savitri Khanna *Vs.* Union of India)

तारीख 28 नवम्बर, 1983

[न्या० एम० एल० जैन]

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973—धारा 482—पिटीशनर के पति द्वारा विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 के उपबन्धों का अतिक्रमण किया जाना—पिटीशनर के पति को गिरफ्तार करना और उसको कुछ शर्तों पर जमानत मंजूर करते हुए अपने देश जाने के लिए अनुज्ञात किया जाना—पिटीशनर द्वारा अपने पति के भारत वापस लौटने के लिए प्रत्याभूति के रूप में अपने पासपोर्ट का अभ्यर्पण किया जाना—पिटीशनर के पति का भारत वापस न लौटना और पिटीशनर द्वारा अपना पासपोर्ट लौटाने की मांग किया जाना—यदि जमानत का आदेश अवैध हो तो विदेश जाने के लिए अभियुक्त पर अधिरोपित कोई भी शर्त, जैसे अपनी पत्नी के पासपोर्ट का अभ्यर्पण आदि, स्वयं ही समाप्त हो जाएगी और सरकार को पिटीशनर के पासपोर्ट का रखना विधितः प्रविरत हो जाएगा और उसे पिटीशनर को लौटाया जाएगा।

इस पिटीशन में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि यदि पत्नी द्वारा अपने पति के विदेश से लौटने के लिए प्रत्याभूति के रूप में अपने पासपोर्ट का अभ्यर्पण किया जाता है तो क्या उसके पति के वापस न लौटने की स्थिति में उसके पासपोर्ट को उसको लौटाया जाएगा अथवा नहीं।

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 167(2) के उपबंध वि० मु० वि० अधिनियम के अधीन की गई गिरफ्तारी को लागू नहीं होते हैं और वह मजिस्ट्रेट, जिसके समक्ष ऐसे अभियुक्त को पेश किया जाता है, न्यायिक अभिरक्षा में या अन्य अभिरक्षा में नहीं भेजा जा सकता। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 305 भी उसके लिए उपलब्ध नहीं थी क्योंकि वह धारा मजिस्ट्रेट द्वारा केवल उस समय लागू की जा सकती है जबकि उसने अपराध का संज्ञान कर लिया था। अतः काउन्सेल ने इस बात पर जोर दिया कि जब 24 घंटे के पश्चात् पिटीशनर के पति को मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया गया था तो मजिस्ट्रेट उसे अभिरक्षा में नहीं भेज सकता था और न ही उसे उससे किसी जमानत को कहने या उससे इनकार करने या उसे मंजूर करने की कोई शक्ति थी। केवल मजिस्ट्रेट उसे रिहा करने का आदेश ही पारित कर सकता था।

यदि जमानत का आदेश ही समाप्त हो जाता है तो उसके साथ अभियुक्त या उसकी पत्नी या पुत्र पर अधिरोपित शर्तें भी समाप्त हो जाती हैं। पासपोर्ट का रखना विधितः प्रविरत हो गया है और मजिस्ट्रेट को उसे लौटाने का निदेश ही देना चाहिए। (पैरा 8)

न्यायालय ने मामले के इस पहलू पर भी विचार किया है और यद्यपि न्यायालय को ऐसा प्रतीत होता है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 4(2) और 5 की दृष्टि से मजिस्ट्रेट द्वारा धारा 157 लागू की जा सकती है फिर भी डालम चंद वाले उपरोक्त मामले से आवद्ध होते हुए न्यायालय यह अभिनिर्धारित करता है कि मजिस्ट्रेट को अभियुक्त से जमानत की मांग करने या उसे किसी प्रकार उससे इनकार करने पर किसी प्रकार की अभिरक्षा में भेजने या इस प्रकार निदेश दिए जाने पर जमानत को न देने की कोई अधिकारिता नहीं थी यदि जनानत का आदेश स्वयं अवैध था तो विदेश जाने के लिए अभियुक्त पर अधिरोपित कोई भी शर्त, जैसे अपनी पत्नी के पासपोर्ट का अभ्यर्पण, आदि स्वयं ही समाप्त हो जाएगी। उसकी पत्नी के पासपोर्ट को लौटाने से इनकार किया गया है और उसे यह दलील देने का अधिकार है कि उसने विधि की आशंका के अधीन अपने पासपोर्ट का अभ्यर्पण किया था। उसे इसकी बहुत चिंता है और उसकी चुनौती की उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। (पैरा 10)

धारा 561-क(482 नई) के अधीन विदेश में रहने वाले अभियुक्त को जमानत मंजूर करते समय उच्च न्यायालय उसके पासपोर्ट के अभ्यर्पण की अपेक्षा करते हुए भारत से उसके प्रस्थान को निर्बन्धित कर सकता है। इसमें कुछ अन्तर किया जा सकता है क्योंकि उच्चतम न्यायालय अभियुक्त को उसके पासपोर्ट के अभ्यर्पण के लिए उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निदेश पर विचार कर रहा था जबकि न्यायालय ऐसे मामले से सम्बद्ध है जिसमें व्यक्ति किसी अपराध का अभियुक्त नहीं है किन्तु उसको उसके पासपोर्ट को अभ्यर्पित करने का निदेश दिया गया है और वह भी उच्च न्यायालय से नीचे के न्यायालय द्वारा किया गया है। यह एक बहुत ही असाधारण निदेश है और न्यायालय यह समझता है कि निदेशालय के तर्क का समर्थन करने के लिए अनुज्ञा नहीं दी जा सकती। अत्यधिक सम्मान देते हुए न्यायालय इसके अन्य मामलों में आबद्ध पूर्वोद्धरण या आदर्श मार्ग-दर्शन के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। पत्नी बन्धक व्यक्ति नहीं है और उसे सिविल कारागार में निरुद्ध करने के लिए या उस समय तक जब तक उसका पति अपने आपको अभ्यर्पित नहीं करता उसके जाने से निवारित करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। (पैरा 11)

इस बात पर ठीक ही जोर दिया गया है कि पत्नी के पासपोर्ट को निरुद्ध रखना उसको और उसके पुत्र को उनके लोकोमोशन के अधिकार से

वंचित करना है। इसके अलावा पासपोर्ट की अवधि वर्ष 1981 में समाप्त हो गई थी और उसे उस देश को विवासित किया जाना था जहां से वह आई थी। पासपोर्ट की अवधि से आगे भारत में उसके रहने के लिए अनुज्ञात तब तक नहीं किया जा सकता जब तक उसको किसी विधिमान्य विधि के अधीन निरुद्ध नहीं किया जाए। यह भारत में बिना पासपोर्ट के प्रवेश को नियमित करने वाले नियमों के भंग के लिए मौनानुकूलता की कोटि में आएगा। इस स्थिति में निदेशालय के इस तर्क को स्वीकार करना विधिमान्य नहीं होगा कि यह एक स्वैच्छिक निर्बन्धन का मामला था जिसको पत्नी ने स्वयं 27 मई, 1981 को अपने शपथपत्र में अपने ऊपर यह बात अधिरोपित की थी ताकि उसका पति अपने देश लौटने में समर्थ हो जाए। (पैरा 12)

		पैरा
[1982]	1982 क्रिमिनल ला जर्नल 747 : डालम चन्द बैद **बनाम** भारत संघ और अन्त (Dalam Chand Baid *Vs.* Union of India and others);	8
[1982]	1982 का विशेष दाण्डिक आवेदन सं० 585 जिसका 20 अगस्त, 1982 को विनिश्चय किया गया : एन० एच० दवे **बनाम** मोहम्मद अखतर हुसैन इब्राहीम (N. H. Dave *Vs.* Mohamed Akhtar Hussain Ibrahim);	9
[1981]	1981 की क्रिमिनल मिसलैनियस अपील सं० 400 जिसका विनिश्चय 2 सितम्बर, 1981 को किया गया : यू० बी० सिंह **बनाम** प्रवर्तन निदेशालय (U. B. Singh *Vs.* Directorate of Enforcement);	9
[1972]	ए० आई०आर० 1972 एस० सी० 484 : हजारी लाल गुप्ता **बनाम** रामेश्वर प्रसाद और एक अन्य (Hazarilal Gupta *Vs.* Rameshwar Prasad and another);	11
[1970]	(1970) 3 क्रिमिनल अपील रिपोर्टर 59 : महाराष्ट्र राज्य **बनाम** नैनमल पंजाजी शाह और एक अन्य (State of Maharashtra *Vs.* Nainmal Punjaji Shah & another);	9
[1969]	(1969) 2 एस० सी० आर० 461 : रमेश चन्द्र मेहता **बनाम** पश्चिमी बंगाल राज्य (Ramesh Chandra Mehta *Vs.* State of West Bengal);	9

[1969] (1969) 3 आल इंग्लैण्ड रिपोर्ट 1700 : गनी बनाम जान (Ghani *Vs.* Jones); 11

[1967[ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1836 : सतवन्त सिंह बनाम ए० पी० ओ०, नई दिल्ली (Satwant Singh *Vs.* A. P. O. NEW DELHI); 12

[1936] ए० आई० आर० 1936 नागपुर 243 : एम्परर बनाम चिंता राम (Emperor *Vs.* Chinta Ram) 13
निर्दिष्ट किए गए ।

दाण्डिक अधिकारिता : 1982 का दाण्डिक प्रकीर्ण पिटीशन सं० 415.

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से ... श्री हरजिन्दर सिंह और श्रीमती ऊषा कुमार, अधिवक्ता

प्रत्यर्थी की ओर से ... सर्वश्री एस० एल० वटेल और आर० के० वटेल, अधिवक्ता

न्या० एम० एल० जैन :

अफगान राष्ट्रिक मुकन्द लाल खन्ना को कुछ अन्य लोगों के साथ विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 (वि० मु० वि० अधिनियम) के अतिक्रमण के लिए 3 सितम्बर, 1980 को गिरफ्तार किया गया था जिसमें करोड़ों रुपये की सम्पत्ति अंतर्वलित थी। प्रवर्तन अधिकारी ने उसे न्यायिक अभिरक्षा में भेजने के लिए मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया। जब मुकुन्द लाल खन्ना ने जमानत के लिए आवेदन किया तो अपर मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने अपने तारीख 23 सितम्बर, 1980 के आदेश द्वारा उसको एक लाख रुपये की राशि के जमानत बन्धपत्र देने पर जमानत मंजूर कर दी। जमानत की अन्य शर्तें ये थीं कि उसके पासपोर्ट को विभाग द्वारा रखा जाएगा और यह कि वह आगामी दो महीनों में दिल्ली नहीं छोड़ेगा और 15 दिन तक प्रतिदिन प्रवर्तन निदेशालय में रिपोर्ट करेगा।

2. मुकुन्द लाल ने तीन महीने की अवधि के लिए भारत छोड़ने की अनुज्ञा के लिए एक आवेदन दिया। विद्वान् अपर मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने अपने तारीख 3 अप्रैल, 1981 के आदेश द्वारा उसको निम्नलिखित शर्तों पर विदेश जाने के लिए अनुज्ञात किया अर्थात् (1) वह न्यायालय में एक लाख रुपये की बैंक प्रत्याभूति या निक्षेप देगा, (2) वह अपनी पत्नी और

परिवार के अन्य सदस्यों के पासपोर्ट का अभ्यपर्ण करेगा, (3) वह 15 जुलाई, 1981 को या इससे पूर्व न्यायालय में हाजिर होगा और (4) वह अफगानिस्तान में अपना निवास स्थान और कार्यालय/कारबार का पता देगा।

3. निदेशालय ने 3 अप्रैल, 1981 के उक्त आदेश के विरुद्ध एक पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया। 27 मई, 1981 को पिटीशनर ने एक शपथ पत्र यह फाइल किया "मैं अपने पति के लौटने तक और न्यायालय में हाजिर होने के लिए प्रत्याभूति के रूप में अपने आप और स्वतंत्र इच्छा से अपना पासपोर्ट, जिसमें मेरा इकलौता पुत्र सम्मिलित है, अभ्यर्पित करती हूं और यह कि मैं उस पासपोर्ट को उस समय तक लौटाने के लिए नहीं कहूंगी जब तक मेरा पति इस न्यायालय या किसी अन्य न्यायालय के आदेश के अनुपालन में भारत नहीं लौटता।" अपर सेशन न्यायाधीश ने 30 मई, 1981 को पुनरीक्षण को खारिज कर दिया। 3 अप्रैल, 1981 के आदेश को कायम रखते हुए उसने ये कुछ और अधिक शर्तें जोड़ी कि मुकन्दलाल उस तारीख की जानकारी देगा जिसको वह भारत छोड़ेगा और उस तारीख, जिसको वह भारत छोड़ेगा, से तीन मास की समाप्ति पर वापस लौटने के लिए वचन देगा और उस अवधि की समाप्ति पर न्यायालय में हाजिर होगा और अपने पासपोर्ट का अभ्यर्पण करेगा। किन्तु वह अवधि, जिसके लिए अभियुक्त को विदेश जाने के लिए अनुज्ञात किया गया था, समाप्त हो गई थी और उसने 9 मार्च, 1982 को एक नया आवेदन दिया। अपर मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने अपने तारीख 16 अप्रैल, 1982 के आदेश द्वारा अभियुक्त को अपने तारीख 3 अप्रैल, 1981 के आदेश में और अपर सेशन न्यायाधीश के 30 मई, 1981 के आदेश में दिए गए निबन्धनों और शर्तों पर विदेश जाने के लिए अनुज्ञात किया। प्रवर्तन निदेशालय ने तारीख 16 अप्रैल, 1982 के उक्त आदेश के विरुद्ध अपर सेशन न्यायाधीश के समक्ष एक पुनरीक्षण आवेदन किया जिसका तारीख 28 अप्रैल, 1982 के आदेश द्वारा निपटारा किया गया था। 28 अप्रैल, 1982 के इस आदेश में अपर सेशन न्यायाधीश ने यह उल्लेख किया था कि पिटीशनर ने एक लाख रुपये की बैंक प्रत्याभूति दी है, अपने पते दिए हैं और उसने अपनी पत्नी और पुत्र के पासपोर्ट अभ्यर्पित किए हैं। उसे यह निदेश दिया गया कि अधिनिर्णयन कार्यवाहियों में उसका प्रतिनिधित्व करने के लिए वह काउन्सेल को प्राधिकृत करेगा और यह कि वह अपने प्रस्थान की सम्भावित तारीख की जानकारी देगा। वह 3 मास की समाप्ति पर भारत लौटेगा और न्यायालय में अपने पासपोर्ट का अभ्यर्पण करेगा। मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के न्यायालय में उपर्युक्त रीति में उसकी पत्नी द्वारा अभ्यर्पित किया गया पासपोर्ट उसे अफगानिस्तान की सरकार द्वारा 1979 में जारी किया गया था जो कि

19 दिसम्बर, 1979 को समाप्त हो गया था किन्तु बाद में इसका 1 जनवरी, 1981 तक विस्तार किया गया था। 1979 में उनके पुत्र की आयु 14 वर्ष थी। मुकन्द लाल खन्ना ने अन्य शर्तों का समाधान किया और वह काबुल चला गया और अभी तक नहीं लौटा।

4. वि० मु० वि० अधिनियम की धारा 9 और 60 और भारतीय दण्ड संहिता की धारा 120-ख के साथ पठित धारा 56 के अधीन 1 मई, 1982 को उसके विरुद्ध एक परिवाद फाइल किया गया।

5. उसकी पत्नी, पिटीशनर सावित्री खन्ना ने अपने पासपोर्ट को लौटाने के लिए अपर सेशन न्यायाधीश नई दिल्ली को आवेदन किया। उसने यह कथन किया कि अफगानिस्तान में उसके पति को अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण में शामिल होने के लिए बुलाया गया था। उसके कारबार को देखने के लिए कोई अन्य व्यक्ति नहीं है और अभियुक्त की वैयक्तिक उपस्थिति से छूट पहले ही मिल चुकी है। उसे कारबार को देखने के लिए अफगानिस्तान जाना है। विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश ने अपने तारीख 7 फरवरी, 1983 के आदेश द्वारा उस अनुरोध से इनकार कर दिया।

6. उसने पासपोर्ट को लौटाने के लिए 21 फरवरी, 1983 को अपर मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट को पुनः आवेदन किया जिसने अपने तारीख 11 अप्रैल, 1983 के आदेश द्वारा उस आवेदन को खारिज कर दिया। उसने पुनः 4 मई, 1983 को आवेदन किया। उस आवेदन पर कोई आदेश पारित होने से पूर्व उसने 28 अप्रैल 1983 और 11 अप्रैल, 1983 के आदेशों के विरुद्ध दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन प्रस्तुत पिटीशन किया। इस पिटीशन का प्रवर्तन निदेशालय द्वारा विरोध किया गया।

7. मैंने विद्वान् काउन्सेल की सुनवाई की है।

8. श्रीमती ऊषा कुमार की प्रथम दलील यह है कि तारीख 23 सितम्बर, 1980 का जमानत का आदेश **डालम चंद बैद** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय की दृष्टि से स्वयं अवैध है, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वि० मु० वि० अधिनियम में उसके अधीन किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति को प्रतिप्रेषण के लिए कोई उपबंध नहीं है और न ही इसमें इस बात का संकेत मिलता है कि मजिस्ट्रेट के समक्ष अभियुक्त व्यक्ति को पेश करने के पश्चात् उसे क्या करना होता है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के उपबंध वि० मु० वि० अधिनियम के अधीन की गई गिरफ्तारी को लागू नहीं होते हैं और वह

[1] 1982 क्रिमिनल ला जर्नल 747.

मजिस्ट्रेट, जिसके समक्ष ऐसे अभियुक्त को पेश किया जाता है, न्यायिक अभिरक्षा में या अन्य अभिरक्षा में नहीं भेजा जा सकता। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 305 भी उसके लिए उपलब्ध नहीं थी क्योंकि वह धारा मजिस्ट्रेट द्वारा केवल उस समय लागू की जा सकती है जबकि उसने अपराध का संज्ञान कर लिया था। अतः श्रीमती कुमार ने इस बात पर जोर दिया कि जब 24 घंटे के पश्चात् मुकन्द लाल खन्ना को मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया गया था तो मजिस्ट्रेट उसे अभिरक्षा में नहीं भेज सकता था और न ही उसे उससे किसी जमानत को कहने या उससे इनकार करने या उसे मंजूर करने की कोई शक्ति थी। केवल मजिस्ट्रेट उसे रिहा करने का आदेश ही पारित कर सकता था। यदि जमानत का आदेश ही समाप्त हो जाता है तो उसके साथ अभियुक्त या उसकी पत्नी या पुत्र पर अधिरोपित शर्तें भी समाप्त हो जाती हैं। पासपोर्ट का रखना विधितः प्रविरत हो गया है और मजिस्ट्रेट को उसे लौटाने का निदेश ही देना चाहिए।

9. दूसरी ओर श्री बटेल ने यह दलील दी कि अभियुक्त 3 वर्ष से भी अधिक समय जमानत पर रहा है और वह उस जमानत के आदेश को, जिसके आधार पर उसे स्वतंत्रता प्राप्त हुई थी, चुनौती नहीं दे सकता। किसी भी हालत में प्रस्तुत पिटीशनर, उसकी पत्नी, का उस जमानत के आदेश को चुनौती देने के लिए सुनवाई का कोई अधिकार नहीं है। उसके अतिरिक्त मुकन्द लाल खन्ना इस आश्वासन देने के आधार पर इस देश को छोड़ने में समर्थ था कि उसकी पत्नी यहां रहेगी और जब तक वह अपने विचारण के लिए वापस नहीं आ जाता तब तक वह यहां रहेगी। उसने अपने पति को इस देश को छोड़ने में समर्थ बनाने के लिए अपने पासपोर्ट का अभ्यर्पण किया है। अब वह इससे मुकर नहीं सकती और यह नहीं कह सकती कि जमानत का आदेश और उसके परिणामस्वरूप उसके पासपोर्ट को जमा करने की शर्त अवैध थी। उसको ऐसा करने के लिए अनुज्ञा देना उसे इस न्यायालय के साथ कपट करने की अनुज्ञा देना होगा। **यू० बी० सिंह** बनाम **प्रवर्तन निदेशालय**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **नैनमल पंजाजी शाह और एक अन्य**[2] और **रमेश चंद्र मेहता** बनाम **पश्चिमी बंगाल**

---

[1] 1981 की क्रिमिनल मिसलेनियस अपील सं० 400 जिसका विनिश्चय 2 सितम्बर, 1981 को किया गया था।

[2] (1970) 3 क्रिमिनल अपील रिपोर्टर 59.

राज्य[1] वाले मामलों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् यह मत अभिव्यक्त किया कि रमेश चंद्र मेहता वाला उपर्युक्त मामला इस मामले को लागू नहीं होता और नैनमल पंजाजी शाह वाले उपरोक्त मामले में स्वयं उच्चतम न्यायालय ने 6 मास की अवधि तक के लिए अभिरक्षा अनुज्ञात की थी । विद्वान् न्यायाधीश यह देखने में असमर्थ था कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 167 के उपबन्ध क्यों लागू नहीं होते । किन्तु यह मत डालम चंद वाले उपरोक्त मामले में उलट दिया गया था । श्री वटेल ने इस बात पर जोर दिया कि डालम चंद वाला उपरोक्त मामला बन्दी प्रत्यक्षीकरण पिटीशन से सम्बद्ध था और जमानत के प्रश्न का इससे कोई सम्बन्ध नहीं था । उसने **एन० एच० दबे बनाम मोहम्मद अखतर हुसैन इब्राहीम**[2] वाले मामले में गुजरात उच्च न्यायालय के विनिश्चय को निर्दिष्ट किया जिसमें डालम चंद बैद वाले उपरोक्त मामले की प्रतिपादना के बारे में गम्भीर रूप से संदेह किया गया था । संहिता की धारा 436 और 437 के साथ पठित धारा 4(2) को निर्दिष्ट करते हुए गुजरात उच्च न्यायालय ने यह अधिकथित किया कि संहिता यथावश्यक परिवर्तन सहित भारतीय दण्ड संहिता के अधीन अपराधों से इतर अपराधों के सम्बन्ध में कार्यवाहियों को लागू होती हैं । विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि डालम चंद वाले उपरोक्त मामले में मामले की सभी दिशाएं दिल्ली उच्च न्यायालय की जानकारी में नहीं लाई गई थीं जैसा कि निर्णय में की गई चर्चा से प्रकट होता है । अतः श्री वटेल ने यह कहा कि जमानत के आदेश के बारे में संदेह नहीं किया जा सकता ।

10. मैंने मामले के इस पहलू पर भी विचार किया है और यद्यपि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 4(2) और 5 की दृष्टि से मजिस्ट्रेट द्वारा धारा 157 लागू की जा सकती है फिर भी डालम चंद वाले उपरोक्त मामले से आबद्ध होते हुए मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि मजिस्ट्रेट को अभियुक्त से जमानत की मांग करने या उसे किसी प्रकार उससे इनकार करने पर किसी प्रकार की अभिरक्षा में भेजने या इस प्रकार निदेश दिए जाने पर जमानत को न देने की कोई अधिकारिता नहीं थी यदि जमानत का आदेश स्वयं अवैध था तो विदेश जाने के लिए अभियुक्त पर अधिरोपित कोई भी शर्त, जैसे अपनी पत्नी के पासपोर्ट का अभ्यर्पण, आदि स्वयं

---

[1] (1969) 2 एस० सी० आर० 461.

[2] 1982 का विशेष दाण्डिक आवेदन सं० 585 जिसका 20 अगस्त, 1982 को विनिश्चय किया गया ।

ही समाप्त हो जाएगी उसकी पत्नी के पासपोर्ट को लौटाने से इनकार किया गया है और उसे यह दलील देने का अधिकार है कि उसने विधि की आशंका के अधीन अपने पासपोर्ट का अभ्यर्पण किया था। उसे इसकी बहुत चिन्ता है और उसकी चुनौती की उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। इसमें कोई अन्तर नहीं आता कि डालम चंद वाला उपरोक्त मामला बन्दी प्रत्यक्षीकरण पिटीशन से सम्बद्ध था जहां तक उसमें यह अधिकथित किया गया था जिसमें वि० मु० वि० अधिनियम के अधीन गिरफ्तारियों के लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 167 के लागू करने के बारे में विधि अधिकथित की गई थी। विधि की शरण लेना न्यायालय के साथ कपट करना नहीं है। अतः मैं इस सम्बन्ध में पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल की दलील को कायम रखता हूं।

11. इसके अतिरिक्त पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल द्वारा यह दलील दी गई कि पिटीशनर अभियुक्त व्यक्ति नहीं था और उससे उसका पासपोर्ट लेने के लिए नहीं कहा जा सकता था। श्री वटेल ने इसके उत्तर में **हजारी लाल गुप्ता बनाम रामेश्वर प्रसाद और एक अन्य**[1] वाले मामले को निर्दिष्ट किया। उस मामले में यह कहा गया था कि जमानत के बारे में उपबन्ध जमानत के निबन्धनों और शर्तों के संबंध में न्यायालय की शक्ति व्यापक नहीं है। ये निबंन्धन और शर्तें ऐसी शक्ति के अधीन जमानत मंजूर करते समय उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति को नियंत्रित नहीं करती है। धारा 561-क (482 नई) के अधीन विदेश में रहने वाले अभियुक्त को जमानत मंजूर करते समय उच्च न्यायालय उसके पासपोर्ट के अभ्यर्पण को अपेक्षा करते हुए भारत से उसके प्रस्थान को निर्बन्धित कर सकता है। इसमें कुछ अन्तर किया जा सकता है क्योंकि उच्चतम न्यायालय अभियुक्त को उसके पासपोर्ट के अभ्यर्पण के लिए उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निदेश पर विचार कर रहा था जबकि मैं ऐसे मामले से सम्बद्ध हूं जिसमें व्यक्ति किसी अपराध का अभियुक्त नहीं है किन्तु उसको उसके पासपोर्ट को अभ्यर्पित करने का निदेश दिया गया है और वह भी उच्च न्यायालय से नीचे के न्यायालय द्वारा किया गया है। अतः यह मामला श्री वटेल को कोई सहायता नहीं करता है। अतः उसने 1983 के सिविल रिट संख्या 118 और सिविल प्रकीर्ण सं० 225 के इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ द्वारा तारीख 20 जनवरी, 1983 को किए गए आदेश का अवलम्ब लिया है जिसमें अभियुक्त को निम्नलिखित शर्तों पर भारत छोड़ने के लिए अनुज्ञात किया गया था :—

---

[1] ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 484.

"पिटीशनर अपनी पत्नी और बच्चे के वर्तमान पासपोर्ट को इस न्यायालय के रजिस्ट्रार के पास जमा कराएगा और उसके साथ अपनी पत्नी द्वारा इस न्यायालय को इस आशय के शपथपत्र पर वचन देगा कि यदि पिटीशनर 2 मार्च, 1983 को या उसके आसपास भारत नहीं लौटता है और 7 मार्च, 1983 को प्रवर्तन अधिकारी के समक्ष हाजिर नहीं होता है तो पिटीशनर की पत्नी सिविल कारागार में निरुद्ध करने के लिए उस समय तक अपने आपको प्रवर्तन अधिकारी को अभ्यर्पित करेगी जब तक पिटीशनर आए और अपने आपको अभ्यर्पित न कर दे।"

यह एक बहुत ही असाधारण निदेश है और मैं यह समझता हूं कि निदेशालय के तर्क का समर्थन करने के लिए अनुज्ञा नहीं दी जा सकती। अत्यधिक सम्मान देते हुए मैं उसको अन्य मामलों में आबद्ध पूर्वोदाहरण या आदर्श मार्गदर्शन के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। पत्नी बन्धक व्यक्ति नहीं है और उसे सिविल कारागार में निरुद्ध करने के लिए या उस समय तक जब तक उसका पति अपने आपको अभ्यर्पित नहीं करता उसके जाने से निवारित करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। **गनी** बनाम **जान**[1] वाले निम्नलिखित मामले को निर्दिष्ट करना ठीक होगा :—

"इसका कारण कि पासपोर्ट क्यों वापस नहीं किए गए वह यह है कि क्योंकि अधिकारी वादियों को पुलिस जांच के लम्बित रहने तक इस देश को छोड़ने से निवारित करना चाहते थे। वह उनको रोकने के लिए विधिसम्मत आधार नहीं है। या तो उनके पास उनको गिरफ्तार करने का आधार होना चाहिए या उनके पास ऐसा कोई आधार नहीं है। यदि उनके पास ऐसा आधार नहीं है तो वादियों को इस देश को छोड़ने के लिए अनुज्ञात किया जाना चाहिए भले ही इससे यह अभिप्रेत हो कि वे न्याय से दूर भाग रहे हैं। आदमी के चलने फिरने की स्वतंत्रता इंग्लैंड की विधि द्वारा बहुत ही ऊंची मानी गई है और उसमें कोई बाधा नहीं आनी चाहिए या उसको उससे निवारित नहीं किया जाना चाहिए सिवाय निश्चित आधार के। इसको संदेह पर नहीं छीना जाना चाहिए जो कि उसकी गिरफ्तारी के लिए पर्याप्त है।"

12. **सतवन्त सिंह** बनाम **ए० पी० ओ०, नई दिल्ली**[2] वाले मामले

[1] 1969 (3) आल इंग्लैंड रिपोर्ट 1700.

[2] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1836.

में यह मत व्यक्त किया गया था कि विदेश में यात्रा करने का अधिकार एक मूल अधिकार है और ऐसे अधिकार को विनियमित करने या उससे किसी व्यक्ति को वंचित करने के लिए जहां कोई विधि नहीं है, पासपोर्ट देने से इनकार करना या दिए गए पासपोर्ट को वापस लेना संविधान के अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण करता है। इसलिए इस बात पर ठीक ही ज़ोर दिया गया है कि पत्नी के पासपोर्ट को निरुद्ध रखना उसको और उसके पुत्र को उनके लोकोमोशन के अधिकार से वंचित करना है। इसके अलावा पासपोर्ट की अवधि वर्ष 1981 में समाप्त हो गई थी और उसे उस देश को विवासित किया जाना था जहां से वह आई थी। पासपोर्ट की अवधि से आगे भारत में उसके रहने के लिए अनुज्ञात तब तक नहीं किया जा सकता जब तक उसको किसी विधिमान्य विधि के अधीन निरुद्ध नहीं किया जाए। यह भारत में बिना पासपोर्ट के प्रवेश को नियमित करने वाले नियमों के भंग के लिए मौनानुकूलता की कोटि में आएगा। इस स्थिति में निदेशालय के इस तर्क को स्वीकार करना विधिमान्य नहीं होगा कि यह एक स्वैच्छिक निर्बन्धन का मामला था जिसको पत्नी ने स्वयं 27 मई, 1981 को अपने शपथपत्र में अपने ऊपर यह बात अधिरोपित की थी ताकि उसका पति अपने देश लौटने में समर्थ हो जाए।

13. इस बात की ओर संकेत किया गया कि पत्नी द्वारा पासपोर्ट का अभ्यर्पण उसके पति को मंजूर की गई जमानत की शर्त नहीं थी। यह भारत छोड़ने के लिए उसके पति को दी गई इजाजत की शर्तों में से एक शर्त थी। वह उसके लिए प्रतिभूति भी नहीं है और न ही उसका दण्ड प्रक्रिया संहिता द्वारा विहित प्रतिभू बन्धपत्र के रूप में अर्थान्वयन किया जा सकता है। शपथ पत्र उसके और राज्य के बीच किसी संविदा को सृष्ट नहीं करता है। यह उचित प्ररूप में भी नहीं है और न ही यह संहिता के किन्हीं उपबन्धों के अंतर्गत कोई वचन ही है। अपने तर्क के समर्थन में उसने **एम्परर** बनाम **चिन्ता राम**[1] वाले मामले में इन मताभिव्यक्तियों का अवलम्ब लिया कि मामला साधारण ऐसी संविदा के समान नहीं है जिसमें पक्षकार अपने निबन्धनों को चुनने के लिए स्वतंत्र हों। उसके शपथपत्र के आधार पर उसको आबद्ध करने के लिए यह संहिता के ऐसे कुछ उपबन्धों से संगत उपबंध दर्शित किए जाने चाहिए जिनके अधीन इसकी मांग की गई थी और यह दिया गया था। ऐसा कोई उपबंध नहीं दर्शाया जा रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस दलील के लिए कोई पर्याप्त उत्तर नहीं है। यदि पत्नी अपने पासपोर्ट को लौटाने के

---

[1] ए० आई० आर० 1936 नागपुर 243.

लिए मांग करती है तो उसके पति को दी गई इजाजत को रद्द किया जा सकता है और यदि वह अनुज्ञात अवधि के भीतर भारत नहीं लौटता है जैसा कि वह अच्छे या बुरे कारणों से नहीं लौटा है, उसकी पहचान, राष्ट्रिकता और स्वतंत्रता के दस्तावेज, जो कि पासपोर्ट है, को हमेशा के लिए समपहृत नहीं किया जा सकता ।

14. परिणामतः मैं यह निदेश देता हूं कि पिटीशनर का पासपोर्ट उसको दो सप्ताह के भीतर लौटा दिया जाए । तदनुसार पिटीशन का निपटारा किया जाता है ।

पिटीशन मंजूर किया गया ।

चन्द

नि० प० 1984 : दिल्ली—134

डा० महेन्द्र सिंह दहिया बनाम राज्य

(Dr. Mohinder Singh Dahiya *Vs.* State)

तारीख 2 नवम्बर, 1983

[न्या० एच० एल० आनन्द]

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973—धारा 437 सपठित प्रत्यर्पण अधिनियम, 1962—धारा 25—विदेश में हत्या के अभिकथित अपराध के लिए भारत में गिरफ्तार अभियुक्त को विचारण और प्रत्यर्पण की कार्यवाही के दौरान जमानत की अर्जी—अन्वेषण कार्यवाही अपेक्षित 90 दिन में समाप्त न किया जाना—प्रत्यर्पण सम्बन्धी कार्यवाही और सरकार के विनिश्चय की सन्निकटता को देखते हुए ऐसे प्रक्रम पर पिटीशनर को संहिता की धारा 437 या अधिनियम की धारा 25 के अधीन जमानत पर नहीं छोड़ा जा सकता ।

पिटीशनर उच्च चिकित्सीय अर्हता वाला और निष्कलंक पूर्ववृत्त वाला भारतीय नागरिक है। उसने लंदन में भारतीय मूल की एक लड़की से विवाह किया और जब बेल्जियम में वह हनीमून के लिए गया तो वहां किन्हीं कारणों से उसने अपनी पत्नी की हत्या कर दी । वापस लंदन आकर उसने अपने ससुराल वालों को बताया कि उसकी पत्नी ने उसे छोड़ दिया है। तत्पश्चात् वह वापस भारत आकर मध्य प्रदेश के एक नगर में चिकित्सा व्यवसाय करने लगा ।

इस बीच उधर बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स में हुई जांच से पता लगा कि पिटीशनर, अपनी पत्नी की हत्या करके वहां से चला आया है। बेल्जियम सरकार की सूचना पर पिटीशनर को एक दिन देहली में गिरफ्तार किया गया। साथ ही बेल्जियम सरकार ने पिटीशनर को उस देश में अभियोजित करने के लिए उसे बेल्जियम देश में प्रत्यर्पित करने की मांग की। तदनुसार केन्द्र सरकार ने प्रत्यर्पण अधिनियम, 1962 की धारा 5 व 7 के अधीन प्रत्यर्पण सम्बन्धी जांच के आदेश एक मजिस्ट्रेट को दिए। मजिस्ट्रेट ने यह निर्णय दिया कि पिटीशनर के विरुद्ध प्रत्यर्पण का मामला प्रथमदृष्टया बनता है।

इसी बीच विचारण के पश्चात् मजिस्ट्रेट ने अपना आदेश और रिपोर्ट केन्द्र सरकार को इस अन्तिम निर्णय के लिए भेज दी कि पिटीशनर का प्रत्यर्पण किया जाए अथवा नहीं। न्यायिक अभिरक्षा के दौरान पिटीशनर ने जमानत के लिए पिटीशन फाइल किया। उसने मजिस्ट्रेट के आदेश को अभिखण्डित करने के लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 के अधीन पुनरीक्षण भी फाइल किया। पिटीशनर को प्रत्यर्पित करने या न करने के बारे में केन्द्र सरकार का विनिश्चय अभी भी सन्निकट है। प्रत्यर्पण अधिनियम, 1962 की धारा 25 के प्रति भी निर्देश किया गया था जिसमें प्रत्यर्पण की कार्यवाही के लम्बित रहने के दौरान किसी व्यक्ति को जमानत दिए जाने का उपबंध किया गया है और इस प्रश्न के बावजूद भी अनेक आधारों पर पिटीशनर को जमानत दिए जाने की बात को न्यायोचित ठहरानें का प्रयत्न किया गया था कि इस प्रश्न का विनिश्चय कुछ दिनों में होने वाला था कि क्या पिटीशनर को प्रत्यर्पित किया जाए अथवा न किया जाए।

इस मामले में मुख्य प्रश्न प्रत्यर्पण कार्यवाहियों के लम्बित रहने के दौरान अभियुक्त को जमानत पर छोड़े जाने के बारे में है।

अभिनिर्धारित—पिटीशन खारिज किए गए।

पिटीशनर अधिकारतः जमानत के लिए हकदार था क्योंकि पिटीशनर की गिरफ्तारी के पश्चात् अपेक्षित अवधि समाप्त होने वाली थी और केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो द्वारा न तो अन्वेषण समाप्त किया गया था और न न्यायालय में कोई चालान ही पेश किया गया था। किन्तु इस प्रक्रम पर केन्द्र सरकार को, बेल्जियम सरकार से इस उपर्युक्त आरोप के विचारण के लिए पिटीशनर को बेल्जियम में प्रत्यर्पित करने के लिए एक अध्यपेक्षा प्राप्त हुई। (पैरा 2)

सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए और इस तरफ या उस तरफ, इस बारे में केन्द्र सरकार के विनिश्चय की सन्निकटता को देखते हुए

यह प्रतीत होता है कि इस प्रक्रम पर पिटीशनर को जमानत दिए जाने का कोई आधार नहीं है। यदि केन्द्र सरकार पिटीशनर के प्रत्यर्पण की अध्यपेक्षा को नामंज़ूर करने का विनिश्चय करती है तो इस देश में विचारण के लंबित रहने के दौरान पिटीशनर को जमानत दिए जाने के प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। (पैरा 4)

मजिस्ट्रेट की रिपोर्ट अपने आप में पिटीशनर को प्रभावित नहीं करती। केन्द्र सरकार सभी परिस्थितियों को, जिसमें यह परिस्थिति भी शामिल है कि पिटीशनर का अभिकथित कार्य यद्यपि बेल्जियम राज्य में किया गया था, बेल्जियम के नागरिकों या उस देश के जीवन और सम्पत्ति को सीधे तौर पर प्रभावित नही करता—ध्यान में रखते हुए पिटीशनर को प्रत्यर्पित करने का आदेश कर भी सकती है और नहीं भी कर सकती। यदि सरकार पिटीशनर को प्रत्यर्पित करने का विनिश्चय करती है तो केन्द्र सरकार का अन्तिम आदेश संहिता के अधीन न्याय्य होगा अथवा कम से कम संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस न्यायालय की रिट अधिकारिता के अधीन होगा। (पैरा 6)

दाण्डिक पुनरीक्षण अधिकारिता : 1983 का दाण्डिक प्रकीर्ण आवेदन सं० 581 जिसके साथ 1983 के दाण्डिक पुनरीक्षण सं० 247 का भी निपटारा किया गया।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 397 और 482 के अधीन आवेदन।

आवेदक की ओर से ... सर्वश्री एच० आर० खान तथा आई० यू० खान

प्रत्यर्थी की ओर से ... सर्वश्री एम० एल० सचदेव और पी० पी० खुराना

न्या० एच० एल० आनन्द :

यह आदेश 1983 के दाण्डिक पुनरीक्षण पिटीशन संख्या 247 और 1983 के दांडिक प्रकीर्ण (मुख्य) आवेदन संख्या 581 का निपटारा करता है।

2. डा० महेन्द्र सिंह दहिया भारतीय राष्ट्रिक हैं और वे गांव तुर्क पुर, जिला सोनीपत, हरियाणा राज्य के रहने वाले हैं। इन्होंने एम० बी० बी० एस० की परीक्षा पास कर रखी है और नई दिल्ली के आयुर्विज्ञान संस्थान से अस्थि चिकित्सा विज्ञान में एम० एस० की डिग्री भी प्राप्त की है। इन्होंने सितम्बर, 1978 में भारतीय मूल की ब्रिटेन की एक नागरिक नमिता लोचव

से विवाह किया था । यह अभिकथन किया गया था कि इन्होंने उस समय अपनी पत्नी की हत्या कर दी थी जबकि दोनों 27/28 मई, 1979 के आस-पास ब्रुसेल्स (बेल्जियम) में 'हनीमून' मना रहे थे । डा० दहिया अगले दिन ब्रुसेल्स से चले गए और अपनी ससुराल वालों को यह सूचना दी कि उनकी पत्नी ने उन्हें त्याग दिया है और तत्पश्चात् वे भारत आ गए और मध्य प्रदेश राज्य के एक छोटे से नगर में चिकित्सा व्यवसाय करने लग गए । यह अभिकथन किया गया है कि बेल्जियम में किए गए और अन्वेषण के पश्चात् विभिन्न स्थानों से एक मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंग प्राप्त हुए जिनके बारे में यह अभिकथन किया गया कि उनकी पहचान करने पर ये अंग नमिता लोचव के शरीर (शव) के अंग थे । इन्टरपोल (ब्रुसेल्स) से सूचना प्राप्त होने पर केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो ने 1983 में एक मामला दर्ज किया और अंततः पिटीशनर को 9 मई, 1983 को दिल्ली में गिरफ्तार किया गया । पिटीशनर का पक्षकथन यह है कि इस मामले की जानकारी होने पर उसने स्वेच्छा से अपने आपको दिल्ली में केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया था । तब से लेकर पिटीशनर न्यायिक अभिरक्षा में है । पिटीशनर ने तिहाड़ जेल से, अन्य बातों के साथ-साथ, जमानत के लिए प्रार्थना करते हुए एक आवेदन फाइल किया । पिटीशनर अधिकारतः जमानत के लिए हकदार था क्योंकि पिटीशनर की गिरफ्तारी के पश्चात् अपेक्षित अवधि समाप्त होने वाली थी और केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो द्वारा न तो अन्वेषण समाप्त किया गया था और न न्यायालय में कोई चालान ही पेश किया गया था । किन्तु इस प्रक्रम पर केन्द्र सरकार को, यह अभिकथन किया गया है, बेल्जियम सरकार से इस उपर्युक्त आरोप के विचारण के लिए पिटीशनर को बेल्जियम में प्रत्यर्पित करने के लिए एक अध्यपेक्षा प्राप्त हुई है जिसके परिणामस्वरूप केन्द्र सरकार ने प्रत्यर्पण अधिनियम, 1962 की धारा 5 के अधीन मजिस्ट्रेट को ये आदेश किया कि मामले की जांच की जाए । मजिस्ट्रेट ने अधिनियम की धारा 7 के अधीन जांच की है और 8 सितम्बर, 1983 को किए गए आदेश के अनुसार यह निष्कर्ष निकालकर भेज दिया कि अपनी पत्नी की हत्या करने के अपराध के लिए पिटीशनर के विरुद्ध प्रथमदृष्टया मामला विद्यमान है, जैसा कि बेल्जियम सरकार की अध्यपेक्षा में उसके विरुद्ध अभिकथन किया गया है। यह आदेश पिटीशनर को सुनवाई का अवसर दिए जाने के पश्चात् किया गया था । जब जांच का आदेश किया गया था तो पिटीशनर ने पूर्वोक्त आवेदन को संशोधन करने की और इसके स्थान पर एक नया आवेदन फाइल करने की या इससे अतिरिक्त आवेदन फाइल करने की इजाजत मांगी थी ताकि, यदि परामर्श दिया जाए तो, वह जांच के

सम्बन्ध में मजिस्ट्रेट की रिपोर्ट या जांच की कार्यवाही पर आक्षेप कर सके। इस प्रकार से पिटीशनर ने 1983 का दांडिक पुनरीक्षण आवेदन संख्या 247 फाइल किया और इस पिटीशन से मजिस्ट्रेट के आदेश को अभिखंडित करने की मांग की गई है। प्रारंभ में केवल केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो को ही पिटीशन में प्रत्यर्थी बनाया गया था किन्तु जांच की उत्पत्ति को देखते हुए भारत सरकार, विदेश कार्य मंत्रालय को भी प्रत्यर्थी के रूप में जोड़ा गया। जैसी कि पिटीशनर ने इच्छा प्रकट की थी, वर्तमान कार्यवाहियों में पिटीशनर की ओर से हाजिर होने के लिए एक काउन्सेल भी नियुक्त किया गया था।

3. इन पिटीशनों (आवेदनों) की सुनवाई के समय पिटीशनर की ओर से निम्नलिखित के बारे में प्रश्न उठाए गए थे : पिटीशनर के प्रस्तावित प्रत्यर्पण के औचित्य के बारे में, मजिस्ट्रेट के समक्ष की गयी कार्यवाही की व्याप्ति के बारे में, प्रत्यर्पण अधिनियम, 1962 के विभिन्न उपबन्धों के अर्थान्वयन के सम्बन्ध में, जिनमें धारा 5, 7 और 25 भी शामिल हैं, मजिस्ट्रेट कीअधिकारिता की प्रकृति के बारे में और विशेष रूप से मजिस्ट्रेट के समक्ष की गयी कार्यवाहियों को शामिल करते हुए, क्या मजिस्ट्रेट की रिपोर्ट को दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन कार्यवाही कहा जा सकता है और क्या इसे संहिता द्वारा विनियमित कहा जा सकता है और इस प्रकार से क्या यह अधिकारिता दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 और 482 के अधीन इस न्यायालय की अधिकारिता के अधीन है, तथा इस निष्कर्ष की सत्यता और औचित्य के बारे में भी कि अध्यपेक्षा के समर्थन में क्या कोई प्रथमदृष्टया मामला था। धारा 25 के प्रति भी निदेश किया गया था जिसमें किसी व्यक्ति के प्रत्यर्पण की कार्यवाही के लम्बित रहने के दौरान उसे जमानत दिए जाने का उपबंध किया गया है और इस प्रश्न के बावजूद भी अनेक आधारों पर पिटीशनर को जमानत दिए जाने की बात को न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न किया गया था कि इस प्रश्न का विनिश्चय कुछ दिनों में होने वाला था कि क्या पिटीशनर को प्रत्यर्पित किया जाए अथवा न किया जाए।

4. पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेल की सुनवाई के पश्चात् मुझे यह प्रतीत होता है कि सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए और इस तरफ या उस तरफ इस बारे में केन्द्र सरकार के विनिश्चय की सन्निकटता को देखते हुए मुझे यह प्रतीत होता है कि इस प्रक्रम पर पिटीशनर को जमानत दिए जाने का कोई आधार नहीं है—भले ही यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि यह एक ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण मामला है जिसमें एक बहुत ही उच्च अर्हता प्राप्त व्यक्ति

अन्तर्वलित है जिसका यह दावा है कि वह एक निर्धन परिवार का व्यक्ति है और उसने अपनी सम्पूर्ण शिक्षा स्वतः ही प्राप्त की है और निस्संदेह उसका पूर्ववृत्त भी स्वच्छ है। यदि केन्द्र सरकार पिटीशनर के प्रत्यर्पण की अध्यपेक्षा को नामंजूर करने का विनिश्चय करती है तो इस देश में विचारण के लम्बित रहने के दौरान पिटीशनर को जमानत दिए जाने के प्रश्न पर विचार किया जा सकता है।

5. जहां तक मजिस्ट्रेट की रिपोर्ट की विधिमान्यता और इसके औचित्य को चुनौती देने से संबंधित आवेदन (पिटीशन) का संबंध है, यह आवेदन पर्याप्त महत्व के सारवान् प्रश्न उठाता है किन्तु मैं इस प्रक्रम पर दो कारणों से इन प्रश्नों में से किसी भी प्रश्न के बारे में निर्णय देने से विरत रहूंगा।

6. सर्वप्रथम मजिस्ट्रेट की रिपोर्ट एक अंतिम आदेश के रूप में की गयी रिपोर्ट नहीं है। केन्द्र सरकार के आदेश के परिणामस्वरूप मजिस्ट्रेट के समक्ष की गयी कार्यवाही की व्याप्ति के संबंध में सही विधिक स्थिति चाहे कुछ भी हो। केन्द्र सरकार को अभी भी मजिस्ट्रेट की रिपोर्ट को ध्यान में रखते हुए तथा निस्संदेह अनेक अन्य सुसंगत बातों को देखते हुए, इस प्रश्न पर विचार करना है कि क्या पिटीशनर को बेल्जियम में प्रत्यर्पित करना न्यायोचित होगा? आरोपों का विद्यमान होना और उनका न्यायोचित होना, अभिकथनों की प्रकृति तथा क्या पिटीशनर के विरुद्ध अभिकथित अपराध प्रत्यर्पण का अपराध है अथवा नहीं—केवल यही विषय ऐसे नहीं हैं जिन पर केन्द्र सरकार को पिटीशनर के प्रत्यर्पण से संबंधित विनिश्चय लेने से पूर्व करना होगा। केन्द्र सरकार को अनेक अन्य महत्वपूर्ण बातों पर भी विचार करना होगा। ऐसी बातों में ये बातें भी शामिल हैं कि क्या पिटीशनर का अनेक स्पष्ट बाध्यताओं और निर्बंधनों को ध्यान में रखते हुए, तथा निस्संदेह क्या ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए बेल्जियम में समुचित विचारण हो सकेगा, यदि एक गम्भीर आरोप के लिए विदेश में उसे विचारण करवाने के लिए कहा जाए। पिटीशनर उस देश के लिए एक निपट अनजान व्यक्ति है, वह उस देश की भाषा भी नहीं जानता। वहां न तो कोई उसका मित्र है न कोई संबंधी अथवा न उसका कोई जानकार व्यक्ति है। उसकी वहां कोई संपत्ति, कोई निधि अथवा आय का स्रोत भी नहीं है जो कि आरोप की उचित प्रतिरक्षा करने के लिए बहुत आवश्यक है। यदि पिटीशनर को अपनी प्रतिरक्षा करने का पर्याप्त अवसर दिया जाना है तो उसे जमानत पर छोड़ दिया जाना चाहिए किन्तु

यदि उसे जमानत दे दी जाती है तो क्या यह सब कुछ भ्रामक न होगा क्योंकि पिटीशनर पर्याप्त प्रतिभू अथवा इसके समान रकम पेश करने में समर्थ नहीं होगा। निस्संदेह उस देश की विधि के अधीन पिटीशनर आवश्यक विधिक सहायता के लिए हकदार होगा किन्तु उचित विचारण की संकल्पना केवल इन्हीं सुविधाओं तक सीमित नहीं है। इस संकल्पना के कुछ अन्य आयाम भी हैं जिन पर यदि ध्यान दिया जाए तो वे अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होंगे। पिटीशनर को; जो कि एक गंभीर आरोप का सामना करेगा; विचारण से पूर्व, विचारण के दौरान और इसके पश्चात् पर्याप्त नैतिक समर्थन की आवश्यकता होगी जो केवल मित्रगण और संबंधीगण ही दे सकते हैं। इन प्रश्नों से ऊपर एक प्रश्न यह भी है कि क्या यूरोपीय देश का एक न्यायालय उन विचित्र परिस्थितियों में, जिनमें उसने अपराध किया है, पिटीशनर के मनोविकार को सही तौर पर समझने में समर्थ हो सकेगा ? अपराध के बारे में सामान्यतः और वर्तमान प्रकार के अपराध के बारे में विशेषतः दोनों देशों के दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण अंतर हो सकते हैं। इन कारणों पर और निस्संदेह अन्य सुसंगत कारणों पर स्वभावतः केन्द्र सरकार विचार करेगी और उठाये गये इन विभिन्न प्रश्नों पर इस न्यायालय द्वारा व्यक्त की गई राय संभवतः एक या दूसरे रूप में कुछ प्रतिकूल प्रभाव डालेगी। अतः इस प्रक्रम पर इन बातों के बारे में कोई राय व्यक्त करना समय से पूर्व व्यक्त की गई राय के तुल्य होगा। दूसरे, मजिस्ट्रेट की रिपोर्ट अपने आप में पिटीशनर को प्रभावित नहीं करती। केन्द्र सरकार सभी परिस्थितियों को, जिसमें यह परिस्थिति भी शामिल है कि पिटीशनर का अभिकथित कार्य यद्यपि बेल्जियम राज्य में किया गया था, बेल्जियम के नागरिकों या उस देश के जीवन और संपत्ति को सीधे तौर पर प्रभावित नहीं करता—ध्यान रखते हुए पिटीशनर को प्रत्यर्पित करने का आदेश कर भी सकती है और नहीं भी कर सकती यदि सरकार पिटीशनर को प्रत्यर्पित करने का विनिश्चय करती है तो केन्द्र सरकार का अंतिम आदेश संहिता के अधीन न्याय्य होगा अथवा कम से कम संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस न्यायालय की रिट अधिकारिता के अधीन होगा। तब पिटीशनर के लिए, यदि उसे ऐसी सलाह दी जाती है, सरकार के आदेश पर उन सभी आधारों पर आक्षेप करने की स्वतंत्रता होगी जो पिटीशनर को उपलब्ध हों, जिसमें वे आधार भी शामिल हैं जो प्रस्तुत पिटीशन की विषय-वस्तु हैं। तथापि, पिटीशनर ने अपने मन के इस भय को व्यक्त किया है कि प्रत्यर्पण का आदेश, यदि पारित कर दिया जाता है तो वह आदेश पिटीशनर को किसी न्यायालय में अनुतोष के लिए आवेदन करने के लिए उसे पर्याप्त

समय दिये बिना ही कार्यान्वित न कर दिया जाए। किन्तु यह भय मुझे निराधार प्रतीत होता है क्योंकि कोई भी कार्यपालिक कार्यवाही न्यायोचित और ऋजु होनी चाहिए—न केवल इसकी सामग्री के रूप में ही नहीं अपितु उस रीति में भी जिसमें ये कार्यवाही की जाती है और उस रीति में भी जिसमें ये कार्यान्वित की जाती हैं। यदि पिटीशनर के विरुद्ध कोई प्रतिकूल आदेश किया ज़ाता है तो मेरे मन में कोई संदेह नहीं है कि सरकार इस आदेश के विरुद्ध पिटीशनर को विधिक उपचार का पर्याप्त समय दिये बिना इसे निष्पादित करने में शीघ्रता नहीं करेगी।

7. परिणामत: दोनों पिटीशन असफल होते हैं और एतद्द्वारा खारिज किये जाते हैं—किन्तु पिटीशनर को यह स्वतंत्रता होगी कि वह एक नया पिटीशन सरकार द्वारा इस मामले में विनिश्चय किये जाने के पश्चात् फाइल कर सकेगा। मैं सर्वश्री आई० यू० खान और एच० आर० खान, अधिवक्तागण द्वारा इस मामले में दी गई सहायता की प्रशंसा करना चाहूंगा जो इन कार्यवाहियों में न्याय-मित्र के रूप में पिटीशनर की ओर से हाजिर हो रहे थे। इस आदेश की प्रति-पक्षकारों के काउन्सेलों को तुरंत दे दी जाएं।

पिटीशन खारिज किये गये।

शर्मा

नि० प० 1984 : दिल्ली—141

शिवदत्त सलवान बनाम राज्य

(Shiv Dutt Salwan *Vs*. The State)

तारीख 6 दिसम्बर, 1983

[न्या० एम० एल० जैन]

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973—धारा 323—उक्त धारा में मामले को सेशन न्यायालय को भेजने के बारे में मजिस्ट्रेट को व्यापक विवेक दिया गया है किन्तु ऐसे विवेक का केवल उसी समय प्रयोग किया जा सकता है यदि मजिस्ट्रेट का इस बारे में समाधान हो जाए कि मामले को सेशन न्यायालय को भेजने के लिए ठोस कारण हैं।

इस पिटीशन में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि यदि दो मामलों के बीच सम्बन्ध हो तो क्या मामले के विचारण के लिए मजिस्ट्रेट धारा 323 के

अधीन अपने विवेक का प्रयोग करते हुए मामले को सेशन न्यायालय में भेजने से इनकार कर सकता है।

अभिनिर्धारित—पुनरीक्षण पिटीशन मंजूर किया गया।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 323 में मजिस्ट्रेट को ऐसा व्यापक विवेक दिया गया है जिसका न्यायिक रूप से प्रयोग किया जाना चाहिए और पक्षकार के मात्र अनुरोध पर नहीं होना चाहिए। उसके पास किसी ऐसे अपराध, जिसका वह विचारण स्वयं कर सकता है, के लिए किसी व्यक्ति को सेशन न्यायालय के समक्ष विचारण हेतु भेजने के लिए पर्याप्त कारण होने चाहिए। यह देखा गया है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 323 में मजिस्ट्रेट को एक व्यापक विवेक दिया गया है। किन्तु धारा में आए हुए "विचारण किया जाना चाहिए" शब्दों से यह संकेत मिलता है कि ऐसे विवेक का केवल उसी समय प्रयोग किया जा सकता है यदि मजिस्ट्रेट का इस बारे में समाधान हो कि मामले को सेशन न्यायालय को भेजने के लिए ठोस कारण हैं। न्यायालय को ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि घटनाएं विभिन्न हैं फिर भी दो मामलों में कुछ सम्बन्ध है और स्वयं अभियुक्त सेशन न्यायालय के समक्ष विचारण कराना चाहता है किन्तु ये ऐसे कारण प्रतीत नहीं होते हैं जिन पर यह कहा जा सके कि मामलों का सेशन न्यायालय में विचारण किया जाना चाहिए और विद्वान् मजिस्ट्रेट को उस प्रयोजन के लिए मामले को भेजा जाना चाहिए। अभियुक्त के अनुरोध से इनकार करने में मजिस्ट्रेट ने अपनी अधिकारिता का प्रयोग अनुचित रूप से नहीं किया है। (पैरा 3, 4 और 5)

		पैरा
[1980]	1980 क्रिमिनल ला जर्नल 156 (पटना) : सावन राय और अन्य **बनाम** राज्य (Sawan Rai and others *Vs*. The State);	4
[1974]	1974 क्रिमिनल जा जर्नल 60 : संत प्रकाश साहनी वाला मामला (Sant Prakash Sahni's Case);	4
[1949]	ए० आई० आर० 1949 (36) इलाहाबाद : रैक्स **बनाम** मटोले और अन्य (Rex *Vs*. Matoley and others);	4
[1932]	ए० आई० आर० 1932 लाहौर 168 : एम्परर **बनाम** नत्थू और अन्य (Emperor *Vs*. Nathu and others);	4

[1929] ए० आई० आर० 1929 मुम्बई 313 : कृष्णाजी प्रभाकर खादिलकर **बनाम** एम्परर (Krishnaji Prabhakar Khadilkar *Vs.* Emperor); 4

[1918] (1918) 42 मद्रास 83 : क्राउन प्रासीक्यूटर **बनाम** भगवती (Crown Prosecutor *Vs.* Bhagavathi); 4

[1913] (1913) 13 क्रिमिनल लॉ जर्नल 657 : एम्परर **बनाम** आशा भट्टी और अन्य (Emperor *Vs.* Asha Bhathi and others) 4

का अवलम्ब लिया गया ।

दाण्डिक पुनरीक्षण अधिकारिता : 1983 का दाण्डिक पुनरीक्षण पिटीशन सं० 181.

दिल्ली के मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट श्री नेपाल सिंह के तारीख 11 मई, 1983 के आदेश से पुनरीक्षण पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से ... श्री बी० बी० लाल और श्री के० पी० कपूर, अधिवक्ता

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री डी० आर० सेठी, अधिवक्ता

न्या० एम० एल० जैन :

पिटीशनर शिव दत्त सलवान, सलवान शिक्षा न्यास का अध्यक्ष है। यह न्यास सलवान पब्लिक स्कूल चलाता है। उक्त न्यास की प्रबन्ध समिति ने प्रबन्ध समिति और अपचारी कर्मचारियों के बीच दुर्भाव के परिणामस्वरूप अनुशासनिक कार्यवाही संस्थित करने का विनिश्चय किया। कर्मचारियों ने पिटीशनर और कुछ अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 147/148/149/307/506 के अधीन तारीख 31 दिसम्बर, 1980 को प्रथम इत्तिला रिपोर्ट संख्या 598 दर्ज कराई। चूंकि उस मामले का विचारण अनन्य रूप से सेशन न्यायालय द्वारा किया जाना था, इसलिए उसे तारीख 10 मई, 1983 को पहले ही भेज दिया ।

2. 8 जनवरी, 1981 को अकेले पिटीशनर के विरुद्ध इस आधार पर एक अन्य प्रथम इत्तिला रिपोर्ट संख्या 17/81 पुलिस थाना, राजिन्दर नगर में दर्ज कराई गई कि उसने पूर्व मामले में साक्षियों में से एक साक्षी की पत्नी को यह धमकी दी थी कि यदि साक्षियों द्वारा दिए गए कथन बदले नहीं जाते हैं

तो उन्हें घातक परिणाम भुगतने होंगे। यह मामला मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष लम्बित है। 16 अप्रैल, 1983 को दूसरे मामले को सेशन न्यायालय को भेजने के लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 323 के अधीन पिटीशनर द्वारा एक अन्य आवेदन दिया गया अर्थात् प्रथम इत्तिला रिपोर्ट संख्या 17/81 विचारण के लिए सेशन न्यायालय को भेजा जाए। विद्वान् मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने अपने तारीख 11 मई, 1983 के आदेश द्वारा उस आवेदन को नामंजूर कर दिया। अतः प्रस्तुत पिटीशन मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट को मामले को सेशन न्यायालय में भेजने के लिए निदेश देने के लिए किया गया है।

3. विद्वान् मजिस्ट्रेट का यह मत था कि मामले को सेशन न्यायालय को सुपुर्द करने के लिए कोई ठीक कारण नहीं थे क्योंकि पश्चात्वर्ती मामले में अपराध पूर्वतर मामले से सम्बद्ध नहीं था। यद्यपि द्वितीय अपराध का हेतुक बल पूर्वतर मामले को वापस लिया जाना था। इसलिए द्वितीय अपराध विभिन्न स्थान और समय पर किया गया था और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा किया गया था और पिटीशनर उनमें से एक था।

4. मैंने तर्कों की सुनवाई की है। धारा 323 इस प्रकार है :—

"प्रकिया जब जांच या विचारण के प्रारम्भ के पश्चात् मजिस्ट्रेट को पता चलता है कि मामला सुपुर्द किया जाना चाहिए। यदि किसी मजिस्ट्रेट के समक्ष अपराध की किसी जांच या विचारण में निर्णय पर हस्ताक्षर करने के पूर्व कार्यवाही के किसी प्रक्रम में उसे यह प्रतीत होता है कि मामला ऐसा है जिसका विचारण सेशन न्यायालय द्वारा किया जाना चाहिए, तो वह उसे इसमें इसके पूर्व अन्तर्विष्ट उपबन्धों के अधीन उस न्यायालय को सुपुर्द कर देगा।"

इस धारा में मजिस्ट्रेट को ऐसा व्यापक विवेक दिया गया है जिसका न्यायिक रूप से प्रयोग किया जाना चाहिए और पक्षकार के मात्र अनुरोध पर नहीं होना चाहिए। उसके पास किसी ऐसे अपराध, जिसका वह विचारण स्वयं कर सकता है, के लिए किसी व्यक्ति को सेशन न्यायालय के समक्ष विचारण हेतु भेजने के लिए पर्याप्त कारण होने चाहिए। रेक्स बनाम **मटोले और अन्य**[1], **एम्परर** बनाम **आशा भट्टी और अन्य**[2] वाले मामलों में यह मत व्यक्त किया गया कि अनेक कारणों से ऐसी प्रक्रिया वांछनीय नहीं है कि सेशन न्यायालय में पहले

---

1 ए० आई० आर० 1949 (36) इलाहाबाद.

2 (1913) 13 क्रिमिनल ला जर्नल 657.

से ही कार्य अधिक होने के कारण उसको मजिस्ट्रेट द्वारा ऐसे मामलों को भेजकर और अधिक भार लादा जाए। जहां पर मजिस्ट्रेट स्वयं मामलों का विनिश्चय करने के लिए सक्षम है और उच्चतर न्यायालय को भेजने के लिए कोई अध्यारोही कारण विद्यमान नहीं हैं। **क्राउन प्रोसीक्यूटर** बनाम **भगवती**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि मजिस्ट्रेट उदाहरणार्थ यह विचार करता है कि विधि का जटिल प्रश्न उद्भूत होता है या यह कि सेशन न्यायालय के समक्ष पहले से ही कुछ सम्बद्ध मामले हैं तो मामलों को सेशन न्यायालय को भेजने के लिए मजिस्ट्रेट को निवारित करने हेतु संहिता में कुछ नहीं है। किन्तु एक मामले का दूसरे मामले से सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध होना इसे सेशन न्यायालय को भेजने के लिए कोई आधार नहीं है। **एम्परर** बनाम **नत्थू और अन्य**[2]। जब तक मामलों के बीच में सम्बन्ध नहीं होता जैसे मजिस्ट्रेट द्वारा विचारण नहीं होता तो इससे उलझन होगी या अभियुक्त पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और भेजने का आदेश ठीक आदेश नहीं होगा (देखिए आशा भट्टी वाला उपरोक्त मामला)। **कृष्णाजी प्रभाकर खादिलकर** बनाम **एम्परर**[3] वाले मामले में अपराध की गम्भीरता और मामले के लोक महत्व को ध्यान में रखते हुए सेशन न्यायालय को भेजने के लिए निदेश दिया गया था। इसी प्रकार से **संत प्रकाश साहनी**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि या तो मामले के गुरुत्व के कारण या किसी अन्य पर्याप्त कारण से यदि मजिस्ट्रेट की राय यह है कि सेशन न्यायालय मामले के निपटारे के लिए उचित अधिकरण था तो वह मामले को उसे भेज सकता है। **सावन राय और अन्य** बनाम **राज्य**[5] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जहां पर यदि एक मामले जैसे दो मामले होते हैं और उसका प्रति मामला होता है और एक मामला अनन्य रूप से सेशन न्यायालय द्वारा विचारणीय होता है तो अन्य मामले को सेशन न्यायालय को भेजने का यह आधार नहीं हो सकता। इस प्रकार यह देखा गया है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 323 में मजिस्ट्रेट को एक व्यापक विवेक दिया गया है। किन्तु धारा में आये हुए "विचारण किया जाना चाहिए" शब्दों से यह संकेत मिलता है कि ऐसे विवेक का केवल उसी समय प्रयोग किया जा

---

[1] (1918) 42 मद्रास 83.

[2] ए० आई० आर० 1932 लाहौर 168.

[3] ए० आई० आर० 1929 मुम्बई 313.

[4] 1974 क्रिमिनल ला जर्नल 60.

[5] 1980 क्रिमिनल ला जर्नल नं. 156 (पटना)

तो उन्हें घातक परिणाम भुगतने होंगे। यह मामला मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष लम्बित है। 16 अप्रैल, 1983 को दूसरे मामले को सेशन न्यायालय को भेजने के लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 323 के अधीन पिटीशनर द्वारा एक अन्य आवेदन दिया गया अर्थात् प्रथम इत्तिला रिपोर्ट संख्या 17/81 विचारण के लिए सेशन न्यायालय को भेजा जाए। विद्वान् मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने अपने तारीख 11 मई, 1983 के आदेश द्वारा उस आवेदन को नामंजूर कर दिया। अतः प्रस्तुत पिटीशन मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट को मामले को सेशन न्यायालय में भेजने के लिए निदेश देने के लिए किया गया है।

3. विद्वान् मजिस्ट्रेट का यह मत था कि मामले को सेशन न्यायालय को सुपुर्द करने के लिए कोई ठीक कारण नहीं थे क्योंकि पश्चात्वर्ती मामले में अपराध पूर्वतर मामले से सम्बद्ध नहीं था। यद्यपि द्वितीय अपराध का हेतुक बल पूर्वतर मामले को वापस लिया जाना था। इसलिए द्वितीय अपराध विभिन्न स्थान और समय पर किया गया था और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा किया गया था और पिटीशनर उनमें से एक था।

4. मैंने तर्कों की सुनवाई की है। धारा 323 इस प्रकार है :—

"प्रक्रिया जब जांच या विचारण के प्रारम्भ के पश्चात् मजिस्ट्रेट को पता चलता है कि मामला सुपुर्द किया जाना चाहिए। यदि किसी मजिस्ट्रेट के समक्ष अपराध की किसी जांच या विचारण में निर्णय पर हस्ताक्षर करने के पूर्व कार्यवाही के किसी प्रक्रम में उसे यह प्रतीत होता है कि मामला ऐसा है जिसका विचारण सेशन न्यायालय द्वारा किया जाना चाहिए, तो वह उसे इसमें इसके पूर्व अन्तर्विष्ट उपबन्धों के अधीन उस न्यायालय को सुपुर्द कर देगा।"

इस धारा में मजिस्ट्रेट को ऐसा व्यापक विवेक दिया गया है जिसका न्यायिक रूप से प्रयोग किया जाना चाहिए और पक्षकार के मात्र अनुरोध पर नहीं होना चाहिए। उसके पास किसी ऐसे अपराध, जिसका वह विचारण स्वयं कर सकता है, के लिए किसी व्यक्ति को सेशन न्यायालय के समक्ष विचारण हेतु भेजने के लिए पर्याप्त कारण होने चाहिए। **रेक्स बनाम मटोले और अन्य**[1], **एम्परर बनाम आशा भट्टी और अन्य**[2] वाले मामलों में यह मत व्यक्त किया गया कि अनेक कारणों से ऐसी प्रक्रिया वांछनीय नहीं है कि सेशन न्यायालय में पहले

---

1 ए० आई० आर० 1949 (36) इलाहाबाद.

2 (1913) 13 क्रिमिनल ला जर्नल 657.

से ही कार्य अधिक होने के कारण उसको मजिस्ट्रेट द्वारा ऐसे मामलों को भेजकर और अधिक भार लादा जाए। जहां पर मजिस्ट्रेट स्वयं मामलों का विनिश्चय करने के लिए सक्षम है और उच्चतर न्यायालय को भेजने के लिए कोई अध्यारोही कारण विद्यमान नहीं हैं। **क्राउन प्रोसीक्यूटर** बनाम **भगवती**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि मजिस्ट्रेट उदाहरणार्थ यह विचार करता है कि विधि का जटिल प्रश्न उद्भूत होता है या यह कि सेशन न्यायालय के समक्ष पहले से ही कुछ सम्बद्ध मामले हैं तो मामलों को सेशन न्यायालय को भेजने के लिए मजिस्ट्रेट को निवारित करने हेतु संहिता में कुछ नहीं है। किन्तु एक मामले का दूसरे मामले से सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध होना इसे सेशन न्यायालय को भेजने के लिए कोई आधार नहीं है। **एम्परर** बनाम **नत्थू और अन्य**[2]। जब तक मामलों के बीच में सम्बन्ध नहीं होता जैसे मजिस्ट्रेट द्वारा विचारण नहीं होता तो इससे उलझन होगी या अभियुक्त पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और भेजने का आदेश ठीक आदेश नहीं होगा (देखिए आशा भट्टी वाला उपरोक्त मामला)। **कृष्णाजी प्रभाकर खादिलकर** बनाम **एम्परर**[3] वाले मामले में अपराध की गम्भीरता और मामले के लोक महत्व को ध्यान में रखते हुए सेशन न्यायालय को भेजने के लिए निदेश दिया गया था। इसी प्रकार से **संत प्रकाश साहनी**[4] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि या तो मामले के गुरुत्व के कारण या किसी अन्य पर्याप्त कारण से यदि मजिस्ट्रेट की राय यह है कि सेशन न्यायालय मामले के निपटारे के लिए उचित अधिकरण था तो वह मामले को उसे भेज सकता है। **सावन राय और अन्य** बनाम **राज्य**[5] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जहां पर यदि एक मामले जैसे दो मामले होते हैं और उसका प्रति मामला होता है और एक मामला अनन्य रूप से सेशन न्यायालय द्वारा विचारणीय होता है तो अन्य मामले को सेशन न्यायालय को भेजने का यह आधार नहीं हो सकता। इस प्रकार यह देखा गया है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 323 में मजिस्ट्रेट को एक व्यापक विवेक दिया गया है। किन्तु धारा में आये हुए "विचारण किया जाना चाहिए" शब्दों से यह संकेत मिलता है कि ऐसे विवेक का केवल उसी समय प्रयोग किया जा

---

[1] (1918) 42 मद्रास 83.

[2] ए० आई० आर० 1932 लाहौर 168.

[3] ए० आई० आर० 1929 मुम्बई 313.

[4] 1974 क्रिमिनल ला जर्नल 60.

[5] 1980 क्रिमिनल ला जर्नल नं. 156 (पटना)

सकता है यदि मजिस्ट्रेट का इस बारे में समाधान हो कि मामले को सेशन न्यायालय को भेजने के लिए ठोस कारण हैं।

5. अभियुक्त की ओर से यह निवेदन किया गया है कि उसको भेजने की मांग इसलिए की गई है क्योंकि दोनों मामलों में साक्षी सामान्य होंगे। दो मामले एक दूसरे से जटिल रूप से सम्बद्ध हैं और इसके अतिरिक्त अभियुक्त स्वयं भी सेशन न्यायालय में विचारण कराना चाहता है। इस मामले में अभियोजन पक्ष का कोई विशिष्ट आक्षेप नहीं है यदि मामले को भेजा जाता है किन्तु उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि यह ऐसी प्रकृति का मामला नहीं है जिसके कारण इसे विनिश्चित करने के लिए सेशन न्यायालय को भेजा जाए। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि घटनायें विभिन्न हैं फिर भी दो मामलों में कुछ सम्बन्ध है और स्वयं अभियुक्त सेशन न्यायालय के समक्ष विचारण कराना चाहता है किन्तु ये ऐसे कारण प्रतीत नहीं होते हैं जिन पर यह कहा जा सके कि मामलों का सेशन न्यायालय में विचारण किया जाना चाहिए और विद्वान् मजिस्ट्रेट को उस प्रयोजन के लिए मामले को भेजा जाना चाहिए। अभियुक्त के अनुरोध से इनकार करने में मजिस्ट्रेट ने अपनी अधिकारिता का प्रयोग अनुचित रूप से नहीं किया है।

6. अतः पिटीशन नामंजूर किया जाता है।

पुनरीक्षण पिटीशन नामंजूर किया गया।

चन्द

नि० प० 1984 : दिल्ली—146

श्री साहिब राम बनाम दिल्ली प्रशासन और अन्य

(Shri Sahib Ram *Vs.* Delhi Administration & Others)

तारीख 4 जनवरी, 1984

[न्या० एन० एन० गोस्वामी]

पंजाब पुलिस रूल्स का रूल 16.3 (पंजाब पुलिस नियमावली नियम) उक्त नियम के अधीन किसी कर्मचारी के विरुद्ध उन्हीं अभिकथनों के आधार पर विभागीय कार्यवाही नही की जा सकती जो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की विषय-वस्तु रहे हों और जिनके आधार पर सक्षम दाण्डिक न्यायालय ने उसे दोषमुक्त कर दिया हो।

पिटीशनर के, जिसे 1962 में सिपाही के रूप में नियुक्त किया गया था और जिसका नई दिल्ली (दक्षिण) की ऐंम्बुलैंस गाड़ी पर रोड दुर्घटना सेवा के वरिष्ठ टैकनीशियन के रूप में तैनात करने के लिए चयन किया गया था, विरुद्ध दण्ड संहिता, 1860 की धारा 457/354 के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराई गई। यह अभिकथन किया गया कि 24/25 अप्रैल, 1977 की मध्य रात्रि में पिटीशनर बिना किसी उचित हेतुक के प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराने वाले व्यक्ति के घर की छत पर चढ़ गया जहां उसने उसकी दो पुत्रियों में से एक पुत्री के जो सोई हुई थी, बालों में हाथ फेरा जिससे वह जाग गई और शोरगुल मच जाने के कारण वह छत से छलांग लगाकर भाग गया। दिए गए साक्ष्य के आधार पर महानगर मजिस्ट्रेट ने यह निष्कर्ष निकाला कि पिटीशनर निर्दोषी है और उसे अपने आदेश द्वारा उन्मोचित कर दिया। किन्तु विभाग की ओर से उसके विरुद्ध विभागीय जांच प्रारम्भ करने के लिए आदेश किया गया। इस आदेश के अनुसरण में जांच की गई तथा जांच-रिपोर्ट प्राप्त होने के पश्चात् उसे हेतुक दर्शित करने के लिए सूचना जारी की गई। पिटीशनर ने यह दलील दी कि विभाग दिल्ली में लागू होने वाले सुसंगत नियम, पंजाब पुलिस रूलस के रूल 16.3, के अधीन पिटीशनर के विरुद्ध उन्हीं अभिकथनों के आधार पर कार्यवाही नहीं कर सकता जो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की विषय-वस्तु रहे हों और जिनके आधार पर सक्षम दाण्डिक न्यायालय ने उसे दोषमुक्त कर दिया हो। किन्तु प्रत्यर्थी की ओर से यह दलील दी गई कि विभाग उक्त नियम के अधीन विभागीय जांच के लिए अग्रसर हो सकता है। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ मुख्य प्रश्न यह है कि क्या विभाग द्वारा पिटीशनर, जिसे सक्षम दाण्डिक न्यायालय द्वारा दोषमुक्त कर दिया गया हो, के विरुद्ध उन्हीं अभिकथनों के आधार पर जो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की विषय-वस्तु रहे हों, विभागीय कार्यवाही की जा सकती है ?

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

विभाग उन तथ्यों पर कार्यवाही नहीं कर रहा है जो न्यायालय के समक्ष के आरोप से संबंधित नहीं हैं और जो विभिन्न आरोप के आधार पर विभागीय जांच को न्यायोचित ठहराता है किन्तु विभाग यथावत् रूप से उन्हीं आरोपों के आधार पर अग्रसर हो रहा है जो सक्षम दाण्डिक न्यायालय के समक्ष विचारण की विषय-वस्तु थे। (पैरा 5)

4 मार्च, 1981 के पश्चात् विभागीय जांच के लिए और कोई आदेश उस समय नहीं दिया जा सकता जबकि दोनों पक्षकारों की उपस्थिति में कार्यवाहियों को रोकने वाला प्रश्नगत आदेश स्वीकृत रूप से दे दिया गया

था। विभाग को जांच-फाइल पर किसी प्रकार का आदेश न देने के लिए कहा गया था। मामले को इस दृष्टिकोण से देखने पर प्रारम्भ की गई द्वितीय जांच भी अभिखण्डित की जाती है। (पैरा 5)

21 फरवरी, 1980 के आदेश सं० 1881-96/एसडी (पी) में यथा प्रकल्पित जांच, जो कि पिटीशन का उपाबंध 'एफ' है, और जिसे अपर पुलिस आयुक्त द्वारा पारित किया गया है तथा 5 मार्च, 1981 के आदेश सं० 1644-55/एस डी (पी) जिसे प्रत्यर्थी सं० 4 द्वारा पिटीशनर के विरुद्ध विभागीय जांच का आदेश देते हुए पारित किया गया है तथा अभिकथनों की संक्षिप्ति और उसके संबंध में कार्यवाहियां अभिखण्डित की जाती हैं। (पैरा 7)

पैरा

[1976] 1976 (1) एस० एल० आर० 133 : कुन्दन लाल बनाम दिल्ली प्रशासन (Kundan Lal *Vs.* Delhi Administration) 4

वाला मामला निर्दिष्ट किया गया।

आरम्भिक सिविल अधिकारिता : 1980 का सिविल रिट पिटीशन सं० 284.
भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन किया गया पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री एच० आर० भूटानी, अधिवक्ता

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री ओ० पी० शर्मा, अधिवक्ता

न्या० गोस्वामी :

इस रिट पिटीशन में विचारार्थ मुख्य प्रश्न यह है कि क्या पिटीशनर, जिसे सक्षम दाण्डिक न्यायालय द्वारा दोषमुक्त कर दिया गया है, के विरुद्ध उन्हीं अभिकथनों के आधार पर, जो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की विषय-वस्तु थे, विभागीय कार्यवाही की जा सकती है।

2. सुसंगत तथ्य ये हैं कि पिटीशनर को 10 दिसम्बर, 1962 को सिपाही के रूप में नियुक्त किया गया था। तत्पश्चात् उसे सहायक उप-निरीक्षक के रूप में प्रोन्नत कर दिया गया। 1976 में उसे पुलिस मुख्यालय, दिल्ली की स्थापन शाखा में तैनात कर दिया गया और उसका नई दिल्ली (दक्षिण) की एम्बुलैंस गाड़ी पर रोड दुर्घटना सेवा के वरिष्ठ टैक्नीशियन के रूप में तैनात करने के लिए चयन किया गया। 24 अप्रैल, 1977 को राम मेहर की पुत्री श्रीमती विद्यावती की शिकायत के आधार पर भारतीय दण्ड संहिता की धारा

457/354 के अधीन 1977 की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं० 160 पुलिस थाना, नजफगढ़, दिल्ली में दर्ज कराई गई। ये अभिकथन किए गए कि 24 अप्रैल, 1977 को 24/25 अप्रैल, 1977 की मध्य रात्रि के लगभग अभ्यर्थी को राम मेहर के घर की छत पर जहां कि उसकी दो पुत्रियां विद्यावती और उसकी छोटी बहन सो रहीं थीं, पाया गया। बिना किसी उचित हेतुक और कारण के तथा इस बात का एहसास करते हुए कि औरतें जाग गई हैं पिटीशनर घर की छत से छलांग लगा कर भाग गया। पिटीशनर को महानगर मजिस्ट्रेट, दिल्ली के समक्ष विचारण के लिए भेजा गया। कुछ साक्ष्य अभिलिखित करने के पश्चात् महानगर मजिस्ट्रेट ने यह निष्कर्ष निकाला कि श्रीमती विद्यावती द्वारा वर्णित तथ्य उसकी लज्जा भंग करने के आशय से उस पर हमला किया जाना या आपराधिक बल के प्रयोग को दर्शित नहीं करता अतः अभियुक्त पिटीशनर को दण्ड संहिता की धारा 354 के अधीन आरोपित नहीं किया जा सकता। विद्वान् मजिस्ट्रेट ने आगे यह निष्कर्ष निकाला कि साक्षी अर्थात् श्रीमती छाया, श्रीमती सरदारे, चन्दगी राम और श्रीमती मुख्तियारी के साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि परिवादी की छत से कूदने वाला व्यक्ति जो घटना की रात्रि को नीचे गली में भाग रहा था पिटीशनर नहीं था। इन निष्कर्षों के आधार पर विद्वान् महानगर मजिस्ट्रेट ने पिटीशनर को 17 मार्च, 1978 के आदेश द्वारा उन्मोचित कर दिया।

3. चूंकि पिटीशनर को उन्मोचित कर दिया गया था अतः 2 फरवरी, 1979 के आदेश द्वारा उसके विरुद्ध विभागीय जांच प्रारम्भ की गई। यह आदेश निम्नलिखित प्रभाव का है :—

> "श्रीमती उर्मिला रानी, महानगर मजिस्ट्रेट, दिल्ली के न्यायालय द्वारा दण्ड संहिता की धारा 457/354 के अधीन पुलिस थाना, नजफगढ़ में 1977 की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं० 160 के मामले में उसके उन्मोचन के परिणामस्वरूप ए० एस० आई०, साहिब राम सं० 2567/एसडी को यह आदेश दिया जाता है कि वह निम्नलिखित अभिकथनों के आधार पर विभागीय कार्रवाई करे :—
>
> (i) जब वह नियंत्रण कक्ष (नई दिल्ली, दक्षिण) से संलग्न एम्बुलेंस पर कर्तव्यारूढ़ था तब वह 24 अप्रैल, 1977 को अपने गाव शाहबाद मोहम्मदपुर गया तथा 24/25 अप्रैल, 1977 की मध्य रात्रि को श्री राम मेहर के घर की छत पर, जहां कि महिलाएं सो रही थीं, बिना किसी उचित हेतुक और कारण के पाया गया था;

(ii) इस बात का एहसास करते हुए कि महिलाएं जाग गई हैं वह वहां से कूदकर भागा और छिप गया;

उसने जघन्य क्रियाकलापों में भाग लेते हुए अपनी पदीय स्थिति का दुरुपयोग किया है और इस तरह विभाग को बदनाम किया है। कार्यवाहियां राजेश कुमार, एसीपी/लोदी कालोनी द्वारा दिन प्रतिदिन लेखबद्ध की जाएंगी तथा निकाला गया निष्कर्ष अधोहस्ताक्षरित को शीघ्रातिशीघ्र प्रस्तुत किया जाएगा।"

4. इस आदेश के अनुसरण में जांच की गई तथा जांच रिपोर्ट प्राप्त होने के पश्चात् हेतुक दर्शित करने के लिए पिटीशनर को सूचना जारी की गई। हेतुक दर्शित करने की सूचना का सुसंगत भाग निम्न प्रकार है :—

"24/25 अप्रैल, 1977 की रात्रि को उसे श्री राम मेहर की छत पर, जहां कि महिलाएं सो रही थीं, बिना किसी उचित हेतुक और कारण के तथा दूरस्थ हेतुक से उपस्थित पाया गया था। उसने अपना हाथ श्रीमती विद्या देवी के बालों में दिया था जिसके कारण, वह जाग गई थी और उसने शोरगुल मचा दिया था। तदुपरि वह वहां से नीचे कूद कर भाग गया और छिप गया।"

जांच प्रारम्भ करने और हेतुक दर्शित करने की सूचना जारी करने वाला आदेश स्पष्ट रूप से इस बात की ओर संकेत करता है कि पिटीशनर के विरुद्ध उन्हीं आरोपों पर जो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अन्तर्विष्ट थे और जिनके आधार पर उसे उन्मोचित किया गया था, कार्यवाही की जा रही है स्वीकृत रूप से दिल्ली में लागू होने वाला सुसंगत नियम पंजाब पुलिस रूल्स का रूल 16.3 है। उक्त नियम निम्न प्रकार है—

*"16:3(1). जब किसी पुलिस अधिकारी का विचारण किया गया हो और दाण्डिक न्यायालय द्वारा उसे दोषमुक्त कर दिया गया हो तब उसे उसी आरोप के आधार पर या विभिन्न आधार पर अथवा

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"16.3(1). When a Police Officer has been tried and acquitted by a criminal Court he shall not be punished departmentally on the same charge or on a

दाण्डिक मामले में प्रस्तुत किए गए साक्ष्य के आधार पर चाहे वस्तुतः दिया गया हो या नहीं, विभागीय तौर पर तब तक दण्डित नहीं किया जाएगा जब तक कि :—

(क) दाण्डिक आरोप तकनीकी आधारों पर असफल हो गया हो; अथवा

(ख) पुलिस अधीक्षक के न्यायालय की राय में अभियोजन साक्षियों को तोड़ लिया गया हो ; अथवा

(ग) न्यायालय ने अपने निर्णय में यह अभिनिर्धारित किया हो कि वस्तुतः अपराध किया गया है और यह कि सम्बद्ध पुलिस अधिकारी पर संदेह है ; अथवा

(घ) दाण्डिक मामले में प्रस्तुत किया गया साक्ष्य ऐसे तथ्य प्रकट करता है जो न्यायालय के समक्ष के आरोप से सम्बद्ध नहीं हैं जिनसे भिन्न आरोप के आधार पर विभागीय कार्यवाहियों को न्यायोचित ठहराया जा सके; अथवा

(ङ) विभागीय कार्यवाहियों में नियम 16.25(1) के

---

different charge upon the evidence cited in criminal case, whether actually led or not, unless :—

(a) the criminal charge has failed on technical grounds; or

(b) in the opinion of the court of the Superintendent of Police, the prosecution witnesses have been won over; or

(c) the court has held in its judgment that offence was actually committed and that suspicion rests upon the police officer concerned; or

(d) the evidence cited in the criminal case discloses facts unconnected with the charge before the court which justify departmental proceedings on a defferent charge; or

(e) additional evidence admissible under

अधीन ग्राह्य अतिरिक्त साक्ष्य उपलब्ध है।

(2) उपनियम (1) के अधीन विभागीय कार्यवाहियां पुलिस अधीक्षक के आदेश द्वारा निम्न श्रेणी के अधीनस्थों के विरुद्ध प्रारम्भ की जा सकती हैं लेकिन इन कार्यवाहियों को उच्चतर अधीनस्थों के विरुद्ध केवल पुलिस उप-महानिरीक्षक की स्वीकृति से ही किया जा सकता है और उस पुलिस अधिकारी के बारे में, जिसके विरुद्ध इस प्रकार की कार्यवाही ग्राह्य है, यह नहीं समझा जाएगा कि उसे सिविल सर्विसेज रूल्स पंजाब), जिल्द I, भाग I के नियम 7.3 के प्रयोजन के लिए सम्मानपूर्वक दोषमुक्त कर दिया गया है।"

4. इस नियम का इस न्यायालय द्वारा विभिन्न नजीरों में निर्वचन किया गया है किन्तु मेरी राय में इस उपनियम की स्पष्ट भाषा के आधार पर इन निर्णयों में से किसी निर्णय के प्रति निर्देश करना आवश्यक नहीं है। किन्तु मैं **कुन्दन लाल** बनाम **दिल्ली प्रशासन**[1] वाले मामले के प्रति निर्देश करना चाहूंगा।

5. प्रत्यर्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि नियम 16.3(1)(घ) के अधीन विभाग विभागीय जांच के लिए अग्रसर हो सकता है और इस मामले में विभाग उक्त उप-नियम के अधीन कार्य कर रहा है। आदेश और हेतुक दर्शित करने की सूचना को पढ़ने

---

rule 16.25(1) in departmental proceedings is available.

(2) Departmental proceedings admissible under sub-rule (1) may be instituted against Lower Subordinates by the order of the Superintendent of Police but may be taken against Upper Subordinates only with the sanction of the Duputy Inspector General of Police, and a police officer against whom such action is admissible shall not be deemed to have been honourably acquitted for the purpose of rule 7.3 of the Civil Services Rules (Punjab), Volume I, Part I."

---

[1] 1976 (1) एस० एल० आर० 133.

में यह समझा जाएगा कि वे अधिनियम के अधीन बनाए गए हैं। इस उपबन्ध का प्रभाव यह है कि पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट के अधीन विरचित की गई नियमावली, जो कि अधिनियम के प्रारम्भ के दिन प्रवृत्त थी, के सम्बन्ध में यह समझा जाएगा कि वह अधिनियम के उपबन्धों के अधीन बनाई गई है और वह प्रवृत्त बनी रहेगी। अधिनियम की धारा 40 और 279 के साथ-साथ पढ़े जाने से यह निष्कर्ष निकलता है कि नगरपालिक समिति पंजाब म्युनिसिपल जनरल रूल्स के उपबन्धों के अनुसार ही अपने कर्मचारियों की पदच्युति का आदेश पारित कर सकती है। इन नियमों के अतिक्रमण में या उसके अननुपालन में पारित किया गया पदच्युति का कोई भी आदेश विधिमान्य नहीं होगा। (पैरा 4)

पंजाब म्युनिसिपल जनरल रूल्स के नियम 3 में स्पष्ट शब्दों में यह अधिकथित किया गया है कि अपचारी कर्मचारी के विरुद्ध अभिकथित प्रत्येक अपराध की बाबत उसके विरुद्ध एक निश्चित आरोप विरचित किया जाएगा। यह आरोप उसे स्पष्ट किया जाएगा और अभियोजन पक्ष उसके समर्थन में साक्ष्य देगा और सक्षम प्राधिकारी ऐसा साक्ष्य लेखबद्ध करेगा जो अपचारी पदाधिकारी अपने बचाव में पेश करे। सक्षम प्राधिकारी अपने द्वारा लेखबद्ध किए गए बचाव साक्ष्य को ध्यान में रखेगा और प्रत्येक आरोप की बाबत साक्ष्य पर विचार-विमर्श करेगा तथा उनके सम्बन्ध में निष्कर्ष देगा। नियम 3 में नैसर्गिक न्याय के ऐसे नियम या सिद्धान्त समाविष्ट हैं जो अब इस देश की जनता की न्यायिक चेतना में अन्तर्निहित हो गए हैं। इन सिद्धान्तों के किसी भी अतिक्रमण का समर्थन नहीं किया जा सकता। नगरपालिक समिति आक्षेपित आदेश पारित करने के पूर्व नियम 3 द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार कार्य करने में असफल रही है। अतः उसके द्वारा नियम 3 के उपबन्धों का अतिक्रमण करते हुए दिया गया विनिश्चय शून्य और अवैध है। (पैरा 5)

आक्षेपित नोटिस और आदेश में कर्मचारी पर अनुशासनहीनता और गैर जिम्मेदार होने का आरोप लगाया गया है। ये आरोप स्पष्टतः कलंकात्मक हैं। इसके अतिरिक्त आक्षेपित आदेश में कर्मचारी की सेवा समाप्त किए जाने को 'हटाए जाने' के रूप में वर्णित किया गया है। 'हटाया जाना' स्पष्टतः 'पदच्युति' की परिभाषा के अन्तर्गत आता है। लिखित कथन में इस आदेश को स्पष्टतः पदच्युति का आदेश बताया गया है। (पैरा 7)

पैरा

[1983] 1983 (1) एस० एल० आर० 546 : श्री फकीर चन्द बनाम नगरपालिक समिति, 6

नवांशहर (Shri Feqir) Chand *Vs.* Municipal Committee, Nawan-Shehar);

[1978] ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1407 : टाउन एरिया समिति, जलालाबाद **बनाम** जगदीश प्रसाद और अन्य (Town Area Committee, Jalalabad *Vs.* Jagdish Prasad and others); 5

[1970] 1970 एस० एल० आर० 29 : नगरपालिक समिति, रोहतक **बनाम** श्री जोहरी मल मित्तर, भूतपूर्व नगरपालिक इंजीनियर (Municipal Committee, Rohtak *Vs.* Shri Johri Mal Mittar, Ex-Municipal Engineer); 5

[1953] ए० आई० आर० 1953 पंजाब 88 : डा० मुकुन्द लाल **बनाम** नगरपालिक समिति, शिमला (Dr. Mukand Lal *Vs.* The Municipal Committee, Simla) 5

का **अवलम्ब** लिया गया।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1977 की संशोधन सिविल रिट सं० 2124.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री एस० सी० कपूर

प्रत्यर्थी सं० 2 से 4 की ओर से ... श्री ए० एस० नेहरा

न्या० सुखदेव सिंह कांग :

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन फाइल किए गए इस रिट पिटीशन द्वारा लाल चन्द पिटीशनर ने प्रशासक, नगरपालिक समिति, सोनीपत के तारीख 17 मई, 1976 के उन आदेशों को, जिसके द्वारा उसे सेवा से हटाया गया है और अम्बाला खण्ड के आयुक्त द्वारा तारीख 6 अप्रैल, 1977 को पारित आदेशों को, जिसके द्वारा उसकी अपील को नामंजूर किया गया है, अभिखण्डित करते हुए सरशियोरेराई का रिट जारी किए जाने के लिए निवेदन किया है।

2. इस मामले के संक्षिप्त तथ्य इस प्रकार हैं कि लालचन्द नगरपालिक समिति सोनीपत में एक चपरासी के रूप में नियोजित है। तारीख 10 अगस्त, 1964 के संकल्प सं० 7 के अनुसार उसकी उस पद पर पुष्टि कर दी गई।

नगरपालिक समिति ने पिटीशनर को एक नोटिस भेजा जिसमें उससे अपनी स्वस्थता की बाबत एक चिकित्सीय प्रमाण-पत्र पेश करने के लिए कहा गया। पक्षकारों के बीच इस बारे में एक विवाद उद्भूत हुआ कि क्या इस नोटिस की पिटीशनर पर तामील की गई है या नहीं ? पिटीशनर ने यह दलील दी है कि उस पर इस नोटिस की तामील नहीं की गई और इस आशय की तारीख 29 मार्च, 1976 की रिपोर्ट गलत है। इसके विपरीत प्रत्यर्थियों ने इस बात पर जोर दिया है कि पिटीशनर ने इस नोटिस की तामील स्वीकार करने से इनकार कर दिया। पिटीशनर पर हरियाणा म्युनिसिपल ऐक्ट, 1973 (जिसे संक्षेप में अधिनियम कहा गया है) की धारा 46 के अधीन तारीख 15 अप्रैल, 1976 को एक नोटिस की तामील की गई जिसमें उसे यह सूचित किया गया कि एक मास का अवसान होने के पश्चात् नगरपालिक समिति से उसकी सेवाएं समाप्त हो जाएंगी। इस नोटिस की एक प्रति रिट पिटीशन के उपाबन्ध पी/2 के रूप में संलग्न है। इस नोटिस में यह उल्लेख किया गया है कि पिटीशनर मुख्य चिकित्सा अधिकारी से अपनी शारीरिक परीक्षा कराने और स्वस्थता प्रमाण-पत्र पेश करने में असफल रहा है। पिटीशनर ने इस आशय का पत्र लेने से इनकार कर दिया और ऐसा करते समय उसने अनुशासनहीनता का प्रदर्शन किया है और गैर-जिम्मेदार रूप से कार्य किया है। एक मास की अवधि समाप्त होने के पश्चात् नगरपालिका सोनीपत के प्रशासक ने तारीख 17 मई, 1976 के आदेशों द्वारा पिटीशनर को सेवा से हटा दिया। इस आदेश की एक प्रति रिट पिटीशन में उपाबन्ध पी/3 के रूप में संलग्न है। इस आदेश से व्यथित होने पर पिटीशनर ने अपील की किन्तु यह अपील आयुक्त द्वारा 6 अप्रैल, 1977 को खारिज कर दी गई।

3 प्रत्यर्थियों द्वारा फाइल किए गए प्रत्युत्तर में यह प्रकथन किया गया है कि पिटीशनर ने सेवा पुस्तिका में अपनी जन्म तिथि 1 जुलाई, 1929 उल्लिखित की है। तथापि पिटीशनर अत्यधिक कमजोर और वृद्ध है। वह अपने कर्त्तव्यों का उचित रूप से पालन नहीं कर सकता। उससे मुख्य चिकित्सा अधिकारी से स्वस्थता प्रमाण-पत्र पेश करने के लिए कहा गया। पिटीशनर ने इस सूचना को लेने से इनकार कर दिया। इस नोटिस, उपाबंध पी-2 के जारी किए जाने को स्वीकार किया गया है। यह दलील दी गई कि प्राधिकारियों द्वारा पारित आदेश वैध और विधिमान्य है। पिटीशनर को विधि के अनुसार और विशिष्टतः अधिनियम की धारा 46 के उपबंधों के अनुसार सेवा से हटाया गया है।

4. दोनों पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेल की परस्पर विरोधी दलीलों का विवेचन करने के लिए प्रारम्भ में ही सुसंगत कानूनी उपबंध उपवर्णित करना उपयुक्त होगा :—

*"धारा 40. **अन्य कर्मचारी** (1) इस अधिनियम और नियमावली तथा उपविधियों के उपबंधों के अधीन रहते हुए समिति, और यदि राज्य सरकार द्वारा इस प्रकार अपेक्षित किया जाए, अन्य कर्मचारी नियोजित कर सकेगी और ऐसे कर्मचारियों को ऐसा पारिश्रमिक दे सकेगी जो वह ठीक समझे तथा इस प्रकार नियुक्त किए गए किसी भी कर्मचारी को निलम्बित सेवा से हटा, पदच्युत या अन्यथा दण्डित कर सकेगी।

(2) इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए राज्य सरकार, हरियाणा राज्य में समितियों के कर्मचारियों के लिए अर्हता, वेतन, भत्ते, पदच्युति, सेवा से हटाया जाना, निलम्बन, छुट्टी, आचरण और अनुशासन, भविष्य निधि, यात्रा भत्ता और अन्य ऐसे ही विषयों के संबंध में सेवा नियमों की एक संहिता विहित कर सकेगी :

परन्तु यह कि राज्य सरकार लेखबद्ध किए गए कारणों से

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"S. 40. *other emplayees.* (1) Subject to the provisions of this Act and the rules and bye-laws a committee may, and if so required by the State Government shall, employ other employees and may assign to such employees such remuneration as it may think fit, and may suspend, remove, dismiss or otherwise punish any employee so appointed.

(2) Subject to the provisions of this Act, the State Government may prescribe a code of service rule for employees of the committees in the State of Haryana relating to qualification, pay, allowances, dismissal, removal, suspension, leave, conduct and discipline, provident fund, travelling allowance and other cognate matters :

Provided that the State Government may for reasons to be recorded in writing exempt any

किसी समिति या समितियों के वर्ग को इस धारा के उपबंधों के प्रवर्तन से छूट प्रदान कर सकेगी।"

"धारा 46. सेवोन्मुक्ति के पूर्व नोटिस-- (1) किसी प्रतिकूल लिखित संविदा के अभाव में समिति द्वारा नियोजित प्रत्येक व्यक्ति सेवान्मुक्ति के पूर्व एक मास का नोटिस या उसके बदले एक मास का वेतन पाने का तब तक हकदार होगा, जब तक कि उसे परिवीक्षा की अवधि के दौरान या अवचार के आधार पर सेवोन्मुक्त न किया गया हो या उसे किसी विशिष्ट अवधि के लिए काम पर लगाया गया हो और उस अवधि के समाप्त होने के पश्चात् सेवोन्मुक्त कर दिया गया हो।

(2) यदि समिति द्वारा नियोजित किया गया कोई व्यक्ति उसे ऐसा करने के लिए प्राधिकृत करने वाली किसी लिखित संविदा के अभाव में और युक्तियुक्त कारण के बिना और समिति को एक मास का नोटिस दिए बिना अपने नियोजन से त्यागपत्र दे देता है या अपने कर्त्तव्यों पर स्वयं आने में अनुपस्थित रहता है तो वह उसे देय किसी भी मजदूरी में से एक मास की मजदूरी से अनधिक की

---

committee or class of committees from the operation of the provisions of this sub-section."

"S. 46. *Notice before discharge*. (1) In the absence of a written contract to the contrary, every person employed by a committee shall be entitled to one month's notice before discharge or to one month's wages in lieu thereof, unless he is discharged during a period of probation or for misconduct or was engaged for a specified term and discharged at the end of it.

(2) Should any person employed by a committee, in the absence of a written contract authorizing him so to do, and without reasonable cause, resign his employment or absents himself from his duties, without giving one month's notice to the committee he shall be liable to forefit a sum not exceeding one month's wages out of any wages due to him, and if no wages, or less than one month's wages, are due to him,

4. दोनों पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेल की परस्पर विरोधी दलीलों का विवेचन करने के लिए प्रारम्भ में ही सुसंगत कानूनी उपबंध उपवर्णित करना उपयुक्त होगा :—

*"धारा 40. **अन्य कर्मचारी** (1) इस अधिनियम और नियमावली तथा उपविधियों के उपबंधों के अधीन रहते हुए समिति, और यदि राज्य सरकार द्वारा इस प्रकार अपेक्षित किया जाए, अन्य कर्मचारी नियोजित कर सकेगी और ऐसे कर्मचारियों को ऐसा पारिश्रमिक दे सकेगी जो वह ठीक समझे तथा इस प्रकार नियुक्त किए गए किसी भी कर्मचारी को निलम्बित सेवा से हटा, पदच्युत या अन्यथा दण्डित कर सकेगी।

(2) इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए राज्य सरकार, हरियाणा राज्य में समितियों के कर्मचारियों के लिए अर्हता, वेतन, भत्ते, पदच्युति, सेवा से हटाया जाना, निलम्बन, छुट्टी, आचरण और अनुशासन, भविष्य निधि, यात्रा भत्ता और अन्य ऐसे ही विषयों के संबंध में सेवा नियमों की एक संहिता विहित कर सकेगी :

परन्तु यह कि राज्य सरकार लेखबद्ध किए गए कारणों से

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"S. 40. *other emplayees.* (1) Subject to the provisions of this Act and the rules and bye-laws a committee may, and if so required by the State Government shall, employ other employees and may assign to such employees such remuneration as it may think fit, and may suspend, remove, dismiss or otherwise punish any employee so appointed.

(2) Subject to the provisions of this Act, the State Government may prescribe a code of service rule for employees of the committees in the State of Haryana relating to qualification, pay, allowances, dismissal, removal, suspension, leave, conduct and discipline, provident fund, travelling allowance and other cognate matters :

Provided that the State Government may for reasons to be recorded in writing exempt any

किसी समिति या समितियों के वर्ग को इस धारा के उपबंधों के प्रवर्तन से छूट प्रदान कर सकेगी।"

"धारा 46. **सेवोन्मुक्ति के पूर्व नोटिस**—(1) किसी प्रतिकूल लिखित संविदा के अभाव में समिति द्वारा नियोजित प्रत्येक व्यक्ति सेवान्मुक्ति के पूर्व एक मास का नोटिस या उसके बदले एक मास का वेतन पाने का तब तक हकदार होगा, जब तक कि उसे परिवीक्षा की अवधि के दौरान या अवचार के आधार पर सेवोन्मुक्त न किया गया हो या उसे किसी विशिष्ट अवधि के लिए काम पर लगाया गया हो और उस अवधि के समाप्त होने के पश्चात् सेवोन्मुक्त कर दिया गया हो।

(2) यदि समिति द्वारा नियोजित किया गया कोई व्यक्ति उसे ऐसा करने के लिए प्राधिकृत करने वाली किसी लिखित संविदा के अभाव में और युक्तियुक्त कारण के बिना और समिति को एक मास का नोटिस दिए बिना अपने नियोजन से त्यागपत्र दे देता है या अपने कर्त्तव्यों पर स्वयं आने में अनुपस्थित रहता है तो वह उसे देय किसी भी मजदूरी में से एक मास की मजदूरी से अनधिक की

---

committee or class of committees from the operation of the provisions of this sub-section."

"S. 46. *Notice before discharge*. (1) In the absence of a written contract to the contrary, every person employed by a committee shall be entitled to one month's notice before discharge or to one month's wages in lieu thereof, unless he is discharged during a period of probation or for misconduct or was engaged for a specified term and discharged at the end of it.

(2) Should any person employed by a committee, in the absence of a written contract authorizing him so to do, and without reasonable cause, resign his employment or absents himself from his duties, without giving one month's notice to the committee he shall be liable to forefit a sum not exceeding one month's wages out of any wages due to him, and if no wages, or less than one month's wages, are due to him,

राशि समपहृत कर लिए जाने का दायी होगा और यदि कोई भी मजदूरी या एक मास से कम की मजदूरी उसको देय नहीं है तो वह एक मास की मजदूरी से अनधिक की शास्ति या एक मास की मजदूरी और उसे देय मजदूरी के बीच अन्तर के बराबर रकम के लिए दायी होगा जो धारा 95 में उपबंधित रीति में वसूल की जाएगी ।"

"धारा 279. **निरसन और व्यावृत्ति**—(1) इस अधिनियम के प्रारम्भ से निम्नलिखित अधिनियमितियां निरस्त हो जाएंगी अर्थात् :—

(i) पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट, 1911

(ii) ** ** **

(iii) ** ** **

(2) उपधारा (1) (क) के उपबंधों के होते हुए भी उपधारा (1) में निर्दिष्ट और इस अधिनियम के प्रारम्भ के ठीक पूर्व प्रवृत्त किसी भी अधिनियमिति के अधीन की गई कोई भी नियुक्ति या जारी की गई कोई भी अधिसूचना, आदेश, स्कीम, नियम, प्ररूप, नोटिस या उप-विधि और मंजूर किया गया

---

he shall be liable to a penalty not exceeding wages for one month or an amount equal to the differences between one month's wages and the wages due to him, which shall be recoverable in the manner provided in section 95."

"S. 279. *Repeal and savings.* (1) As from the commencement of this Act, the following enactment shall stand repealed, namely—

(i) the Punjab Municipal Act, 1911,

(ii) ** ** **

(iii) ** ** **

(2) Notwithstanding the provisions of sub-section (1) (a) any appointment, notification, order, scheme, rule, form, notice, or bye-law made or issued, and any licence or permission granted under any of the enactments referred to in sub-section (1) and in force

कोई भी लाइसेंस या अनुज्ञापत्र, जहां तक वह इस अधिनियम के उपबंधों से असंगत नहीं है, प्रवृत्त बना रहेगा और उसके बारे में यह समझा जाएगा कि वह इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन की गई या जारी किया गया या मंजूर किया गया है, जब तक कि उसे उक्त उपबंधों के अधीन की गई किसी भी नियुक्ति, जारी की गई किसी अधिसूचना, आदेश, स्कीम, नियम, प्ररूप, नोटिस या उपविधि या मंजूर किए गए किसी लाइसेंस या अनुज्ञा-पत्र द्वारा अतिष्ठित न कर दिया गया हो;

** ** ** **

** ** ** **"

यह अधिनियम हरियाणा विधानमण्डल द्वारा सन् 1973 में बनाया गया और 20 जुलाई, 1973 से प्रवृत्त हुआ है। इसके पूर्व नगरपालिकाओं को पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट लागू होता था जिसे वर्तमान अधिनियम द्वारा निरस्त कर दिया गया। पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट की धारा 45 उक्त अधिनियम की धारा 46 के समविषयक है। पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट की धारा 240 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए पंजाब सरकार ने पंजाब म्युनिसिपल जनरल रूल्स (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् 'नियमावली' कहा गया है) विरचित किए। उक्त नियमावली के भाग 4 में दिए गए नियम 1 और 3 हमारे प्रयोजन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं और उन्हें प्रोद्धृत किया जाता है :—

*"नियम 1 (भाग IV). इस नियमावली में 'पदच्युति' से अवचार या अक्षमता के आधार पर किसी अधिष्ठायी नियुक्ति से

---

immediately before the commencement of this Act, shall, in so far as it is not inconsistent with the provisions of this Act, continue in force and be deemed to have been made, issued or granted under the provisions of this Act, unless and until it is superseded by any appointment, notification, order, scheme, rule, form, notice or bye-law made or issued or any licence or permission granted under the said provisions;

** ** **

** ** **"

*"Rule 1 (Part IV). In these rules 'dismissal' means permanent removal from a substantive

स्थायी हटाया जाना अभिप्रेत है और इसके अन्तर्गत अधिनियम की धारा 45 की उपधारा (1) के अधीन अवचार के आधार पर सेवोन्मुक्ति भी आती है।"

"नियम 3. पदच्युत किए जाने वाले अधिकारी या सेवक के विरुद्ध अभिकथित प्रत्येक अपराध की बाबत लिखित में एक निश्चित आरोप विरचित किया जाएगा। यह आरोप अभियुक्त को स्पष्ट किया जाएगा और इसके समर्थन में कोई साक्ष्य और ऐसा अन्य साक्ष्य, जो अभियुक्त अपने बचाव में पेश करना चाहे, उसकी उपस्थिति में लेखबद्ध किया जाएगा और उसकी प्रतिरक्षा भी लेखबद्ध की जाएगी। विरचित किए गए प्रत्येक आरोप पर विचार-विमर्श किया जाएगा और प्रत्येक आरोप के सम्बन्ध में निकाला गया निष्कर्ष लेखबद्ध किया जाएगा।"

अधिनियम की धारा 40 नगरपालिक समिति को कतिपय प्रकार के कर्मचारियों को नियोजित करने के लिए शक्ति प्रदान करती है। धारा 40 समिति को अपने द्वारा नियुक्त किए गए किसी भी कर्मचारी को निलम्बित, हटाने, पदच्युत करने या उन्हें अन्यथा दण्डित करने के लिए भी सशक्त करती है। तथापि इस शक्ति का प्रयोग अधिनियम तथा नियमावली और उपविधियों के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए किया जाएगा। पिटीशनर ने रिट पिटीशन में यह दलील दी है कि उसे पदच्युत किया गया है। इस बात को प्रत्यर्थियों द्वारा स्वीकार किया गया है और जैसा कि पहले ही देखा जा चुका

---

appointment for misconduct or incompetence and includes discharge for misconduct under sub-section (1) of section 45 of the Act."

"Rule 3. A definite charge shall be framed in writing in respect of each offence alleged against the officer or servant sought to be dismissed. The charge shall be explained to the accused and the evidence in support of it and any evidence that the accused may adduce in his defence shall be recorded in his presence and his defence taken down in writing. Each of the charges framed shall be discussed and finding shall be recorded on each charge."

है, लिखित कथन में विनिर्दिष्टतः यह प्रकथन किया गया है कि पिटीशनर को विधि के अनुसार पदच्युत किया गया है। अन्यथा भी नियमावली के नियम (1) में 'पदच्युति' से अवचार या अक्षमता के आधार पर अधिष्ठायी नियुक्ति से हटाया जाना अभिप्रेत है और उसके अन्तर्गत पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट की धारा 45 की उपधारा (1) के अधीन अवचार के आधार पर सेवोन्मुक्ति भी आती है। प्रस्तुत मामले में नोटिस, उपाबंध पी/2 में स्पष्टतः पिटीशनर पर अनुशासनहीनता और गैर-जिम्मेदार होने का आरोप लगाया गया है। नगरपालिक समिति द्वारा इस नोटिस को सेवा से हटाए जाने के आक्षेपित आदेश उपाबंध पी/3 का एक भाग माना गया है। उसमें यह उल्लेख किया गया है कि आदेश उपाबंध पी/3 नोटिस उपाबंध पी/2 के क्रम में है। स्वयं आक्षेपित आदेश में 'सेवा से हटाए जाने' पद का प्रयोग किया गया है। इस बात का कोई उल्लेख नहीं किया गया कि पिटीशनर को सेवोन्मुक्त किया जा रहा है। आक्षेपित आदेश धारा 40 के अधीन पारित किया गया है और वह अधिनियम की धारा 46 के अधीन पारित नहीं किया गया है क्योंकि हटाए जाने या पदच्युति के आदेश अधिनियम की धारा 46 के अधीन पारित नहीं किए जा सकते। इस धारा में कर्मचारियों को सेवोन्मुक्त किए जाने से पूर्व कतिपय प्रवर्ग के कर्मचारियों को केवल एक मास के नोटिस की तामील की जानी विहित की गई है। नगरपालिका ने पिटीशनर को सेवोन्मुक्त किया है। ऐसा केवल अधिनियम की धारा 40 के अधीन किया जा सकता है। अधिनियम की धारा 279 में पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट के निरसन के साथ-साथ उपधारा (2) के खण्ड (क) में यह उपबंध किया गया है कि पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट के अधीन बनाए गए या जारी किए गए नियम, उपविधि आदि, जो अधिनियम के प्रारम्भ के ठीक पूर्व प्रवृत्त हों, जहां तक वे अधिनियम के उपबंधों से असंगत नहीं हैं, प्रवृत्त बने रहेंगे और उनके सम्बन्ध में यह समझा जाएगा कि वे अधिनियम के अधीन बनाए गए हैं। इस उपबंध का प्रभाव यह है कि पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट के अधीन विरचित की गई नियमावली, जो कि अधिनियम के प्रारम्भ के दिन प्रवृत्त थी, के सम्बन्ध में यह समझा जाएगा कि वह अधिनियम के उपबंधों के अधीन बनाई गई है और वह प्रवृत्त बनी रहेगी। अधिनियम की धारा 40 और 279 को साथ-साथ पढ़े जाने से यह निष्कर्ष निकलता है कि नगरपालिक समिति नियमावली के उपबंधों के अनुसार ही अपने कर्मचारियों की पदच्युति के आदेश पारित कर सकती है। इस नियमावली के अतिक्रमण में या उसके अननुपालन में पारित किया गया पदच्युति का कोई भी आदेश विधिमान्य नहीं होगा।

5. नियम 3 में स्पष्ट शब्दों में यह अधिकथित किया गया है कि अपचारी कर्मचारी के विरुद्ध अभिकथित प्रत्येक अपराध की बाबत उसके विरुद्ध एक निश्चित आरोप विरचित किया जाएगा। यह आरोप उसे स्पष्ट किया जाएगा और अभियोजन पक्ष उसके समर्थन में साक्ष्य देगा और सक्षम प्राधिकारी ऐसा साक्ष्य लेखबद्ध करेगा जो अपचारी पदाधिकारी अपने बचाव में पेश करे। सक्षम प्राधिकारी अपने द्वारा लेखबद्ध किए गए बचाव साक्ष्य को ध्यान में रखेगा और प्रत्येक आरोप की बाबत साक्ष्य पर विचार-विमर्श करेगा तथा उनके सम्बन्ध में निष्कर्ष देगा। नियम 3 में नैसर्गिक न्याय के ऐसे नियम या सिद्धांत समाविष्ट हैं जो अब इस देश की जनता की न्यायिक चेतना में अन्तर्निहित हो गए हैं। इन सिद्धान्तों के किसी भी अतिक्रमण का समर्थन नहीं किया जा सकता। नगरपालिक समिति आक्षेपित आदेश पारित करने के पूर्व नियम 3 द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार कार्य करने में असफल रही है। अतः उसके द्वारा नियम 3 के उपबंधों का अतिक्रमण करते हुए दिया गया विनिश्चय शून्य और अवैध है। इस प्रश्न पर और अधिक विचार करना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह विषय एक अनिर्णीत विषय नहीं है। **डा० मुकुन्द लाल** बनाम **नगरपालिक समिति, शिमला**[1] में इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया है कि नगरपालिक कर्मचारियों को केवल पंजाब म्युनिसिपल जनरल रूल्स के नियम 3 के साथ पठित पंजाब सिविल सर्विसेज़ रूल्स के नियम 14-13 द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार ही अवचार के आधार पर सेवोन्मुक्त किया जा सकेगा, अन्यथा नहीं। इसी दृष्टिकोण को **नगरपालिक समिति, रोहतक** बनाम **श्री जोहरी मल मित्तर, भूतपूर्व नगरपालिक इन्जीनियर**[2] में मु० न्या० मेहर सिंह द्वारा दोहराया गया है। उक्त मामले में नगरपालिक कर्मचारियों को सेवा से हटाए जाने के आदेशों को इस कारण अभिखण्डित कर दिया गया था क्योंकि अपचारी कर्मचारी के विरुद्ध लगाए गए आरोपों को साबित करने के लिए कोई भा साक्ष्य नहीं दिया गया। **टाउन एरिया समिति, जलालाबाद** बनाम **जगदीश प्रसाद और अन्य**[3] में उच्चतम न्यायालय ने नियम 3 के उपबंधों के समान ही उपबंधों का निर्वचन करते हुए यह मत व्यक्त किया था कि स्थानीय निकाय अपचारी कर्मचारी को उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही किए जाने के पूर्व पूर्ण अवसर दिए जाने के लिए कर्त्तव्यबद्ध है। हालांकि भारत के संविधान के अनुच्छेद 311

---

[1] ए० आई० आर० 1953 पंजाब 88.

[2] 1970 एस० एल० आर० 29.

[3] ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1407.

के उपबंध यथार्थतः लागू नहीं किए जा सकते किन्तु 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' सिद्धान्त का अनुपालन किया जाना चाहिए और कर्मचारियों को अपने विरुद्ध पेश किए गए साक्षियों की प्रतिपरीक्षा करने और अपने वृत्तान्त के समर्थन में प्रतिरक्षा पेश करने के लिए युक्तियुक्त अवसर दिया जाना चाहिए।

6. हाल ही में न्या० एस० एस० सोढी ने **श्री फकीर चन्द बनाम नगरपालिक समिति, नवांशहर**[1] में एक पुष्टिकृत नगरपालिक कर्मचारी को सेवा से हटाए जाने के संदर्भ में पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट की धारा 39 (जो कि अधिनियम की धारा 40 की समविषयक है) और पंजाब म्युनिसिपल जनरल रूल्स के नियम 1 और 3 का निर्वचन किया था। उक्त मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि नियम 3 में अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण किए बिना सेवा से हटाया जाना अवैध है।

7. प्रत्यर्थी सं० 2 से 4 की ओर से विद्वान् काउन्सेल श्री ए० एस० नेहरा के प्रति निष्पक्ष रहते हुए यह मत व्यक्त किया जा सकता है कि उन्होंने यह दलील दी है कि आक्षेपित नोटिस और सेवा से हटाए जाने के आदेश पिटीशनर पर कोई कलंक अधिरोपित नहीं करते। चूंकि वह वृद्ध और कमजोर हो गया है और वह अपने शासकीय कर्त्तव्यों का पालन करने में असमर्थ हो गया है इसलिए उसे सेवोन्मुक्त किया गया है। इस दलील को स्वीकार करना असम्भव है। आक्षेपित नोटिस और आदेश में पिटीशनर पर अनुशासन-हीनता और गैर-जिम्मेदार होने का आरोप लगाया गया है। ये आरोप स्पष्टतः कलंकात्मक हैं। इसके अतिरिक्त आदेश में पिटीशनर की सेवा समाप्त किए जाने को 'हटाए जाने' के रूप में वर्णित किया गया है। 'हटाया जाना' स्पष्टतः 'पदच्युति' की परिभाषा के अन्तर्गत आता है। लिखित कथन में इस आदेश को स्पष्टतः पदच्युति का आदेश बताया गया है।

8. परिणामतः मैं इस रिट पिटीशन को मंजूर करता हूं और प्रशासक नगरपालिक समिति, सोनीपत के तारीख 17 मई, 1976 के उस आदेश को अपास्त करता हूं जिसके द्वारा पिटीशनर को सेवा से हटाया गया है और इसके आवश्यक परिणामस्वरूप विद्वान् आयुक्त का तारीख 6 अप्रैल, 1977 का वह आदेश भी, जिसके द्वारा पिटीशनर की अपील नामंजूर की

---

[1] 1983 (1) एस० एल० आर० 546.

गई है, असफल होता है और अभिखण्डित किया जाता है। खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता।

रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

प्रमोद

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा—108

सोरन सिंह और अन्य बनाम मेहता सीता राम और एक अन्य

(Soran Singh and others *Vs.* Mehta Sita Ram and another)

तारीख 17 अक्तूबर, 1983

[न्या० प्रीतपाल सिंह]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, धारा 9 सपठित राज्य सरकार द्वारा जारी की गई सन् 1961 की प्रैस विज्ञप्ति, नियम 5—सिविल वादों का विचारण करने की न्यायालय की अधिकारिता—चूंकि राज्य सरकार द्वारा जारी की गई प्रैस विज्ञप्ति में समाविष्ट नियमों में सिविल न्यायालयों की अधिकारिता को अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से अपवर्जित नहीं किया गया है, अतः सिविल न्यायालय को अधिशेष निष्क्रांत कृषि भूमि का नीलाम द्वारा विक्रय सहित अन्तरण के सम्बन्ध में उद्भूत होने वाले विवादों का विचारण करने की अधिकारिता है।

देश के विभाजन के पूर्व मुसलमानों की कुछ सम्पत्ति केन्द्रीय सरकार और हरियाणा राज्य के बीच हुए व्यापक समझौते (पैकेज डील) के अनुसार हरियाणा राज्य को अन्तरित कर दी गई। हरियाणा राज्य द्वारा कुछ ऐसी सम्पत्ति का, जिस पर वादी-प्रत्यर्थी का कब्जा था, नीलाम कर दिया गया जिसको अन्ततोगत्वा अपीलार्थी-प्रतिवादी ने खरीद लिया। वादी-प्रत्यर्थी ने इस घोषणा के लिए एक वाद फाइल किया कि नीलाम द्वारा किए गए विक्रय अवैध हैं और वह हरियाणा राज्य में ही निहित बनी हुई है। परिणामतः अपीलार्थियों और राज्य को वादी के कब्जे में हस्तक्षेप करने से प्रतिषिद्ध किया जाए। अपीलार्थियों ने इस वाद का इस आधार पर विरोध किया कि सिविल न्यायालयों को वाद का विचारण करने की अधिकारिता नहीं है और द्वितीयतः अपीलार्थियों के पक्ष में किए गए विक्रय विधिपूर्ण हैं। विचारण न्यायालय ने इन दोनों ही प्रश्नों को अपीलार्थियों के विरुद्ध विनिश्चित कर दिया। विचारण न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर अपीलार्थियों द्वारा फाइल की गई प्रथम

अपील भी निचले अपील न्यायालय द्वारा खारिज कर दी गई। अतः निचले अपील न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर अपीलार्थियों ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत द्वितीय अपील फाइल की है।

प्रस्तुत अपील में विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या नीलामों में अपनाई गई प्रक्रिया, जिनमें विवादगत भूमि अपीलार्थियों को बेची गई है, राज्य सरकार द्वारा जारी की गई प्रैस विज्ञप्ति में अन्तर्विष्ट अनुदेशों के अनुरूप है या नहीं।

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

राज्य सरकार द्वारा जारी की गई सन् 1961 की प्रैस विज्ञप्ति के नियम 5 की प्रथम अपेक्षा यह है कि नीलाम का संचालन राज्य सरकार द्वारा इस निमित्त नियुक्त किए गए अधिकारी द्वारा किया जाएगा। विचाराधीन दोनों नीलामों का संचालन तहसीलदार (विक्रय) द्वारा किया गया था और यह निर्विवाद है कि वह नीलाम करावे के लिए सक्षम है क्योंकि उसे इस नीलाम को पूरा करने के लिए राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया गया है। इसकी दूसरी अपेक्षा यह है कि निपटारा आयुक्त या सम्पत्ति का विक्रय करने के लिए सशक्त कोई अन्य अधिकारी आशयित विक्रय की उद्घोषणा करेगा जिसमें प्रस्थापित विक्रय के पूर्व कम से कम 15 दिन की सूचना दी जाएगी और जिस सूचना में विक्रय की तारीख, समय और स्थान, सम्पत्ति का विवरण, उसकी अवस्थिति और सीमाएं जहां सम्भव हो, विक्रय के निबन्धन और शर्तें और ऐसी अन्य विशिष्टियां वर्णित की जाएंगी जो सारवान समझी जाएं। इस सूचना की एक प्रतिलिपि उस गांव के, जहां सम्पत्ति स्थित है, किसी सहजदृश्य स्थान पर चिपकाई जाने के लिए अपेक्षित है और समुचित मामलों में सूचना का समाचारपत्र में भी विज्ञापन दिया जा सकेगा। नियम में विनिर्दिष्टतः यह उपबन्ध किया गया है कि कोई भी विक्रय तब तक नहीं किया जाएगा जब तक सूचना के प्रकाशन की तारीख से 15 दिन की अवधि का अवसान न हो जाए। (पैरा 6)

दोनों निचले न्यायालयों ने तथ्य का एक ही निष्कर्ष निकाला है कि सन् 1961 की प्रैस विज्ञप्ति के नियम 5 के अधीन यथाअपेक्षित ऐसी कोई भी सूचना प्रकाशित नहीं की गई और तहसीलदार (विक्रय) द्वारा नीलाम अत्यधिक अनियमित और लापरवाह रीति में करवाया गया है। अतः यह बात स्पष्ट है कि दोनों विवादगत नीलामों का संचालन प्रैस विज्ञप्ति में अन्तर्विष्ट उपर्युक्त अनुदेशों का अतिक्रमण करते हुए किया गया है और इसलिए उन्हें निचले

अपील न्यायालय द्वारा अवैध अभिनिर्धारित किया जाना सही है। जिन अनुदेशों के नीलामों का संचालन करने में उल्लंघन किया गया है, वे आज्ञापक हैं और उनके अननुपालन के कारण नीलाम अविधिमान्य होंगे। अतः यह बात स्पष्ट है कि खरीदारों को इन नीलामों के माध्यम से विवादगत सम्पत्ति में कोई भी साम्पत्तिक अधिकार अर्जित नहीं हुए। (पैरा 7)

पक्षकारों के अधिकार और बाध्यताएं सरकार द्वारा जारी की गई उस प्रैस विज्ञप्ति द्वारा सर्जित की गई हैं जिसमें अधिकरणों का कोई भी पदानुक्रम स्थापित नहीं किया गया है जो पक्षकारों के अधिकारों और बाध्यताओं पर विचार करने के लिए विशेष रूप से सशक्त किए गए हों। यह मामला किसी ऐसे विशेष अधिनियम के अधिनियमित किए जाने का नहीं है जिसके द्वारा विशेष अधिकारों और बाध्यताओं का सृजन किया गया हो या जिसके द्वारा उन अधिकारों और बाध्यताओं पर विचार करने के लिए विशेष अधिकरणों को स्थापित किया गया है। अतः विवक्षा द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 9 के अधीन सिविल न्यायालयों की अधिकारिता के अपवर्जन का कोई प्रश्न उद्‌भूत नहीं होता। प्रैस विज्ञप्ति में ऐसा कोई भी नियम नहीं है जिसके द्वारा पक्षकारों के अधिकारों और बाध्यताओं से सम्बन्धित विवादों को न्यायनिर्णीत करने के लिए सिविल न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन किया गया हो। प्रैस विज्ञप्ति में समाविष्ट नियम सिविल न्यायालयों की अधिकारिता का अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से अपवर्जन नहीं करते हैं। अतः निचले अपील न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया जाना सही है कि विवादगत विषय को सिविल न्यायालय द्वारा न्यायनिर्णीत किया जा सकता है और वादों का विचारण करने की उसकी अधिकारिता वर्जित नहीं की गई है। (पैरा 8)

		पैरा
[1959]	ए० आई० आर० 1959 मैसूर 145 : एफ० एम० सुब्बय्या बनाम वेंकटरमण सुब्बाराव बरकुर (F. M. Subbaya *Vs*. Venkataramana Subbarao Barkur) से प्रभेद बताया गया।	8
[1963]	1963 पी० एल० आर० 912 : फर्म सेठ राधाकृष्ण और अन्य बनाम प्रशासक नगरपालिक समिति, लुधियाना (Firm Seth Radha Kishan and others *Vs*. The Administrator, Municipal Committee, Ludhiana) का अवलम्ब लिया गया।	8

[1973] 1973 पी० एल० जे० 183 : बिशन सिंह और अन्य बनाम मुख्य निपटारा आयुक्त और अन्य (Bishan Singh and others *Vs.* Chief Settlement Commissioner and others); 4

[1968] 1968 पी० एल० जे० 874 : रामचन्द्र बनाम पंजाब राज्य और अन्य (Ram Chander *Vs.* The State of Punjab and others) 4
निर्दिष्ट किए गए।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1975 की नियमित द्वितीय अपील सं० 1485 और 1975 का सिविल प्रकीर्ण सं० 2248-सी.

हिसार के ज्येष्ठ उप-न्यायाधीश के तारीख 26-10-1975 की डिक्री के विरुद्ध नियमित द्वितीय अपील।

अपीलार्थियों की ओर से ... श्री एच० एल० मित्तल

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री पी० एस० दुहान

न्या० प्रीतपाल सिंह :

1975 की दोनों नियमित द्वितीय अपील सं० 1485 और 1486 का, जो कि वर्धित अपीली शक्तियों का प्रयोग करते हुए हिसार के ज्येष्ठ उप-न्यायाधीश के तारीख 28 अगस्त, 1975 के निर्णय से उद्भूत हुई हैं, एक साथ विनिश्चय किया जा रहा है।

2. हरियाणा राज्य ने हांसी स्थित किला सं० 364/4, 5/2 और 6 वाली लगभग 16 कनाल भूमि का नीलाम किया। इस भूमि पर वादी प्रत्यर्थी सीताराम का कब्जा था और उसे अपीलार्थी प्रतिवादी सं० 1 से लेकर 5 ने नीलाम में खरीद लिया। तत्पश्चात् हांसी स्थित किला सं० 365/10-मिन वाली लगभग एक कनाल 13 मरला भूमि का, जिस पर सीताराम का कब्जा था, हरियाणा राज्य द्वारा 29 मार्च, 1969 को नीलाम किया गया और यह भूमि भी अपीलार्थियों ने खरीद ली। यह बात स्वीकृत है कि यह भूमि मूलत: इस देश के विभाजन के पूर्व मुसलमानों की थी और जो

संयोगवश केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यापक समझौते में हरियाणा राज्य को अन्तरित कर दी गई। सीताराम वादी प्रत्यर्थी ने इस घोषणा के लिए दो वाद फाइल किए कि नीलाम द्वारा किए गए विक्रय अवैध हैं और भूमि व्यापक समझौते के भाग स्वरूप हरियाणा राज्य में ही निहित बनी हुई है। पारिणामिक अनुतोष के रूप में अपीलार्थियों और राज्य को वादी के कब्जे में हस्तक्षेप करने से प्रतिषिद्ध किए जाने के लिए स्थायी व्यादेश की मांग की गई है।

3. इन दोनों ही वादों का अपीलार्थियों द्वारा अनेकानेक आधारों पर विरोध किया गया। इन अपीलों के प्रयोजनों के लिए केवल दो आधार ही सुसंगत हैं। प्रथमतः, यह कि सिविल न्यायालयों को वाद का विचारण करने की कोई अधिकारिता नहीं है और द्वितीयतः अपीलार्थियों के पक्ष में किए गए दोनों विक्रय विधिपूर्ण हैं। विचारण न्यायालय ने इन दोनों ही प्रश्नों को अपीलार्थियों के विरुद्ध विनिश्चित कर दिया और घोषणा के लिए वादियों के दावों को दोनों ही मामलों में डिक्रीत कर दिया गया। तथापि व्यादेश के अनुतोष से इनकार कर दिया गया। विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध अपीलार्थियों द्वारा फाइल की गई प्रथम अपील विद्वान् निचले अपील न्यायालय द्वारा खारिज कर दी गई जिसके परिणामस्वरूप प्रस्तुत दोनों द्वितीय अपीलें फाइल की गई हैं।

4. जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, विवादग्रस्त भूमियां स्वीकृत रूप से केन्द्रीय सरकार और हरियाणा राज्य के बीच हुए व्यापक समझौते का एक भाग हैं। इस बात की कि उक्त व्यापक समझौता क्या है, **बिशन सिंह और अन्य बनाम मुख्य निपटारा आयुक्त और अन्य**[1] में इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ के निर्णय में स्पष्ट रूप से व्याख्या की गई है। इस निर्णय में यह स्पष्ट किया गया है कि सभी निष्क्रान्त सम्पत्ति का मूलतः अभिरक्षक (कस्टोडियन) द्वारा प्रबन्ध किया जाता था। वर्ष 1954 में सम्पूर्ण निष्क्रान्त सम्पत्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा ग्रहण कर ली गई जिन्हें विस्थापित व्यक्ति (प्रतिकर और पुनर्वास) अधिनियम, 1954 (जिसे इसमें इसके पश्चात् अधिनियम कहा गया है) की धारा 12 के अधीन उनमें निहित साम्पत्तिक अधिकारों को अर्जित करने के लिए प्राधिकृत किया गया है। यह सम्पत्ति पाकिस्तान से आए विस्थापित व्यक्तियों के पुनर्वास के लिए उपयोग किए जाने के लिए आशयित थी। सन् 1961 तक निष्क्रान्त कृषि भूमि का अन्तरण परिमाणतः अधिनियम की धारा 20 और उसके अधीन बनाए गए

---

[1] 1973 पी० एल० जे० 183.

नियमों के उपबंधों के अधीन किया जाता था। उस समय तक अधिकांश विस्थापित व्यक्ति सम्यक्‌रूपेण बस चुके थे। केन्द्रीय सरकार और पंजाब सरकार, जो कि हरियाणा राज्य की पूर्ववर्ती है, के बीच हुई बातचीत के परिणामस्वरूप केन्द्रीय सरकार ने सम्पूर्ण अधिशेष निष्क्रान्त भूमि और ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित मकानों का कतिपय ऐसे निबन्धनों और शर्तों पर, जो अर्धशासकीय पत्र सं० पुनर्वास (61)/833 तारीख 24 अप्रैल, 1961 में समाविष्ट हैं, अन्तरण करने का विनिश्चय किया और पंजाब सरकार उसे खरीदने के लिए सहमत हो गई। इन शर्तों के अनुसार सभी ग्रामीण मकान/स्थल, सम्पूर्ण शेष गैर मुमकिन भूमि और समस्त अनाबंटित खेती योग्य कृषि भूमि कतिपय तय पाई गई कीमत पर राज्य सरकार को अन्तरित कर दी गई। केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार के बीच हुए इस करार के परिणामस्वरूप अनाबंटित अधिशेष निष्क्रान्त ग्रामीण भूमि केन्द्रीय सरकार को अन्तरित हो गई। इस तथाकथित व्यापक समझौते को इस न्यायालय द्वारा **रामचन्द्र** बनाम **पंजाब राज्य और अन्य**[1] में विधिमान्य ठहराया गया है। इस व्यापक समझौते को ध्यान में रखते हुए राज्य सरकार अपने द्वारा बनाए गए नियमों के अधीन इस सम्पत्ति का निपटारा करने के लिए हकदार हो गई। राज्य सरकार ने सन् 1961 में अधिशेष कृषि भूमि अर्जित करने के पश्चात् एक प्रैस विज्ञप्ति जारी की जिसमें नीलाम द्वारा विक्रय सहित उसका अन्तरण करने का ढंग उपवर्णित किया गया। यह प्रैस विज्ञप्ति एक अन्य पत्र सं० 6029/पुनर्वास (आर) तारीख 17 मई, 1962 के साथ जारी की गई। **बिशन सिंह के मामले में**[2] यह अभिनिर्धारित किया गया कि चूंकि व्यापक समझौते के अन्तर्गत आने वाली सम्पत्ति राज्य सरकार में निहित हो गई है इसलिए राज्य सरकार उसके निपटारे की बाबत विधान बनाने के लिए सक्षम हो गई। संविधान के अनुच्छेद 162 के अधीन राज्य सरकार उस समय तक, जब तक वह ऐसा विधान बनाए, कार्यपालक अनुदेश जारी करके इस बाबत उपबंध बना सकती है। इसलिए 1962 की प्रैस विज्ञप्ति में अन्तर्विष्ट अनुदेश स्पष्टतः अनुच्छेद 162 के अन्तर्गत आने वाले 'कार्यपालक अनुदेश' के अन्तर्गत आते हैं और इस सीमा तक वे उक्त अनुच्छेद के अधीन जारी किए गए निदेश होंगे और जब तक इन निदेशों को वापस नहीं लिया जाता या उपान्तरित नहीं किया जाता तब तक उनका सम्पत्ति के निपटारे के मामले में अनुसरण किया जाएगा। अतः अनिवार्यतः इस मामले में

---

[1] 1968 पी० एल० जे० 874.

[2] 1973 पी० एल० जे० 183.

विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या दोनों नीलामों में अपनाई गई प्रक्रिया, जिनमें विवादगत भूमि अपीलार्थियों को बेची गई थी, उपर्युक्त प्रैस विज्ञप्ति में अन्तर्विष्ट अनुदेशों के अनुरूप है या नहीं।

5. प्रैस विज्ञप्ति का नियम 5 जिसके सुसंगत उद्धरण नीचे प्रोद्धृत किए जा रहे हैं, लोक (सार्वजनिक) नीलाम द्वारा सम्पत्ति के विक्रय की प्रक्रिया के बारे में है :—

*"5. * * *

(क) सम्पत्ति राज्य सरकार द्वारा इस निमित्त नियुक्त अधिकारियों के माध्यम से बेची जाएगी।

(ख) निपटारा आयुक्त या ऐसी सम्पत्ति का विक्रय करने के लिए सशक्त कोई अन्य अधिकारी आशयित विक्रय की उद्घोषणा आरम्भिक अधिकारिता वाले मुख्य सिविल न्यायालय की, जिसकी अधिकारिता में सम्पत्ति स्थित है भाषा में कराएगा।

(ग) आशयित विक्रय की सूचना प्रस्थापित विक्रय के कम से कम 15 दिन पूर्व दी जाएगी और प्रत्येक ऐसी सूचना में प्रस्थापित विक्रय की तारीख, समय और स्थान, बेची जाने वाली सम्पत्ति का विवरण, उसकी अवस्थिति और सीमाएं, जहां सम्भव हो, विक्रय के निबन्धन और शर्तें और ऐसी अन्य विशिष्टियों का वर्णन किया जाएगा

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"5. * * *

(a) The property shall be sold through the Officers appointed by the State Government in this behalf.

(b) The Settlement Commissioner or any other Officer empowered to sell any such property shall cause a proclamation of the intended sale to be made in the language of the principal Civil Court of the original jurisdiction within whose jurisdiction the property is situated.

(c) Notice to the intended sale shall be given at least fifteen days before the proposed sale and every such notice shall state the date, time and place of the proposed sale, the description of the property to be sold, its location and boundaries, where possible, the terms and conditions of the sale and any other particulars which the settlement Commissioner or other Officers considers material. One copy of the notice shall

जो निपटारा आयुक्त या अन्य अधिकारी सारवान समझे। सूचना (नोटिस) की एक प्रतिलिपि उस गांव में, जहां सम्पत्ति स्थित है, किसी सहजदृश्य स्थान पर चिपकाई जाएगी, उदाहरणार्थ पंचायत घर, गुरुद्वारा, मंदिर, विद्यालय आदि। निपटारा आयुक्त या अन्य अधिकारी को ऐसे विक्रय को समाचारपत्र में या ऐसी अन्य रीति में, जो वह ठीक समझे, विज्ञापित कराने का विवेकाधिकार होगा।

(घ) कोई भी विक्रय तब तक नहीं किया जाएगा जब तक सूचना के प्रकाशन की तारीख से कम से कम 15 दिन की अवधि का अवसान नहीं हो जाता।

* * *"

6. इस नियम की प्रथम अपेक्षा यह है कि नीलाम का संचालन राज्य सरकार द्वारा इस निमित्त नियुक्त किए गए अधिकारी द्वारा किया जाएगा। विचाराधीन दोनों नीलामों का संचालन तहसीलदार (विक्रय) द्वारा किया गया था और यह निर्विवाद है कि वह नीलाम कराने के लिए सक्षम है क्योंकि उसे इस नीलाम को पूरा करने के लिए राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया गया है। इसकी दूसरी अपेक्षा यह है कि निपटारा आयुक्त या सम्पत्ति का विक्रय करने के लिए सशक्त कोई अन्य अधिकारी आशयित विक्रय की उद्घोषणा करेगा जिसमें प्रस्थापित विक्रय के पूर्व कम से कम 15 दिन की सूचना दी जाएगी और जिस सूचना में विक्रय की तारीख, समय और स्थान, सम्पत्ति का विवरण उसकी अवस्थिति और सीमाएं जहां, सम्भव हो, विक्रय के निबंधन और शर्तें और ऐसी अन्य विशिष्टियां वर्णित की जाएंगी जो सारवान समझी जाएं। इस सूचना की एक प्रतिलिपि उस गांव के, जहां सम्पत्ति स्थित है, किसी सहजदृश्य स्थान पर चिपकाई जाने के लिए अपेक्षित है और समुचित मामलों में सूचना का समाचारपत्र में भी विज्ञापन दिया जा सकेगा। नियम में विनिर्दिष्टतः यह उपबंध किया गया है कि कोई भी विक्रय

---

be affixed in a conspicuous place in the village where the property is situated *e.g.* the Panchayat Ghar, Gurdwara, Mandir, School etc. It shall be within the discretion of the Settlement Commissioner or other Officer to advertise the sale in newspaper and in such other manner as he may deem fit.

(d) No sale shall take place until the expiry of a period of fifteen days from the date of the publication of the notice.

* * *"

तब तक नहीं किया जाएगा जब तक सूचना के प्रकाशन की तारीख से 15 दिन की अवधि का अवसान न हो जाए।

7. दोनों निचले न्यायालयों ने तथ्य का एक ही निष्कर्ष निकाला है कि नियम 5 के अधीन यथाअपेक्षित ऐसी कोई भी सूचना प्रकाशित नहीं की गई और तहसीलदार (विक्रय) द्वारा नीलाम अत्यधिक अनियमित और लापरवाह रीति में करवाया गया है। अतः यह बात स्पष्ट है कि दोनों विवादगत नीलामों का संचालन प्रैस विज्ञप्ति में अन्तर्विष्ट उपर्युक्त अनुदेशों का अतिक्रमण करते हुए किया गया है और इसलिए उन्हें निचले अपील न्यायालय द्वारा अवैध अभिनिर्धारित किया जाना सही है। जिन अनुदेशों का नीलामों का संचालन करने में उल्लंघन किया गया है वे आज्ञापक हैं और उनके अननुपालन के कारण नीलाम अविधिमान्य होंगे। अतः यह बात स्पष्ट है कि अपीलार्थियों को इन नीलामों के माध्यम से विवादगत सम्पत्ति में कोई भी साम्पत्तिक अधिकार अर्जित नहीं हुए।

8. जिस एकल प्रश्न पर बहस की गई है वह यह है कि सिविल न्यायालयों को इन वादों का विचारण करने की कोई अधिकारिता नहीं है। अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा यह दलील दी गई है कि प्रेस विज्ञप्ति के नियम 10 के अधीन पुनर्विलोकन की शक्तियां निपटारा आयुक्त, निपटारा अधिकारी (विक्रय), तहसीलदार और नायब तहसीलदार (विक्रय) में निहित की गई हैं और नियम 11 के अधीन निपटारा आयुक्त किसी भी मामले के अभिलेख मंगाने के लिए सशक्त है और वह पुनरीक्षण सम्बन्धी अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए ऐसे आदेश पारित कर सकता है जो वह ठीक समझे। यह दलील दी गई है कि चूंकि पुनर्विलोकन और पुनरीक्षण के अधिकार नियमावली के अधीन समुचित प्राधिकारियों में निहित किए गए हैं इसलिए सिविल न्यायालयों की अधिकारिता विवक्षा द्वारा वर्जित है। इस दलील के समर्थन में विद्वान् काउंसेल ने **एफ०एम० सुब्बया बनाम वैंकटरमण सुब्बाराव बरकुर**[1] का अवलम्ब लिया है। इस निर्णय का अनुशीलन करने मात्र से यह प्रतीत होगा कि यह प्रस्तुत मामले में कतई लागू नहीं होता। उक्त निर्णय में यह दृष्टिकोण अपनाया गया है कि जब कोई कानून विशेष अधिकारों और बाध्यताओं का सृजन करता हो तब वह उन न्यायालयों के बारे में, जिनमें ऐसे अधिकारों और बाध्यताओं के सम्बन्ध में मुकदमेबाजी की जानी है, कोई बात कह सकता है या नहीं कह सकता। यदि उसमें इस विषय पर कुछ भी नहीं कहा गया हो तो यदि सर्जित अधिकार सिविल अधिकार हैं तो सामान्य

---

[1] ए० आई० आर० 1959 मैसूर 145.

सिविल न्यायालयों को ऐसे अधिकारों के सम्बन्ध में वादों का सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 9 के अधीन विचारण करने की साधारण अधिकारिता होगी। जब तक कि निस्संदेह सामान्य सिविल न्यायालयों द्वारा ऐसे वादों का संज्ञान अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से वर्जित न किया गया हो। यह मत व्यक्त किया गया कि ऐसे विवक्षित वर्जन का सर्वोत्तम उदाहरण हमें वहां मिलता है जहां विशेष अधिनियम में ऐसे अधिकरणों का कोई विशेष समूह या पदानुक्रम स्थापित किया गया है जो विशेष अधिनियम द्वारा सर्जित अधिकारों और बाध्यताओं के सम्बन्ध में विचार करने या न्यायनिर्णीत करने के लिए विशेष रूप से सशक्त किए गए हैं। प्रस्तुत मामले में पक्षकारों के अधिकार और बाध्यताएं सरकार द्वारा जारी की गई उस प्रैस विज्ञप्ति द्वारा सर्जित की गई हैं जिसमें अधिकरणों का कोई भी पदानुक्रम स्थापित नहीं किया गया है जो पक्षकारों के अधिकारों और बाध्यताओं पर विचार करने के लिए विशेष रूप से सशक्त किए गए हों। यह मामला किसी ऐसे विशेष अधिनियम के अधिनियमित किए जाने का नहीं है जिसके द्वारा विशेष अधिकारों और बाध्यताओं का सृजन किया गया हो या जिसके द्वारा उन अधिकारों और बाध्यताओं पर विचार करने के लिए विशेष अधिकरणों को स्थापित किया गया हो। अतः विवक्षा द्वारा सिविल न्यायालयों की अधिकारिता के अपवर्जन का कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होता। प्रैस विज्ञप्ति में ऐसा कोई भी नियम नहीं है जिसके द्वारा पक्षकारों के अधिकारों और बाध्यताओं से सम्बन्धित विवादों को न्यायनिर्णीत करने के लिए सिविल न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन किया गया हो। **फर्म सेठ राधाकृष्ण और अन्य बनाम प्रशासक, नगरपालिका समिति, लुधियाना**[1] में उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकृत रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया है कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 9 के अधीन न्यायालयों को ऐसे वादों को छोड़ कर, जिसका संज्ञान अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से वर्जित किया गया है सिविल प्रकृति के सभी वादों का विचारण करने की अधिकारिता है और किसी मामले की बाबत अधिकरण को विशेष अधिकारिता का प्रदान किया जाना मात्र सिविल न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन नहीं करेगा। मेरे मतानुसार प्रैस विज्ञप्ति में समाविष्ट नियम सिविल न्यायालयों की अधिकारिता का अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से अपवर्जन नहीं करते हैं। अतः निचले अपील न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया जाना सही है कि विवादगत विषय को सिविल न्यायालय

---

[1] 1963 पी० एल० आर० 912.

द्वारा न्यायनिर्णीत किया जा सकता है और वादों का विचारण करने की उसकी अधिकारिता वर्जित नहीं की गई है।

9. उपर्युक्त विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए मुझे विद्वान् निचले अपील न्यायालय के विनिश्चय में कोई कमी प्रतीत नहीं होती और तद्नुसार इन अपीलों को खर्चे सहित खारिज किया जाता है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 41 नियम 27 के अधीन अतिरिक्त साक्ष्य पेश करने के लिए अनुज्ञा प्रदान किए जाने के लिए अपीलार्थियों के प्रकीर्ण आवेदनों की कोई भी पैरवी नहीं की गई है इसलिए उन्हें भी खारिज किया जाता है।

अपील खारिज की गई।

प्रमोद

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा—118

प्रेमलता (श्रीमती) बनाम आय-कर अधिकारी

(Smt. Prem Lata *Vs.* The Income-Tax Officer)

तारीख 25 अक्तूबर, 1983

[न्या० एम० एम० पंछी]

आय-कर अधिनियम, 1961—धारा 277 और 278 ख—घोषणा में मिथ्या कथन—धारा 278ख को भूतलक्षी प्रभाव से लागू नहीं किया जा सकता—अतः ऐसा निर्धारिती, जो फर्म का एक भागीदार तो अवश्य है किन्तु जिसने एक अन्य भागीदार द्वारा फाइल की गई विवरणी या घोषणाओं पर हस्ताक्षर या उनका सत्यापन नहीं किया है, धारा 277 के शास्तिक उपबन्धों के अन्तर्गत नहीं आता और उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकेगी।

पिटीशनर एक फर्म में एक भागीदार है। यह फर्म सुसंगत निर्धारण वर्ष के लिए एक निर्धारिती है। इस फर्म के एक अन्य भागीदार ने, जो पिटीशनर से भिन्न है, सुसंगत निर्धारण-वर्ष के लिए एक विवरणी फाइल की, जिस पर उस भागीदार द्वारा तो हस्ताक्षर किए गए थे किन्तु पिटीशनर द्वारा हस्ताक्षर नहीं किए गए थे। आय-कर प्राधिकारियों ने इस विवरणी को मिथ्या पाया। अतः आय-कर प्राधिकारियों ने पिटीशनर सहित फर्म के सभी भागीदारों के विरुद्ध आय-कर अधिनियम की धारा 277/278 तथा भारतीय दण्ड संहिता की धारा 193 के अधीन एक आरोप फाइल किया। विद्वान् मजिस्ट्रेट ने इन अभियुक्तों के विरुद्ध आरोप विरचित कर दिए। अतः विद्वाने

मजिस्ट्रेट के आदेश से व्यथित होकर पिटीशनर ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत पिटीशन फाइल किया है।

संक्षेप में पिटीशनर की ओर से यह दलील दी गई है कि पिटीशनर ने न तो विवरणी पर हस्ताक्षर किए हैं और न ऐसा कथन या सत्यापन किया है जो आय-कर अधिनियम की धारा 277 के अन्तर्गत आता हो। इसके विपरीत प्रत्यर्थी की ओर से यह दलील दी गई है कि धारा 278-ख के शास्तिक उपबन्धों के अन्तर्गत फर्म का भागीदार भी आता है।

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

इस बात को अलग रखते हुए कि क्या फर्म का भागीदार धारा 278-ख की परिधि के अन्तर्गत आ सकता है या नहीं, यह उल्लेखनीय है कि यह विवरणी निर्धारण वर्ष 1965-66 से संबंधित है और धारा 278-ख कराधान विधि (संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा आय-कर अधिनियम में 1 अक्तूबर, 1975 से अन्तःस्थापित की गई है। स्पष्टतः इसे भूतलक्षी प्रभाव से लागू नहीं किया जा सकता। आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 277 की स्पष्ट भाषा के अनुसार फर्म के भागीदार के विरुद्ध उन स्वीकृत तथ्यों के आधार पर, जो कि परिवाद से और साथ ही प्रारम्भिक साक्ष्य से प्रकट होते हैं, कार्यवाही नहीं की जा सकती। अतः उसके विरुद्ध आरोप अभिखण्डित किए जाने योग्य है। (पैरा 4 और 6)

		पैरा
[1982]	1982 टैक्स ला रिपोर्ट्स 804 : राजेन्द्र प्रसाद अग्रवाल और अन्य बनाम आय-कर अधिकारी आदि (Rajendra Prasad Agarwal and others *Vs.* Income-tax Officer etc.);	5
[1939]	1939 आई० टी० आर० 622 : आय-कर आयुक्त बनाम जगदीश लाल बहल और अन्य (Commissioner of Income-tax *Vs.* Jagdish Lal Behl and others)	4

का अवलम्ब लिया गया।

दाण्डिक (प्रकीर्ण) अधिकारिता : 1983 का दांडिक प्रकीर्ण सं० 2481-एम.

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री डी० एन अवस्थी और ए० सी० जैन

प्रत्यर्थी की ओर से ... सर्वश्री अशोक भान और अजय मित्तल

न्या० एस० एस० पंछी :

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन यह पिटीशन, जो कि उपर्युक्त संहिता की धारा 397/401 के अधीन भी किया जा सकता है, न्यायिक मजिस्ट्रेट प्रथम वर्ग अमृतसर द्वारा पिटीशनर के विरुद्ध आय-कर अधिनियम की धारा 277 और भारतीय दंड संहिता की धारा 193 के अधीन विरचित किए गए आरोप को अभिखंडित करने के लिए फाइल किया गया है।

2. इस पिटीशन के निर्विवाद तथ्य इस प्रकार हैं कि पिटीशनर प्रेमलता एक फर्म में भागीदार है। यह फर्म निर्धारण वर्ष 1965-66 के लिए आय-कर अधिनियम के अधीन एक निर्धारिती है। प्रेमलता से भिन्न भागीदार ने एक विवरणी फाइल की। इस विवरणी पर उस भागीदार द्वारा हस्ताक्षर किए गए और उसमें विधि और नियमों के अधीन प्रकल्पित आवश्यक घोषणाएं अन्तर्विष्ट हैं। आय-कर प्राधिकारियों ने इस विवरणी में दी गई विशिष्टियों और की गई घोषणाओं को भी मिथ्या पाया। तदुपरान्त प्रेमलता सहित फर्म के भागीदारों के विरुद्ध आय-कर अधिनियम की धारा 277/278 तथा भारतीय दंड संहिता की विभिन्न धाराओं के अधीन भी एक परिवाद फाइल किया गया। फर्म के भागीदारों के साथ-साथ कुछ ऐसे व्यक्तियों को भी पक्षकार बनाया गया जिनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उन्होंने फर्म के साथ गुप्त संव्यवहार किए हैं। मामले के इस पश्चात्वर्ती पहलू के साथ इस पिटीशन में हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। विद्वान् विचारण मजिस्ट्रेट ने प्रारम्भिक साक्ष्य लेखबद्ध करने के पश्चात् फर्म के तीन भागीदारों के विरुद्ध इस प्रकार आरोप विरचित किए—(1) कि वर्ष 1966 के दौरान अभियुक्त सं० 1 से 3 ने निर्धारण वर्ष 1965-66 के लिए आय-कर प्राधिकारियों के समक्ष मिथ्या विवरणी फाइल की जो उन्होंने यह जानते हुए फाइल की कि वह मिथ्या है और इस प्रकार उन्होंने आय-कर अधिनियम की धारा 277 के अधीन दंडनीय अपराध किया है जो मेरे संज्ञान के भीतर है। (2)······और (3) तृतीयतः इसी अवधि के दौरान अभियुक्त सं० 1 से 3 ने मिथ्या विवरणी के रूप में आय-कर प्राधिकारियों के समक्ष मिथ्या साक्ष्य गढ़ा है और इस प्रकार उन्होंने भारतीय दंड संहिता की धारा 193 के अधीन अपराध किया है क्योंकि आय-कर प्राधिकारियों के अधीन की गई कार्यवाहियां मेरे संज्ञान के भीतर न्यायिक कार्यवाहियां हैं।

3. जैसा कि इन आरोपों की भाषा से स्पष्ट है, तीसरा आरोप प्रथम आरोप पर निर्भर है। ऊपर बताए गए तथ्यों से भी यह बात स्पष्ट है कि पिटीशनर प्रेमलता ने न तो इस विवरणी पर हस्ताक्षर किए हैं और न ही उसने कोई ऐसा कथन या सत्यापन किया जो आय-कर अधिनियम की धारा 277 की परिधि के अन्तर्गत आता हो। इन स्वीकृत तथ्यों के आधार पर अपने विरुद्ध विरचित किए गए आरोपों को अभिखंडित करने के लिए प्रार्थना की गई है।

4. तथापि प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील देने के लिए आय-कर अधिनियम की धारा 278-ख की सहायता ली है कि फर्म का भागीदार भी उक्त अधिनियम की धारा 277 के दांडिक (शास्तिक) उपबंधों की परिधि में आता है और इस कारण प्रेमलता को इस बात को ध्यान में रखते हुए आरोप का सामना करना होगा। इस बात को अलग रखते हुए कि क्या प्रेमलता धारा 278-ख की परिधि के अन्तर्गत आ सकती है या नहीं, यह उल्लेखनीय है कि यह विवरणी निर्धारण वर्ष 1965-66 से सम्बन्धित है और धारा 278-ख कराधान विधि (संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा आय-कर अधिनियम में 1 अक्तूबर, 1975 से अन्तःस्थापित की गई है। स्पष्टतः इसे भूतलक्षी प्रभाव से लागू नहीं किया जा सकता। यही दृष्टिकोण **आय-कर आयुक्त** बनाम **जगदीश लाल बहल और अन्य**[1] में इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ द्वारा अपनाया गया है। उक्त मामले में माननीय न्यायाधीशों ने यह मत व्यक्त किया है :—

"चूंकि अपराध वर्ष 1965-66 में किए गए हैं इसलिए इस धारा में समाविष्ट सिद्धांत को भूतलक्षी प्रभाव से अपराधों का गठन करने के लिए लागू नहीं किया जा सकता। ऐसा करना संविधान के अनुच्छेद 20 में समाविष्ट स्पष्ट आदेश के विरुद्ध कार्य करने की कोटि में आएगा।"

5. तत्पश्चात् न्यायाधीशों ने आय-कर अधिनियम की धारा 278-ख के प्रति निर्देश किया है। यही दृष्टिकोण इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा **राजेन्द्र प्रसाद अग्रवाल और अन्य** बनाम **आय-कर अधिकारी आदि**[2] में अपनाया गया है।

---

[1] 1939 आई० टी० आर० 622.

[2] 1982 टैक्स ला रिपोर्ट्स 804.

6. अधिनियम की धारा 277 की स्पष्ट भाषा के अनुसार पिटीशनर प्रेमलता के विरुद्ध उन स्वीकृत तथ्यों के आधार पर जो कि परिवाद से और साथ ही प्रारंभिक साक्ष्य से प्रकट होते हैं, कार्यवाही नहीं की जा सकती। अतः उसके विरुद्ध आरोप अभिखण्डित किए जाने योग्य हैं जिन्हें तद्नुसार अभिखंडित किया जाता है। तथापि विद्वान् मजिस्ट्रेट को दूसरे अभियुक्तों के सम्बन्ध में विधि के अनुसार कार्यवाही करने की स्वतंत्रता होगी।

पिटीशन मंजूर किया गया।

प्रमोद

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा—122

चन्ना सिंह बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य

(Channa Singh *Vs.* The State of Punjab and another)

तारीख 26 अक्तूबर, 1983

[न्या० एम० एम० पंछी]

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973—धारा 428 सपठित पंजाब जेल मैनुअल का पैरा 516-बी—अभियुक्त द्वारा भोगी गई निरोध की अवधि का कारावास के दंडादेश के विरुद्ध मुजरा किया जाना—किसी सिद्धदोष व्यक्ति के समयपूर्व छोड़े जाने (प्रि-मैच्योर रिलीज) के मामले पर विचार करने के लिए एक विचारणाधीन कैदी (अंडर ट्रायल प्रिजनर) के रूप में कारागार में भोगी गई अवधि की मुजराई उस वास्तविक दण्डादेश की अवधि, जो आजीवन सिद्धदोष व्यक्ति द्वारा पंजाब जेल मैनुअल और उसके सुसंगत अनुदेशों के अधीन भोगने के लिए अपेक्षित है, के विरुद्ध नहीं की जाएगी।

पिटीशनर ने संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय में प्रस्तुत पिटीशन फाइल किया है जिसमें पिटीशनर ने यह खेद व्यक्त किया है कि पंजाब सरकार ने समयपूर्व छोड़े जाने के प्रयोजन के लिए सुसंगत सरकारी अनुदेशों के साथ पठित पंजाब जेल मैनुअल के पैरा 516-बी के उपबंधों के अधीन उसके समयपूर्व छोड़े जाने के मामले पर कोई विचार नहीं किया है। प्रस्तुत पिटीशन में एकमात्र विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या किसी सिद्धदोष व्यक्ति द्वारा एक विचारणाधीन कैदी के रूप में कारागार में काटी गई अवधि की गणना पंजाब जेल मैनुअल और सुसंगत अनुदेशों में प्रकल्पित अवधि की संगणना करने के प्रयोजन के लिए की जाएगी या नहीं ?

अभिनिर्धारित—पिटीशन खारिज किया गया।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 428 के अधीन किसी सिद्धदोष व्यक्ति के समयपूर्व छोड़े जाने के मामले पर विचार करने के लिए विचारणाधीन अवधि (अंडर ट्रायल पीरियड) की मुजराई उस वास्तविक दंडादेश की अवधि के विरुद्ध नहीं की जा सकती, जो आजीवन सिद्धदोष व्यक्ति द्वारा पंजाब जेल मैनुअल और उसके अधीन जारी किए गए सुसंगत अनुदेशों के अधीन भोगने के लिए अपेक्षित है। (पैरा 6)

		पैरा
[1983]	1983 का दांडिक रिट सं० 141 जो 6-10-1983 को विनिश्चित किया गया : कृपाल सिंह **बनाम** पंजाब राज्य (Kirpal Singh *Vs.* State of Punjab);	6
[1983]	ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 855 : नायब सिंह **बनाम** पंजाब राज्य और अन्य (Naib Singh *Vs.* State of Punjab and others);	5
[1982]	1982 का रिट पिटीशन (दांडिक) सं० 1128-29 : सुखलाल हंसदा और अन्य **बनाम** बंगाल राज्य (Sukh Lal Hansda and others *Vs.* The State of Bengal) **से प्रभेद** बताया गया।	3,4,6
[1983]	1983 का दांडिक रिट सं० 374 जो 15 सितम्बर, 1983 को विनिश्चित किया गया : बलवन्त सिंह **बनाम** पंजाब राज्य (Balwant Singh *Vs.* State of Punjab);	6
[1982]	ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 1439 : करतार सिंह **बनाम** हरियाणा राज्य (Kartar Singh *Vs.* The State of Haryana) का **अवलम्ब** लिया गया।	2,3, 4,5,6

आरम्भिक (दाण्डिक रिट) अधिकारिता : 1983 का दाण्डिक रिट पिटीशन सं० 364.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री बी० एस० मलिक

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री बी० एन० रामपाल, महाधिवक्ता

न्या० एस० एस० पंछी :

पिटीशनर ने यह खेद व्यक्त करते हुए संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय में पिटीशन फाइल किया है कि पंजाब सरकार ने समय-पूर्व छोड़े जाने के प्रयोजन के लिए सुसंगत सरकारी अनुदेशों के साथ पठित पंजाब जेल मैनुअल (कारागार निर्देशिका) के पैरा 516-बी के उपबन्धों के अधीन समय-पूर्व छोड़े जाने के उसके मामले पर विचार नहीं किया है। उसने यह दावा किया है कि वह मुख्य दण्डादेश में से पांच वर्ष और पांच मास से भी अधिक का कारावास पहले ही भोग चुका है और यदि इसमें एक वर्ष चार मास की अवधि भी जोड़ ली जाती है, जो वह एक विचारणाधीन कैदी के रूप में काट चुका है, तो वह 6 वर्ष का वास्तविक दण्डादेश भोग चुकने पर उपर्युक्त उपबंध की दो महत्त्वपूर्ण अपेक्षाओं में से एक अपेक्षा को पूरा कर लेता है। इसके अलावा उसने यह दावा किया है कि उस स्थिति में वह छूट सहित दस वर्ष के दण्डादेश को पूरा करने सम्बन्धी दूसरी अपेक्षा को भी पूरा कर लेगा। अतः मुख्य प्रश्न यह उठाया गया है कि क्या किसी सिद्धदोष व्यक्ति द्वारा एक विचारणाधीन कैदी के रूप में कारागार में काटी गई अवधि की गणना पंजाब जेल मैनुअल के उपर्युक्त पैरा और सुसंगत अनुदेशों के अधीन प्रकल्पित दोनों अवधियों की संगणना करने के प्रयोजन के लिए की जाएगी या नहीं।

2. **करतार सिंह बनाम हरियाणा राज्य**[1] में उच्चतम न्यायालय के तीन माननीय न्यायाधिपतियों के न्यायपीठ ने हरियाणा के कैदियों से सम्बन्धित ऐसे ही प्रश्न पर विचार करते समय हरियाणा में यथा लागू पंजाब जेल मैनुअल के पैरा 516-बी का दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 428 को ध्यान में रखते हुए निर्वचन किया है और अधिकृत रूप से यह अभिनिर्धारित किया है कि विचारणाधीन अवधि का लाभ आजीवन सिद्धदोष व्यक्तियों को नहीं दिया जाएगा। माननीय न्यायाधिपतियों ने ऐसा अभिनिर्धारित करते समय हरियाणा राज्य के तारीख 2 फरवरी, 1982 के उन अनुदेशों पर भी विचार किया है जिनमें यह आदेश दिया गया है कि समय-पूर्व छोड़े जाने के मामलों पर विचार करने और छूट सहित साढ़े आठ वर्ष के मुख्य दण्डादेश और 14 वर्ष के कारावास की गणना करने के प्रयोजन के लिए विचारणाधीन अवधि का लाभ ऐसे आजीवन सिद्धदोष व्यक्तियों को नहीं दिया जाएगा जिन्हें 18 दिसम्बर, 1978 के पूर्व दोषसिद्ध किया गया है। पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील देते हुए उच्चतम न्यायालय के उक्त निर्णय में से इस बात का मार्गदर्शन प्राप्त करने

---

[1] ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 1439.

का प्रयास किया है कि पंजाब राज्य में ऐसा कोई भी समान अनुदेश नहीं है और साथ ही **करतार सिंह के मामले**[1] में अधिकथित नियम पिटीशनर के मामले में लागू नहीं होता। राज्य के विद्वान् काउन्सेल ने इस दलील के विरुद्ध मेरे समक्ष पंजाब सरकार के पत्र सं० 11/88/82-5 जे० एल/23056 तारीख 14 दिसम्बर, 1982 को परिशीलन के लिए प्रस्तुत किया है जिसमें **करतार सिंह के मामले**[1] के निर्णय के आधार पर ये अनुदेश जारी किए गए हैं कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 428 में अनुध्यात मुजराई का लाभ आजीवन सिद्धदोष व्यक्तियों को उपलब्ध नहीं होगा और ऐसे सिद्धदोष व्यक्तियों के समयपूर्व छोड़े जाने के मामलों को भविष्य में उनके द्वारा भोगी गई विचारणाधीन अवधि का लाभ दिए बिना भेजा जा सकेगा। पंजाब सरकार का इस बाबत उक्त अनुदेश पिटीशनर की ओर से विद्वान् काउन्सेल की दलील का पूरा उत्तर है और इसलिए उसे अपास्त किया जाता है।

3. दूसरी दलील यह दी गई है कि **सुख लाल हंसदा और अन्य बनाम बंगाल राज्य**[2] में उच्चतम न्यायालय के तीन माननीय न्यायाधिपतियों के एक अन्य न्यायपीठ ने यह विनिर्णीत किया है कि इस बात पर विचार करने के प्रयोजन के लिए कि क्या वैस्ट बंगाल जेल कोड के नियम 591 के उप नियम (1) के अधीन 14 वर्ष पूरे होने पर या उसी कोड के भाग 4 में नियम 29 के अधीन 20 वर्ष पूरे होने पर किसी कैदी के समय-पूर्व छोड़े जाने के मामले पर विचार किया जाना चाहिए या नहीं, उन्होंने इस बात का कोई भी कारण नहीं पाया कि ऐसे व्यक्ति द्वारा एक विचारणाधीन कैदी के रूप में भोगी गई कारावास की अवधि को गणना में क्यों न लिया जाए। उन्होंने यह दलील दी है कि उक्त निर्णय एक पश्चात्वर्ती निर्णय होने के कारण **करतार सिंह के मामले**[1] पर अभिभावी होगा।

4. जैसा कि स्पष्ट है, **सुख लाल के मामले**[2] में उच्चतम न्यायालय के माननीय न्यायाधिपतियों ने **करतार सिंह के मामले में**[1] अपने पूर्वतर विनिश्चय का कोई उल्लेख नहीं किया। **करतार सिंह का मामला**[1] विनिर्दिष्टतः पंजाब जेल मैनुअल के पैरा 516-बी और सुसंगत अनुदेशों से सम्बन्धित है। वह निर्णय विनिर्दिष्टतः प्रस्तुत मामले में लागू होता है। इसके विपरीत **सुखलाल का मामला**[2] वैस्ट बंगाल जेल कोड में यथाअन्तर्विष्ट सुसंगत उपबंधों से सम्बन्धित है। किन्तु भले ही इन दोनों निर्णयों के बीच कोई विरोध न हो फिर भी विचारणाधीन अवधि को किसी विचारणाधीन

---

[1] ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 1439.

[2] 1982 का रिट पिटीशन (दाण्डिक) सं० 1128-29.

कैदी द्वारा भोगी गई कारावास की अवधि के रूप में माने जाने के लिए प्रमुखता दी जाएगी।

5. **नायब सिंह** बनाम **पंजाब राज्य और अन्य**[1] में उच्चतम न्यायालय के दो माननीय न्यायाधिपतियों के न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया है कि "आजीवन कारावास को" "आजीवन कठिन कारावास" के समतुल्य माना जाना चाहिए। इसके आगे यह अभिनिर्धारित किया गया है कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 60 लागू नहीं होती और न्यायालय को दण्डादेश के स्वरूप (प्रकार) के मामले में भेद करने का कोई भी विकल्प प्राप्त नहीं है। "आजीवन कारावास" से सदैव भारतीय दण्ड संहिता की धारा 60 में "आजीवन कठिन करावास" अभिप्रेत है। उक्त संहिता के अनेकानेक दूसरे उपबंधों में न्यायालय को किसी भी प्रकार का अर्थात् कठिन या सादा या भागतः कठिन या भागतः सादा कारावास अधिरोपित करने की शक्ति है। स्पष्टतः विचाराणाधीन अवधि में कठोर अनुशासन के अधीन कोई श्रम नहीं कराया जाता है जब कि कठिन कारावास में ऐसा श्रम कराया जाता है। इसके विपरीत सादा कारावास में ऐसी कोई भी सख्त पाबन्दी अन्तर्वलित नहीं है। अतः मुझे यह प्रतीत होता है कि ऐसे कारावास के लिए, जिसमें न्यायालय को कारावास का प्रकार अधिकथित करने का विकल्प प्राप्त है, विचारणाधीन अवधि की दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 428 के अधीन न्यायालय द्वारा अधिरोपित कारावास की अवधि के विरुद्ध मुजराई की जायेगी मानो कारावास का वह प्रकार न्यायालय द्वारा ही अधिरोपित किया गया है और इसलिए ऐसे व्यक्ति का कारावास भोगने सम्बन्धी दायित्व "उस पर अधिरोपित कारावास की शेष अवधि, यदि कोई हो, तक सीमित होगा।" **करतार सिंह का मामला**[2] इस बारे में पूरी तरह लागू होता है। वैस्ट बंगाल जेल कोड के संदर्भ में **सुख लाल के मामले**[3] में व्यक्त किया गया मत इस सीमा तक नहीं माना जाएगा कि किसी कैदी की विचारणाधीन अवधि वस्तुतः भोगे गए दण्डादेश के रूप में मानी जाएगी। उक्त मामला पिटीशनर के मामले में कोई सहायता प्रदान नहीं करता और इसलिए दी गई दलील अपास्त की जाती है।

6. पिटीशनर की ओर से विद्वान् काउन्सेल के प्रति निष्पक्ष रहते हुए मैं **कृपाल सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[4] में न्या० डी० एस० तेवतिया द्वारा

---

[1] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 855.
[2] ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 1439.
[3] 1982 का रिट पिटीशन (दाण्डिक) सं० 1128-29.
[4] 1983 का दाण्डिक रिट सं० 141 जो 6-10-1983 को विनिश्चित किया गया।

दिए गए विनिश्चय पर अवश्य ध्यान देना चाहूंगा जिसमें **सुखलाल के मामले**[1] का अवलम्ब लेते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया है कि विचारणाधीन अवधि की गणना "यह देखने के प्रयोजन के लिए की जाएगी कि क्या वह वास्तव में 6 वर्ष की अवधि तक कारागार की अभिरक्षा में रहा है या नहीं।" दुर्भाग्यवश **करतार सिंह का मामला**[2] न्या० डी० एस० तेवतिया की जानकारी में नहीं लाया गया। यहां तक कि माननीय न्यायाधीशों का ध्यान **सुखलाल के मामले**[1] की विशेष बातों, पंजाब जेल मैनुअल और उन सुसंगत अनुदेशों के उपबंधों में दिए गए उन आदेशों की ओर जिनमें "वास्तविक कारागार अभिरक्षा" को नहीं बल्कि "कारागार दण्डादेश की वास्तव में भोगी गई अवधि" को ध्यान में रखा गया है और आजीवन दंडादेश की प्रकृति की ओर भी आकृष्ट नहीं किया गया है गुणवत्ता की दृष्टि से सदैव कठिन होती है। मेरे मतानुसार, इस विनिश्चय से भी पिटीशन के मामले में कोई सहायता नहीं मिलती और वह प्रभेदनीय है। इसके विपरीत राज्य के विद्वान काउन्सेल ने **बलवन्त सिंह बनाम पंजाब राज्य**[3] में न्या० बी० एस० यादव के निर्णय का अवलम्ब लिया है जिसमें माननीय न्यायाधीश ने ऊपरनिर्दिष्ट उच्चतम न्यायालय के दोनों ही निर्णयों को ध्यान में रखा है और यह दृष्टिकोण अपनाया है कि किसी सिद्धदोष व्यक्ति के समयपूर्व छोड़े जाने के मामले पर विचार करने के लिए विचारणाधीन अवधि की मुजराई उस वास्तविक दंडादेश की अवधि के विरुद्ध नहीं की जा सकती, जो आजीवन सिद्धदोष व्यक्ति द्वारा पंजाब जेल मैनुअल और उसके अधीन जारी किए गए अनुदेशों के अधीन भोगने के लिए अपेक्षित है। मैं उपर्युक्त मामले में व्यक्त किए गए दृष्टिकोण के साथ ससम्मान सहमत हूं। इस विनिश्चय से यह विवाद्यक पूरी तरह हल हो जाता है।

7. अतः अपनाए गए दृष्टिकोण के आधार पर मुझे इस पिटीशन में कोई सार प्रतीत नहीं होता और वह असफल होता है और उसे खारिज किया जाता है।

पिटीशन खारिज किया गया।

प्रमोद

---

1 1982 का रिट पिटीशन (दाण्डिक) सं० 1128-29.

2 ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 1439.

3 1983 का दाण्डिक रिट सं० 374, जो 15 सितम्बर, 1983 को विनिश्चित किया गया।

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा—128

धनीराम और एक अन्य बनाम ग्राम सभा और ग्राम पंचायत, ग्राम जटमालपुर उर्फ लोहड़ी तिब्बा और अन्य

(Dhani Ram & another *Vs.* Gram Sabha and Gram Panchayat of village Jatmalpur *alias* Lohari Tibba and others)

तारीख 27 अक्तूबर, 1983

[न्या० जे० वी० गुप्त]

पंजाब सिक्योरिटी आफ लैण्ड टेन्योर्स ऐक्ट, 1953—धारा 9 सपठित रोहतक जिले में प्रचलित रूढ़ि—दोहलीदार द्वारा भूमि का अन्य-संक्रामण—दोहली एक स्थायी भूधृति नहीं है और जैसे ही दोहलीदार अपेक्षित सेवाओं का पालन करने में असफल रहता है वैसे ही दोहली अधिकार निर्वापित हो जाते हैं और सम्पत्ति मूल स्वत्वधारियों को वापस मिल जाती है—अतः ऐसे दोहलीदार की प्रास्थिति एक इच्छाधीन अभिधारी (टेनेण्ट एट विल) जैसी होगी और उसके द्वारा किए गए भूमि के अन्यसंक्रामण अविधि-मान्य और शून्य होंगे।

वादी-प्रत्यर्थियों ने भू-स्वामियों के रूप में यह अभिकथन करते हुए एक वाद फाइल किया कि प्रतिवादी अपीलार्थी उस दोहली भूधृति के आधार पर, जिसका सृजन वादियों के हित पूर्वाधिकारियों द्वारा सम्भवतः प्रति-वादियों के हित पूर्वाधिकारियों द्वारा धार्मिक कर्त्तव्यों और कृत्यों का पालन करने के लिए किया गया है, विभिन्न भू-खण्डों पर उनके अधीन इच्छाधीन अभिधारी (टेनेण्ट एट विल) है। चूंकि प्रतिवादी ने अपने धार्मिक कृत्यों और कर्त्तव्यों का पालन करना छोड़ दिया है और वादगत भूमि को पट्टे पर देने के पश्चात् गांव से प्रवास कर गया है इसलिए ये पट्टे अन्य संक्रामण की प्रकृति के हैं और शून्य है तथा वादियों पर आबद्धकर नहीं हैं और वे वादगत भूमि के स्वामियों के रूप में उनका कब्जा पाने के हकदार हैं। प्रतिवादी अपीलार्थी द्वारा इस वाद का इस आधार पर विरोध किया गया कि दोहली भूधृति अप्रतिसंहरणीय हैं और वादगत भूमि सीधे एक दान के रूप में दी गयी है और वे वादियों के अधीन इच्छाधीन अभिधारी नहीं हैं। उसके द्वारा निष्पादित पट्टा-विलेख विधिमान्य है और वादियों को उसका कब्जा पाने का दावा करने का कोई अधिकार नहीं है। विचारण न्यायालय ने वाद को वादी के पक्ष में डिक्रीत कर दिया। अपील में विद्वान् ज्येष्ठ उप न्यायाधीश ने भी विचारण न्यायालय के निष्कर्षों की अभिपुष्टि कर दी। अतः विद्वान् ज्येष्ठ

रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा जिसमें सिविल परिणाम अंतर्वलित हैं। ऐसी स्थिति में किसी परीक्षार्थी को दण्डित करने के पहले नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अनुसरण अवश्य ही किया जाना चाहिए। श्री झा ने **प्रमीला देवी** बनाम **सचिव माध्यमिक शिक्षा बोर्ड**[1], **इन्दिरा मेधी** बनाम **माध्यमिक शिक्षा बोर्ड**[2] और **ई० बी० कुमार** बनाम **मद्रास विश्वविद्यालय**[3] वाले मामलों में दिए गए विनिश्चयों का अवलम्ब लिया है। ये सभी मामले ऐसे हैं जिनमें परीक्षार्थियों पर परीक्षाओं में नावाजिब तरीकों का इस्तेमाल करने का आरोप लगाया गया था। अतः यह प्रश्न उद्भूत होता है कि क्या जांच से, जो प्रस्तुत मामले में की गई है, नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अतिक्रमण होता है क्योंकि पिटीशनर को अपनी निर्दोषिता साबित करने के लिए उचित अवसर से वंचित किया गया है।

9. प्रस्तुत मामले में सुसंगत तथ्यों से यह ज्ञात होता है कि प्राधिकारी द्वारा जो राय कायम की गई है, वह पारिस्थितिक साक्ष्य पर आधारित है। यह नहीं कहा गया है कि किसी ने भी पिटीशनर या जितेन्द्र कुमार सिंह को परीक्षा के दौरान नावाजिब तरीकों का उपयोग करते हुए देखा था। परीक्षक द्वारा उत्तर-पुस्तिकाओं की परीक्षा करने के पश्चात् ही कुछ उत्तरों में समानता की बात देखी गई। इस समानता के आधार पर यह अनुमान लगाया कि जितेन्द्र कुमार सिंह ने अवश्य ही पिटीशनर की उत्तर-पुस्तिकाओं से उत्तरों की नकल की है और यह भी कि ऐसा तब तक सम्भव नहीं था जब तक कि पिटीशनर की मौनानुकूलता न हो। इन परिस्थितियों में दोनों उत्तर-पुस्तिकाओं में समानता की प्रकृति और विस्तार सुसंगत बन जाती है और यदि पिटीशनर दोनों उत्तर-पुस्तिकाओं की जांच करने के लिए अवसर का दावा करता है तो ऐसे दावे को नामंजूर नहीं किया जा सकता। इस प्रक्रम पर यह धारणा नहीं की जा सकती कि पिटीशनर ने या तो जितेन्द्र कुमार सिंह को बोल कर उत्तर लिखवाए थे या यह कि उसने अपनी उत्तर-पुस्तिकाएं उसे नकल करने के लिए सौंपी थीं और इसलिए आगे यह उपधारणा नहीं की जा सकती कि पिटीशनर को उत्तरों के दोनों प्रवर्गों में समानता के विस्तार और डिक्री का ज्ञान है। अतः उसे दोनों उत्तर-पुस्तिकाओं की जांच करने की अनुज्ञा दी जानी चाहिए। पिटीशनर ने यह भी प्रार्थना की है कि प्रत्यर्थियों को यह निदेश दिया जाए कि वे इस सम्बन्ध में अधीक्षक और/या परीक्षक की रिपोर्ट की एक प्रति भी उसे सौंपे। यह प्रार्थना भी अयुक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती है।

---

[1] ए० आई० आर० 1972 उड़ीसा 224 (पूर्ण न्यायपीठ).

[2] ए० आई० आर० 1975 राजस्थान 116.

[3] ए० आई० आर० 1964 मद्रास 460.

10. श्री के० के० प्रसाद विद्वान् स्थायी काउंसेल ने प्रत्यर्थियों की ओर से जोरदार ढंग से यह दलील दी कि दस्तावेजें विशेषाधिकार प्राप्त दस्तावेजें हैं और इसलिए उन्हें सार्वजनिक बताए जाने के लिए निदेश नहीं दिया जाना चाहिए। विशेषाधिकार के प्रश्न पर 7 न्यायाधीशों ने **एस० पी० गुप्त बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में विचार किया था और यह दर्शित किया था कि ऐसी दस्तावेजों को दबाने और जन साधारण को उनकी परीक्षा करने की अनुज्ञा न देने से अच्छाई के स्थान पर नुकसान ही अधिक होता है। सिद्धांत के प्रश्न का विनिश्चय करते समय किसी मामले पर दो पहलुओं से विचार करना होता है। कतिपय जानकारी या दस्तावेजों को प्रकट करना लोक हित के विरुद्ध हो सकता है, उदाहरण के लिए देश की प्रतिरक्षा के सम्बन्ध में गोपनीय राज्य दस्तावेजों के बारे में। इसके विपरीत ऐसे मामले होते हैं जिनमें गोपनीयता अपेक्षित नहीं होती और लोक संवीक्षा से सुसंगत सामग्री को अपवर्जित करने से किसी हेतु की पूर्ति होने के स्थान पर जनता में संदेह भड़कता है और अविश्वास पैदा होता है। जैसा अभिनिर्धारित किया गया है, उपरोक्त मामले के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए इस प्रश्न की परीक्षा की जानी चाहिए और यदि यह नहीं बतलाया जा सकता कि किसी हानि के सम्भाव्य रूप से होने की संभावना है, तो विशेषाधिकार की दलील को सफल नहीं होने दिया जाना चाहिए। प्रस्तुत मामले में मैं इस बात की कल्पना करने की स्थिति में नहीं हूं कि किस प्रकार पिटीशनर द्वारा दो उत्तर-पुस्तिकाओं की जांच करने से समिति (आयोग) की स्थिति खतरे में पड़ सकती है। यदि उसे परीक्षक की रिपोर्ट की प्रतिलिपि दे दी जाती है तो वह स्पष्टीकरण देकर आयोग की सहायता कर सकता है। इन परिस्थितियों में मैं आयोग की इस दलील को नामंजूर करता हूं कि प्रश्नगत दस्तावेजें विशेषाधिकार प्राप्त दस्तावेजें हैं और वे प्रकट नहीं की जा सकतीं। मैं आयोग को यह निदेश देता हूं कि वह पिटीशनर को इस बात की अनुज्ञा दे कि वह दो उत्तर-पुस्तिकाओं और परीक्षक की रिपोर्ट का निरीक्षण कर सके। इसके अतिरिक्त इस प्रश्न पर पहले ही विचार हो चुका है और आयोग के विरुद्ध विनिश्चय किया जा चुका है। जहां तक आयोग द्वारा इस आधार पर आक्षेप करने का प्रश्न है कि उत्तर-पुस्तिकाएं खुले न्यायालय में पिटीशनर के काउन्सेल को उसी समय पहले ही दिखाई जा चुकी हैं जब मामले के ग्रहण किए जाने की स्थिति थी। तो इस सम्बन्ध में पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल श्री झा ने यह कहा है कि न तो उसने और न पिटीशनर ने ही वास्तव में किसी भी प्रक्रम में उत्तर-पुस्तिकाओं की परीक्षा की थी और सुसंगत उत्तरों की तुलना

---

[1] ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 149.

करने के लिए उचित अवसर दिए बिना न्यायालय में उनको पेश कर दिए जाने मात्र से ही कोई मदद नहीं मिलेगी। उसका कहना सही प्रतीत होता है। विद्वान् स्थायी काउंसेल ने यह भी कहा कि चूंकि कारण बतलाने के समय उत्तर फाइल करते समय पिटीशनर ने दस्तावेजों की परीक्षा करने के लिए अवसर दिए जाने का कोई दावा नहीं किया था, अतः अब यह प्रार्थना रद्द कर दी जानी चाहिए। श्री झा ने तथ्यों को पुनः स्पष्ट करते हुए स्थिति समझाई कि पिटीशनर उस समय सिविल सेवा परीक्षा दे रहा था और उसे कारण दर्शित करने की सूचना का उत्तर फाइल करने के लिए पर्याप्त समय नहीं मिला अतः उसने जल्दी-जल्दी में उत्तर फाइल कर दिया। उसने इस तथ्य पर भी जोर दिया कि दस्तावेजों की परीक्षा करने की आवश्यकता इस कारण और भी महत्त्वपूर्ण हो गई क्योंकि पिटीशनर को इस न्यायालय के निदेश के अनुसरण में कारणों की एक प्रति (उपा० 9) दी गई और उसने उसके तत्काल पश्चात् ही इस प्रयोजन के लिए एक आवेदन कर दिया। यह दलील सुआधृत प्रतीत होती है।

11. श्री झा ने बहुत जोर देते हुए यह दलील दी है कि आयोग द्वारा वर्णित परिस्थितियों के आधार पर पिटीशनर के विरुद्ध दोषी होने का निष्कर्ष विधिक रूप से अभिलिखित करना सम्भव नहीं है। उसने यह भी कहा कि दिया गया दण्ड बहुत अधिक है। विद्वान् स्थायी काउन्सेल ने यह दलील दी कि रिट न्यायालय अपील न्यायालय के तौर पर कार्य नहीं कर सकता और उसे इन दलीलों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में उसने **गजनफर रशीद बनाम सचिव, हाई स्कूल और इंटरमीडिऐट शिक्षा बोर्ड**[1] के मामले में के निर्णय का अवलम्ब लिया। इस प्रक्रम पर मैं इन मुद्दों पर अपनी कोई राय अभिव्यक्त करना आवश्यक नहीं समझता हूं।

12. ऊपर वर्णित कारणों से मैं प्रत्यर्थियों को स्थान, तारीख और समय नियत करने का निदेश देता हूं जिससे कि पिटीशनर उत्तर-पुस्तिकाएं और परीक्षक की रिपोर्ट की जांच कर सके और पिटीशनर को दस्तावेजों की परीक्षा करने की इजाजत देता हूं। इस सम्बन्ध में पिटीशनर प्रत्यर्थी सं० 2 से सम्पर्क स्थापित कर सकता है। इसके पश्चात् पिटीशनर के मामले पर विचार करने के बाद जांच समाप्त हो जाएगी। पिटीशनर के विरुद्ध पहले जो आदेश पारित किए गए हैं, वे अभिखण्डित किए जाते हैं और मामले का पुनः विनिश्चय करते समय उन पर विचार नहीं किया जाएगा। तद्नुसार रिट आवेदन बिना खर्चे के मंजूर किया जाता है।

---

[1] ए० आई० आर० 1979 इलाहाबाद 209 (पूर्ण न्यायपीठ).

न्या० एस० पी० वर्मा :

13. विद्वान् बन्धु द्वारा दिया गया निर्णय मैंने सुना है। मामले के सभी पहलुओं पर काफी विस्तार से चर्चा की गई है।

14. रिट पिटीशनर ने अपनी व्यथा इन आधारों पर उठाई है कि पिटीशनर को संघ लोक सेवा आयोग (संक्षेप में 'आयोग') की परीक्षाओं में बैठने से 10 वर्ष की कालावधि के लिए विवर्जित करने का आदेश मनमाना है और क्या आक्षेपित आदेश पारित करते समय प्राधिकारी का समाधान सुसंगत सामग्रियों पर आधारित है। इस सम्बन्ध में भी प्रश्न उठाया गया है कि क्या पिटीशनर सुसंगत दस्तावेजों का निरीक्षण करने के लिए हकदार है या उनकी प्रतिलिपियां प्राप्त करने का हकदार है और क्या उसे दण्ड दिए जाने के पहले वह व्यक्तिगत सुनवाई के लिए भी हकदार है।

15. भूतकाल में हमेशा ही पिटीशनर का शिक्षा सम्बन्धी कैरियर बहुत उज्ज्वल रहा था। स्नातकोत्तर परीक्षा में उसे पटना विश्वविद्यालय में सभी प्रश्न पत्रों में प्रथम श्रेणी प्राप्त हुआ था और साथ ही उसे प्राध्यापक का पद भी मिल गया था। किन्तु चूंकि वह अधिक महत्त्वाकांक्षी है, उसने प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठना प्रारम्भ कर दिया। पिटीशनर ने यह दावा किया है कि आयोग द्वारा ली गई वर्तमान परीक्षा में उसने अच्छे पेपर दिए हैं और उसे आशा है कि वह सफल हो जाएगा। उसे उस समय आश्चर्य हुआ जब आयोग से उसे उसके विरुद्ध लगाए गए आरोपों की सूचना मिली जिसमें यह कहा गया कि उसने अपनी उत्तर-पुस्तिकाओं को लिखने में नावाजिब तरीकों का इस्तेमाल किया है। अभिकथन यह है कि पिटीशनर ने एक दूसरे परीक्षार्थी जितेन्द्र कुमार सिंह को अपनी उत्तर-पुस्तिकाओं में से नकल करने के लिए अनुज्ञात किया। पिटीशनर ने अपनी प्रतिरक्षा में इन आरोपों से पूर्ण रूप से इनकार किया है कि उसने किसी भी प्रकार से मौनानुकूलता बरती और जितेन्द्र कुमार सिंह को अपनी उत्तर पुस्तिका में से उत्तर की नकल करने की अनुमति दी। यह भी कहा गया है कि यदि दोनों अभ्यर्थियों के प्रश्न-पत्रों के उत्तरों में थोड़ी बहुत समानता या एकरूपता थी, तो उससे आवश्यक रूप से ही यह साबित नहीं होता है कि जितेन्द्र कुमार सिंह ने पिटीशनर की उत्तर-पुस्तिकाओं में से उत्तरों की नकल की थी। अंततः यह भी कहा गया कि दिया गया दण्ड बहुत कठोर है जिससे पिटीशनर का उदीयमान कैरियर समाप्त होता है क्योंकि इससे उस पर पूरे जीवनपर्यन्त ही कलंक लग जाता है।

16. निर्णय में मेरे विद्वान् बन्धु ने यह ठीक ही मत व्यक्त किया है कि इस तथ्य का समर्थन करने के लिए कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य नहीं है कि स्वयं पिटीशनर

ने परीक्षा भवन में उत्तर-पुस्तिकाओं को लिखने के दौरान नावाजिब तरीकों का इस्तेमाल किया था। परीक्षा भवन के अधीक्षकों की ऐसी कोई रिपोर्ट नहीं है। अतः प्रत्यर्थियों का निष्कर्ष अनुमान पर आधारित है और किसी प्रत्यक्ष साक्ष्य पर आधारित नहीं है। यह सच है कि इस प्रकार के मामले में कार्यवाही करते समय विचारण का सिद्धांत या नियम या साक्ष्य अधिनियम की तकनीकी बारीकियों का पालन नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्यर्थियों ने तथ्य का पता लगाने वाले आयोग के तौर पर अधिक कार्य किया है और यह बात समान रूप से सच है कि तथ्यों का विश्लेषण करने का उसे अधिकार है और उपलब्ध सामग्रियों और परिस्थितियों के आधार पर अपने निष्कर्ष निकालने का भी उसे अधिकार है।

17. प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल श्री के० के० प्रसाद ने ऊपर वर्णित संदर्भ में यह दलील दी कि प्रस्तुत मामले में दोषी होने की उपधारणा पिटीशनर के प्रति बहुत अधिक है। ऐसा हो सकता है किन्तु मेरी राय है कि कोई भी उपधारणा दोषी होने के सबूत का स्थान नहीं ले सकती। प्रत्यर्थियों का पक्षकथन यह है कि दोनों ही उम्मीदवार अर्थात् पिटीशनर और जितेन्द्र कुमार सिंह एक ही लाइन में बैठे थे। अतः निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि पिटीशनर ने जितेन्द्र कुमार सिंह को अपने उत्तर की नकल करने के लिए मौनानुकूलता बरती या अनुमति दी या यह कि जितेन्द्र कुमार सिंह ने यह कार्य इस प्रकार छिपाकर किया कि पिटीशनर को इस बात की जानकारी नहीं हो पाई और जितेन्द्र कुमार सिंह ने इस परिस्थिति का लाभ उठाया। मेरे विद्वान् बन्धु ने अपने निर्णय में दूसरे ढंग से यह बात इस प्रकार कही है कि बोलकर लिखवाने की सम्भावना भी हो सकती है। तृतीय सम्भावना वह निष्कर्ष है जो स्वयं आयोग ने निकाला है कि पिटीशनर ने जितेन्द्र कुमार सिंह को अपनी उत्तर पुस्तिकाओं में से नकल करने के लिए अनुमति दी। अतः यह बात अवश्य ही स्मरण रखी जानी चाहिए कि ऐसे मामले में यदि पारिस्थितिक साक्ष्य से भिन्न-भिन्न निर्वचन या भिन्न-भिन्न सम्भावनाएं और उपधारणाएं प्रकट होती हैं तो उनके आधार पर कार्य करना कभी भी निरापद नहीं हो सकता और किसी भी अपराधी को आरोप के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इस प्रकार के मामलों में निश्चित रूप से ही साक्ष्य अधिनियम के सिद्धांतों को लागू नहीं किया जा सकता। किन्तु प्राधिकारियों को यह स्मरण रखना होगा कि किसी व्यक्ति पर ऐसे आरोप लगाने और उसे दोषी ठहराने के लिए पर्याप्त साक्ष्य होना चाहिए जिसके आधार पर कोई भी प्रज्ञावान व्यक्ति कार्यवाही कर सके और निष्कर्ष अस्तित्व में न रहने वाली सामग्रियों पर आधारित नहीं होने चाहिए।

18. अगला प्रश्न पिटीशनर को दस्तावेजों के प्रदाय न किए जाने के बारे में है जिससे कि वह कारण बताओ सूचना का प्रभावी उत्तर फाइल करने में समर्थ हो सके। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल श्री के० के० प्रसाद की दलील यह है कि वे दस्तावेज विशेषाधिकार प्राप्त दस्तावेज हैं और उस दलील को विद्वान् बन्धु श्री शर्मा ने ठीक ही रद्द कर दिया। मैं इस सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक नहीं समझता हूं। ऐसे मामले में, जिसमें दस्तावेजें आरोप की विषय-वस्तु हैं, कोई अपराधी व्यक्ति दस्तावेजों की जांच करने और उनकी प्रतियां प्राप्त करने के लिए हकदार है और उसे सुनवाई का भी अवसर दिया जाना चाहिए। इन शर्तों में से किसी भी शर्त के अतिक्रमण से 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' सिद्धांत का अतिक्रमण होता है।

19. इन परिस्थितियों में मैं अपने विद्वान् बन्धु द्वारा उनके द्वारा दिए गए निर्णय में अभिव्यक्त मतों से पूर्ण रूप से सहमत हूं और मैं उसमें पारित किए गए आदेश से भी सहमत हूं। प्रत्यर्थी यदि उन्हें ऐसी सलाह दी जाए, तो वे नई सूचना जारी कर सकते हैं और पिटीशनर को दस्तावेजों का निरीक्षण करने का उचित अवसर देने के पश्चात् और दस्तावेजों की प्रतिलिपियां उसे उपलब्ध कराने के पश्चात् उसे सुनवाई का अवसर देंगे। मैं आगे यह और जोड़ता हूं कि दण्ड देने के बारे में भी प्राधिकारी युक्तियुक्त रूप से कार्य करेंगे न कि मनमाने तौर पर।

पिटीशन मंजूर किया गया।

मि०

नि० प० 1984 : पटना—150

इशाक खां और अन्य बनाम जब्बार अली खां और अन्य

(Ishaque Khan & others *Vs.* Jaubar Ali Khan & others)

तारीख 2 दिसम्बर, 1983

[न्या० अश्विनी कुमार सिन्हा]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 आदेश 22, नियम 10—जहां विभाजन वाद से प्रारम्भिक डिक्री के पश्चात् प्रतिवादियों में से एक की मृत्यु हो जाती है और वादी द्वारा मृत प्रतिवादी के वारिसों के नाम उचित समय के भीतर

अभिलेख में लाने के लए कोई कार्यवाही नहीं की जाती है, वहां वाद का मृतक के वारिसों के विरुद्ध उपशमन नहीं होता है । ऐसी स्थिति में समुचित प्रक्रिया यह है कि न्यायालय को कार्यवाहियां आस्थगित कर देनी चाहिए और वादी को मृतक के वारिसों सहित सभी पक्षकारों को आबंटन के अन्तिम अवधारण के लिए कार्यवाहियां जारी रखने की स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए ।

प्रतिवादी सं० 1, प्रतिवादी सं०, 3 और प्रतिवादी सं० 2 के प्रतिस्थापित वारिसों में से एक की प्रारम्भिक डिक्री के पश्चात् और अन्तिम डिक्री के मुद्रांकित और हस्ताक्षरित किए जाने से पूर्व मृत्यु हुई थी और अन्तिम डिक्री इन व्यक्तियों के वारिसों की अनुपस्थिति में तैयार की गई थी । अब प्रश्न यह है कि क्या ऐसी परिस्थितियों में, अन्तिम डिक्री अकृत है या पूर्वोक्त मृत प्रतिवादियों के विधिक प्रतिनिधियों की प्रेरणा पर केवल शून्यकरणीय है ।

अभिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई ।

यह सुस्थापित है कि प्रारम्भिक डिक्री के पश्चात् किसी पक्षकार की मृत्यु के कारण कोई उपशमन नहीं होता है क्योंकि पक्षकारों के अधिकार उस डिक्री द्वारा पहले ही अवधारित कर दिए जाते हैं । विधि के ऐसे सुस्थापित सिद्धान्त को देखते हुए, सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 3 और 4 के उपबंध प्रारम्भिक डिक्री के पश्चात् किसी पक्षकार की मृत्यु के मामले में लागू नहीं होते हैं और ऐसे मामले को संहिता के आदेश 22 के नियम 10 के उपबंध लागू होते हैं । (पैरा 4)

यदि संहिता के आदेश 22 के नियम 10 और 11 में अन्तर्विष्ट उपबंधों को एक साथ पढ़ा जाता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि विभाजन के वाद में वादियों में से एक की प्रारम्भिक डिक्री के पश्चात् मृत्यु हो जाती है, तो उसके वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों के नाम अन्तिम डिक्री के तैयार किए जाने की कार्यवाहियां करने वाले आरम्भिक न्यायालय द्वारा अभिलेख में लाए जा सकते हैं, न कि उस अपील न्यायालय द्वारा जिसके समक्ष विचारण न्यायालय द्वारा पारित अन्तिम डिक्री के विरुद्ध अपील फाइल की गई है । अतः प्रतिस्थापन केवल उस विचारण न्यायालय द्वारा ही किया जा सकता है, जिसने अन्तिम डिक्री पारित की थी, न कि अपील न्यायालय द्वारा । (पैरा 5)

यह भी सुस्थापित है कि अन्तिम डिक्री से पूर्व मृत वादियों में से एक के वारिस के नाम के प्रतिस्थापित न किए जाने का प्रभाव डिक्री को अकृत और शून्य बनाना है, क्योंकि मृत व्यक्ति के पक्ष में या उसके विरुद्ध डिक्री पूर्णतः निष्प्रभाव और अविधिमान्य है । (पैरा 6)

यह भी सुस्थापित है कि जहां विभाजन वाद में प्रारम्भिक डिक्री के पश्चात् प्रतिवादियों में से एक की मृत्यु हो जाती है और वादी द्वारा मृत प्रतिवादी के वारिसों के नाम उचित समय के भीतर अभिलेख में लाने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की जाती है, वाद का मृतक के वारिसों के विरुद्ध उपशमन नहीं होता है। ऐसी स्थिति में न्यायालय के लिए समुचित प्रक्रिया यह है कि न्यायालय को कार्यवाहियां आस्थगित कर देनी चाहिए और वादी को मृतक के वारिसों सहित सभी पक्षकारों को आबंटन के अन्तिम अवधारण के लिए कार्यवाहियां जारी रखने की स्वतंत्रता प्रदान करनी चाहिए। (पैरा 7)

पैरा

[1924] 1924 प्रिवी कौंसिल 198 : लक्ष्मी नारायण मारवाड़ी और अन्य **बनाम** बाल मुकुन्द मारवाड़ी और एक अन्य (Lachmi Narayan Marwary and others *Vs.* Balmukund Marwary and another) — 7

का अवलम्ब लिया गया।

[1919] ए० आई० आर० 1919 पटना 430 पू० न्या० : जंगली लाल और अन्य **बनाम** लड्डू राम मारवाड़ी और एक अन्य (Jungli Lal and others *Vs.* Laddu Ram Marwari and another) — 7

से प्रभेद बतलाया गया।

[1962] ए० आई० आर० 1962 पटना 178 : राम सेवक मिश्र और एक अन्य **बनाम** मु० देवराती कुंवर और अन्य (Ram Sewak Mishra and another *Vs.* Mt. Deorati Kuer and others); — 4 और 6

[1952] ए० आई० आर० 1952 असम 54 : अजय कुमार मुखोपाध्याय **बनाम** पुष्पबाला चौधरी (Ajay Kumar Mukhopadhaya *Vs.* Pushpabala Choudhury); — 6

[1942] ए० आई० आर० 1942 पटना 340 : बबुई शांति देवी **बनाम** खोदाई प्रसाद सिंह और अन्य (Babuie Shanti Devi *Vs.* Khodai Prasad Singh and others) — 4

निर्दिष्ट किए गए।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1973 की अपील संख्या 544.

गया के तृतीय अपर जिला न्यायाधीश द्वारा पारित निर्णय और डिक्री के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री रमाकांत वर्मा और कु० आर० चत्था

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री अवध किशोर प्रसाद, नरेन्द्र कुमार अम्बष्ठ, विनोद कुमार सिन्हा और गिरिजानन्द प्रसाद

न्या० अश्विनी कुमार सिन्हा :

प्रतिवादियों (मूल प्रतिवादी सं० 1 और 2 के वारिस) में से कुछ वर्तमान द्वितीय अपील में अपीलार्थी हैं। यह अपील 1961 के विभाजन वाद सं० 3 में पारित अंतिम डिक्री के विरुद्ध है। यद्यपि इस अपील में अंतर्वलित प्रश्न संक्षिप्त और सरल प्रतीत होता है, फिर भी वह बहुत रोचक है। प्रश्न यह है कि क्या प्रारंभिक डिक्री के पारित किये जाने के पश्चात् और अंतिम डिक्री के तैयार किये जाने से पूर्व अभिलेख में मूल प्रतिवादियों, सखावत खां और कबीर खां के वारिसों की अनुपस्थिति से प्रश्नगत अंतिम डिक्री अकृत हो गई थी।

2. प्रतिवादी-अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि सखावत खां और कबीर खां (मूल प्रतिवादी सं० 1 और 3) के वारिसों के नाम और मुसम्मात नाजो (मूल प्रतिवादी सं० 2 बरतू खां के प्रतिस्थापित वारिसों में से एक) का नाम अंतिम डिक्री के तैयार किये जाने से पूर्व अभिलेख में नहीं लाये गये हैं, अतः डिक्री अकृत है और उसे अपास्त किया जाना है तथा अपील न्यायालय द्वारा व्यक्त किया गया इस आशय का मत गलत है कि अंतिम डिक्री अपीलार्थियों की उपस्थिति में तैयार की गई थी और चूंकि अपीलार्थियों ने अंतिम डिक्री के तैयार किये जाने के कार्य में भाग लिया था, अतः अपीलार्थियों द्वारा उसे चुनौती नहीं दी जा सकती थी और वह ऐसे प्रतिवादियों के, जिनकी प्रारंभिक डिक्री पारित किये जाने के पश्चात् मृत्यु हो गई थी, विधिक प्रतिनिधियों की प्रेरणा पर केवल शून्यकरणीय थी।

3. स्वीकृततः सखावत खां (प्रतिवादी सं० 1), कबीर खां (प्रतिवादी सं० 3) और मुसम्मात नाजो (प्रतिवादी स० 2, बरतू खां के प्रतिस्थापित वारिसों में से एक) की प्रारंभिक डिक्री के पश्चात् और अंतिम डिक्री के मुद्रांकित और हस्ताक्षरित किए जाने से पूर्व मृत्यु हुई थी और यह तथ्य भी स्वीकार

किया गया है कि अंतिम डिक्री इन व्यक्तियों के वारिसों की अनुपस्थिति में तैयार की गई थी। अतः प्रश्न यह है कि क्या ऐसी परिस्थितियों में, अंतिम डिक्री अकृत है या पूर्वोक्त मृत प्रतिवादियों के विधिक प्रतिनिधियों की प्रेरणा पर केवल शून्यकरणीय है।

4. यह सुस्थापित है कि प्रारंभिक डिक्री के पश्चात् किसी पक्षकार की मृत्यु के कारण कोई उपशमन नहीं होता है क्योंकि पक्षकारों के अधिकार उस डिक्री द्वारा पहले ही अवधारित कर दिए जाते हैं। विधि के ऐसे सुस्थापित सिद्धांत को देखते हुए, सिविल प्रक्रिया संहिता (जिसे इसमें इसके पश्चात् संहिता कहा गया है) के आदेश 22 के नियम 3 और 4 के उपबंध प्रारंभिक डिक्री के पश्चात् किसी पक्षकार की मृत्यु के मामले में लागू नहीं होते हैं और ऐसे मामले को संहिता के आदेश 22 के नियम 10 के उपबंध लागू होते हैं। इस स्थल पर **बबुई शांति देवी** बनाम **खोदाई प्रसाद सिंह और अन्य**[1] वाले मामले और **राम सेवक और एक अन्य** बनाम **मु० देवराती कुंवर और अन्य**[2] वाले मामले के प्रति निर्देश करना उचित होगा।

5. यदि संहिता के आदेश 22 के नियम 10 और 11 में अंतर्विष्ट उपबंधों को एक साथ पढ़ा जाता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि विभाजन के वाद में वादियों में से एक की प्रारम्भिक डिक्री के पश्चात् मृत्यु हो जाती है, तो उसके वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों के नाम अंतिम डिक्री के तैयार किये जाने की कार्यवाहियां करने वाले आरंभिक न्यायालय द्वारा अभिलेख में लाए जा सकते हैं, न कि उस अपील न्यायालय द्वारा, जिसके समक्ष विचारण न्यायालय द्वारा पारित अंतिम डिक्री के विरुद्ध अपील फाइल की गई है। अतः प्रतिस्थापन केवल उस विचारण न्यायालय द्वारा ही किया जा सकता है, जिसने अंतिम डिक्री पारित की थी, न कि अपील न्यायालय द्वारा।

6. यह भी सुस्थापित है कि अंतिम डिक्री से पूर्व मृत वादियों में से एक के वारिस के नाम के प्रतिस्थापित न किये जाने का प्रभाव डिक्री को अकृत और शून्य बनाना है, क्योंकि मृत व्यक्ति के पक्ष में या उसके विरुद्ध डिक्री पूर्णतः निष्प्रभाव और अविधिमान्य है। इस संदर्भ में **अजय कुमार मुखोपाध्याय** बनाम **पुष्पबाला चौधरी**[3] तथा **राम सेवक मिश्र और एक अन्य** बनाम **मु० देवराती कुंवर और अन्य**[2] वाले मामले के प्रति निर्देश करना उचित होगा।

---

[1] ए० आई० आर० 1942 पटना 340.

[2] ए० आई० आर० 1962 पटना 178.

[3] ए० आई० आर० 1952 असम 54.

7. यह भी सुस्थापित है कि जहां विभाजन वाद में प्रारम्भिक डिक्री के पश्चात् प्रतिवादियों में से एक की मृत्यु हो जाती है और वादी द्वारा मृत प्रतिवादी के वारिसों के नाम उचित समय के भीतर अभिलेख में लाने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की जाती है, वाद का मृतक के वारिसों के विरुद्ध उपशमन नहीं होता है, ऐसी स्थिति में न्यायालय के लिए समुचित प्रक्रिया यह है कि न्यायालय को कार्यवाहियां आस्थगित कर देनी चाहिए और वादी को मृतक के वारिसों सहित सभी पक्षकारों को आबंटन के अंतिम अवधारण के लिए कार्यवाहियां जारी रखने की स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए। इस संदर्भ में **लक्ष्मी नारायण मारवाड़ी और अन्य** बनाम **बाल मुकुन्द मारवाड़ी**[1] वाले मामले के प्रति निर्देश करना उचित होगा। विधि के ऐसे सुस्थापित सिद्धान्तों को देखते हुए, मेरी राय में, निचले अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते समय विधि का पूर्णतः गलत दृष्टिकोण अपनाया है कि ऐसी स्थिति में अंतिम डिक्री को केवल मृत-प्रतिवादी (जिसकी प्रारंभिक डिक्री के पश्चात् मृत्यु हो गई) की विधिक प्रतिनिधियों द्वारा ही, जिनके नाम प्रस्थापित नहीं किए गए थे, चुनौती दी जा सकती है, न कि अन्य प्रतिवादियों द्वारा, जिनका प्रतिनिधित्व डिक्री की संपूर्ण कार्यवाही (प्रारंभिक तथा अंतिम) के दौरान किया गया था। निचले अपील न्यायालय द्वारा यह दृष्टिकोण **जंगली लाल और अन्य** बनाम **लड्डू राम मारवाड़ी और एक अन्य**[2] वाले मामले में किये विनिश्चय के आधार पर अपनाया गया है। मेरी राय में, **जंगली लाल और अन्य वाले मामले**[2] में किए गए विनिश्चय का आधार निचले अपील न्यायालय द्वारा वर्तमान मामले के तथ्यों को लागू नहीं किया जा सकता था। **जंगली लाल वाले मामले**[2] में पूर्ण न्यायपीठ में निर्देशित प्रश्न यह था—"क्या निर्णीत-ऋणी के प्रतिनिधियों के लिए इस आधार पर डिक्री के निष्पादन पर आपत्ति उठाने का अधिकार प्राप्त है कि निर्णीत-ऋणी उस समय मर चुका था, जब उसके विरुद्ध डिक्री की गई और इसलिए डिक्री अकृत थी पूर्ण न्यायपीठ ने प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया। इस प्रकार निचले अपील न्यायालय ने **जंगली लाल और अन्य वाले मामले**[2] का विधि की उस प्रतिपादना के लिए गलत अवलम्ब लिया, जो उसने प्रतिपादित की अर्थात् यह कि अंतिम डिक्री को मृत-प्रतिवादी (जिसकी मृत्यु प्रारम्भिक डिक्री के पश्चात् हुई थी) के विधिक प्रतिनिधियों द्वारा ही, जिनके नाम प्रतिस्थापित नहीं किए गए

---

[1] 1924 प्रिवी कौंसिल 198.

[2] ए० आई० आर० 1919 पटना 430 (पूर्ण न्यायपीठ)

थे, चुनौती दी जा सकती थी। पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष प्रश्न पूर्णतः भिन्न प्रश्न था।

8. परिणामतः अपील सफल रहती है और अपील न्यायालय के निर्णय तथा डिक्री को अपास्त किया जाता है और मामला वापस विचारण न्यायालय को भेजा जाता है। विचारण न्यायालय वादी को मृत प्रतिवादियों के वारिसों के प्रतिस्थापन के लिए कार्यवाही करने के लिए छूट प्रदान करेगा और वादी मृत प्रतिवादी के वारिसों सहित, सभी पक्षकारों को वाद के अंतिम अवधारण के लिए कार्यवाहियां जारी रखने के लिए हकदार होंगे। विचारण न्यायालय, वादी द्वारा प्रतिस्थापन के लिए कार्यवाहियां किए जाने के पश्चात् मृत प्रतिवादियों के वारिसों सहित, सभी पक्षकारों के लिए वाद का अंतिम रूप से अवधारण करेगा और उसके पश्चात् विधि के अनुसार अंतिम डिक्री पारित करेगा।

9. तथापि, मामले की परिस्थितियों को देखते हुए, खर्चे के संबंध में कोई आदेश नहीं किया जा रहा है।

अपील मंजूर की गई।

न०

नि० प० 1984 : पटना—156

नन्द किशोर ओझा बनाम श्रीमती जैलक देवी और अन्य

(Nand Kishore Ojha *Vs.* Smt. Jailach Devi & others)

तारीख 15 फरवरी, 1984

[न्या० अश्विनी कुमार सिन्हा]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, धारा 47 और 54—यदि विभाजन वाद में वादी के पक्ष में डिक्री पारित कर दी जाती है और डिक्री को कार्यान्वित कर दिया जाता है तो प्रतिवादी-अपीलार्थी की यह दलील विधिमान्य नहीं होगी कि प्रश्नगत सम्पत्ति पर वादी-प्रत्यर्थी का कब्जा नहीं था। अन्य सहअंशधारी भूस्वामी वाद में आवश्यक पक्षकार नहीं होते हैं।

वादियों ने दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन कार्यवाही में पारित आदेश के अपास्त किए जाने के लिए और यह घोषित किए जाने के लिए

वाद संस्थित किया कि 5 काठा, 10 धुर क्षेत्र का भूखण्ड सं० 251, 1943 के विभाजन वाद सं० 61 में उनके हिस्से में आया था और यह कि उस पर उनका कब्जा बना हुआ था। वादियों ने वादपत्र की अनुसूची 2 में वर्णित सम्पत्तियों में अपने एक तिहाई शेयर (अंश) के विभाजन के लिए भी प्रार्थना की तथा प्रतिवादियों द्वारा काटे गए आम के पेड़ों की कीमत के रूप में 300 रुपये की राशि का भी दावा किया। विचारण न्यायालय ने वाद आंशिक रूप से डिक्रीत किया। अपील में निचले अपील न्यायालय ने डिक्री की पुष्टि की। पुष्टि के उक्त आदेश से व्यथित होकर, अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत द्वितीय अपील फाइल की है।

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

निचले दोनों न्यायालयों ने समान रूप से यह अभिनिर्धारित किया है कि अन्तिम डिक्री को कार्यान्वित किया गया था और संबंधित पक्षकारों का उनके अपने-अपने तख्तों में आबंटित भूमियों पर कब्जा था। विरोधी प्रतिवादी ने कहीं भी यह पक्षकथन नहीं किया है कि वादियों का प्रश्नगत भूखण्डों पर कब्जा नहीं था या यह कि वादियों को किसी भी पक्षकार द्वारा या पर-व्यक्ति द्वारा भी किसी समय बेकब्जा किया गया था। वस्तुतः, निचले अपील न्यायालय के निर्णय के परिशीलन से यह दर्शित होगा कि पक्षकारों का प्लीडर कमिश्नर द्वारा आवंटित तख्तों के अनुसार भूमियों पर कब्जा हुआ था और यह निष्कर्ष अभिलेख में उपलब्ध दस्तावेजी साक्ष्य पर विस्तारपूर्वक और गहनतापूर्वक विचार किए जाने पर आधारित था। निचले अपील न्यायालय ने यह दर्शित करने के लिए दस्तावेजों पर विचार किया है कि विभाजन वाद के संबंधित पक्षकारों का उन्हें आबंटित तथ्यों के अनुसार उनकी अपने-अपने भूमियों पर कब्जा नहीं था और निचले अपील न्यायालय के निर्णय के परिशीलन से यह भी दर्शित होता है कि पक्षकारों ने अन्तिम डिक्री के अनुसरण में आबंटित अपनी-अपनी भूमियों पर कब्जा करने के पश्चात् अपनी ही रीति से भूमियों को बरतना आरम्भ किया तथा अभिलेख में के साक्ष्य का समुचित विवेचन करने पर, निचले अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि पक्षकारों के कार्य से स्पष्टतः यह दर्शित होता था कि अन्तिम डिक्री द्वारा आबंटित शेयरों को कार्यान्वित किया गया और विभिन्न सह-अंशधारियों का, उन्हें आबंटित तख्तों के अनुसार, अपने-अपने शेयरों पर अलग-अलग कब्जा था। अपने पक्षकथन के समर्थन में, विरोधी प्रतिवादी सं० 6 ने अन्तिम डिक्री के धारित किए जाने के पश्चात् मौखिक विभाजन की कहानी प्रस्तुत की। निचले अपील न्यायालय ने अभिलेख में उपलब्ध साक्ष्य पर समुचित और गहन रूप से विचार करने के पश्चात् यह

निष्कर्ष निकाला कि विरोधी प्रतिवादी यह सिद्ध करने में पूर्णत: असफल रहा है कि तोजी सं० 1111 के सह-अंशधारियों के बीच कोई मौखिक विभाजन हुआ था, जिसमें वादपत्र की अनुसूची 2 में वर्णित भूमियां विरोधी प्रतिवादी के अंश को आबंटित की गई थीं। इस प्रकार, दोनों न्यायालयों के इस एक-जैसे निष्कर्ष को देखते हुए कि अन्तिम डिक्री कार्यान्वित की गई थी और संबंधित पक्षकारों का अन्तिम डिक्री के अनुसार उनके अपने-अपने शेयर की भूमियों पर कब्जा था, यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि वादी विभाजन वाद में अन्तिम डिक्री के अनुसार उन्हें आबंटित प्रश्नगत भूखण्डों से कभी भी बेकब्जा नहीं हुआ। (पैरा 9)

सिविल अपीली अधिकारिता : 1979 की अपील सं० 608.

मोतिहारी के अपर जिला न्यायाधीश द्वारा तारीख 17 जुलाई, 1979 को पारित निर्णय के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... सर्वश्री विश्वनाथ अग्रवाल, टी० एन० मैटिन और ओ० पी० घोष

प्रत्यर्थियों की ओर से ... —

न्या० अश्विनी कुमार सिन्हा :

प्रतिवादी सं० 6 द्वारा यह द्वितीय अपील पुष्टि के निर्णय के विरुद्ध फाइल की गई है। वादियों ने दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन कार्यवाही में पारित आदेश के अपास्त किए जाने के लिए और यह घोषित किए जाने के लिए वाद संस्थित किया कि 5 काठा, 10 धुर क्षेत्र का भूखण्ड सं० 251 1943 के विभाजन वाद सं० 61 में उनके हिस्से में आया था और यह कि उस पर उनका कब्जा बना हुआ था। वादियों ने वादपत्र की अनुसूची 2 में वर्णित सम्पत्तियों में अपने एक तिहाई शेयर (अंश) के विभाजन के लिए भी प्रार्थना की तथा प्रतिवादियों द्वारा काटे गए आम के पेड़ों की कीमत के रूप में 300 रुपये की राशि का भी दावा किया।

2. वादियों का यह पक्षकथन था कि प्रतिवादी सं० 1 के पितामह, विश्वनाथ ओझा तोजी सं० 1111 के स्वामी थे और उन्होंने 16 आना मिल्कियत में से 11 आना हित छविलाल ओझा (प्रतिवादी सं० 6 का पूर्वज) को बेच दिया। उन्होंने उक्त तोजी में से $2\frac{1}{2}$ आना, हित एक विक्रय-विलेख द्वारा वादियों के पूर्वज को बेचा। वादियों ने यह पक्षकथन भी किया कि उक्त विश्वनाथ ओझा ने उक्त तोजी में से एक आना 3 पाई का अंश वादी

सं० 2, 3, 6 और 7 को बेच दिया और 1 आना 3 पाई मिल्कियत का हित अपने पास रखा। वादियों ने यह अभिवचन भी किया कि वर्ष 1943 में वादियों के पूर्वज द्वारा अपने $2\frac{1}{2}$ आना शेयर के विभाजन के लिए विभाजन वाद फाइल किया गया था, जिसमें प्रारम्भिक डिक्री पारित की गई और वाद में वादियों के पूर्वज के $2\frac{1}{2}$ आना शेयर के लिए पृथक् तख्ता बनाते हुए, अन्तिम डिक्री भी पारित की गई और उसके बाद से उस पर उनका कब्जा चला आ रहा था। वादियों ने यह कथन भी किया है कि प्रतिवादी सं० 1 ने उन भूमियों पर कपटपूर्वक दावा किया, जो वादियों के कब्जे में थीं और जिसके कारण वादियों और प्रतिवादी सं० 2 से 6 के बीच दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन कार्यवाही आवश्यक हो गई, जिसमें वादी असफल रहे, जिसके परिणामस्वरूप वर्तमान वाद फाइल किया गया।

2. प्रतिवादी सं० 1 ने लिखित कथन फाइल किया किन्तु वाद का विरोध नहीं किया। प्रतिवादी सं० 2 और 6 भी हाजिर हुए और उन्होंने पृथक् लिखित कथन फाइल किए। अन्य प्रतिवादी न तो हाजिर हुए और न उन्होंने वाद विरोध ही किया। यद्यपि प्रतिवादी सं० 2 और प्रतिवादी सं० 6 ने अलग-अलग लिखित कथन फाइल किए थे, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि वाद का विरोध केवल प्रतिवादी सं० 6 द्वारा किया गया (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'विरोधी प्रतिवादी' कहा गया है)।

3. विरोधी प्रतिवादी, प्रतिवादी सं० 6 के अनुसार, विभाजन-वाद में अन्तिम डिक्री के अनुसार पक्षकारों का कब्जा कभी भी नहीं था और अन्तिम डिक्री के अनुसरण में कब्जे का परिदान नहीं किया गया था क्योंकि, विरोधी प्रतिवादी के अनुसार, अन्तिम डिक्री को कभी भी कार्यान्वित नहीं किया गया था और पक्षकारों का उन भूमियों पर कब्जा बना रहा, जिन पर उनका पहले से ही कब्जा था। प्रतिरक्षा में यह अभिवचन किया गया कि विरोधी प्रतिवादी ने तारीख 28 मई, 1952 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय-विलेख द्वारा भूखण्ड सं० 546 के दक्षिणी ओर 3 काठा भूमि खरीदी और उसे अपने कब्जे में लिया तथा यह कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन कार्यवाही में पारित आदेश वादियों के विरुद्ध ठीक ही पारित किया गया था। विरोधी प्रतिवादी ने यह अभिवचन भी किया कि तोजी अर्थात् तोजी सं० 1111 के स्वामियों के पक्षकार न बनाए जाने के कारण वाद चलने योग्य नहीं था।

4. विचारण न्यायालय ने वाद आंशिक रूप से डिक्रीत किया। वादियों का सम्पूर्ण भूखण्ड सं० 241 तथा भूखण्ड सं० 227 और 273 के आधे भाग

पर तथा भूखण्ड सं० 546 के उत्तरी 2 काठा, 10 धुर क्षेत्र पर हक घोषित किया गया। विचारण न्यायालय ने यह भी घोषित किया कि वादी, प्लीडर कमिश्नर द्वारा प्रतिवादियों को वहां से निकाल (बेदखल) कर उक्त भूमियों का कब्जा वापस लेने के लिए हकदार थे विचारण न्यायालय ने यह आदेश किया कि प्लीडर कमिश्नर भूखण्ड सं० 546, 227 और 273 में वादियों की भूमियों को सीमांकित करेगा। उसने यह भी अभिनिर्धारित किया कि भूखण्ड सं० 546 में दक्षिणी 3 काठा भूमि प्रतिवादी सं० 6 (विरोधी प्रतिवादी) को आवंटित की जाएगी और भूखण्ड स० 227 और 273 का दूसरा भाग प्लीडर कमिश्नर द्वारा विभाजन किए जाने पर प्रतिवादी सं० 2 को आवंटित किया जाएगा। विचारण न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि वादी प्लीडर कमिश्नर की नियुक्ति द्वारा वादपत्र की अनुसूची 2 के शेष भूखण्डों में आधे शेयर के लिए हकदार थे, जबकि भूखण्ड सं० 251, 227, 273 और 546 को छोड़कर शेष भूखण्ड, विभाजन किए जाने पर, प्रतिवादी सं० 1 को आवंटित किए जाएगे। यह निष्कर्ष निकालते हुए, विचारण न्यायालय ने प्रारम्भिक डिक्री के तैयार किए जाने का आदेश किया।

5. विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि 1943 के विभाजन वाद सं० 61 में अन्तिम डिक्री को कार्यान्वित किया गया और संबंधित पक्षकारों का अपनी-अपनी अनुसूचियों वाली भूमियों पर कब्जा था। उसने यह भी अभिनिर्धारित किया कि अन्य सह-अंशधारी भू-स्वामी वाद के आवश्यक पक्षकार नहीं थे।

6. विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री से व्यथित होकर, विरोधी प्रतिवादी (प्रतिवादी सं० 6) ने अपील फाइल की। निचले अपील न्यायालय ने अपील खारिज कर दी और विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री की पुष्टि कर दी तथा यह अभिनिर्धारित किया कि (i) अन्तिम डिक्री को कार्यान्वित किया गया था और पक्षकारों का उनके अपने-अपने तख्ता में आवंटित भूमियों पर कब्जा था; (ii) प्रतिवादी मौखिक विभाजन का मामला साबित करने में असफल रहा; और (iii) अन्य सह-अंशधारी भूस्वामी आवश्यक पक्षकार नहीं थे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इन निष्कर्षों के साथ, विरोधी प्रतिवादी द्वारा फाइल की गई अपील निचले अपील न्यायालय द्वारा खारिज कर दी गई।

7. अतः विरोधी प्रतिवादी (प्रतिवादी सं० 6) ने यह द्वितीय अपील फाइल की है।

8. प्रतिवादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने इस आशय का केवल एक निवेदन किया है कि वह हक, जो वादियों के पक्ष में घोषित किया गया था, विधिमान्य नहीं था ।

9. प्रतिवादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल द्वारा किए गए इस निवेदन में कोई सार नहीं है । दोनों न्यायालयों ने समान रूप से यह अभिनिर्धारित किया है कि अन्तिम डिक्री को कार्यान्वित किया गया था और सबंधित पक्षकारों का उनके अपने-अपने तत्त्वों में आवंटित भूमियों पर कब्जा था, विरोधी प्रतिवादी ने कहीं भी यह पक्षकथन नहीं किया है कि वादियों का प्रश्नगत भूखण्डों पर कब्जा नहीं था या यह कि वादियों को किसी भी पक्षकार द्वारा या परव्यक्ति द्वारा भी किसी समय बेकब्जा किया गया था । वस्तुतः, निचले अपील न्यायालय के निर्णय के परिशीलन से यह दर्शित होगा कि पक्षकारों का प्लीडर कमिश्नर द्वारा आवंटित तख्तों के अनुसार भूमियों पर कब्जा हुआ था और यह निष्कर्ष अभिलेख में उपलब्ध दस्तावेजी साक्ष्य पर विस्तारपूर्वक और गहनतापूर्वक विचार किए जाने पर आधारित था । निचले अपील न्यायालय ने यह दर्शित करने के लिए दस्तावेजों पर विचार किया है कि विभाजन वाद के संबंधित पक्षकारों का उन्हें आवंटित तख्तों के अनुसार उनकी अपने-अपने भूमियों पर कब्जा नहीं था और निचले अपील न्यायालय के निर्णय के परिशीलन से यह भी दर्शित होता है कि पक्षकारों ने अन्तिम डिक्री के अनुसरण में आवंटित अपनी-अपनी भूमियों पर कब्जा करने के पश्चात् अपनी ही रीति से भूमियों को बरतना आरंभ किया तथा अभिलेख में के साक्ष्य का समुचित विवेचन करने पर निचले अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि पक्षकारों के कार्य से स्पष्टतः यह दर्शित होता था कि अन्तिम डिक्री द्वारा आबंटित शेयरों को कार्यान्वित किया गया और विभिन्न सहअंशधारियों का, उन्हें आवंटित तख्तों के अनुसार, अपने-अपने शेयरों पर अलग-अलग कब्जा था । अपने पक्षकथन के समर्थन में, विरोधी प्रतिवादी सं० 6 ने अन्तिम डिक्री के पारित किए जाने के पश्चात् मौखिक विभाजन की कहानी प्रस्तुत की । निचले अपील न्यायालय ने अभिलेख में उपलब्ध साक्ष्य पर समुचित और गहन रूप से विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि विरोधी प्रतिवादी यह सिद्ध करने में पूर्णतः असफल रहा है कि तोजी सं० 1111 के सह-अंशधारियों के बीच कोई मौखिक विभाजन हुआ था, जिसमें वादपत्र की अनुसूची 2 में वर्णित भूमियां विरोधी प्रतिवादी के अंश को आवंटित की गई थीं । इस प्रकार, दोनों न्यायालयों के इस एक जैसे निष्कर्ष को देखते हुए कि अन्तिम डिक्री कार्यान्वित की गई थी और संबंधित पक्षकारों का अन्तिम डिक्री के अनुसार उनके अपने-अपने शेयर की भूमियों पर कब्जा था,

यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि वादी विभाजन वाद में अन्तिम डिक्री के अनुसार उन्हें आवंटित प्रश्नगत भूखण्डों से कभी भी बेकब्जा नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि प्रतिवादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल के निवेदन में कोई बल नहीं है।

10. मेरे समक्ष और कोई मुद्दा नहीं उठाया गया है।

11. परिणामतः, यह अपील खारिज की जाती है, किन्तु मामले की परिस्थितियों को देखते हुए खर्चे के संबंध में कोई आदेश नहीं किया जा रहा है।

अपील खारिज की गई।

न०

नि० प० 1984 : पटना—162

परितोष कुमार पाल बनाम बिहार राज्य और अन्य

(Paritosh Kumar Pal *Vs.* The State of Bihar and others)

तारीख 15 फरवरी, 1984

[मु० न्या० एस० एस० संधानवालिया, न्या० ललित मोहन शर्मा और एस० के० झा]

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947—धारा 10(1)(घ) सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 19 और 20 – पिटशनर को कंपनी द्वारा मैडिकल-कम-सेल्स रिप्रिजेंटेटिव के रूप में नियुक्त किया जाना और उसको बिहार राज्य में कार्य करने के लिए तैनात किया जाना – कम्पनी का मुख्यालय कलकत्ता में होना—कम्पनी द्वारा पिटीशनर की सेवाओं को समाप्त किया जाना—पिटीशनर द्वारा कम्पनी से अपनी बहाली और अन्य अनुतोष प्राप्त करने में असफल होने पर औद्योगिक विवाद के मामले का बिहार राज्य में उद्भूत होना—बिहार सरकार द्वारा औद्योगिक विवाद के बारे में समाधान करने पर अधिकरण को निर्देश किया जाना—अधिकरण द्वारा पिटीशनर के विरुद्ध इस आधार पर अधिनिर्णय देना कि कम्पनी का मुख्यालय कलकत्ता में था इसलिए बिहार सरकार निर्देश करने के लिए समुचित सरकार नहीं थी—पिटीशनर द्वारा अपने नियोजन के स्थान के आधार पर बिहार सरकार को समुचित सरकार

होने का अभिवाक् किया जाना—यदि किसी कर्मकार की सेवाएं समाप्त की जाती हैं और वह कर्मकार औद्योगिक विवाद अपने नियोजन के स्थान पर उठाता है तो उसका नियोजन का स्थान उस औद्योगिक विवाद, जो कि ऐसे नियोजन की समाप्ति से उद्भूत होते हैं, के मामले में अधिकरण की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता अवधारित करेगा और उसके नियोजन के स्थान की राज्य सरकार औद्योगिक विवाद के बारे में अधिकरण को निर्देश करने के लिए समुचित सरकार होगी।

प्रत्यर्थी सं० 3 मेक लेबोरेट्रीज की औषधियों के लिए पश्चिमी भारत में एकमात्र वितरक है, जिसका प्रधान कार्यालय कलकत्ता में है। रिट पिटीशनर को नियुक्ति-पत्र (उपा० 1) के द्वारा 6 जुलाई, 1962 से उपर्युक्त प्रत्यर्थी के मैडिकल-कम-सेलस रिप्रिजेंटेटिव्ज (औषधि और विक्रय प्रतिनिधि) के रूप में नियुक्त किया गया था। 18 दिसम्बर, 1968 को एक प्रश्चात्वर्ती संसूचना द्वारा प्रत्यर्थी कम्पनी ने रिट पिटीशनर को केवल पटना में ही कार्य करने का अनुदेश दिया था और बिहार राज्य में आन्तरिक केन्द्रों पर जाने के लिए नहीं कहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि नियोजक कम्पनी और रिट पिटीशनर के बीच संदाय और कमीशन की दर के बारे में कुछ विवाद हुआ। 9 जनवरी, 1969 के पत्र द्वारा प्रत्यर्थी नियोजक ने पिटीशनर को आरोप-पत्र दिया। उसके पश्चात् उपा० 5 द्वारा 1 मार्च, 1969 को उसकी सेवाएं समाप्त कर दी थीं। उससे व्यथित होकर रिट पिटीशनर ने बिहार राज्य में एक औद्योगिक विवाद उठाया जिसमें सुलाह कार्यवाहियां असफल होने के कारण प्रत्यर्थी राज्य ने औद्योगिक अधिकरण द्वारा अधिनिर्णय के लिए निम्नलिखित मामला निर्देशित किया : (1) क्या पिटीशनर की सेवाओं की समाप्ति उचित और न्यायोचित है ? यदि नहीं, तो क्या वह अपनी बहाली या किसी अन्य अनुतोष का हकदार है ? (2) क्या वर्ष 1968-69 के लिए प्रबन्ध-मण्डल पिटीशनर को विक्रय पर कमीशन का संदाय न करने में न्यायोचित था ? यदि नहीं तो पिटीशनर किसी अनुतोष और/या प्रतिकर का हकदार है ? औद्योगिक अधिकरण के समक्ष निर्देश को चलाए जाने योग्य होने के प्रश्न पर प्रत्यर्थी प्रबन्धमण्डल द्वारा दो आरंभिक मुद्दे उठाए गए। अधिकरण ने यह वांछनीय समझा और विशेषतः इस तथ्य की दृष्टि से यह वांछनीय समझा गया कि विरोध करने वाले इस प्रस्ताव से अभिव्यक्त रूप से सहमत थे कि ये मुद्दे जो अधिकरण की अधिकारिता के प्रश्न पर अन्तर्वलित थे, पहले विनिश्चित किए जाने चाहिएं और पक्षकारों को अन्य बातों के साथ-साथ निम्नलिखित मुद्दों पर अपने साक्ष्य पेश करने के लिए निर्देश दिया जाना चाहिए : (क) क्या सरकार द्वारा निर्देश असक्षम है क्योंकि

प्रबन्धमण्डल अपना कारबार कलकत्ता से चला रहा था और उसकी स्थापना कलकत्ता में है ? पक्षकारों ने उपर्युक्त मुद्दे पर साक्ष्य पेश किया और उससे अधिकरण ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला : "प्रस्तुत मामले में बिहार में कोई अलग स्थापना नहीं है। मैसर्स ए० के० डिस्ट्रीब्यूटर्स की स्थापना केवल कलकत्ता में है, जहां से कम्पनी बिहार, बंगाल, आसाम और उड़ीसा राज्यों में अपना कारबार चला रही है। यद्यपि सम्बद्ध कर्मकार बिहार में कार्यरत था और उसकी सेवाएं समाप्त की गई थीं किन्तु सम्बद्ध कर्मकार पिटीशनर मैसर्स ए० के० डिस्ट्रीब्यूटर्स प्राइवेट लिमिटेड के कलकत्ता कार्यालय के निदेश और पर्यवेक्षण के अधीन कारबार चला रहा था।" उपर्युक्त आधार वाक्य के आधार पर और निर्णय विधि को निर्देशित करने के पश्चात् और विशेषतः बिहार स्टेट सेल्स रिप्रिजेंटेटिव यूनियन वाले उपर्युक्त मामले में खण्ड न्यायपीठ के हाल ही के निर्णय में अधिकरण इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि बिहार राज्य सरकार औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 10(1)(घ) के अर्थान्तर्गत निर्देश करने के लिए समुचित सरकार नहीं थी और चूंकि वह विधितः अविधिमान्य होने के कारण स्वयं अधिकरण को उसको निर्देशित किया गया, औद्योगिक विवाद को विनिश्चित करने की कोई अधिकारिता नहीं थी। अनिवार्यतः इस प्रकार निर्देश से इनकार किया गया था। उससे व्यथित होकर प्रस्तुत रिट पिटीशन किया गया था। जब मामला खण्ड न्यायपीठ के समक्ष सुनवाई के लिए आया तो इसे सुनवाई के लिए स्पष्टतः 3 न्यायाधीशों की खण्ड न्यायपीठ के समक्ष पेश करने का निदेश दिया गया था क्योंकि इसमें महत्त्वपूर्ण विधि का प्रश्न अन्तर्वलित था। इस रिट आवेदन में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि औद्योगिक विवाद के बारे में अधिकरण को निर्देश करने के लिए कर्मकार के नियोजन के स्थान की राज्य सरकार समुचित सरकार होगी और क्या उसके नियोजन के स्थान से अधिकरण की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता अवधारित की जाएगी ?

अभिनिर्धारित—रिट आवेदन मंजूर किया गया।

मुख्य विवाद्यक पर विरोधी दलीलों की परीक्षा करने से पूर्व इस बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि औद्योगिक विवाद अधिनियम के उपबंध राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के विवाद्यक पर पूर्णतः शांत हैं। अधिनियम में वाद हेतुक को निपटाने के बारे में कोई उल्लेख नहीं है और न ही इस बात की ओर संकेत करता है कि समुचित सरकार और अधिकरण या उसके अधीन गठित श्रम न्यायालय को अधिकारिता प्रदत्त करने के लिए कौन-से कारण होंगे। औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 2(ट)

की ओर विद्वान् काउन्सेल द्वारा निर्देश किया गया था और इसके अतिरिक्त अधिनियम के कुछ अन्य उपबंधों की ओर भी निर्देश किया गया था किन्तु उनके स्पष्ट पढ़ने से भी इस बात का संकेत मिलेगा कि वे निश्चायक होने के अलावा वे विवाद्यक पर मुद्दे के लिए सुसंगत भी प्रतीत नहीं होते हैं। वस्तुतः पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेल ने अन्ततः वास्तविक रूप से इस बारे में सहमति प्रकट की कि अधिनियम के उपबन्ध इस बुनियादी प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं डालते हैं। ऐसे ही यह सुस्थापित प्रतीत होता है कि अधिनियम के अधीन कार्यवाहियों को सिविल प्रक्रिया संहिता लागू नहीं की गई है। इसके परिणामस्वरूप अधिकारिता के बारे में संहिता के विनिर्दिष्ट उपबन्ध विवाद्यक को यथार्थ भाव में शासित नहीं करते हैं। अतः सिविल न्यायालयों को अधिकारिता के विषय पर सुसंगत धाराओं के सूक्ष्म अर्थ-भेद का संक्षिप्त अर्थान्वयन करने की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि यह समान रूप से प्राथमिक प्रश्न है कि यद्यपि संहिता की विनिर्दिष्ट धारा की भाषा भी लागू नहीं होती है फिर भी सिविल न्यायालय की अधिकारिता के बारे में सामान्य सिद्धांत और अधिकथित कसौटियां विवाद्यक से पूर्णतः पृथक नहीं हैं। यह सिद्धांत और आबद्धकर नजीरों पर ऐसा प्रतीत होता है। अतः अंतिम परिणाम यह प्रतीत होता है कि यद्यपि अधिकारिता के मुद्दे पर संहिता की धाराएं अपनी तकनीकी कठिनाई के बल से लागू नहीं होती हैं फिर भी उनके अभाव में व्यापक रूप से उनमें अधिकथित सामान्य सिद्धांत निस्संदेह रूप से सुसंगत होंगे। न्यायालय को ऐसा प्रतीत होता है कि इस पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष बृहत्तर प्रश्न यद्यपि अनिर्णीत विषय नहीं है और इसका अन्तिम न्यायालय और उच्च न्यायालयों दोनों की नजीरों के साथ सादृश्य द्वारा शासित होता है। यद्यपि उनकी प्रकृति कुछ असंगत है। इस प्रकार सिद्धांतों के आधार पर नए सिरे से विवाद्यक की परीक्षा करना व्यर्थ होगा और इसलिए यह अवधारित करना उपयुक्त होगा कि क्या प्रश्न अन्तिम न्यायालय के विनिश्चय द्वारा शासित होता है। यदि वह सीधे रूप से नहीं बल्कि आवश्यक विवक्षा द्वारा ऐसे हैं? यह नियोजन के क्षेत्र के अन्तर्गत है कि सेवा समाप्ति का आदेश प्रवृत्त होता है और कर्मकार कर्मकार के रूप में विरत हो जाता है और पद को धारण करने का अपना अधिकार खो देता है और उसके लिए अपना वेतन प्राप्त करता। इसलिए उस सिद्धांत के आधार पर जहां पर आक्षेपित आदेश प्रवृत्त होता है, कर्मकार के नियोजन का स्थान प्रत्यक्षतः महत्त्वपूर्ण है। क्या यह कहा जा सकता है कि कर्मकार की सेवा समाप्ति का आदेश अपने नियोजन के क्षेत्र के अन्तर्गत लागू नहीं होता है? अतः उत्तर उस अधिकरण के पक्ष में होगा जहां कार्य के स्थान या नियोजन के स्थान पर राज्यक्षेत्रीय

अधिकारिता होती है। औद्योगिक विवाद से सम्बद्ध द्वितीय सिद्धांत का राज्य की राज्यक्षेत्रीयता के बीच सम्बन्ध है इसलिए कर्मकार के नियोजन का स्थान अकेला महत्त्वपूर्ण है। जब एक बार इस दृढ़ निष्कर्ष पर पहुंच जाता है कि कर्मकार विनिर्दिष्ट राज्य क्षेत्र या राज्य के अन्तर्गत नियोजित था तो उसमें उसकी सेवाओं की समाप्ति के बीच स्पष्टतः ऐसे राज्यक्षेत्रीय या ऐसे राज्य के बीच सीधा सम्बन्ध है। इसके परिणामस्वरूप इस सम्बन्ध की कसौटी के आधार पर भी कर्मकार के नियोजन के स्थान का सीधा सम्बन्ध उस राज्य-क्षेत्रीयता से होता है जहां पर ऐसे नियोजन को समाप्त किया जाता है। इसके विपरीत जहां औद्योगिक विवाद किसी कर्मकार के नियोजन की समाप्ति से सम्बद्ध होता है तो क्या यह कहा जा सकता है कि ऐसे नियोजन का स्थान राज्य क्षेत्रीयता और विवाद के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होगा? तीसरे सिद्धांत पर विचार करते हुए न्यायालय को ऐसा प्रतीत होता है कि आबद्धकर नजीर द्वारा यह सुस्थापित है कि सिविल न्यायालयों की अधिकारिता की सुविख्यात कसौटी इस मुद्दे पर अधिनियम के किसी उपबन्ध के अभाव में ऐसी स्थिति को लागू होगी। अब उपर्युक्त को लागू करते हुए कोई भी काल्पनिक रूप से यह धारणा कर सकता है कि कोई औद्योगिक विवाद अधिनियम प्रवृत्त नहीं है या यह कि कर्मकार ने अपनी सेवाओं की सदोष समाप्ति के लिए साधारण सिविल उपचार को अपनाने के लिए निबन्धन चुने हैं (जहां कि यह विधि में इस प्रकार अनुज्ञेय है) और उसके लिए नुकसानी के लिए वाद किया है। प्रत्यक्षतः ऐसी स्थिति में राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता निस्सदेह उस न्यायालय की होगी जिसके राज्यक्षेत्र में कर्मकार नियोजित था और जैसा कि प्रस्तुत मामले में यह पटना होगा और हर हालत में बिहार राज्य में होगी। इस संदर्भ में सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 19 की ओर निर्देश किया जा सकता है जिसमें प्रतिकर, व्यक्तियों या जंगम के लिए दोषों हेतु वाद की राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता के लिए उपबन्ध किया गया है। विशेषतः सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 20 के खण्ड (ग) में यह उपबन्ध किया गया है कि वाद उस न्यायालय में संस्थित किया जाएगा जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर वाद हेतुक पूर्णतः या भागतः पैदा होता है। सर्वमान्य सिद्धांत यह है कि वह राज्यक्षेत्रीय जिसमें कर्मचारी की सेवाएं सदोष रूप से समाप्त की गई थीं, ऐसी राज्य क्षेत्रीयता होगी जहां पर वाद हेतुक सारवान रूप से उद्भूत होता है और ऐसे मामले में यदि पूर्णतः नहीं किन्तु भागतः वाद हेतुक इस प्रकार उत्पन्न होता है। इसकी यथार्थ कसौटी पर भी कर्मकार के नियोजन का स्थान तत्काल सिविल न्यायालयों को अधिकारिता दे देगा और अधिनियम के अधीन अधिकरणों और श्रम न्यायालयों को भी अधिकारिता प्रदान करेगा। द्वितीयतः विद्वान् काउन्सेल

ने यह आधार लिया कि अधिनियम के प्रयोजनों के लिए यह अपर्याप्त है कि औद्योगिक विवाद का एक भाग एक राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत उत्पन्न होता है और अधिकारिता प्रदत्त करने के लिए ऐसे विवाद को पूर्णतः या सारवान रूप से उक्त राज्य क्षेत्र में उद्भूत होना चाहिए। कर्मकार की सेवाओं की समाप्ति के सीमित संदर्भ में इस संविवाद पर विचार करना अनावश्यक प्रतीत होता है। यदि तर्क के लिए (इस प्रकार अभिनिर्धारित करने के बिना) पूर्णतः यदि यह उपधारणा भी कर ली जाए कि शासित करने की कसौटी यह है कि क्या विवाद सारवान रूप से वहां उद्भूत होता है, न्यायालय को ऐसा प्रतीत होता है कि किसी कर्मकार के नियोजन की समाप्ति के मामले में सारवान रूप से उसके सम्बन्ध में औद्योगिक विवाद यदि पूर्णतः नहीं उस राज्य क्षेत्र में उद्भूत होता है जिसमें कर्मकार को अपने नियोजन की हानि होती है। वस्तुतः मामले की सीमाएं नियोजन की समाप्ति है, यह सारवान रूप से और प्राथमिक रूप से ऐसे नियोजन के स्थान पर उद्भूत होता है जहां यह प्रवृत्त होगा। इसके परिणामस्वरूप कम से कम औद्योगिक विवाद कर्मकार की सेवाओं की समाप्ति से उत्पन्न होता है जो कि उस नियोजन की राज्यक्षेत्र या स्थान के अन्तर्गत सारवान रूप से या पूर्णतः उद्भूत होता है और इसलिए उस पर अधिकारिता रखने वाले औद्योगिक अधिकरण को राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता प्रदत्त करता है। स्थान का महत्त्व, जहां कर्मकार अपना वेतन प्राप्त कर रहा था, सेवा समाप्ति की कार्य प्रणाली या पद्धति निश्चायक नहीं हो सकती क्योंकि मामले का केन्द्र बिन्दु वह नहीं है जहां और कैसे कर्मकार अपना वेतन प्राप्त करता है किन्तु उसे वह किसके लिए प्राप्त करता है। स्पष्टतः उत्तर यह है कि वह नियोजन के स्थान पर कार्यरत होने के कारण इसका हकदार है और यदि सेवाओं की समाप्ति के परिणामस्वरूप इससे उसे मजदूरी की हानि होती है तो उससे औद्योगिक विवाद नहीं हो सकता किन्तु वह संयोगवश कहीं और न होकर स्वयं कार्य के स्थान पर ही उद्भूत हुआ अभिनिर्धारित होना चाहिए। अंततः उपर्युक्त दलीलों के अभिप्राय से विद्वान् काउन्सेल ने यह आधार लिया कि अधिनियम के अधीन अधिकारिता अनन्य रूप से एक ही राज्य के अन्तर्गत होनी चाहिए और विभिन्न राज्यों में समवर्ती अधिकारिता नहीं हो सकती। न्यायालय इस आधार को मानने में असमर्थ है। समवर्ती अधिकारिता की संकल्पना का मान्य न होना सामान्यतया प्राप्त है और संहिता के अधीन विधि द्वारा भी और अन्य अधिकारिता के अधीन भी उसको मान्यता दी गई है। न्यायालय का यह दृढ़ मत है कि जैसे सिविल अधिकारिता में उसी प्रकार से अधिनियम के अधीन भी समवर्ती अधिकारिता के मामले में हो सकता है जहां पक्षकारों को अलग-अलग

न्यायालयों को चुनने का विकल्प रहता है। न्यायालय यह देखने में असमर्थ है कि समवर्ती अधिकारिता, जो कि सिविल अधिकारिता का मामला है, आवश्यक रूप से अधिनियम के अधीन औद्योगिक विवादों के बारे में अनियमित भ्रामक परिणाम उत्पन्न करेंगे। न्यायालय उनसे निकाले गए निर्णयों को त्रुटिपूर्ण या जटिल नहीं पाता है और इसलिए दृढ़ रूप से यह अभिनिर्धारित करता है कि यदि सिविल न्यायालयों के लिए राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता का अवधारण करने के लिए अधिकथित सामान्य सिद्धांत लागू किए जाते हैं तो समवर्ती अधिकारिता की सहवर्ती अनिवार्यतः हो जाएगी और वस्तुतः पक्षकारों को अपने-अपने न्यायालय को चुनने का विकल्प होगा। इस मुद्दे पर पूर्ववर्ती जो चर्चा की गई है उससे अंततः विश्लेषण करने पर यह प्रतीत होता है कि यहां पर सम्भवतः दो मत सम्भव हैं। इसके परिणामस्वरूप लाभप्रद सामाजिक विधान के निर्वचन और कानूनी अर्थान्वयन के लिए सही दृष्टिकोण ही लागू किया जाता है। इस बारे में कोई संदेह प्रतीत नहीं होता है कि औद्योगिक विवाद अधिनियम एक सामाजिक विधान है जो कि उसमें यथापरिभाषित रूप से कर्मकारों के लाभप्रद व्यापक हित को ध्यान में रखते हुए अधिनियमित किया गया था। अतः भावी व्यापक हित जहां या तो युक्तियुक्त रूप से निर्वचन खुला है इसको सम्भवतः ऐसी रीति में अर्थान्वयन किया जाना चाहिए ताकि अधिनियम के उद्देश्य और प्रयोजन अग्रसर हो सकें और न कि वह विफल हो जाएं। प्रत्यर्थी-उद्योग के विद्वान् काउन्सेल ने ऐसी स्थिति उत्पन्न की है जिससे न्यायालय को उनका यह तर्क अति तकनीकी प्रतीत होता है कि अधिनियम की उद्देशिका में किसी भी रूप में यह घोषित नहीं किया गया था कि यह लाभप्रद कानून है। जहां तक न्यायालय को जानकारी है किसी कानून की उद्देशिका न तो इस बात के लिए आशयित होती है और न ही उसके निबन्धनों में यह घोषणा की जाती है कि यह सामाजिक उत्थान के लिए है या लाभप्रद विधान है। कानून की व्यापक स्कीम से स्वयं न्यायालय को मूल्यांकन करने के लिए मामले में या अधिनियमिति के उद्देश्यों और कारणों से उन चीजों का पता लगाया जाता है जिनसे उनके उपचार उपलब्ध होते हैं। रूढ़िगत प्रारूपकारिता सदैव उद्देशिका को कुछ हद तक तथ्यात्मक और संक्षिप्त बनाती है और वह किसी भी प्रकार से विस्तृत नहीं होती है। न्यायालय दृढ़ता से यह अभिनिर्धारित करता है कि औद्योगिक कार्यकर्ताओं के व्यापक हित में अधिनियम को लाभप्रद सामाजिक विधान माना जाना चाहिए। उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए वास्तविकता, जिसका सामना किया जाना है वह यह है कि क्या निर्धन कर्मकार का नियोजन का स्थान अधिकारिता को अवधारित करने के लिए आवश्यक होना चाहिए या अनन्य रूप

से पंजीकृत प्रधान कार्यालय या नियोजक उद्योग के विभिन्न कारबार स्थापनाएं। यह बिल्कुल ठीक है कि इसके विपरीत ऐसा कठोर अर्थान्वियन उस कर्मकार को, जिसकी सेवाएं समाप्त की गई हैं, उद्योग के दूरदराज के प्रधान कार्यालय से उपचार मांगना होगा। यद्यपि विवाद उसके कार्य के स्थान पर उसके घर के पास ही उद्भूत होता है। जैसा कि प्रस्तुत मामले में नियोजक उद्योग कलकत्ता में अवस्थित है और कर्मकार पटना में। किन्तु यदि मामले को तर्कसंगत रूप से देखा जाए तो ऐसे मामले की कल्पना की जा सकती है जहां पर कर्मकार दक्षिणी केरल में था। तो क्या इससे उसे अपना उपचार पाने के लिए उस स्थान पर नहीं जहां वह वास्तव में नियोजित था और कार्य कर रहा था किन्तु आवश्यक रूप से उस स्थान पर जहां पर उद्योग का प्रधान कार्यालय स्थित था और जैसा कि प्रस्तुत मामले में कलकत्ता में था। न्यायालय इस बारे में पूर्णतः आश्वस्त है कि यहां पर नियोजन के स्थान के दृढ़ आधार पर कर्मकार के पक्ष में होना चाहिए न कि उस उद्योग के पंजीकृत कार्यालय की तकनीक पर जोकि बहुराष्ट्रीय कम्पनी है। इस प्रकार अंतिम रूप से समापन करते हुए सिद्धांतों और नजीरों दोनों के आधार पर प्रारम्भ में दिए गए प्रश्न का उत्तर सकारात्मक रूप से दिया जाता है और यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि कर्मकार के नियोजन का स्थान औद्योगिक विवाद जो कि ऐसे नियोजन की समाप्ति से उद्भूत होते हैं, के मामलों में अधिकरण की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता अवधारित करेगा। यदि औद्योगिक विवाद किसी राज्य की राज्य क्षेत्रीयता के अन्तर्गत उद्भूत होता है तो उसकी सरकार को ही औद्योगिक विवाद अधिनियम के अधीन निर्देश करने के लिए समुचित सरकार के रूप में अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए। (पैरा 8, 9, 10, 13, 14, 15, 16, 19, 21, 24, 25 और 30)

		पैरा
[1979]	[1979] 3 उम० नि० प० 274=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1594 : मोती राम **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य (Moti Ram *Vs.* State of Madhya Pradesh);	24
[1967]	ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1040 : वर्कमैन आफ श्री रंगा विलास मोटर्स (प्रा०) लि० **बनाम** श्री रंगा विलास मोटर्स (प्रा०) लिमिटेड [Workmen of Shri Ranga Vilas Motors (P) Ltd. *Vs.* Sri Ranga Vilas Motors (P) Ltd.];	5,30

[1955] ए० आई० आर० 1955 मुम्बई 463 : लालभाई त्रिकुमलाल मिल्स लिमिटेड **बनाम** धानुभाई मोतीलाल विन और अन्य (Lalbhai Tricumlal Mills Ltd. *Vs.* Dhanubhai Motilal Vin and others) 11, 30

का अवलम्ब लिया गया।

[1978] 1978 लेबर एण्ड इन्डस्ट्रियल केसिज 430 : मैसर्स लिटिल सन्स एण्ड कम्पनी **बनाम** अमरनाथ (M/s. Little Sons & Co. *Vs.* Amar Nath); 22

[1968] ए० आई० आर० 1968 पंजाब 514 : एन० टी० कम्पनी एम्प्लाईज यूनियन **बनाम** मनोहर सिंह (N. T. Co. Employees Union *Vs.* Manohar Singh); 22

[1962] (1962) 2 लेबर लॉ जर्नल 294 : राम किशन **बनाम** शम्भू नाथ वैध (Ram Kishan *Vs.* Shambhu Nath Vaid); 22

[1960] ए० आई० आर० 1960 उड़ीसा 205 : सुपरिंटैंडिंग इंजीनियर **बनाम** कर्मकार (Superintending Engineer *Vs.* Workmen) 22

से असहमति प्रकट की गई।

[1967] ए० आई० आर० 1967 मध्य प्रदेश 114 : एसोसिऐशन आफ मैडिकल रिप्रिजैंटेटिव्ज (एम० एण्ड वी०) **बनाम** औद्योगिक अधिकरण, मध्य प्रदेश, इन्दौर और अन्य [Association of Medical Representatives (M & V) *Vs.* The Industrial Tribunal, M. P. Indore & others] 6

उलट दिया गया।

[1979] 1979 एल० आई० सी० 36 : एमराल्ड वैली एस्टेट्स **बनाम** एस्टेट्स एण्ड स्टाफ यूनियन, साउथ इंडिया (Emerald Valley Estates *Vs.* Estates & Staff's Union South India); 21

[1975] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1737 : हिन्दुस्तान एरोनाटिक्स **बनाम** कर्मकार (Hindustan Aeronautics *Vs.* The Workmen); 21

[1974] (1974) एल० एल० जे० 9 : जे० एण्ड जे० डिशने डिस्ट्रीब्यूटर्स **बनाम** केरल राज्य (J. & J. Dechane Distributors *Vs.* State of Kerala); 22

1973] (1973) लेबर एण्ड इन्डस्ट्रियल केसिज 991 : एस० एन० सुनदरसन एण्ड कम्पनी **बनाम** पीठासीन अधिकारी, श्रम न्यायालय सं० 1 (S. N. Sunderson & Co. *Vs.* Presiding Officer Labour Court No. 1); 22

[1969] 1969 का सिविल रिट अधिकारिता मामला सं०933, जिसका विनिश्चय 24-10-1972 को किया गया : बिहार स्टेट सेल्स रिप्रिजैंटेटिव यूनियन **बनाम** श्री कृष्ण परसाद (Bihar State Sales Representative Union *Vs.* Shri Krishan Parshad); 1

[1962] (1962) 1 लेबर लॉ जर्नल 409 : इण्डियन केबल कम्पनी लि० **बनाम** उसके कर्मकार (Indian Cable Co. Ltd. *Vs.* Its Workmen); 12

[1959] ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 676 : मैसर्स लिप्टन लि० **बनाम** उनके कर्मचारी (M/s. Lipton Ltd. *Vs.* Their Employees) 21

निर्दिष्ट किए गए।

प्रारम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1974 का सिविल रिट अधिकारिता मामला संख्या 179.

संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन आवेदन।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री डी० एन० पाण्डे और शान्तनु कुमार

प्रत्यर्थी संख्या 3 की ओर से ... सर्वश्री तारा किशोर प्रसाद, शंकर कुमार, बिजय नन्दन सहाय और जय प्रकाश सिन्हा

राज्य की ओर से ... श्री राम बालक महतो, अपर महाधिवक्ता, एस० के० पी० सिन्हा, कनिष्ठ काउन्सेल के साथ

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायाधीश एस० एस० संधानवालिया ने दिया।

मु० न्या० संधानवालिया :

क्या किसी कर्मकार के नियोजन का स्थान औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 के अधीन उसकी सेवाओं की समाप्ति से उद्भूत विवाद को ग्रहण करने के लिए अधिकरण की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के लिए उसकी सुनवाई का अवधारण करने के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिसके परिणामस्वरूप पूर्ण न्यायपीठ को निर्देश किया गया है। इसी प्रकार **बिहार स्टेट सेल्स रिप्रिजैंटेटिव यूनियन** वनाम **श्री कृष्ण परसाद**[1] वाले मामले में विनिश्चय आधार की यथार्थता भी विवाद्यक है।

2. सुस्पष्ट रूप से उपर्युक्त विवाद्यक एक प्रारम्भिक विधिक प्रकृति का और इसके परिणामस्वरूप उसको उद्भूत करने वाले तथ्यों का उल्लेख संक्षेप में किया जाना चाहिए। मैसर्स ए० के० डिस्ट्रीब्यूटर्स प्राइवेट लिमिटेड (प्रत्यर्थी सं० 3) मेक लैब्रोरेट्रीज की औषधियों के लिए पश्चिमी भारत में एकमात्र वितरक है जिसका प्रधान कार्यालय, कलकत्ता में है। श्री पी० के० पाल, रिट पिटीशनर को नियुक्ति-पत्र (उपाबंध-1) के द्वारा 6 जुलाई, 1962 से उपर्युक्त प्रत्यर्थी के मेडिकल-कम-सेल्स रिप्रिजैंटेटिव्स (औषधि और विक्रय प्रतिनिधि) के रूप में नियुक्त किया गया था। 18 दिसम्बर, 1968 की एक पश्चात्वर्ती संसूचना द्वारा प्रत्यर्थी कम्पनी ने रिट पिटीशनर श्री पी० के० पाल को केवल पटना में ही कार्य करने का अनुदेश दिया था और बिहार राज्य में आन्तरिक केन्द्रों पर जाने के लिए नहीं कहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि नियोजक कम्पनी और रिट पिटीशनर के बीच संदाय और कमीशन की दर के बारे में कुछ विवाद हुआ। 9 जनवरी, 1969 के पत्र द्वारा प्रत्यर्थी नियोजक ने श्री पी० के० पाल को आरोप-पत्र दिया। उसके पश्चात् उपाबंध 5 द्वारा 1 मार्च, 1969 को उसकी सेवाएं समाप्त कर दी थीं। उससे व्यथित होकर रिट पिटीशनर

---

[1] 1969 का सिविल रिट अधिकारिता मामला सं० 933 जिसका विनिश्चय 24 अक्तूबर 1972 को किया गया था।

ने बिहार राज्य में एक औद्योगिक विवाद उठाया जिसमें सुलह कार्यवाहियां असफल होने के कारण प्रत्यर्थी राज्य ने औद्योगिक अधिकरण द्वारा अधिनिर्णय के लिए निम्नलिखित मामला निर्देशित किया :—

(1) क्या श्री परितोष कुमार पाल की सेवाओं की समाप्ति उचित और न्यायोचित है ? यदि नहीं, तो क्या वह अपनी बहाली या किसी अन्य अनुतोष का हकदार है ?

(2) क्या वर्ष 1968-69 के लिए प्रबन्ध मण्डल श्री पाल को विक्रय पर कमीशन का संदाय न करने में न्यायोचित था ? यदि नहीं तो श्री पाल किस अनुतोष और/या प्रतिकर का हकदार है ?

3. औद्योगिक अधिकरण के समक्ष निर्देश के कायम रखने योग्य होने के प्रश्न पर प्रत्यर्थी प्रबन्धमण्डल द्वारा दो प्रारम्भिक मुद्दे उठाए गए। अधिकरण ने और विशेषत: इस तथ्य की दृष्टि से यह वांछनीय समझा गया कि विरोध करने वाले इस प्रस्ताव से अभिव्यक्त रूप से सहमत थे कि ये मुद्दे, जो अधिकरण की अधिकारिता के प्रश्न पर अन्तर्वलित थे पहले, विनिश्चित किए जाने चाहिए और पक्षकारों को अन्य बातों के साथ-साथ निम्नलिखित मुद्दों पर अपने साक्ष्य पेश करने के लिए निर्देश दिया जाना चाहिए :—

(क) क्या सरकार द्वारा किया गया निर्देश असक्षम है क्योंकि प्रबन्धमण्डल अपना कारबार कलकत्ता से चला रहा था और उसकी स्थापन (एस्टेब्लिशमेंट) कलकत्ता में है ?

पक्षकारों ने उपर्युक्त मुद्दे पर साक्ष्य पेश किया और उससे अधिकरण ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला :—

"प्रस्तुत मामले में बिहार में कोई अलग स्थापन नहीं है। मैसर्स ए० के० डिस्ट्रीब्यूटर्स की स्थापना केवल कलकत्ता में है जहां से कम्पनी बिहार, बंगाल, आसाम और उड़ीसा राज्यों में अपना कारबार चला रही है। यद्यपि सम्बद्ध कर्मकार बिहार में कार्यरत था और उसकी सेवाएं समाप्त की गई थीं किन्तु सम्बद्ध कर्मकार श्री पाल मैसर्स ए० के० डिस्ट्रीब्यूटर्स प्राइवेट लिमिटेड के कलकत्ता कार्यालय के निदेश और पर्यवेक्षण के अधीन कारबार चला रहा था।"

उपर्युक्त आधार वाक्य के आधार पर और निर्णय विधि को निर्देशित करने के पश्चात् और विशेषत: बिहार स्टेट सेल्स रिप्रिजैंटेटिव्स यूनियन वाले उपर्युक्त मामले में खण्ड न्यायपीठ के हाल ही के निर्णय में अधिकरण इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि बिहार राज्य सरकार औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की

धारा 10(1)(घ) के अर्थान्तर्गत निर्देश करने के लिए समुचित सरकार नहीं थी और चूंकि वह विधितः अविधिमान्य होने के कारण स्वयं अधिकरण को उसको निर्देशित किया गया और औद्योगिक विवाद को विनिश्चित करने की कोई अधिकारिता नहीं थी। अनिवार्यतः इस प्रकार निर्देश से इनकार किया गया था उससे व्यथित होकर प्रस्तुत रिट पिटीशन किया गया था। जब मामला खण्ड न्यायपीठ के समक्ष सुनवाई के लिए आया तो इसे सुनवाई के लिए स्पष्टतः 3 न्यायाधीशों की खण्ड न्यायपीठ के समक्ष पेश करने का निदेश दिया गया था क्योंकि इसमें महत्वपूर्ण विधि का प्रश्न अन्तर्वलित था।

4. विधिक सविवाद की तह में प्रवेश करने से पूर्व इस बात की ओर संकेत करना आवश्यक है कि हमारे समक्ष तथ्यात्मक सामग्री के बारे में बिल्कुल भी कोई विवाद नहीं था। सामान्य आधार यह था कि कर्मकार के नियोजन का स्थान बिहार राज्य में पटना में सब जगह था। इसी प्रकार से अधिकरण के तथ्य का दृढ़ निष्कर्ष जिसको चुनौती नहीं दी गई थी, यह है कि मैसर्स ए० के० डिस्ट्रीब्यूटर्स प्राइवेट लिमिटेड नियोजक कम्पनी की बिहार राज्य में कोई अलग स्थापना नहीं थी। इसका रजिस्टर्ड कार्यालय कलकत्ता में होने के कारण बिहार राज्य में कारबार उक्त स्थान से नियंत्रित किया जाता था।

5. उपर्युक्त सिद्धांत के आधार पर रिट पिटीशनर की ओर से श्री डी० एन० पाण्डे का प्राथमिक तर्क यह है कि कर्मकार के नियोजन का स्थान, जो कि विवाद को ग्रहण करने के लिए अधिकरण की राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता का अवधारण करने के लिए सुसंगत है और न कि नियोजक उद्योग की अवस्थिति या बिहार राज्य में अलग स्थापना के रखने का मात्र तथ्य इस बात पर जोरदार दलील दी गई थी कि कर्मकार की सेवाओं की समाप्ति के सम्बन्ध में औद्योगिक विवाद वस्तुतः पूर्णतः बिहार राज्य में उद्भूत हुआ था और हर हालत में उसमें सारवान रूप से और उसके परिणामस्वरूप उक्त राज्य की सरकार समुचित सरकार थी और सुस्पष्ट रूप से उस राज्य के भीतर अधिकरण उसका संज्ञान करने की अधिकारिता से निहित थी। सर्वप्रथम **वर्कमैन आफ श्री रंगा विलास मोटर्स (प्रा०) लि०** बनाम **श्री रंगा विलास मोटर्स (प्रा०) लिमिटेड**[1] वाला मामला और इसको अपनाने के लिए निर्णय या उसी अभिप्राय वाले मामले का अवलम्ब लिया गया।

6. दूसरी ओर प्रत्यर्थी कम्पनी की ओर से श्री टी० के० प्रसाद ने सर्वप्रथम इस बात पर जोर दिया कि अधिकरण की अधिकारिता को शासित

---

[1] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1040.

करने के लिए उद्योग के कार्यालय की एकमात्र अवस्थिति या उसके मुख्यालय की अवस्थिति थी या जहां इसकी अलग-अलग स्थापना थी । यह दलील दी गई थी कि कर्मकार के नियोजन का स्थान इस विवाद्यक के लिए पूर्णतः असंगत था। उसके द्वारा उसी मत पर **एसोसिएशन आफ मेडिकल रिप्रिजेंटेटिव्स (एम० एण्ड वी०)** बनाम **औद्योगिक अधिकरण, मध्य प्रदेश, इंदौर और अन्य**[1] वाले मामले और ऐसे ही मत वाले पश्चात्वर्ती निर्णयों का अवलम्ब लिया गया है। किन्तु इस बात की ओर संकेत किया जाता है कि बिहार राज्य की ओर से अपर महाधिवक्ता श्री आर० बी० महतो ने यह दलील देने के लिए रिट पिटीशनर के आधार का समर्थन किया था कि ऐसे नियोजन की समाप्ति की स्थिति में नियोजन का स्थान हर हालत में तात्त्विक कारण था यदि वह महत्त्वपूर्ण कारण नहीं था। समुचित सरकार और अधिकरण की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता का अवधारण करने के लिए यह तात्त्विक कारण था।

7. सुस्पष्टता: के लिए सम्भवत: प्रारम्भ में ही इस बात की ओर संकेत कर देना वांछनीय है कि इसके बारे में न तो हमारे समक्ष कोई विवाद किया गया था और वस्तुत: यह सुस्थापित प्रतीत होता है कि जहां पर कर्मकार के नियोजन का स्थान और उद्योग की भिन्न-भिन्न स्थापना की विद्यमानता एक साथ है तो औद्योगिक विवाद के लिए राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता इन दोहरे कारणों द्वारा शासित होगी । इसके परिणामस्वरूप हमारे समक्ष मुख्य प्रश्न यह है कि ऐसे मामलों में, जहां उद्योग का भिन्न और अलग कोई स्थापन नहीं है तो क्या कर्मकार के नियोजन का स्थान उसे शासित करेगा या राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के अवधारण करने के विवाद्यक के लिए सुसंगत होगा ।

8. अब इस मुख्य विवाद्यक पर विरोधी दलीलों की परीक्षा करने से पूर्व इस बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि औद्योगिक विवाद अधिनियम के उपबंध राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के विवाद्यक पर पूर्णत: शांत हैं । अधिनियम में वाद हेतुक को निपटाने के बारे में कोई उल्लेख नहीं है और न ही वह इस बात की ओर संकेत करता है कि समुचित सरकार और अधिकरण या उसके अधीन गठित श्रम न्यायालय को अधिकारिता प्रदत्त करने के लिए कौन से कारण होंगे औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 2(ट) की ओर विद्वान् काउन्सेल द्वारा निर्देश किया गया था और इसके अतिरिक्त अधिनियम के कुछ अन्य उपबन्धों की ओर भी निर्देश दिया गया था किन्तु उनके स्पष्ट पठन से भी

---

[1] ए० आई० आर० 1967 मध्य प्रदेश 114.

इस बात का संकेत मिलेगा कि वे निश्चायक होने के अलावा वे विवाद्यक पर मुद्दे के लिए सुसंगत भी प्रतीत नहीं होते हैं। वस्तुतः पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेल ने अन्ततः वास्तविक रूप से इस बारे में सहमति प्रकट की कि अधिनियम के उपबंध इस बुनियादी प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं डालते हैं।

9. ऐसे ही यह सुस्थापित प्रतीत होता है कि अधिनियम के अधीन कार्यवाहियों को सिविल प्रक्रिया संहिता लागू नहीं की गई है। इसके परिणामस्वरूप अधिकारिता के बारे में संहिता के विनिर्दिष्ट उपबंध विवाद्यक को यथार्थ भाव में शासित नहीं करते हैं अतः सिविल न्यायालयों की अधिकारिता के विषय पर सुसंगत धाराओं के सूक्ष्म अर्थ भेद का संक्षिप्त अर्थान्वयन करने की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि यह समान रूप से प्राथमिक प्रश्न है कि यद्यपि संहिता की विनिर्दिष्ट धारा की भाषा भी लागू नहीं होती है फिर भी सिविल न्यायालय की अधिकारिता के बारे में सामान्य सिद्धांत और अधिकथित कसौटियां विवाद्यक से पूर्णतः पृथक् नहीं हैं। यह सिद्धांत और आबद्धकर नजीरों पर ऐसा प्रतीत होता है अतः अन्तिम परिणाम यह प्रतीत होता है कि यद्यपि अधिकारिता के मुद्दे पर संहिता की धाराएं अपनी तकनीकी कठिनाई के बल से लागू नहीं होती हैं फिर भी उनके अभाव में व्यापक रूप से उनमें अधिकथित सामान्य सिद्धांत निस्संदेह रूप से सुसंगत होंगे।

10. मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष बृहत्तर प्रश्न यद्यपि अनिर्णीत विषय नहीं है और इसका अन्तिम न्यायालय और उच्च न्यायालयों दोनों की नजीरों के साथ सादृश्य द्वारा शासित होता है। यद्यपि उनकी प्रकृति कुछ असंगत है। इस प्रकार सिद्धांतों के आधार पर नये सिरे से विवाद्यक की परीक्षा करना व्यर्थ होगा और इसलिए यह अवधारित करना उपयुक्त होगा कि क्या प्रश्न अन्तिम न्यायालय के विनिश्चय द्वारा शासित होता है, यदि वह सीधे रूप से नहीं बल्कि आवश्यक विवक्षा द्वारा ऐसे हैं।

11. उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए जिन नजीरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है वह है **लालभाई त्रिकुमलाल मिल्स लिमिटेड** बनाम **धानुभाई मोतीलाल बिन और अन्य**[1] वाला मामला, जिसका अन्तिम न्यायालय द्वारा बार-बार अनुमोदन किया गया है। इस मामले के तथ्य प्रस्तुत मामले के समान हैं क्योंकि उसमें भी सारवान रूप से विवाद स्वीकृततः मुम्बई में नियोजन की समाप्ति से सम्बद्ध था, जहां पर कर्मकार नियोजित था, जबकि नियोजक उद्योग का

---

1. ए० आई० आर० 1955 मुम्बई 463.

मुख्यालय अहमदाबाद में था। कर्मकार ने अहमदाबाद में मिल्स के प्रधान कार्यालय को भी प्रतिवाद किया और बहाली चाही थी और चूंकि उससे उसे इनकार किया गया था इसलिए उसने मुम्बई श्रम न्यायालय के समक्ष औद्योगिक विवाद उठाया था। नियोजक की ओर से अधिकारिता के सम्बन्ध में जो विवाद उठाया गया था उसे श्रम न्यायालय द्वारा नामंजूर किया गया था और उसी बात को पुनः उच्च न्यायालय के समक्ष भी जोरदार रूप से पेश किया गया था। यह विनिर्दिष्ट मुद्दा भी कि कर्मकार द्वारा बहाली के लिए अहमदाबाद में सम्पर्क किया गया है और इसलिए औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 42(4) के अधीन उससे इनकार करते हुए नियोजक कम्पनी की ओर से मुख्य रूप से इस पर जोर दिया गया था। किन्तु खण्ड न्यायपीठ की ओर से मुख्य न्यायाधीश छागला द्वारा स्पष्ट रूप से नामंजूर करते हुए निम्नलिखित मताभिव्यक्ति व्यक्त की गई थी :—

> "अधिनियम वाद हेतुक के बारे में कोई उल्लेख नहीं करता और न ही उसमें इस बात की ओर संकेत किया गया है कि श्रम न्यायालय पर अधिकारिता कौन-से कारण प्रदत्त करेंगे ? किन्तु अधिकारिता का सुविख्यात सिद्धांत लागू करते हुए किसी न्यायालय या अधिकरण की अधिकारिता भी वहां होगी यदि पक्षकार उस अधिकारिता के अन्तर्गत निवासी है या यदि विवाद की विषयवस्तु सारवान रूप से उस अधिकारिता के अन्तर्गत उद्भूत होती है। और इसलिए इस प्रश्न के सही दृष्टिकोण में हम अपने-आप से यह कहते हैं कि यह विवाद सारवान रूप से कहां उद्भूत हुआ था और हमारी राय में उस प्रश्न का केवल यह उत्तर हो सकता है कि विवाद सारवान रूप से अहमदाबाद में न होकर मुम्बई में उद्भूत हुआ था। विवाद क्या है ? विवाद यह नहीं है कि क्या कर्मचारी ने अहमदाबाद में नियोजक से सम्पर्क किया था और उससे कोई करार नहीं किया गया था। विवाद यह है कि क्या नियोजक कर्मचारी को पदच्युत करने में न्यायोचित था और क्योंकि नियोजन मुम्बई में था और पदच्युति मुम्बई में थी, इसलिए यह समझना कठिन है कि इस बात पर कैसे जोर दिया जा सकता है कि विवाद सारवान रूप से मुम्बई में उद्भूत नहीं हुआ था। श्री भगवती ने जो कुछ कहा है वह यह है कि जब तक धारा 42(4) के परन्तुक के अधीन कर्मचारी द्वारा सम्पर्क नहीं किया जाता है तो कोई विवाद नहीं होता है।
>
> यह सच है कि उस समय तक कोई औद्योगिक विवाद नहीं होगा

जब तक धारा 42(4) के परन्तुक में अधिकथित प्रक्रिया का समाधान नहीं हो जाता । किन्तु और भी अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से उस समय तक कोई विवाद बिल्कुल नहीं होगा यदि प्रत्यर्थी सं० 5 के पिटीशनर द्वारा पदच्युति नहीं की गई थी ।"

और पुन: निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया :—

"यदि श्रम न्यायालय के समक्ष जांच की विषय-वस्तु के बारे में जांच की जा रही है तो यह कि विषय-वस्तु मुम्बई में उद्भुत हुई थी और न कि अहमदाबाद में । हम इस बारे मे अपना कोई मत अभिव्यक्त नहीं करते हैं कि क्या अहमदाबाद न्यायालय को भी ऐसी ही अधिकारिता होगी या नहीं । हम केवल यह विनिश्चित करने से सम्बद्ध हैं कि क्या इन तथ्यों के आधार पर मुम्बई श्रम न्यायालय को भी अधिकारिता है और हमारी राय में जैसा कि इस मामले में कर्मचारी मुम्बई मे नियोजित था और मुम्बई ही में पदच्युत किया गया था और वह अपनी पदच्युति के बारे में परिवाद कर रहा है और बहाली और प्रतिकर चाह रहा है तो इस आवेदन को विनिश्चित करने के लिए मुम्बई श्रम न्यायालय को अधिकारिता है । अतः हम औद्योगिक न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत से सहमत हैं ।"

उपर्युक्त से ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त मामला यह अभिनिर्धारित करते हुए यहां पर आए हुए विवाद्यक के अन्तर्गत आता है कि औद्योगिक विवाद की विषय-वस्तु कर्मकार के नियोजन के स्थान पर उद्भूत हुई थी । किन्तु उपर्युक्त मामले में यह प्रश्न कि क्या मुम्बई और अहमदाबाद में समवर्ती अधिकारिता भी हो सकती है, न्यायपीठ द्वारा इस प्रश्न पर विचार नहीं किया गया था ।

12. आगे जिस तथ्य की ओर संकेत किया जाना है वह यह है कि विधि की उपर्युक्त प्रतिपादना शब्दश: उल्लिखित की गई थी और **इण्डियन केबिल कम्पनी लिमिटेड बनाम उसके कर्मकार**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय की सांविधानिक खण्ड न्यायपीठ द्वारा इसकी पुष्टि की गई थी इसकी और अधिक स्पष्ट रूप से श्री रंग विलास मोटर्स वाले उपर्युक्त मामले में ठीक ही पुष्टि की गई थी जिसका ठीक ही रिट पिटीशनर की ओर अवलम्ब लिया गया है । उसमें भी महालिंगम नामक कर्मकार, बैंगलौर में नियोजित था और केरल राज्य में कृष्णगिरी से कम्पनी के मुख्यालय द्वारा जारी किए गए अपने अन्तरण

[1] (1962) 1 लेबर लॉ जर्नल 409.

आदेश द्वारा व्यथित था। और कृष्णागिरी के संघ द्वारा भी कर्मकार के हेतुक का समर्थन किया गया है। इस बारे में यह आक्षेप उठाया गया था कि बैंगलौर के अधिकरण को कोई अधिकारिता नहीं होगी किन्तु ऐसे आक्षेप को नामंजूर करते हुए नियोजन के स्थान पर अधिकारिता को कायम रखते हुए माननीय न्यायाधीशों ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

> "....श्री ओ० पी० मल्होत्रा ने यह जोरदार दलील दी कि मैसूर राज्य सरकार निर्देश करने के लिए समुचित सरकार नहीं थी। उसने यह कहा कि यद्यपि विवाद बैंगलौर में प्रारम्भ हुआ था इस विवाद को प्रायोजित करने वाला संकल्प कृष्णागिरी में पारित किया गया था और यह कि वैयक्तिक विवादों के मामले में किए जाने वाली उचित कसौटी यह है कि जहां पर विवाद प्रायोजित किया गया है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस मामले के तथ्यों पर यह सुस्पष्ट है कि बैंगलौर में पृथक् स्थापना थी और महालिंगम वहां पर कार्य कर रहा था। इस स्थान पर और भी अनेक कर्मकार कार्य कर रहे थे। यह सच है कि अन्तरण का आदेश प्रधान कार्यालय कृष्णागिरी में किया गया था लेकिन आदेश बैंगलौर में कार्यरत कर्मकार पर प्रवृत्त होना था। हमारा मत है कि उच्च न्यायालय यह अभिनिर्धारित करने में ठीक था कि उद्भूत उचित प्रश्न यह है कि विवाद कहां उद्भुत हुआ था? साधारण रूप से यदि पृथक स्थापना है और कर्मकार उस स्थापना में कार्यरत है तो विवाद उस स्थान पर उद्भूत हुआ समझा जाएगा। जैसा कि उच्च न्यायालय ने मत अभिव्यक्त किया कि विवाद और राज्य की राज्य-क्षेत्रीयता के बीच कुछ संबंध होना चाहिए और न कि उस राज्य के राज्यक्षेत्र और उस सम्बद्ध उद्योग के बीच, जिससे विवाद उद्भूत हुआ है।"

13. विधि की उपर्युक्त प्राधिकृत प्रतिपादना के सूक्ष्म विश्लेषण से इस बात की ओर संकेत किया जाता है कि उससे अधिकारिता को विनिश्चित करने के सुस्पष्ट सिद्धांत निकलते हैं। सुस्पष्टता के लिए इनको अलग-अलग निम्नलिखित रूप से वर्णित किया जाता है :—

(i) सेवाओं की समाप्ति का आदेश कहां पर प्रवृत्त होता है?

(ii) क्या कर्मकार की सेवाओं की समाप्ति से उद्भूत औद्योगिक विवाद और राज्य की राज्यक्षेत्रीयता के बीच कुछ संबंध है?

(iii) और यह कि सिविल न्यायालय की अधिकारिता की

सुविख्यात कसौटी, जिसमें पक्षकारों का निवास और उसमें उद्भूत विवाद की सारवान विषय-वस्तु लागू होंगी।

14. उपर्युक्त को लागू करते हुए कसौटियों में से प्रारम्भिक कसौटी यह है कि कर्मकार की सेवाओं की समाप्ति का आक्षेपित आदेश कहां पर प्रवृत्त होता है। रंग विलास मोटर्स वाले उपर्युक्त मामले में उच्चतम न्यायालय ने इस बात की ओर संकेत किया था कि यद्यपि अन्तरण का मूल आदेश और कर्मकार की सेवा की समाप्ति का पश्चात्वर्ती आदेश केरल में कृष्णागिरी में पारित किए गए थे फिर भी यह बंगलौर में प्रवृत्त हुए थे, जहां पर कर्मकार नियोजित था। इसके परिणामस्वरूप, कर्मकार के उसकी सेवाओं की समाप्ति के मामले में नियोजक बिल्कुल भी महत्वपूर्ण कारण है यदि वह पूर्णतः निश्चायक नहीं है। यह नियोजन के क्षेत्र के अन्तर्गत है कि सेवा-समाप्ति का आदेश प्रवृत होता है और कर्मकार कर्मकार के रूप में विरत हो जाता है और पद को धारण करने का अपना अधिकार खो देता है और उसके लिए अपना वेतन प्राप्त करता है इसलिए उस सिद्धांत के आधार पर जहां पर आक्षेपित आदेश प्रवृत्त होता है कर्मकार के नियोजन का स्थान प्रत्यक्षतः महत्वपूर्ण है। क्या यह कहा जा सकता है कि कर्मकार की सेवा समाप्ति का आदेश अपने नियोजन के क्षेत्र के अन्तर्गत लागू नहीं होता है? अतः उत्तर उस अधिकरण के पक्ष में होगा जहां कार्य के स्थान या नियोजन के स्थान पर राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता होती है।

15. औद्योगिक विवाद से सम्बद्ध द्वितीय सिद्धांत का राज्य की राज्य-क्षेत्रीयता के बीच सम्बन्ध है इसलिए कर्मकार के नियोजन का स्थान अकेला महत्वपूर्ण है। जब एक बार इस दृढ़ निष्कर्ष पर पहुंच जाता है कि कर्मकार विनिर्दिष्ट राज्यक्षेत्र या राज्य के अन्तर्गत नियोजित था तो उसमें उसकी सेवाओं की समाप्ति के बीच स्पष्टतः ऐसे राज्यक्षेत्रीय या ऐसे राज्य के बीच सीधा सम्बन्ध है इसके परिणामस्वरूप इस सम्बन्ध की कसौटी के आधार पर भी कर्मकार के नियोजन के स्थान का सीधा सम्बन्ध उस राज्यक्षेत्रीयता से होता है जहां पर ऐसे नियोजन को समाप्त किया जाता है। इसके विपरीत जहां औद्योगिक विवाद किसी कर्मकार के नियोजन की समाप्ति से सम्बद्ध होता है तो क्या यह कहा जा सकता है कि ऐसे नियोजन का स्थान राज्यक्षेत्रीयता और विवाद के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होगा? इस बात की ओर संकेत किया जाता है कि रंग विलास मोटर्स वाले उपर्युक्त मामले में माननीय न्यायाधीशों ने उच्च न्यायालय के इस मत का अनुमोदन किया था कि यह संबंध औद्योगिक विवाद और राज्य की राज्यक्षेत्रीयता के बीच होना चाहिए और न कि उद्योग या उसके मुख्यालय के बीच।

16. तीसरे सिद्धांत पर विचार करते हुए मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आबद्धकर नजीर द्वारा यह सुस्थापित है कि सिविल न्यायालयों की अधिकारिता की सुविख्यात कसौटी इस मुद्दे पर अधिनियम के किसी उपबंध के अभाव में ऐसी स्थिति को लागू होगी। लालभाई त्रिकुमलाल मिल्स वाले उपर्युक्त मामले के बार-बार पुष्टि करने के अतिरिक्त (जिसमें विशेष रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अधिकारिता की सुविख्यात कसौटी उसको लागू करना होगा) जिसका इण्डियन केबिल कम्पनी वाले उपर्युक्त मामले में अन्तिम न्यायालय द्वारा निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया था :—

> "......इस प्रश्न पर अधिनियम में कोई ऐसे उपबंध अन्तर्विष्ट नहीं हैं जिसके परिणामस्वरूप न्यायालयों की कार्यवाहियों को ग्रहण करने की अधिकारिता के सिद्धांत शासित हों।"

और पुन: यह मत व्यक्त किया गया :—

> "हमारी राय में ये सिद्धांत इस बात का विनिश्चय करने के लिए लागू होते हैं कि राज्यों में से अधिनियम की धारा 10 के अधीन किसको निर्देश करने की अधिकारिता है।"

अब उपर्युक्त को लागू करते हुए कोई भी काल्पनिक रूप से यह धारणा कर सकता है कि कोई औद्योगिक विवाद अधिनियम प्रवृत्त नहीं है या यह कि कर्मकार ने अपनी सेवाओं की सदोष समाप्ति के लिए साधारण सिविल उपचार को अपनाने के लिए निबन्धन चुने हैं (जहां कि यह विधि में इस प्रकार अनुज्ञेय है) और उसके लिए नुकसानी के लिए वाद किया है। प्रत्यक्षत: ऐसी स्थिति में राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता निस्संदेह उस न्यायालय की होगी जिसके राज्यक्षेत्र में कर्मकार नियोजित था और जैसा कि प्रस्तुत मामले में यह पटना होगा और हर हालत में बिहार राज्य में होगी। इस संदर्भ में सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा19 की ओर निर्देश किया जा सकता है जिसमें प्रतिकर, व्यक्तियों या जंगम के लिए दोषों हेतु वाद की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के लिए उपबंध किया गया है। विशेषत: सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 20 के खण्ड (ग) में यह उपबंध किया गया है कि वाद उस न्यायालय में संस्थित किया जाएगा जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर वाद हेतुक पूर्णत: या भागत: पैदा होता है। सर्वमान्य सिद्धांत यह है कि वह राज्यक्षेत्र जिसमें कर्मचारी की सेवाएं सदोष रूप से समाप्त की गई थीं ऐसी राज्यक्षेत्रीयता होगी जहां पर वाद हेतुक सारवान रूप से उद्भूत होता है और ऐसे मामले में यदि पूर्णत: नहीं किन्तु भागत: वाद हेतुक इस प्रकार उत्पन्न होता है। इसकी यथार्थ कसौटी पर

भी कर्मकार के नियोजन का स्थान तत्काल सिविल न्यायालयों को अधिकारिता दे देगा और अधिनियम के अधीन अधिकरणों और श्रम न्यायालयों को भी अधिकारिता प्रदान करेगा।

17. इस पहलू को समाप्त करते हुए यह प्रतीत होता है कि रंग विलास मोटर्स वाले उपरोक्त मामले में संकेत किए गए कसौटी के तीन सिद्धांत प्रस्तुत किस्म के मामले में पूर्णतः संतुष्ट होते हैं और इसलिए मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं अंतिम न्यायालय द्वारा विधि की प्रतिपादना द्वारा सादर्श से विवाद्यक शासित होता है।

18. किन्तु प्रत्यर्थी सं०3 की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री टी०के० प्रसाद की दलीलों से स्पष्ट यह संकेत मिलता है यद्यपि मैं उनके पक्ष में नहीं हूं। वृहत्तर सिद्धांत के आधार पर श्री प्रसाद ने प्रथमतः यह दलील देने का प्रयास किया है कि संहिता के अधीन वाद हेतुक की यह संकल्पना और औद्योगिक विवाद अधिनियम के अधीन संकल्पना मूलतः भिन्न है और इसलिए संहिता की धारा 20 और विशेषतः उसका खण्ड (ग) वाद हेतुक के सम्बन्ध में अधिकारिता को पूर्णतः या भागतः प्रदत्त करने के लिए औद्योगिक विवादों के लिए अधिकारिता के क्षेत्र से पूर्णतः बाहर है। यद्यपि विद्वान् काउन्सेल मुद्दे पर अपने आधार पर अधिकार रखता है किन्तु मैं संहिता और औद्योगिक विवाद अधिनियम के अधीन औद्योगिक विवादों के बीच कोई निषेधात्मक रेखा नहीं खींचता हूं। बार-बार प्राधिकृत रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वाद हेतुक की व्यापक परिभाषा सम्भव नहीं है फिर भी सामान्य रूप में इससे वे सब ही तथ्य गठित होते हैं जो वादी को ईप्सित विधिक अनुतोष का दावा करने का हकदार बनाते हैं। आमतौर पर वे ही विचार-धाराएं उस औद्योगिक विवाद के मामले में लागू की जाएगी जिनके आधार पर समान रूप से वे तथ्य उसके अंतर्गत आते हैं जिनका उक्त अधिनियम के उपबन्धों को कर्मकार लागू करता है। अधिक तकनीकी या जटिलता के बिना यह कहा जा सकता है कि किसी सिविल मामले में वाद हेतुक और अधिनियम के अधीन औद्योगिक विवाद के मामले में वाद हेतुक हर हालत में समानार्थी हैं जिससे यह अभिनिर्धारित किया ही जाना चाहिए कि दोनों के बीच में पूर्णतः पृथक करने वाली या सीमा रेखा नहीं है। यह परिणाम अंतिम न्यायालय की आबद्धकर नजीरों से निकाले गए इन निष्कर्षों पर प्रतीत होता है कि राज्यक्षेत्र अधिकारिता का सुविख्यात सिद्धांत सिविल न्यायालयों (जैसा कि वाद हेतुक की गठित संकल्पना) पर आधारित हैं। इसलिए औद्योगिक विवाद अधिनियम के अधीन अधिकारिता को अवधारित करने के लिए भी समान रूप से लागू होगी।

19. द्वितीयत: श्री प्रसाद ने यह आधार लिया कि अधिनियम के प्रयोजनों के लिए यह अपर्याप्त है कि औद्योगिक विवाद का एक भाग एक राज्यक्षेत्र के अंतर्गत उत्पन्न होता है और अधिकारिता प्रदत्त करने के लिए ऐसे विवाद को पूर्णत: या सारवान रूप से उक्त राज्यक्षेत्र में उद्‌भूत होना चाहिए। कर्मकार की सेवाओं की समाप्ति के सीमित संदर्भ में इस संविवाद पर विचार करना अनावश्यक प्रतीत होता है। यदि तर्क के लिए (इस प्रकार अभिनिर्धारित करने के बिना) पूर्णतः यदि यह उपधारणा भी कर ली जाए कि शासित करने की कसौटी यह है कि क्या विवाद सारवान रूप से वहां उद्‌भूत होता है मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी कर्मकार के नियोजन की समाप्ति के मामलों में सारवान रूप से उसके सम्बन्ध में औद्योगिक विवाद यदि पूर्णतः नहीं उस राज्य क्षेत्र में उद्‌भूत होता है जिसमें कर्मकार को अपने नियोजन की हानि होती है। वस्तुत: मामले की सीमाएं नियोजन की समाप्ति है, यह सारवान रूप से और प्राथमिक रूप से ऐसे नियोजन के स्थान पर उद्‌भूत होता है जहां यह प्रवृत होगा। इसके परिणामस्वरूप कम से कम औद्योगिक विवाद कर्मकार की सेवाओं की समाप्ति से उत्पन्न होता है जो कि उस नियोजन की राज्यक्षेत्र या स्थान के अंतर्गत सारवान रूप से या पूर्णत: उद्‌भूत होता है और इसलिए उस पर अधिकारिता रखने वाले औद्योगिक अधिकरण को राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता प्रदत्त करता है। स्थान का महत्व जहां कर्मकार अपना वेतन प्राप्त कर रहा था सेवा-समाप्ति की कार्यप्रणाली या पद्धति निश्चायक नहीं हो सकती क्योंकि मामले का केन्द्र बिन्दु वह नहीं है जहां और कैसे कर्मकार अपना वेतन प्राप्त करता है किन्तु उसे वह किसके लिए प्राप्त करता है। स्पष्टत: उत्तर यह है कि वह नियोजन के स्थान पर कार्यरत होने के कारण इसका हकदार है और यदि सेवाओं की समाप्ति के परिणामस्वरूप इससे उसे मजदूरी की हानि होती है तो उससे औद्योगिक विवाद नहीं हो सकता किन्तु वह संयोगवश कहीं और न होकर स्वयं कार्य के स्थान पर ही उद्‌भूत हुआ अभिनिर्धारित होना चाहिए।

20. तृतीयतः प्रत्यर्थी सं० 3 की ओर से श्री प्रसाद ने यह तर्क देने का प्रयास किया है कि औद्योगिक विवाद केवल उस स्थान पर उद्‌भूत होता है जहां सेवाओं की समाप्ति को चुनौती दी जाती है या कर्मकार द्वारा अपनी बहाली की मांग की जाती है। यह दलील दी गई थी कि ऐसी मांग या दावे से इनकार करने मात्र से औद्योगिक विवाद उत्पन्न होता है और परिणामस्वरूप ये राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के मुद्दे पर निश्चायक है। यह तकनीकी तर्क नियोजक उद्योग की ओर से लालभाई त्रिकुम लाल मिल्स लिमिटेड वाले उपरोक्त मामले में विद्वान् काउन्सेल द्वारा विशेषत: दिया गया था जिसमें अधिनियम की

धारा 42(4) का अवलम्ब लिया गया था किन्तु खण्ड न्यायपीठ द्वारा उसको स्पष्टतः नामंजूर किया गया था। जैसा कि पहले ही इस बात की ओर संकेत किया गया है उपर्युक्त निर्णय की अन्तिम न्यायालय द्वारा बार-बार पुष्टि की गई है। अतः आबद्धकर नजीर की दृष्टि से यह तर्क मान्य नहीं है। सिद्धांततः भी मैं इससे सहमति प्रकट करने में असमर्थ हूं कि राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता जैसा सारवान मामला केवल उस स्थल तक सीमित है जहां संयोगवश मांग से अभिकथित इनकार किया जाता है। प्रिवी कौंसिल के महत्वपूर्ण शब्दों में तकनीकता पर कारण देना व्यर्थ होगा।

21. अन्ततः उपर्युक्त दलीलों के अभिप्राय से श्री प्रसाद ने यह आधार लिया कि अधिनियम के अधीन अधिकारिता अनन्य रूप से एक ही राज्य के अन्तर्गत होनी चाहिए और विभिन्न राज्यों में समवर्ती अधिकारिता नहीं हो सकती। मैं इस आधार को मानने में असमर्थ हूं। समवर्ती अधिकारिता की संकल्पना का मान्य न होना सामान्यतया प्राप्त है और संहिता के अधीन विधि द्वारा भी और अन्य अधिकारिता के अधीन भी उसको मान्यता दी गई है। मेरा यह दृढ़ मत है कि जैसे सिविल अधिकारिता में उसी प्रकार से अधिनियम के अधीन भी समवर्ती अधिकारिता के मामले में हो सकता है जहां पक्षकारों को अलग-अलग न्यायालयों को चुनने का विकल्प रहता है। वस्तुतः लालभाई त्रिकुमलाल मिल्स लिमिटेड वाले उपरोक्त मामले में बार-बार की गई मताभिव्यक्तियों से वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है और इण्डियन केबिल कम्पनी वाले उपरोक्त मामले में और बाद में रंग विलास मोटर्स लिमिटेड वाले मामले में अन्तिम न्यायालय द्वारा इसकी पुष्टि की गई है कि सिविल अधिकारिता को शासित करने वाले विचार अधिनियम के अधीन समान रूप से लागू होते हैं। यदि ऐसा है तो समवर्ती अधिकारिता का सिद्धांत मेरे मत में समान रूप से लागू होगा। यह स्मरणीय है कि लालभाई त्रिकुमलाल मिल्स लिमिटेड वाले उपरोक्त मामले में इस दलील पर स्पष्टतया से विचार किया गया था किन्तु उस विवाद्यक पर विचार नहीं किया गया था। आवश्यक विवक्षा से **हिन्दुस्तान एरोनाटिक्स** बनाम **कर्मकार**[1] वाले मामले में समवर्ती अधिकारिता के लिए मत के पक्ष में उत्तर दिया गया है। उसमें स्वीकृततः मैसर्स हिन्दुस्तान एरोनाटिक्स लिमिटेड का प्रभागीय कार्यालय बंगलौर में था जो कि पश्चिमी बंगाल में बारखपुर शाखा को नियंत्रित करता था। यद्यपि तथ्यात्मक रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया था कि बारखपुर शाखा बंगलौर में प्रभागीय कार्यालय के नियन्त्रण के अधीन थी फिर

---

[1] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1737.

भी पश्चिमी बंगाल में औद्योगिक अधिकरण को उसके सम्बन्ध में किए गए जोरदार आक्षेपों के बावजूद अधिकारिता से युक्त अभिनिर्धारित किया गया था। इस बारे में एक नए सिरे से यह विचार किया गया था कि ऐसे मामले में यदि विवाद के परिणामस्वरूप औद्योगिक शांति के भंग होने की स्थिति थी तो यह बारखपुर में उद्भूत होता है और इसलिए पश्चिमी बंगाल की सम्बद्ध सरकार समुचित सरकार थी। इसके परिणामस्वरूप यह अभिनिर्धारित किया गया था कि औद्योगिक विवाद बारखपुर में उद्भूत हुआ था और पश्चिमी बंगाल सरकार द्वारा किया गया निर्देश विधिमान्य और विधिक था। अतः यह निर्णय नियोजन के उस स्थान को महत्त्व देता है जहां औद्योगिक विवाद और उसके परिणामस्वरूप अशांति उत्पन्न हुई थी। इस बात की ओर संकेत किया जाता है कि हिन्दुस्तान एरोनाटिक्स वाले उपरोक्त मामले में **मैसर्स लिप्टन लिमिटेड** बनाम **उनके कर्मचारी**[1] वाले पूर्व मामले का प्रबन्धमण्डल द्वारा अभिव्यक्त रूप से अवलम्ब लिया गया था, किन्तु इसमें प्रभेद किया गया था। बाद वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह स्थान जहां उद्योग का कार्यालय स्थित था, की अधिकारिता होगी यद्यपि कर्मकार उस राज्य के अन्तर्गत नियोजित नहीं था जहां ऐसा कार्यालय अब स्थित था। किन्तु इस प्रतिपादना के लिए यह मामला महत्त्वपूर्ण नहीं है कि कोई समवर्ती अधिकारिता हो सकती है या कर्मकार के नियोजन का स्थान या स्थिति ऐसी अधिकारिता से रहित होगी। वस्तुतः हिन्दुस्तान एरोनाटिक्स वाले उपरोक्त मामले में इस प्रश्न के उत्तर के लिए ठीक संकेत मिलता है। किसी भी हालत में न्यायपीठ लिप्टन वाले उपरोक्त मामले के विनिश्चयाधार से भिन्न नहीं थी फिर भी उसने स्पष्टतः यह अभिनिर्धारित किया था कि बेंगलौर के प्रभागीय कार्यालय की स्पष्टतः अधिकारिता है क्योंकि यह उन कर्मकारों को बारखपुर में नियन्त्रित करता है जो कर्नाटक राज्य से बाहर नियोजित थे। फिर भी यह अभिनिर्धारित किया गया था कि पश्चिमी बंगाल राज्य को, जिसकी नियोजन के स्थान पर अधिकारिता थी, औद्योगिक विवाद का संज्ञान करने की अधिकारिता होगी। परिणामस्वरूप इस प्रतिपादना के लिए हिन्दुस्तान एरोनाटिक्स वाला उपरोक्त मामला महत्त्वपूर्ण है कि लिप्टन वाले उपरोक्त मामले के विनिश्चयाधार के बावजूद समवर्ती अधिकारिता हो सकती है जो कि इस मुद्दे तक ही सीमित है कि प्रधान कार्यालय में ऐसी अधिकारिता होगी। किन्तु इसके प्रतिकूल नहीं कि नियोजन के स्थान को भी वही महत्त्व दिया जाएगा।

---

1 ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 676.

22. इस मुद्दे पर स्पष्ट रूप से निर्णय **एमराल्ड वेली एस्टेट्स** बनाम **एस्टेटस एण्ड स्टाफ यूनियन साउथ इण्डिया**[1] वाले मामले में केरल उच्च न्यायालय का है। जिसमें निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया है :—

> "इस बात की ओर भी संकेत किया जा सकता है कि सम्बद्ध राज्य सरकार के निर्देश करने के लिए अधिकारिता प्रदत्त करने हेतु पूर्णतः यह आवश्यक नहीं है कि वाद हेतुक पूर्णतः या अनन्य रूप से उस राज्य में ही उद्भूत होना चाहिए। ऐसे मामले हो सकते हैं जहां वाद हेतुक का भाग दो या अधिक राज्यों में उद्भूत होता है। ऐसे मामलों में दो या अधिक राज्यों को समवर्ती अधिकारिता हो सकती है। जब राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के बारे में प्रश्न उत्पन्न होता है तो यह पूछा जाता है और उसका यह उत्तर दिया जाता है कि क्या वाद हेतुक सारवान रूप से उस राज्य में उदभूत हुआ है जिसकी सरकार ने अधिनिर्णय के लिए विवाद का निर्देश किया है।"

यह सच है कि **जे० एण्ड० जे० डिशने डिस्ट्रीब्यूटर्स** बनाम **केरल राज्य**[2] वाले मामले में उसी उच्च न्यायालय के एक पूर्व निर्णय में इस आशय के बारे में इतिरोक्ति के रूप में मताभिव्यक्ति है कि इससे भ्रामक परिणाम निकलेंगे यदि औद्योगिक अधिकरण को निर्देश करने के लिए विभिन्न सरकारों में समवर्ती अधिकारिता होगी। किन्तु ये मताभिव्यक्तियां एक उक्ति के रूप में मामले को चुनौती दिए बिना या न्यायपीठ के समक्ष उस पर विचार किए बिना और उसके पीछे किसी तर्क या नजीर के बिना दी गई है। मैं यह देखने में असमर्थ हूं कि समवर्ती अधिकारिता, जो कि सिविल अधिकारिता का मामला है, आवश्यक रूप से अधिनियम के अधीन औद्योगिक विवादों के बारे में अनियमित भ्रामक परिणाम उत्पन्न करेंगे। मैं उनसे निकाले गए निर्णयों को त्रुटिपूर्ण या जटिल नहीं पाता हूं और इसलिए दृढ़ रूप से यह अभिनिर्धारित करता हूं कि यदि सिविल न्यायालयों के लिए राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता का अवधारण करने के लिए अधिकथित सामान्य सिद्धांत लागू किए जाते हैं तो समवर्ती अधिकारिता की सहवर्ती अनिवार्यतः हो जाएगी और वस्तुतः पक्षकारों को अपने-अपने न्यायालय को चुनने का विकल्प होगा।

23. अब प्रत्यर्थी प्रबन्ध मण्डल की ओर से अवलम्ब ली गई नजीर का उल्लेख करना शेष रहता है। जैसा कि पहले ही इस आधार की ओर संकेत

---

[1] 1979 एल० आई० सी० 36.

[2] 1979 एल० एल० जे० 9.

किया गया है। एसोसिऐशन आफ मैडिकल रिप्रिजैटेटिव वाले उपरोक्त मामले में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय का बुनियादी रूप से अवलम्ब लिया गया था। इस तथ्य का खण्डन नहीं किया जा सकता कि उक्त निर्णय से श्री प्रसाद की इस दलील को पूर्ण समर्थन मिलता है कि यह सरकार वह है, जिसकी अधिकारिता में उद्योग या उसका प्रधान कार्यालय स्थित है, जो एकमात्र रूप से निर्देश करने के लिए सक्षम है। ससम्मान मैं इस मत से सहमत होने में असमर्थ हूं। अति सम्मान देते हुए निकाले गए निष्कर्ष लालभाई त्रिकुमलाल मिल्स वाले उपरोक्त मामले और इण्डियन केबिल कम्पनी वाले उपरोक्त मामले में के विनिश्चयाधार की गलतफहमी पर आधारित प्रतीत होता है। इन मामलों में से न तो इस प्रतिपादना के लिए कोई अभाव है कि श्रम न्यायालयों की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के लिए उद्योग का स्थान एकमात्र निश्चायक है। ससम्मान मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों के इन निर्णयों को निर्देशित करने के पश्चात् अपने निष्कर्षों पर पहुंचने में मुद्दे से सम्भवतः गुमराह हो गए हैं। जे० एण्ड जे० डिशने डिस्ट्रीब्यूटर्स वाले उपरोक्त मामले में केरल राज्य उच्च न्यायालय की एक पश्चात्वर्ती खण्ड न्यायपीठ ने मध्य प्रदेश वाले मामले की मताभिव्यक्तियों को उद्भूत करने के पश्चात् निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

> "रंग विलास मोटर्स (ए० आई० आर 1967 एस०सी० 1040) वाले माले में उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई मताभिव्यक्तियों को ध्यान में रखते हुए सम्भवतः यह ठीक कसौटी नहीं हो सकती कि औद्योगिक विवाद और राज्य की राज्यक्षेत्रीयता के बीच सम्बन्ध होना चाहिए और आवश्यक नहीं है कि उद्योग और सम्बद्ध राज्य के बीच सम्बन्ध हो।"

यह स्पष्ट है कि एसोसिऐशन आफ मैडिकल रिप्रिजैंटेटिव वाले मामले में निर्णय रंग विलास मोटर्स वाले उपरोक्त मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्णय से पूर्व दिया गया था और इसका आधार उसका सीधे प्रतिकूल प्रतीत होता है। यह स्मरण करना महत्वपूर्ण है कि मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के पश्चात्वर्ती खण्ड न्यायपीठ ने **एस० एन० सुनसन एण्ड कम्पनी** बनाम **पीठासीन अधिकारी श्रम न्यायालय सं० 1**[1] वाले मामले में यह मत अपनाया था कि जहां कर्मकार के नियोजन का स्थान मध्य प्रदेश के भीतर था यद्यपि उसका प्रधान कार्यालय और उद्योग का सम्पूर्ण नियंत्रण दिल्ली में था, इसलिए मध्य प्रदेश अधिकरण को

---

[1] 1973 लैवर एण्ड इन्डस्ट्रियल केसिज 991.

अधिकारिता को हटाया नहीं जाएगा इस प्रकार अभिनिर्धारित करते हुए उन्होंने **रामकिशन** बनाम **शम्भू नाथ वैध**[1] वाले मामले में पंजाब उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के मत का अनुसरण किया था जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि क्योंकि कर्मकार अमृतसर में नियोजित था इसलिए पंजाब में अधिकरण को इस तथ्य के बावजूद अधिकारिता होगी कि उद्योग का प्रधान कार्यालय मंसूरी में स्थित था। ऐसा ही मत **मैसर्स लिटिल सन्स एण्ड कम्पनी** बनाम **अमरनाथ**[2] वाले मामले में **एन० टी० कम्पनी एम्पलाईज यूनियन** बनाम **मनोहर सिंह**[3] वाले मामले में प्रतिकूल मत को उलटते हुए पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित करते हुए मत व्यक्त किया था कि जहां कर्मकार पठानकोट में नियोजित था इसलिए पंजाब में अधिकरण को इस तथ्य के बावजूद अधिकारिता होगी कि नियोजक उद्योग का प्रधान कार्यालय जम्मू-कश्मीर राज्य में स्थित था। ऊपर अभिलिखित कारणों और प्रतिकूल नजीरों को अभिलिखत करते हुए मैं ससम्मान एसोसिऐशन आफ मैडिकल रिप्रिजैंटेटिव वाले उपरोक्त मामले से असहमति अभिलिखित करता हूं। अब उन निर्णयों का अलग-अलग उल्लेख करना अनावश्यक है जिनमें उसके अनुसरण किया गया था और ऐसे ही कारणों से मैं जे० एण्ड जे० डिशने डिस्ट्रीब्यूटर्स वाले उपरोक्त मामले और **सुपरिटेंडेंस इंजीनियर** बनाम **कर्मकार**[4] वाले मामलों से भी असहमति प्रकट करता हूं जो कि लगभग इसके ही समान है।

24. किसी भी व्यक्ति को बिहार राज्य सेल्स **रिप्रिजेंटेटिव बनाम श्री कृष्णदेव प्रसाद और अन्य**[5] उपरोक्त मामले में इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ के निर्णय पर अवश्य विचार करना चाहिए जिस पर अधिकरण ने बुनियादी रूप से अवलम्ब लिया था और उसकी सत्यता और यथार्थता के बारे में संदेह की उपधारणा की थी जिससे वृहत न्यायपीठ को यह निर्देश करने की आवश्यकता उत्पन्न हुई थी। निर्णय के सावधानीपूर्वक परिशीलन से यह संकेत मिलता है कि विद्वान् न्यायाधीशों ने इस तथ्य के बावजूद एसोसिऐशन आफ मैडिकल रिप्रिजैंटेटिव वाले उपरोक्त मामले में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के मत का अनुसरण किया था कि इस निर्णय को रंग विलास मोटर्स प्राइवेट लिमिटेड वाले उपरोक्त मामले में उच्चतम न्यायालय के पश्चात्वर्ती निर्णय के आधार पर

---

[1] 1)962) 2 लेबर ला जर्नल 294.

[2] 1978 लेबर एण्ड इण्डस्ट्रियल केसिज 430.

[3] ए० आई० आर० 1968 पँजाब 514.

[4] ए० आई० आर० 1960 उड़ीसा 205.

खण्ड न्यायपीठ के समक्ष चुनौती दी गई थी । यह मत व्यक्त किया गया था कि उक्त निर्णय को विवक्षा से उलटा हुआ नहीं समझा जा सकता था । ऐसा भी प्रतीत होता है कि सिद्धांत के आधार पर न्यायपीठ के समक्ष मामले पर व्यापक रूप से विचार नहीं किया गया था और न ही इसके समक्ष सुसंगत नजीरों को उद्धृत किया गया था । इसके परिणामस्वरूप यह मत व्यक्त किया गया था कि चूंकि मामले के तथ्य मध्य प्रदेश वाले मामले के तथ्यों के समान थे इसलिए यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि बिहार सरकार को इस तथ्य के बावजूद कोई अधिकारिता नहीं थी कि स्वीकृततः कर्मकार बिहार राज्य के भीतर नियोजित था । मैं ससम्मान यह अभिनिर्धारित करता हूं कि बिहार सेल्स रिप्रिजैंटेटिव यूनियन वाला उपरोक्त मामला ठीक विधि अधिकथित नहीं करता है और एतद्द्वारा इसे उलटा जाता है ।

25. इस मुद्दे पर पूर्ववर्ती जो चर्चा की गई है उससे अंततः विश्लेषण करने पर यह प्रतीत होता है कि यहां पर सम्भवतः दो मत सम्भव हैं । इसके परिणामस्वरूप लाभप्रद सामाजिक विधान के निर्वचन और कानूनी अर्थान्वयन के लिए सही दृष्टिकोण ही लागू किया जाता है इस बारे में कोई संदेह प्रतीत नहीं होता है कि औद्योगिक विवाद अधिनियम एक सामाजिक विधान है जो कि उसमें यथापरिभाषित रूप से कर्मकारों के लाभप्रद व्यापक हित को ध्यान में रखते हुए अधिनियमित किया गया था । अतः भावी व्यापक हित जहां या तो युक्तियुक्त रूप से निर्वचन खुला है इसको सम्भवतः ऐसी रीति में अर्थान्वयन किया जाना जाहिए ताकि अधिनियम के उद्देश्य और प्रयोजन अग्रसर हो सकें और न कि वह विफल हो जाएं । प्रत्यर्थी-उद्योग के विद्वान् काउन्सेल श्री प्रसाद ने ऐसी स्थिति उत्पन्न की है जिससे मुझे उनका यह तर्क अति तकनीकी प्रतीत होता है कि अधिनियम की उद्देशिका में किसी भी रूप में यह घोषित नहीं किया गया था कि यह लाभप्रद कानून है । जहां तक मुझे जानकारी है किसी कानून की उद्देशिका न तो इस बात के लिए आशयित होती है और न ही उसके निबन्धनों में यह घोषणा की जाती है कि यह सामाजिक उत्थान के लिए है या लाभप्रद विधान है । कानून की व्यापक स्कीम से स्वयं न्यायालय को मूल्यांकन करने के लिए मामले में या अधिनियमिति के उद्देश्यों और कारणों से उन चीजों का पता लगाया जाता है जिनसे उनके उपचार उपलब्ध होते हैं । रुढ़िगत प्रारूपकारिता सदैव उद्देशिका को कुछ हद तक तथ्यात्मक और संक्षिप्त बनाती है और वह किसी भी प्रकार से विस्तृत नहीं होती है । मैं दृढ़ता से यह अभिनिर्धारित करता हूं कि औद्योगिक कार्यकर्त्ताओं के व्यापक हित में अधिनियम को लाभप्रद सामाजिक विधान माना जाना चाहिए । जब ऐसा हो

जाता है तो लाभप्रद कल्याणकारी विधान, जैसा कि जिससे हमारा सम्बन्ध है की मोतीराम बनाम मध्य प्रदेश राज्य[1] वाले मामले में उल्लेखनीय मताभिव्यक्तियों को ध्यान में रखते हुए निर्वचन किया जाना चाहिए :—

> "जहां संदेह उत्पन्न होते हैं तो गांधीजी का ताबीज निर्वचन के यन्त्र का रूप धारण कर लेता है :—'जब कभी आपको संदेह हो तो निम्नलिखित कसौटी लागू करें। निर्धनतम तथा सबसे कमजोर आदमी के चेहरे को अपने सामने रखें जिसको कभी आपने देखा हो और अपने आप से यह पूछें कि जो कदम आप उठाने की कल्पना कर रहे हैं क्या वह उसे कोई लाभ पहुंचाएगा?' जीवनयापन में, विधि निश्चित रूप से ऐसी होनी चाहिए कि उसके निर्वचन यथार्थ वास्तविकताओं को लागू हों और उनसे स्वाधीनता की प्राप्ति हो।"

उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए वास्तविकता जिसका सामना किया जाना है वह यह है कि क्या निर्धन कर्मकार का नियोजन का स्थान अधिकारिता को अवधारित करने के लिए आवश्यक होना चाहिए या अनन्य रूप से पंजीकृत प्रधान कार्यालय या नियोजक उद्योगों के विभिन्न कारबार स्थापनाएं। यह बिल्कुल ठीक है कि इसके विपरीत ऐसा कठोर अर्थान्वयन उस कर्मकार को, जिसकी सेवाएं समाप्त की गई हैं, उद्योग के दूरदराज के प्रधान कार्यालय से उपचार मांगना होगा। यद्यपि विवाद उसके कार्य के स्थान पर उसके घर के पास ही उद्भूत होता है। जैसा कि प्रस्तुत मामले में नियोजक उद्योग कलकत्ता में अवस्थित है और कर्मकार पटना में। किन्तु यदि मामले को तर्कसंगत रूप से देखा जाए तो ऐसे मामले की कल्पना की जा सकती है जहां पर कर्मकार दक्षिणी केरल में था, तो क्या इससे उसे अपना उपचार पाने के लिए उस स्थान पर नहीं जहां वह वास्तव में नियोजित था और कार्य कर रहा था किन्तु आवश्यक रूप से उस स्थान पर जहां पर उद्योग का प्रधान कार्यालय स्थित था और जैसा कि प्रस्तुत मामले में कलकत्ता में था। मैं इस बारे में पूर्णतः आश्वस्त हूं कि यहां पर नियोजन के स्थान दृढ़ आधार पर कर्मकार के पक्ष में होना चाहिए न कि उस उद्योग के पंजीकृत कार्यालय की तकनीक पर जो कि बहु-राष्ट्रीय कम्पनी है।

26. इस प्रकार अंतिम रूप से समापन करते हुए सिद्धांतों और नजीरों दोनों के आधार पर प्रारम्भ में दिए गए प्रश्न का उत्तर सकारात्मक रूप से

---

[1] [1979] 3 उम० नि० प० 274=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1594.

दिया जाता है और यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि कर्मकार के नियोजन का स्थान औद्योगिक विवाद, जो कि ऐसे नियोजन की समाप्ति से उद्‌भूत होते हैं, के मामलों में अधिकरण की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता अवधारित करेगा। इसके ऊपर अभिलिखित कारणों को ध्यान में रखते हुए बिहार स्टेट सेल्स रिप्रिजैंटेटिव यूनियन वाले मामले में खण्ड न्यायपीठ का निर्णय ठीक विधि नहीं है और उसे आवश्यक रूप से उलटा ही जाना चाहिए।

27. उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के मुद्दे पर अधिकरण का निष्कर्ष एतद्द्वारा उलटा जाता है और यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि बिहार राज्य समुचित सरकार थी और उसके द्वारा इसके परिणामस्वरूप किया गया निर्देश विधिमान्य था। अतः मामले को गुणागुण के आधार पर अवधारित करने के लिए अधिकरण को वापस भेजा जाता है।

28. परिणामतः यह रिट आवेदन मंजूर किया जाता है। परिस्थितियों में खर्चे के बारे में कोई आदेश नही दिया जाता है।

न्या० ललित मोहन शर्मा :

29. मैं इससे सहमत हूं कि उपा० 8 में यथाअंतर्विष्ट औद्योगिक अधिकरण द्वारा पारित आदेश को अभिखंडित किया जाना चाहिए और राज्य सरकार द्वारा किए गए निर्देश को विधिमान्य रूप से किया गया अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए और मामले को गुणागुण के आधार पर विनिश्चित करने के लिए अधिकरण को वापस भेजा जाना चाहिए।

30. प्रस्तुत मामले में पिटीशनर-कर्मकार को उपा० 1 पत्र के द्वारा नियुक्त किया गया था और उसे पटना मुख्यालय में दक्षिणी बिहार के लिए मैडिकल-कम-सेल्स रिप्रिजैंटेटिव के रूप में पटना भेजा गया था। उसकी सेवा के निबन्धन उसे एक अन्य पत्र उपा० 2 द्वारा संसूचित किए गए थे जो कि उसे बिहार में उसके गया के पते पर भेजे गए थे। उसे इसका वेतन और भत्ते बिहार में संदत्त किए गए थे। वह पत्र, उपा० 3 जिससे उसके विरुद्ध कतिपय आरोप लगाए गए थे, पटना भेजा गया था। पिटीशनर ने अपना उत्तर उपा० 4 पटना से अभिकथनों का खण्डन करते हुए भेजा था और इस प्रकार से ऐसा औद्योगिक विवाद उद्‌भूत हुआ था जो कि प्रबन्धमण्डल के पत्र, उपा० 5 निश्चित रूप से पिटीशनर की सेवाओं को समाप्त करने वाला पत्र था जो पटना भेजा गया था। अतः विवाद स्पष्टतः बिहार में उद्‌भूत हुआ था।

31. यदि औद्योगिक विवाद किसी राज्य की राज्यक्षेत्रीयता के अंतर्गत

उद्भूत होता है तो उसकी सरकार को ही औद्योगिक विवाद अधिनियम के अधीन निर्देश करने के लिए समुचित सरकार माना जाना चाहिए यह प्रतिपादना **वर्क मैन आफ रंग विलास मोटर्स प्रा० लि० बनाम रंग विलास मोटर्स प्राइवेट लिमिटेड**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय की अभिव्यक्त भाषा द्वारा सुस्थापित है। निर्णय के पैरा 14 में न्यायालय ने यह मत अभिव्यक्त किया था :—

> "हमारे विचार से यह अभिनिर्धारित करने में उच्च न्यायालय ठीक था कि उचित प्रश्न जो उद्भूत होता है वह यह है कि विवाद कहां उत्पन्न हुआ था ?"

इसके आगे अग्रसर होते हुए **लालभाई त्रिकुमलाल मिल्स लिमिटेड बनाम विन**[2] वाले मामले मे मुम्बई उच्च न्यायालय की निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों को अनुमोदित किया गया था :—

> "किन्तु जिस बात को विनिश्चित करने के लिए हमारा सरोकार सम्बद्ध है वह है कि विवाद सारवान् रूप से कहां उद्भूत हुआ था ?"

32. इस स्थिति को **इण्डिया कैबिल्स कम्पनी लिमिटेड** बनाम **इसके कर्मकार**[3] वाले मामले में पुनः दुहराई गई थी।

33. अतः यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि बिहार राज्य ने प्रस्तुत मामले में विधिमान्य रूप से निर्देश किया था और अधिकरण उसको अन्यथा रूप में अभिनिर्धारित करने में गलती पर था। अतः रिट आवेदन मंजूर किया जाता है। किन्तु परिस्थितियों में खर्चे के लिए कोई आदेश नहीं दिया जाता है।

न्या० एस० के० झा :

34. मैं माननीय मुख्य न्यायाधीश के निर्णय से पूर्णतः सहमत हूं।

रिट आवेदन मंजूर किया गया।

चन्द

---

[1] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1040.

[2] ए० आई० आर० 1955 मुम्बई 463.

[1] 1962 (1) एल० एल० जे० 409.

कर सकता है या कर सकती है कि वह अपने बहुत से मकानों में से किसका चुनाव करेगा/करेगी। सरकार उन क्रियाकलापों में हस्तक्षेप नहीं कर सकती जो अनन्य रूप से मकान-मालिक के अधिकार क्षेत्र में आते हैं।"

डा० के० रामानुजम् बनाम **आवास नियंत्रक, मद्रास**[1] वाले मामले में भी न्या० रामानुजम् ने **मुल्लकोदियामल** बनाम **तमिलनाडु सरकार**[2] वाले मामले में न्या० रामप्रसाद राव के एक और निर्णय को अनुमोदन सहित निर्दिष्ट करते हुए ऐसा ही दृष्टिकोण अपनाया था। **डा० के० रामानुजम्** बनाम **आवास नियंत्रक, मद्रास**[1] वाले मामले के शीर्ष टिप्पण में यह कहा गया है :—

"जब भवन के स्वामी के निर्मुक्ति आवेदन को इन आधारों पर खारिज कर दिया जाता है (1) कि मकान-मालिक का बेरोजगार पुत्र और पुत्री परिसर के पिछले भाग को अधिभोग में रखे हुए हैं और उपर्युक्त भाग में उपलब्ध आवास उनकी आवश्यकता के लिए पर्याप्त है, और (2) मकान-मालिक के पास 8, नीलकण्ठ मेहता स्ट्रीट पर एक और मकान भी है और यदि वह अपने पुत्र और पुत्री को बेहतर आवास-सुविधा प्रदान करना चाहता है, तो उसे उपर्युक्त परिसर में रहने वाले किराएदार की वेदखली के लिए कार्यवाही करनी चाहिए थी और अपने पुत्र और पुत्री को उसमें स्थान देना चाहिए था।"

पिटीशनर की अपने अधिभोग के लिए भवन की निर्मुक्ति के लिए प्रार्थना को नामंजूर करने के लिए जो दो कारण दिए गए हैं वे स्वीकार किए जाने योग्य नहीं हैं। पिटीशनर को ही इस बात का विनिश्चय करना है कि कौन-सा आवास या भवन वह अपने रहने के लिए या अपने कुटुम्ब के सदस्यों के रहने के लिए अपने पास रखे और उसे या उसके कुटुम्ब के सदस्यों को इस बात के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता कि वह या वे परिसर के किसी भाग में अपनी इच्छा के विरुद्ध रहे या रहें।"

इस न्यायालय की स्पष्ट और लगातार की गई घोषणा (निर्णय) को देखते हुए, अब यह कहना उचित नहीं है कि प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 द्वारा दिया गया यह

1 88 एल० डब्ल्यू० 618.
2 1971 (2), एम० एल० जे० 419.
3 88 एल० डब्ल्यू० 618.

कारण विधि के अनुसार ही है कि मकान-मालिक अपनी पुत्री और दामाद को आवास देने के लिए किसी दूसरे भवन का चुनाव करे और यदि आवश्यक हो तो वह प्राइवेट किराएदार को बेदखल कर दे।

7. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने **अन्नामल्लाई एण्ड कम्पनी** बनाम **सीतल अची**[1] वाले मामले का अपनी इस दलील के समर्थन में अवलम्ब लिया कि इस बात के होते हुए भी कि आवासीय भवन मकान-मालिक के अधिभोग में है, वह अधिनियम की धारा 3-क के अधीन अपने कुटुम्ब के सदस्य के अधिभोग के लिए निर्मुक्ति हेतु आवेदन कर सकता है, यदि उस नगर में कोई और आवासीय भवन उसके अधिभोग में नहीं है। इस स्थिति को विद्वान् सरकारी अधिवक्ता ने चुनौती नहीं दी है।

8. विद्वान् सरकार अधिवक्ता द्वारा यह दलील दी गई है कि "उसके कुटुम्ब का सदस्य" पद की परिभाषा के अन्तर्गत विवाहित पुत्री नहीं आती है। धारा 2(6-क) में "उसके कुटुम्ब का सदस्य" पद को इस प्रकार परिभाषित किया गया है :—

> *"मकान-मालिक के संबंध में 'उसके कुटुम्ब का सदस्य' से उसकी पत्नी, उसका पति, पुत्र, पुत्री और पौत्र या पौत्री या आश्रित माता-पिता अभिप्रेत हैं।"

9. विद्वान् सरकारी अधिवक्ता ने अपनी दलील के समर्थन में कोई नजीर पेश नहीं की है। परिभाषा का परिशीलन करने से यह पता चलता है कि साधारण रूप से 'पुत्री' शब्द को, जो कि परिभाषा में प्रयोग किया गया है, संकुचित अर्थ देने का कोई कारण नहीं है। विवाह के पश्चात् भी पुत्री, पुत्री ही रहती है। यदि विद्वान् सरकारी अधिवक्ता की इस दलील को स्वीकार कर लिया जाता है, तो उसका तात्पर्य यह होगा कि न्यायालय कानून में कुछ ऐसी बात जोड़ देगा जो कि उसमें नहीं है। इस संबंध में यह ध्यान रखना लाभदायक होगा कि जहां कहीं भी विधानमण्डल विवाहित पुत्री या अविवाहित पुत्री या अविवाहित अवयस्क पुत्री के बीच अन्तर करना चाहता है, वहां उसने अभिव्यक्त रूप से अपने आशय को स्पष्ट कर दिया है, उदाहरणार्थ लैण्ड सीलिंग

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

> " 'Member of his family' in relation to a landlord means his spouse, son, daughter, grand-child or dependent parent."

[1] 1975-1, एम० एल० जे० 337.

ऐक्ट, अर्बन लैण्ड टैक्स ऐक्ट, अर्बन लैण्ड सीलिंग ऐक्ट इत्यादि में दी गई 'कुटुम्ब' शब्द की परिभाषा। इसलिए मैं विद्वान् सरकारी अधिवक्ता की इस दलील को स्वीकार नहीं कर सकता। चूंकि आक्षेपित आदेश अमान्य आधारों पर आधारित है, इसलिए पिटीशनर सफल होने का हकदार है।

10. परिणामतः रिट पिटीशन को, खर्चों सहित, स्वीकार किया जाता है। काउन्सेल की फीस 250 रुपये है।

रिट पिटीशन स्वीकार किया गया।

खन्ना/न०

नि० प० 1984 : मद्रास—35

इन्नसीमुथू बनाम राज्य

(Innasimuthu *Vs.* State)

तारीख 18 नवम्बर, 1983

[न्या० के० एम० नटराजन]

भारतीय दण्ड संहिता, 1860—धारा 304क—दुर्घटना—उतावलेपन और लापरवाही का सबूत—दाण्डिक मामले में स्वयं प्रमाण के सिद्धान्त को लागू किया जाना—जहां पर उतावलेपन और लापरवाही का प्रत्यक्ष साक्ष्य न हो वहां इस सिद्धान्त को लागू नहीं किया जा सकता—धारा 304 क के प्रयोजनार्थ अभियुक्त के उपेक्षापूर्ण कार्य और (व्यक्ति की) मृत्यु में सीधा सम्बन्ध होना आवश्यक है—केवल दुर्घटना के होने से उतावलेपन और उपेक्षापूर्ण चालन की आम उपधारणा नहीं की जा सकती।

23 अप्रैल, 1981 को अभि० सा० 3 ने पिटीशनर की लारी में खाद्यान्न की कुछ बोरियां लादीं और उसने भी उसी लारी में यात्रा की। पिटीशनर लारी को चला रहा था। मार्ग में अभि० सा० 4 ने भी उसमें खाद्यान्न की बोरियां लादीं। अभि० सा० 3 और क्लीनर केबिन में बैठे हुए थे। अभि० सा० 4 और 5 लारी में लदी बोरियों पर बैठे हुए थे। लगभग तीन बजे अपरान्ह वह लारी वेत्तनविदुथी सड़क पर जमा पत्थर के ढेर से टकरा कर उलट गई। लारी उलटने के समय अभि० सा० 3 जाग गया और उसकी टांग क्षतिग्रस्त हो गई। क्लीनर की उसी स्थान पर मृत्यु हो गई। अभि० सा० 4 और 5 भी लारी में लदी बोरियों से दूर जा गिरे और उन्हें

क्षतियां पहुंचीं । अभि० सा० 3 द्वारा परिवाद किए जाने पर पिटीशनर के विरुद्ध मामला रजिस्टर किया गया और अन्वेषण के पश्चात् आरोप-पत्र फाइल किया गया ।

पिटीशनर की परीक्षा की गई तो उसने यह कथन किया कि जब वह लारी चला रहा था तो उसने धम्म की आवाज सुनी और लारी उलट गई । दोनों निचले न्यायालयों ने अभियोजन के पक्षकथन को स्वीकार करते हुए पिटीशनर को दोषी पाया और उसे भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304क के अधीन सिद्धदोष ठहराया और दो वर्ष का कठोर कारावास और पांच वर्ष की अवधि के लिए चालक लाइसेंस रद्द करने का दण्डादेश दिया । उक्त निर्णय के विरुद्ध पिटीशनर ने यह पुनरीक्षण प्रस्तुत किया है जिसमें यह दलील दी गई है कि यह सावित करने के लिए कोई साक्ष्य नहीं है कि यान चलाने में पिटीशनर ने उतावलापन या उपेक्षा बरती थी । एकमात्र प्रत्यक्षदर्शी साक्षी अभि० सा० 3 ने अपने साक्ष्य में यह स्वीकार किया है कि धम्म की आवाज सुनने के पश्चात् उसने यह देखा कि लारी उलट गई है । किन्तु उसे इस बात का पता नहीं था कि लारी तेज गति से चल रही थी या नहीं । यह भी दलील दी गई कि अपील न्यायालय ने साक्ष्य की बिल्कुल भी जांच नहीं की है और न ही ऐसा करने के कारण अभिलिखित किए है ।

अभिनिर्धारित—पुनरीक्षण पिटीशन स्वीकार किया गया ।

पुनरीक्षण-पिटीशनर ने यह ठीक ही दलील दी है कि अभि० सा० 3 ने अपनी मुख्य परीक्षा में भी यह कथन किया है कि लारी के गिरने के पश्चात् ही वह नींद से जागा था और यद्यपि मुख्य-परीक्षा में उसने यह कथन किया था कि लारी तेज गति से चलाई गई थी तथापि उसने अपनी प्रतिपरीक्षा में इस कथन का त्याग कर दिया था और यह कहा था कि वह यह बात नहीं जानता है कि लारी तेज गति से चल रही थी या नहीं । शोर सुनने के पश्चात् ही उसने यह पाया कि लारी उलट गई है और किसी ने उसको और पिटीशनर को लारी में से निकाला है । इस प्रकार इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यान को चलाने में पिटीशनर के उतावलेपन और लापरवाही को सिद्ध करने के लिए कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य नहीं है । (पैरा 3)

मोटरयान निरीक्षक (अभि० सा० 1) ने यह साक्ष्य दिया है कि यान में हुए नुकसान के कारण सड़क पर उसकी जांच नहीं की जा सकती और वह प्रतिरक्षा-काउन्सेल के इस सुझाव से भी सहमत हो गया कि अगर सामने की छड़ का स्प्रिंग (कमानी) अचानक टूट जाता है तो दुर्घटना हो सकती है ।

अभि० सा० 1 ने अपने साक्ष्य में इस सम्भावना से भी इनकार नहीं किया है कि सामने की छड़ का स्प्रिग अचानक टूट गया होगा और इसी के कारण दुर्घटना हो गई होगी। क्योंकि दुर्घटना हुई है, इसलिए इस बारे में कोई आम उपधारणा नहीं की जा सकती कि किसी व्यक्ति ने मोटरयान को उतावलेपन और उपेक्षापूर्ण ढंग से चलाया होगा। यह तथ्य संबंधी प्रश्न है कि क्या कोई व्यक्ति उतावलेपन और उपेक्षापूर्ण ढंग से यान चलाने का दोषी है या नहीं। भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304-क दाण्डिक विधि शास्त्र की अपवाद नहीं है। न्यायालय के विचार से इस मामले में यह दर्शाने के लिए साक्ष्य में कुछ भी नहीं है कि मृतक की मृत्यु का कारण पिटीशनर का उतावलापन और उपेक्षापूर्ण रूप में किया गया कृत्य था और निचले न्यायालय ने मामले को भलीभांति समझे बगैर इसका निपटारा किया है। (पैरा 13)

		पैरा
[1972]	1972 एल० डब्ल्यू० क्रि० 52 : कोथांदम वाला मामला (Kothandam's case);	13
[1980]	(1980) 3 उम० नि० प० 18 : 1979 (2) क्रि० एल० जे० 1974-(1980) 1 एस० सी० आर० 95 : सैय्यद अकबर **बनाम** कर्नाटक राज्य (Syed Akbar *Vs.* The state of Karnataka);	8
[1968]	(1968) 1 उम० नि० प० 12-1968 एम० एल० जे० क्रि० 556 : एस० आर० मूलानी **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (S. R. Mulani *Vs.* The State of Maharashtra)	12

का **अवलंब** लिया गया।

[1979]	1979 का दाण्डिक पुनरीक्षण मामला सं० 361 जिसका विनिश्चय 18 जुलाई, 1979 को किया गया : आर० पेरुमल **बनाम** राज्य (R. Perumal *Vs.* The State);	10
[1973]	1973 का दाण्डिक पुनरीक्षण मामला सं० 871, जिसका विनिश्चय 12 अगस्त, 1974 को किया गया : वैंकटाचलम वाला मामला (Venkaṭachalam's case)	11

से **प्रभेद** बताया गया।

(पुनरीक्षण) अधिकारिता : 1981 का दाण्डिक प्रकीर्ण पिटीशन सं० 4296.

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 और 401 के अधीन किया गया पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से ... श्री आर० संथानम

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री के० जयकुमार

न्या० के० एम० नटराजन :

यह पुनरीक्षण पुदुकोट्टई के विद्वान् सेशन न्यायाधीश के उस निर्णय के विरुद्ध किया गया है जिसमें उन्होंने पुदुकोट्टई के मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा भारतीय दण्ड सहिता की धारा 304-क के अधीन दोषसिद्धि और दो वर्ष के कठोर कारावास और 5 वर्ष की अवधि के लिए चालक-लाइसेंस रद्द करने के दण्डादेश की पुष्टि की थी ।

2. अभियोजन मामले के तथ्य संक्षेप में इस प्रकार हैं । 23 अप्रैल, 1981 को अभि० सा० 3 ने कोरांडीपुरम से पुदुकोट्टई ले जाने के लिए पिटीशनर की लारी में चोचम, रागी और चावल की बोरियां लादीं और उसने भी लारी में यात्रा की । पिटीशनर ने लारी को चलाया । लगभग 10 बजे अपरान्ह लारी करम्बाकुडी पहुंच गई । करम्बाकुडी और थिरुवानम में अभि० सा० 4, पल्लेदार ने 25 बोरी चावल और चोलम लादा । अभि० सा० 3 और क्लीनर केबिन में बैठे हुए थे । अभि० सा० 4 और 5 लारी में लदी बोरियों पर बैठे हुए थे । लगभग 3 बजे अपरान्ह वेत्तनविदुथी में सड़क पर जमा पत्थरों के ढेर से लारी टकराकर उलट गई । जब लारी उलटी उस समय अभि० सा० 3 जाग गया । उसकी टांग क्षतिग्रस्त हो गई । क्लीनर की उसी स्थान पर ही मृत्यु हो गई । अभि० सा० 4 और 5 भी लारी में लदी बोरियों से दूर जा गिरे और क्षतिग्रस्त हो गए । अभि० सा० 3 द्वारा परिवाद, प्रदर्श-पी 3, किए जाने पर पिटीशनर के विरुद्ध मामला रजिस्टर किया गया, उसका अन्वेषण किया गया और आरोप-पत्र फाइल किया गया ।

3. अभि० सा० 1, मोटरयान निरीक्षक ने यान का निरीक्षण किया और प्रमाण-पत्र प्रदर्श पी-1 जारी किया । अभि० सा० 2, चिकित्सा अधिकारी ने क्लीनर मोहम्मद अली के शव की शव-परीक्षा की । अभि० सा० 3 से 5 घटना के प्रत्यक्षदर्शी साक्षी हैं । अभि० सा० 4 और 5 को पक्षद्रोही माना गया । अभि० सा० 6 अन्वेषण अधिकारी है ।

4. दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन जब पिटीशनर की परीक्षा की गई तो उसने यह कथन किया कि जब वह लारी चला रहा था तो उसने "डमार" (धम) की आवाज सुनी और लारी उलट गई। क्लीनर लारी से कूद गया और मर गया। अभि० सा० 3 और 4 क्षतिग्रस्त हो गए और यह कि उसने पुलिस को प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दी।

5. दोनों निचले न्यायालयों ने अभियोजन के पक्षकथन को स्वीकार करते हुए पिटीशनर को दोषी पाया और जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है उसे सिद्धदोष ठहराते हुए दण्डादेश दिया।

6. पुनरीक्षण-पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल श्री आर० संथानम ने मुख्य रूप से यह दलील दी कि यह साबित करने के लिए कोई साक्ष्य नहीं है कि यान चलाने में पिटीशनर ने उतावलापन या उपेक्षा बरती थी, एकमात्र प्रत्यक्षदर्शी साक्षी, अभि० सा० 3 ने अपने साक्ष्य में यह स्वीकार किया है कि "डमार" (धम) की आवाज सुनने के पश्चात् उसने यह देखा कि लारी उलट गई। उसे इस बात का पता नहीं था कि लारी तेज गति से चल रही थी या नहीं और निचला न्यायालय स्वयं प्रमाण के सिद्धांत को लागू करने में गलती पर था। विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील भी दी कि अपील न्यायालय ने साक्ष्य की बिल्कुल भी जांच नहीं की है और न ही ऐसा करने के कारण अभिलिखित किए हैं। उसने तो केवल यह मत व्यक्त किया है कि अभियोजन के साक्ष्य पर सावधानी पूर्वक विचार करने के पश्चात् ही विचारण न्यायालय ने विनिश्चय किया है, और अपील को खारिज कर दिया। इसलिए अपील न्यायालय ने दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 384 (3) के उपबन्धों का अनुपालन करते हुए निर्णय नहीं दिया।

7. पुनरीक्षण-पिटीशनर ने यह ठीक ही दलील दी है कि अभि० सा० 3 ने अपनी मुख्य परीक्षा में भी यह कथन किया है कि लारी के गिरने के पश्चात् ही वह नींद से जागा था और यद्यपि मुख्य-परीक्षा में उसने यह कथन किया था कि लारी तेज गति से चलाई गई थी तथापि उसने अपनी प्रति-परीक्षा में इस कथन का त्याग कर दिया था और यह कहा था कि वह यह बात नही जानता है कि लारी तेज गति से चल रही थी या नहीं। शोर सुनने के पश्चात् ही उसने यह पाया कि लारी उलट गई है और किसी ने उसको और पिटीशनर को लारी में से निकाला है। इस प्रकार इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यान को चलाने में पिटीशनर के उतावलेपन और लापरवाही को सिद्ध करने के लिए कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य नहीं है।

8. अब अवधारणार्थ जो एकमात्र प्रश्न बच जाता है वह यह है कि क्या इस मामले की परिस्थितियों में स्वयं-प्रमाण के सिद्धान्त को लागू किया जा सकता है। पुनरीक्षण-पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने उच्चतम न्यायालय के **सैय्यद अकबर** बनाम **कर्नाटक राज्य**[1] वाले विनिश्चय का अवलम्ब लिया, जिसमें उच्चतम न्यायालय ने 'स्वयं-प्रमाण' के सिद्धान्त को लागू करने की गुंजाइश पर विचार किया था और निम्नलिखित सिद्धान्त व्यक्त किये थे :—

> "स्वयं प्रमाण के इस गूढ़ सिद्धान्त को दाण्डिक विचारणों में लागू न करने के मुख्य कारण यह हैं :—प्रथमतः किसी दाण्डिक विचारण में अभियुक्त के विरुद्ध आरोप सिद्ध करने के लिए प्रत्येक आवश्यक बात को साबित करने का भार सदैव अभियोजन-पक्ष पर होता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को तब तक निर्दोष समझा जाता है जब तक प्रतिकूल साबित न हो जाए और किन्हीं अपवादों के अधीन रहते हुए आपराधिकता की अवधारणा कदापि नहीं की जाती है। ऐसा कोई कानूनी अपवाद नहीं बनाया गया है जहां अभियुक्त के विरुद्ध उपेक्षा की आज्ञापक धारणा करने की अपेक्षा की गई हो जहां दुर्घटना किसी के उपेक्षापूर्ण कार्य की 'स्वयं कथा सुनाती है।' द्वितीयतः साक्ष्य के प्रभाव अर्थात् सिविल और दाण्डिक कार्यवाहियों के सबूत के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण भेद है। सिविल कार्यवाहियों में, सम्भाव्यता का प्रभाव ही पर्याप्त है और प्रत्यर्थी अपरिहार्य रूप से प्रत्येक युक्तियुक्त सन्देह के फायदे का हकदार नहीं है किन्तु दाण्डिक कार्यवाहियों में दोष का मतावलम्बन ऐसी नैतिक निश्चितता के साथ होना चाहिए जो न्यायालय के निर्णय को समस्त युक्तियुक्त सन्देह से परे एक युक्तिवान व्यक्ति के रूप में प्रभावित करे। जहां उपेक्षा अपराध का एक अनिवार्य भाग है वहां अभियोजन द्वारा सिद्ध की जाने वाली उपेक्षा सदोष या प्रचुर होनी चाहिए, न कि निर्णय की किसी त्रुटि मात्र पर आधारित।"

उच्चतम न्यायालय ने यह मत भी अभिव्यक्त किया :—

> "प्रस्तुत मामले में इस सूत्र को लागू नहीं किया जा सकता था। गाड़ी को सड़क के बिल्कुल ही दायीं ओर अचानक ले जाने की परिस्थिति स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से अभियुक्त की ओर से सावधानी और नियन्त्रण का प्रयास करने के कर्त्तव्य की उपेक्षा या उदासीनता के बारे में नहीं बतलाती।"

---

[1] [1980] 3 उम० नि० प० 18=1979(2) क्रि० एल० जे० 1974=[1980] 1 एस० सी० आर० 95.

9. प्रस्तुत मामले में पिटीशनर के विरुद्ध यह आरोप है कि उसने लारी सं० एम० डी० ए० 3913 को उतावलेपन और उपेक्षापूर्ण ढंग से चलाया और उसे सड़क के उत्तरी किनारे पर खड़े नीम के वृक्ष से टकरा दिया, जिसके परिणामस्वरूप लारी उलट गई और अभि० सा० 3 के साथ केबिन में बैठे हुए क्लीनर की मृत्यु हो गई। अभि० सा० 1, यान-निरीक्षक ने भी अपनी मुख्य-परीक्षा में यह कथन किया है कि यान का जो नुकसान हुआ है वह वृक्ष से टकराने के कारण हुआ है। दोनों निचले न्यायालयों ने यह उपधारणा करते हुए पिटीशनर को सिद्धदोष ठहराया है कि लारी सड़क पर पड़े हुए जेली के ढेर पर चढ़ने के पश्चात् बाईं ओर उलट गई। अभि० सा० 4 और और 5 ने, जिन्होंने उस लारी में यात्रा की थी, अभियोजन का पक्ष-समर्थन नहीं किया और उन्हें पक्षद्रोही माना गया। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि अभि० सा० 3 को, जो मृतक के साथ ही केबिन में बैठा था, केवल साधारण क्षतियां पहुंचीं। इस प्रकार, यह पिटीनशर के इस अभिवाक् को अधिससम्भाव्य बना देगा कि जब शोर सुनाई दिया और लारी उलट गई उस समय क्लीनर लारी से कूद गया था। मेरे विचार से, पुनरीक्षण-पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल द्वारा अवलम्ब लिया गया, उपर्युक्त विनिश्चय प्रस्तुत मामले के विनिश्चय को पूर्णतया लागू होता है।

10. विद्वान् लोक अभियोजक के प्रतिनिधि, श्री जयकुमार ने न्या० पाल द्वारा **आर० पेरुमल बनाम राज्य**[1] वाले अप्रतिवेदित निर्णय का अवलम्ब लेते हुए यह दलील दी कि 'स्वयं-प्रमाण' का सिद्धान्त प्रस्तुत मामले को भी लागू किया जा सकता है। उस निर्णय में वर्णित परिस्थितियों को ध्यान में रख कर ही यह सिद्धान्त लागू किया गया था। उपर्युक्त मामले में एक प्रत्यक्षदर्शी साक्षी ने अभियोजन के बयान का समर्थन किया और इस बात का साक्ष्य मौजूद था कि दोनों पी० टी० सी० बसें एक दूसरे का पीछा करते हुए सड़क पर आईं और उनमें से एक बस उस समय उसके आगे जाने वाले साईकल-सवार से टकराई। टक्कर के परिणामस्वरूप साईकल-सवार आगे के दोनों पहियों के बीच में फंस गया और टक्कर के स्थान से 20 फुट तक घिसटता चला गया। मोटर यान निरीक्षक ने यह नोट किया कि सामने के दाहिने वाले बम्पर के रोगन पर भूमि से लगभग 1 सें० मी० ×3 सें० मी० × और 59 सें० मी० की ताजी खरोंचें पड़ी हुई हैं। विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि उन परिस्थितियों में स्वयं-प्रमाण का सिद्धान्त लागू किया जा सकता है।

---

[1] 1979 का दाण्डिक पुनरीक्षण मामला सं० 361 जिसका विनिश्चय 18 जुलाई, 1979 को किया गया।

11. श्री जयकुमार ने न्याय० पाल द्वारा **वेंकटाचलम**[1] वाले अप्रतिवेदित मामले में दिए गए विनिश्चय का अवलम्ब लेते हुए यह दलील दी कि पिटीशनर को 'भली-भांति देखकर चलने' के सिद्धान्त के अधीन उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। उद्धृत नजीर में तीन प्रत्यक्षदर्शियों ने एकमत से यह परिसाक्ष्य दिया था कि बैल-गाड़ी सड़क के पूर्वी किनारे पर जा रही थी और विपरीत दिशा से आने वाली लारी बैलगाड़ी से टकरा गई। न्या० पाल ने उपर्युक्त मामले की परिस्थितियों और न्यायालय में प्रस्तुत की गई सामग्री को ध्यान में रखते हुए यह मत व्यक्त किया कि अगर पिटीशनर भली-भांति देखकर चल रहा होता तो वह सड़क के बीच में आ रही बैलगाड़ी को अवश्य ही देख लेता और वह लारी को थोड़ा-सा बायीं ओर, अर्थात् सड़क के पश्चिम की ओर मोड़कर बैलगाड़ी को टक्कर से बचा सकता था क्योंकि वहां पर सड़क की चौड़ाई लगभग 35 फुट थी। प्रस्तुत मामले के तथ्यों पर यह विनिश्चय बिल्कुल भी लागू नहीं होता है।

12. **एस० आर० मूलानी** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[2] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था:—

> "भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304-क की पकड़ में आने के लिए यह आवश्यक है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु अभियुक्त द्वारा कारित की गई हो और वह उतावलेपन के और उपेक्षापूर्ण किसी कार्य के किए जाने से कारित हुई हो। दूसरे शब्दों में, इस बात का सबूत होना चाहिए कि अभियुक्त का उतावलापन और उपेक्षापूर्ण कार्य मृत्यु का सन्निकट कारण था। व्यक्ति की मृत्यु और अभियुक्त के उतावलेपन और उपेक्षापूर्ण कार्य में सीधा सम्बन्ध होना चाहिए।"

13. मोटरयान निरीक्षक (अभि० सा० 1) ने यह साक्ष्य दिया है कि यान में हुए नुकसान के कारण सड़क पर उसकी जांच नहीं की जा सकती और वह प्रतिरक्षा-काउन्सेल के इस सुझाव से भी सहमत हो गया कि अगर सामने की छड़ का स्प्रिंग (कमानी) अचानक टूट जाता है तो दुर्घटना हो सकती है। अभि० सा० 1 ने अपने साक्ष्य में इस सम्भावना से भी इनकार नहीं किया है कि सामने की छड़ का स्प्रिंग अचानक टूट गया होगा और इसी के कारण दुर्घटना हो गई होगी। **कोथांदम वाले मामले**[3] में न्या० नटराजन ने ठीक ही यह मत व्यक्त किया है क्योंकि दुर्घटना हुई है, इसलिए इस बारे में कोई आम उपधारणा

[1] 1973 का दाण्डिक पुनरीक्षण मामला स० 871, जिसका विनिश्चय 12 अगस्त, 1974 को किया गया।

[2] [1968] 1 उम नि० प० 12=1968 एम० एल० जे० (क्रि०) 556.

[3] 1972 एल० डब्ल्यू० क्रि० 52.

नहीं की जा सकती कि किसी व्यक्ति ने मोटरयान को उतावलेपन और उपेक्षापूर्ण ढंग से चलाया होगा । यह तथ्य सम्बन्धी प्रश्न है कि क्या कोई व्यक्ति उतावलेपन और उपेक्षापूर्ण ढंग से यान चलाने का दोषी है या नहीं । भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304-क दाण्डिक विधिशास्त्र की अपवाद नहीं है । मेरे विचार से इस मामले में यह दर्शाने के लिए साक्ष्य में कुछ भी नहीं है कि मृतक की मृत्यु का कारण पिटीशनर का उतावलापन और उपेक्षापूर्ण किया गया कृत्य था और निचले न्यायालय ने मामले को भलीभांति समझे बगैर इसका निपटारा किया है और इसीलिए न्याय के व्यापक हित को ध्यान में रखते हुए पुनरीक्षण द्वारा हस्तक्षेप चाहा गया है ।

14. परिणामतः पुनरीक्षण स्वीकार किया जाता है । अभियुक्त की दोषसिद्धि और दण्डादेश को अपास्त किया जाता है और उसे दोषमुक्त किया जाता है । जमानत का बन्ध-पत्र रद्द किया जाता है ।

पुनरीक्षण पिटीशन स्वीकार किया गया ।

खन्ना/श०

नि० प० 1984 : मद्रास—43

वी० मोहनगोविन्दा दास बनाम ए० एम० धनपाल चेट्टियार और अन्य

(V. Mohangovinda Dass *Vs.* A. M. Dhanpal Chettiar & Others)

तारीख 22 नवम्बर, 1983

[न्या० वेनुगोपाल]

अतिब्याज ऋण अधिनियम, 1918—धारा 3(1)—यदि न्यायालय के पास यह विश्वास करने के लिए कारण हैं कि संव्यवहार, जैसा कि उसके पक्षकारों के बीच था, सारभूत रूप से अनुचित है, तो न्यायालय संव्यवहार को दुबारा खोल सकता है, पक्षकारों के बीच हिसाब रख सकता है और किसी अत्यधिक ब्याज के लिए ऋणी को सभी दायित्वों से मुक्त कर सकता है ।

तृतीय प्रतिवादी अपीलार्थी है और प्रतिवादी 1, 2, 4 और 5 प्रत्यर्थी हैं । प्रथम प्रतिवादी ने वादी के हक में एक बंधक का निष्पादन किया था । प्रथम प्रतिवादी को दिवालिया घोषित कर दिया था और सम्पत्ति द्वितीय प्रतिवादी में निहित हो गई । उसने सम्पत्ति को लोक नीलाम में सभी विल्लंगमों के अध्यधीन वेच दिया और तृतीय प्रतिवादी ने उसे खरीद लिया और विक्रय की उसके हक में पुष्टि कर दी गई । प्रतिवादी सं० 4 और 5 को पाश्चिक

(पुनरीक्षण) अधिकारिता : 1981 का दाण्डिक प्रकीर्ण पिटीशन सं० 4296.

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 और 401 के अधीन किया गया पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से ... श्री आर० संथानम

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री के० जयकुमार

न्या० के० एस० नटराजन :

यह पुनरीक्षण पुदुकोट्टई के विद्वान् सेशन न्यायाधीश के उस निर्णय के विरुद्ध किया गया है जिसमें उन्होंने पुदुकोट्टई के मुख्य न्यायिक मंजिस्ट्रेट द्वारा भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304-क के अधीन दोषसिद्धि और दो वर्ष के कठोर कारावास और 5 वर्ष की अवधि के लिए चालक-लाइसेंस रद्द करने के दण्डादेश की पुष्टि की थी ।

2. अभियोजन मामले के तथ्य संक्षेप में इस प्रकार हैं । 23 अप्रैल, 1981 को अभि० सा० 3 ने कोरांडीपुरम से पुदुकोट्टई ले जाने के लिए पिटीशनर की लारी में चोचम, रागी और चावल की बोरियां लादीं और उसने भी लारी में यात्रा की । पिटीशनर ने लारी को चलाया । लगभग 10 बजे अपरान्ह लारी करम्बाकुडी पहुंच गई । करम्बाकुडी और थिरुवानम में अभि० सा० 4, पल्लेदार ने 25 बोरी चावल और चोलम लादा । अभि० सा० 3 और क्लीनर केबिन में बैठे हुए थे । अभि० सा० 4 और 5 लारी में लदी बोरियों पर बैठे हुए थे । लगभग 3 बजे अपरान्ह वेत्तनविदुथी में सड़क पर जमा पत्थरों के ढेर से लारी टकराकर उलट गई । जब लारी उलटी उस समय अभि० सा० 3 जाग गया । उसकी टांग क्षतिग्रस्त हो गई । क्लीनर की उसी स्थान पर ही मृत्यु हो गई । अभि० सा० 4 और 5 भी लारी में लदी बोरियों से दूर जा गिरे और क्षतिग्रस्त हो गए । अभि० सा० 3 द्वारा परिवाद, प्रदर्श-पी 3, किए जाने पर पिटीशनर के विरुद्ध मामला रजिस्टर किया गया, उसका अन्वेषण किया गया और आरोप-पत्र फाइल किया गया ।

3. अभि० सा० 1, मोटरयान निरीक्षक ने यान का निरीक्षण किया और प्रमाण-पत्र प्रदर्श पी-1 जारी किया । अभि० सा० 2, चिकित्सा अधिकारी ने क्लीनर मोहम्मद अली के शव की शव-परीक्षा की । अभि० सा० 3 से 5 घटना के प्रत्यक्षदर्शी साक्षी हैं । अभि० सा० 4 और 5 को पक्षद्रोही माना गया । अभि० सा० 6 अन्वेषण अधिकारी है ।

नहीं की जा सकती कि किसी व्यक्ति ने मोटरयान को उतावलेपन और उपेक्षापूर्ण ढंग से चलाया होगा । यह तथ्य सम्बन्धी प्रश्न है कि क्या कोई व्यक्ति उतावलेपन और उपेक्षापूर्ण ढंग से यान चलाने का दोषी है या नहीं । भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304-क दाण्डिक विधिशास्त्र की अपवाद नहीं है । मेरे विचार से इस मामले में यह दर्शाने के लिए साक्ष्य में कुछ भी नहीं है कि मृतक की मृत्यु का कारण पिटीशनर का उतावलापन और उपेक्षापूर्ण किया गया कृत्य था और निचले न्यायालय ने मामले को भलीभांति समझे बगैर इसका निपटारा किया है और इसीलिए न्याय के व्यापक हित को ध्यान में रखते हुए पुनरीक्षण द्वारा हस्तक्षेप चाहा गया है ।

14. परिणामतः पुनरीक्षण स्वीकार किया जाता है । अभियुक्त की दोषसिद्धि और दण्डादेश को अपास्त किया जाता है और उसे दोषमुक्त किया जाता है । जमानत का बन्ध-पत्र रद्द किया जाता है ।

पुनरीक्षण पिटीशन स्वीकार किया गया ।

खन्ना/श०

नि० प० 1984 : मद्रास—43

वी० मोहनगोविन्दा दास बनाम ए० एम० धनपाल चेट्टियार और अन्य

(V. Mohangovinda Dass *Vs.* A. M. Dhanpal Chettiar & Others)

तारीख 22 नवम्बर, 1983

[न्या० वेनुगोपाल]

अतिब्याज ऋण अधिनियम, 1918—धारा 3(1)—यदि न्यायालय के पास यह विश्वास करने के लिए कारण हैं कि संव्यवहार, जैसा कि उसके पक्षकारों के बीच था, सारभूत रूप से अनुचित है, तो न्यायालय संव्यवहार को दुबारा खोल सकता है, पक्षकारों के बीच हिसाब रख सकता है और किसी अत्यधिक ब्याज के लिए ऋणी को सभी दायित्वों से मुक्त कर सकता है ।

तृतीय प्रतिवादी अपीलार्थी है और प्रतिवादी 1, 2, 4 और 5 प्रत्यर्थी हैं । प्रथम प्रतिवादी ने वादी के हक में एक बंधक का निष्पादन किया था । प्रथम प्रतिवादी को दिवालिया घोषित कर दिया था और सम्पत्ति द्वितीय प्रतिवादी में निहित हो गई । उसने सम्पत्ति को लोक नीलाम में सभी विल्लंगमों के अध्यधीन बेच दिया और तृतीय प्रतिवादी ने उसे खरीद लिया और विक्रय की उसके हक में पुष्टि कर दी गई । प्रतिवादी सं० 4 और 5 को पाश्चिक

बंधकदार कहा गया है। वादी ने प्रथम प्रतिवादी द्वारा निष्पादित बंधक पर बकाया रकम की वसूली के लिए वाद फाइल किया। तृतीय प्रतिवादी-अपीलार्थी की ओर से यह दलील दी गई कि दावा की गई 18% वार्षिक ब्याज अत्यधिक और अतिव्याज है और वह अतिव्याज ऋण अधिनियम, 1918 के अधीन फायदों को प्राप्त करने का हकदार है। विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि 18% वार्षिक ब्याज अत्यधिक है और अतिव्याज है। इस निर्णय और डिक्री के विरुद्ध तृतीय प्रतिवादी ने अपील फाइल की है। न्यायालय के समक्ष विचार के लिए मुख्य प्रश्न यह था कि क्या दावा की गई 18% वार्षिक ब्याज अत्यधिक और अतिव्याज है?

अभिनिर्धारित—अपील भागतः मंजूर की गई।

अतिव्याज ऋण अधिनियम, 1918 में 1937 के तमिलनाडु ऐक्ट द्वारा यथासंशोधित की धारा 3(1) में उपबन्धित है कि यदि न्यायालय के पास यह विश्वास करने के लिए कारण हैं कि संव्यवहार, जैसा कि पक्षकारों के बीच था, सारभूत रूप से अनुचित है तो न्यायालय संव्यवहार को दुबारा खोल सकता है, पक्षकारों के बीच हिसाब रख सकता है और किसी अत्यधिक ब्याज के लिए ऋणी को सभी दायित्वों से मुक्त कर सकता है। (पैरा 5)

बंधक पत्र में प्रत्येक महीने में संदेय 10% साधारण ब्याज के लिए उपबन्धित है, और लगातार तीन महीने की अवधि तक व्यतिक्रम की दशा में मूल रकम और प्रोद्भूत ब्याज पर 18% के संदेय के लिए उपबन्धित है। वाद पत्र में के अभिकथनों से यह प्रतीत होता है कि वादी प्रथमबंधकदार है और प्रत्यर्थी 4 और 5 सिर्फ पाश्चिक बंधकदार है। साक्ष्य यह उपदर्शित करता है कि पंचम प्रतिवादी के हक में पूर्व बंधक को सम्पत्ति शहरी क्षेत्र में मकान सम्पत्ति होने की वजह से एक पर्याप्त किराया प्राप्त करने के कारण बंधक राशि का संदाय वापस प्राप्त करने में बिलकुल कोई भी जोखिम अन्तर्वलित नहीं है। वाद सम्पत्ति से करों का संदाय करने के बाद, तृतीय प्रतिवादी को दुकानों से किराए के रूप में 1000/- रुपए से कम प्राप्त नहीं होते। इन तथ्यों पर विचार करने के बाद, मामले की परिस्थितियों में 15% वार्षिक की दर पर साधारण ब्याज उचित और युक्तियुक्त प्रतीत होता है। (पैरा 7)

		पैरा
[1974]	(1974) I एम० एल० जे० 334 : एन० ए० फर्नान्डो **बनाम** सुब्बैया अय्यर (N. A. Fernando *Vs.* Subbia Iyar);	7

[1971] (1971) 2 एस० सी० आर० 427 : बी० राजगोपाला स्वामीनायडू **बनाम** बैंक आफ कारीइकुडी लिमिटेड (B. Raja Gopala Swami Naidu *Vs*. Bank of Kari Kudi Limited); 3

[1967] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 412 : वारदा चेरियर **बनाम** गोपाला मेनन (Varada Chariar *Vs*. Gopala Menon) 3, 6

निर्दिष्ट किए गए ।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1978 की अपील सं० 741.

अधीनस्थ न्यायाधीश, कृष्णागिरि के न्यायालय के आरम्भिक वाद सं० 309/77 में तारीख 26 नवम्बर, 1977 को पारित डिक्री के विरुद्ध फाइल की गई अपील ।

न्या० वेनुगोपाल :

तृतीय प्रतिवादी अपीलार्थी है और प्रतिवादी 1, 2, 4 और 5 प्रत्यर्थी हैं। प्रथम प्रतिवादी ने 5 जुलाई, 1965 को 17,000 रुपये के लिए वादी के हक में एक बंधक का निष्पादन किया था । प्रथम प्रतिवादी को कृष्णागिरि में जिला न्यायाधीश, धर्मपुरी द्वारा 1971 की दिवाला विषयक अर्जी सं० 3 में दिवालिया न्यायनिर्णीत कर दिया गया था और सम्पत्ति द्वितीय प्रतिवादी में निहित हो गई । उसने सम्पत्ति को 19 जुलाई, 1973 को लोक नीलाम में सभी बिल्लंगम के अध्याधीन वेच दिया और तृतीय प्रतिवादी ने उसे 26,050/-रु० में खरीद लिया और 5 नवम्बर, 1973 को विक्रय की उसके हक में पुष्टि कर दी गई । प्रतिवादी 4 और 5 को पाश्चिक बंधकदार कहा गया है । वादी ने प्रथम प्रतिवादी द्वारा निष्पादित बंधक पर बकाया रकम की वसूली के लिए वाद फाइल किया ।

2. तृतीय प्रतिवादी जिसने प्रस्तुत अपील को फाइल किया है, की दलील यह है कि दावा की गई 18% वार्षिक की ब्याज अत्यधिक और अतिब्याज है और वह अतिब्याज ऋण अधिनियम, 1918 जैसा कि 1937 के तमिलनाडु ऐक्ट VIII द्वारा यथासंशोधित है, के अधीन फायदों को प्राप्त करने का हकदार है । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि नगरपालिका को संदेय करों के लिए भत्तों को देने के बाद भी तृतीय

प्रतिवादी दुकानों से किराए के रूप में 1000/- रुपये से कम प्राप्त नहीं करेगा जबकि वादी द्वारा ऋण पर 18% वार्षिक पर ब्याज के लिए सिर्फ 250% रुपये प्रतिमाह के लिए दावा किया है और तृतीय प्रतिवादी और उसका पिता साहूकार हैं जो 36% की ब्याज लेते हैं और वादी ने विशिष्ट परिस्थितियां रखी हैं जिनके अधीन वह व्यतिक्रम खण्ड के अनुसार 18% पर ब्याज का दावा कर सकता है और वर्ष 1965 के बंधक पर 18% पर साधारण ब्याज का दावा न तो अत्यधिक कहा जा सकता है और न अतिब्याज कहा जा सकता है। इन निष्कर्षों पर विचारण न्यायालय ने 46,841.75 रुपए की रकम के लिए आनुपातिक खर्चे के साथ वादी के हक में प्रारम्भिक डिक्री प्रदान कर दी। विचारण न्यायालय के निर्णय और इस डिक्री के विरुद्ध तृतीय प्रतिवादी ने प्रस्तुत अपील फाइल की है।

3. **वारदा चेरियर** बनाम **गोपाला मेनन**[1] और **वी० राजगोपाला-स्वामी नायडू** बनाम **बैंक आफ काराकुडी लिमिटेड**[2] में प्रकाशित उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयों का अवलम्ब लेते हुए तृतीय प्रतिवादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई यह दलील कि विचार करने को संगणना में ली जाने वाली परिस्थितियों कि क्या दावा किया गया ब्याज अतिब्याज ऋण अधिनियम, 1918 के अधीन अत्यधिक है, ये हैं : (क) प्रस्थापित प्रतिभूति का मूल्य, (ख) ऋणी की आर्थिक स्थिति जिसमें कि पूर्व संव्यवहार का परिणाम सम्मिलित हैं, और संदाय को वापस प्राप्त करने की ज्ञात और सम्भाव्य जोखिम और इन सभी कारकों पर ऋण की तारीख के संदर्भ में विचार किया जाना था और परिस्थितियां जिनका विचारण न्यायालय द्वारा अवलम्ब लिया गया है, जैसे—उसके पिता 36% पर ब्याज लेते हैं और सम्पत्ति से वसूल किया गया किराया वादपत्र में दावा की गई 18% ब्याज से बहुत अधिक है, बिल्कुल असंगत हैं और बाह्य कारक है और उपरोक्त निर्देशित दो विनिश्चयों में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चयों को लागू करते हुए तृतीय प्रतिवादी अति ब्याज ऋण अधिनियम 1918 के अधीन फायदों का हकदार है।

4. प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि ऐसा कोई अभिवचन नहीं है कि पक्षकारों के बीच का संव्यवहार सारभूत रूप से अनुचित था और ऋण की तारीख और पंचम प्रत्यर्थी के हक में पूर्विक बंधक और

---

[1] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 412.

[2] [1971] 2 एस० सी० आर० 427.

सम्पत्ति का मूल्य 60,000 रुपये होना और वाद बंधक रकम को वसूल करने में अन्तर्वलित जोखिम को संगणना में लेने के बाद 18% की चक्रवृद्धि ब्याज, जैसा कि बंधक-पत्र में उपबन्धित है, के विरुद्ध 18% की साधारण ब्याज उचित और युक्तियुक्त है।

5. 1918 के केन्द्रीय अधिनियम 10 (अतिव्याज ऋण अधिनियम, 1918) 1937 के तमिलनाडु ऐक्ट VIII द्वारा यथासंशोधित, की धारा 3(1) उपबन्धित में है कि यदि न्यायालय के पास यह विश्वास करने के लिए कारण हैं कि संव्यवहार, जैसा कि उसके पक्षकारों के बीच था, सारभूत रूप से अनुचित है तो न्यायालय निम्नलिखित शक्तियों में से एक या अधिक का प्रयोग करेगा यानी—संव्यवहार को दुबारा खोल सकता है, पक्षकारों के बीच हिसाब रख सकता है और किसी अत्यधिक ब्याज के सम्बन्ध में ऋणी को सभी दायित्वों से मुक्त कर सकता है। धारा 3(1) के स्पष्टीकरण में उपबन्धित है कि यदि ब्याज अत्यधिक है तो न्यायालय यह उपधारणा बनाएगा कि संव्यवहार सारभूत रूप से अनुचित है किन्तु ऐसी उपधारणा को ब्याज की दर को न्यायोचित करने वाली विशिष्ट परिस्थितियों के सबूत द्वारा खण्डित किया जा सकेगा। स्पष्टीकरण 1 के साथ अधिनियम की धारा 3(1) से यह उपदर्शित होता है कि यदि ब्याज अत्यधिक है तो न्यायालय यह उपधारणा करेगा कि वह संव्यवहार सारभूत रूप से अनुचित था और यह उपधारणा खण्डनीय है। तृतीय प्रतिवादी के लिखित कथन के पैरा 7 में यह अभिवचन किया गया है कि तृतीय प्रतिवादी अधिनियम के अधीन अनुतोष का हकदार है। इसलिए तृतीय प्रत्यर्थी द्वारा विशिष्ट रूप से यह अभिवचन किया जाना अनावश्यक है कि पक्षकारों के बीच का संव्यवहार सारभूत रूप से अनुचित है।

6. अगला प्रश्न, जो विचार के लिए उद्भूत हुआ है, यह है कि क्या दावा किया गया ब्याज अत्यधिक है? बंधक-बंधपत्र प्रदर्श-क-1 प्रत्येक महीने में संदेय 10 प्रतिशत साधारण ब्याज के लिए उपबन्धित करता है और लगातार तीन महीने की अवधि तक व्यतिक्रम की दशा में मूल रकम और प्रोद्भूत ब्याज पर 18% के संदेय के लिए उपबन्धित करता है। जैसा कि **वारदा चेरियर** बनाम **गोपाला मेनन**[1] में निर्धारित किया गया है, ऋण की तारीख पर बंधक राशि की वसूली के लिए लेनदार द्वारा प्रोद्भूत किया गया जोखिम एक महत्त्वपूर्ण तथ्य होगा। वादपत्र में के अभिकथनों से यह प्रतीत होता है कि वादी प्रथम बंधकदार है और प्रत्यर्थी 4 और 5 सिर्फ पाश्चिक बंधकदार हैं। प्रदर्श क-1 का अवलम्ब लेते हुए वादी-प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह

---
[1] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 412.

दलील दी है कि प्रदर्श क-1 के अधीन वादी के हक में बंधक की तारीख पर भी पंचम प्रतिवादी के हक में पहले से एक पूर्व-बंधक को उन्मोचित कर दिया गया था। वादपत्र के इस अभिवचन को ध्यान में रखते हुए कि प्रतिवादी 4 और 5 सिर्फ पाश्चिक बंधकदार हैं और वादी का प्रथम बंधकदार होने की वजह से और सम्पत्ति शहरी क्षेत्र में मकान सम्पत्ति होने के कारण एक पर्याप्त किराया प्राप्त करने के कारण बंधक राशि का संदाय वापस प्राप्त करने में बिल्कुल कोई भी जोखिम अन्तर्वलित नहीं है।

7. **एन० ए० फर्नान्डो** बनाम **सुब्बैया अय्यर**[1] में प्रकाशित विनिश्चय में और जिसका प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल द्वारा अवलम्ब लिया गया था, बंधक-विलेख का निष्पादन 1 अगस्त, 1953 को किया गया था और ब्याज की नियत दर 12% वार्षिक पर साधारण ब्याज थी और व्यतिक्रम खण्ड $13\frac{1}{2}$ % वार्षिक पर ब्याज उपबन्धित करता है। न्यायालय ने यह निर्धारित किया कि उपरोक्त ब्याज की दर को अत्यधिक नहीं कहा जा सकता। उपरोक्त निर्देशित विनिश्चय में न्यायालय ने मत व्यक्त किया है "बहुत से व्यक्ति $18\frac{3}{4}$ % वार्षिक पर उधार लिए गए धन से मण्डी में सब्जियां खरीदते हैं और उन्हें 24 से 48 घण्टों में 20 से 25% के लाभ पर बेचते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार के मामलों में $18\frac{3}{4}$ % वार्षिक की ब्याज भी दण्ड और अतिब्याज या रियायतहीन होगा, क्योंकि वह ऐसे ब्याज का संदाय करने के बाद वह स्वयं के लिए लाभ के रूप में अच्छी रकम प्राप्त करता है।" प्रस्तुत मामले में वाद सम्पत्ति में ऊपरी मंजिल में 18 कमरे हैं जिनमें 9 एकल कमरे हैं और 9 डबल कमरे हैं और यह मंजूर है कि एकल कमरे का किराया 60 रुपए महीने का और डबल कमरे का किराया 80 रुपए महीने का है। विचारण न्यायालय का निष्कर्ष यह है कि करों का संदाय करने के बाद भी तृतीय प्रतिवादी को दुकानों से किराये के रूप में 1000/-रु० से कम प्राप्त नहीं होंगे। उपरोक्त निर्देशित विनिश्चय में 1 अगस्त, 1953 के बंधक-बंधपत्र के सम्बन्ध में इस न्यायालय द्वारा $13\frac{1}{2}$ % वार्षिक ब्याज की दर से युक्तियुक्त अभिनिर्धारित किया गया था। वाद-बंधक तारीख 5 जुलाई, 1965 को है। इन तथ्यों के संदर्भ में और तृतीय प्रतिवादी द्वारा वाद सम्पत्ति से वसूल किए गए पर्याप्त किराए को भी संगणना में लेने के बाद मामले की परिस्थितियों में 15% वार्षिक की दर पर साधारण ब्याज उचित और

[1] (1974) 1 एम० एल० जे० 334.

12 मार्च, 1981 के पत्र द्वारा इसके पूर्ववर्ती स्मरणपत्रों का उल्लेख करते हुए मांग की गई और इस बात को पुनः कहा गया कि श्री विजय खन्ना (पिटीशनर सं० 2) ने आवासन बोर्ड को किराए की बकाया में से 3,00,000 रुपये के संदाय के लिए आश्वासन दिया था और यह कहा था कि चालू किराए का संदाय नियमित रूप से किया जाएगा किन्तु ऐसा नहीं किया गया। आवासन बोर्ड का 31 मार्च, 1981 का एक अन्य पत्र जो पिटीशनर कम्पनी को लिखा गया है, भी इसी प्रकार का है। इसके पश्चात् 16 मई, 1981 के पत्र द्वारा आवासन बोर्ड ने पिटीशनर कम्पनी से यह कहा कि करार के अनुसार पूरे किराए का संदाय नहीं किया गया है और छोटी रकमों के संदाय के कारण बकाया में वृद्धि होती जा रही है और संविदा के भंग के परिणामस्वरूप दायित्व में वृद्धि हो गई है। 25 जून, 1981 के पत्र द्वारा आवासन बोर्ड ने पिटीशनर से पुनः यह कहा कि मई, 1981 के अन्त तक किराए की बकाया 8,46,042 रुपये 19 पैसे हो गई है और यह भी कहा कि यदि इसी प्रकार लगातार व्यतिक्रम होता रहा तो करार के निबन्धनों के अनुसार करार का पर्यवसान किया जाएगा। इसके पश्चात् आवासन बोर्ड ने पिटीशनर कम्पनी को 17-6-1981, 18-8-1981, 16-9-1981, 4-10-1981, 31-10-1981, 7-11-1981 और 4-12-1981 को भी स्मरण-पत्र भेजे। 4 अक्तूबर, 1981 के आवासन बोर्ड के पत्र में अगस्त, 1981 तक किराए की बकाया की रकम 9,45,385 रुपये 19 पैसे विनिर्दिष्ट की गई और यह भी कहा गया कि पिटीशनर कम्पनी ने प्रारम्भ से ही एक मास के किराए का भी उसके देय हो जाने पर उचित रूप से संदाय नहीं किया है। पिटीशनर कम्पनी द्वारा आवासन बोर्ड को 18 जुलाई, 1981 को लिखे गए पत्र का भी इस प्रक्रम पर उल्लेख किया जा सकता है। उस पत्र में अधिभार, जो कि 16,24,080 रुपये 58 पैसे है, को जोड़े बिना वस्तुतः बकाया किराए को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। तत्पश्चात् पिटीशनर कम्पनी ने और समय और सुविधा देने का निवेदन किया जिससे कि वह उस बकाया का संदाय कर सके जो अभिव्यक्त रूप से स्वीकार की गई है। इस बात को भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि किराए का समय पर संदाय नहीं किया गया है। इन बातों को पिटीशनर-कम्पनी ने अपने 18 जुलाई, 1981 के पत्र में स्वीकार किया है और इसके साथ ही साथ कम्पनी द्वारा पिटीशनर के स्वयं के पक्षकथन के अनुसार उस तारीख के पश्चात् की गई स्वीकारोक्तियों में भी स्पष्ट किया गया है जो पिटीशनर-कम्पनी के विरुद्ध किए गए बेदखली के आदेश का समर्थन करने के लिए धारा 55(1)(क)(i) के अधीन उपलब्ध बेदखली के आधार की विद्यमानता को उपदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं। पिटीशनर-कम्पनी द्वारा

आवासन बोर्ड को 30 नवम्बर, 1981 को लिखे गए एक अन्य पत्र में किराए की बकाया की विद्यमानता की इसी प्रकार की स्वीकारोक्ति निहित है और जिसमें किराए की बकाया का एक लाख रुपये का संदाय करने का वचन दिया गया है। पिटीशनर-कम्पनी द्वारा 30 दिसम्बर, 1981 को आवासन बोर्ड को लिखे गए पत्र में भी चालू मास अर्थात् दिसम्बर, 1981 के लिए 57,500 रुपये की दर से किराए के प्रति निर्देश किया गया है। इन पत्रों में जो स्पष्ट रूप से स्वीकारोक्ति की गई है उनसे पिटीशनर के इस प्रस्तुत दावे का खण्डन होता है कि प्रारम्भ में ही किराया 50,000 रुपये प्रतिमास से 30,000 रुपये प्रतिमास कम कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त और अधिक पत्राचार के प्रति, जो कि इसी प्रभाव के हैं, निर्देश करना अनावश्यक है।

19. इस प्रक्रम पर इस पिटीशन में वी० के० खन्ना (पिटीशनर सं० 2) द्वारा 11 जुलाई, 1983 को फाइल किए गए शपथपत्र के प्रति भी निर्देश किया जा सकता है। इस शपथपत्र में यह कहा गया है कि पिटीशनर की संगणना के अनुसार भी अनुज्ञप्ति फीस, जो कि आवासन बोर्ड द्वारा पिटीशनर-कम्पनी पर शोध्य है, की शुद्ध रकम अधिभार को अपवर्जित करते हुए लगभग 2,50,000 रुपये है। यह इस बात को दर्शित करती है कि पिटीशनर कम्पनी आवासन बोर्ड द्वारा इस पर शोध्य अनुज्ञप्ति फीस की बकाया की पूर्ण विशिष्टियों से अवगत थी और यह कि आवासन बोर्ड ने किसी भी समय अपने दावे को, चाहे वह अनुज्ञप्ति फीस की बकाया की वसूली के लिए हो या उसके परिणामस्वरूप पिटीशनर की बेदखली के लिए हो, छोड़ने का आशय उपदर्शित नहीं किया है। जो कुछ कहा जा सकता है वह यह है कि आवासन बोर्ड ने यह निष्कर्ष निकालने के पश्चात् ही कि पिटीशनर-कम्पनी के बार-बार किराया देने के आश्वासनों के पश्चात् भी किराए की बकाया का संदाय नहीं कर रही है और इसने अब तक किराए का संदाय नहीं किया है, 16 अप्रैल, 1983 को बलपूर्वक पिटीशनर-कम्पनी को वस्तुतः बेदखल करने की कार्यवाही करने से पूर्व 20 मई, 1982 को बेदखली का आदेश देने के पश्चात् भी लगभग 1 वर्ष का और अवसर पिटीशनर-कम्पनी को दिया। पिटीशनर-कम्पनी द्वारा किया गया व्यतिक्रम, जिसके कारण धारा 55(1) के अधीन बेदखली का आदेश किया गया है, 16 अप्रैल, 1983 तक अर्थात् वस्तुतः बेदखल किए जाने तक चालू रहा और उसके बाद इस तरह यह उपदर्शित करने के लिए कोई बात नहीं है कि आवासन बोर्ड ने पिटीशनर-कम्पनी को बेदखल करने के अपने अधिकार का अधित्यजन कर दिया था या यह कि सक्षम प्राधिकारी ने बेदखली के अपने आदेश को अतिष्ठित कर दिया था। अतः अधित्यजन संबंधी तर्क तथा इससे

पूर्व अनुज्ञप्ति के प्रतिसंहरण से सम्बन्धित प्रश्न में कोई गुणता नहीं रह जाती और इन्हें अस्वीकार किया जाता है।

20. अब हम धारा 55 के अधीन शक्ति के प्रयोग से संबंधित प्रश्न पर विचार करेंगे। यह तर्क दिया गया कि हेतुक दर्शित करने की सूचना में आवश्यक विशिष्टियां अन्तर्विष्ट नहीं हैं और यह कि बेदखली के आदेश में भी इसी प्रकार की त्रुटियां हैं। समस्त पत्राचार, जिसकी पृष्ठभूमि के आधार पर इन दस्तावेजों को पढ़ा जाना है, के प्रति निर्देश से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसमें इस प्रकार की कोई सारवान् त्रुटि नहीं थी। यहां तक कि पिटीशनर के अनुसार भी अनुज्ञप्ति फीस के संदाय में व्यतिक्रम किया गया था और इसे न केवल पूर्ण रकम के बारे में जानकारी ही थी वरन् आवासन बोर्ड द्वारा पिटीशनर-कम्पनी को बार-बार भेजे गए पत्रों में नोटिस जारी किए जाने तक इसकी बाबत संसूचना भेजी गई है और इसके पश्चात् ही बेदखली का आदेश किया गया है। वास्तव में यही कारण है जिससे कि पिटीशनर ने 5 अप्रैल, 1982 की सूचना के जवाब में 6 अप्रैल, 1982 को पत्र भेजने के अतिरिक्त उपस्थित होना और पत्र में विनिर्दिष्ट तारीख को सूचना द्वारा यथा अपेक्षित हेतुक दर्शित करना उचित नहीं समझा। स्वीकृत रूप से पिटीशनर-कम्पनी के सर्वत्र स्वीकृत किए गए लगातार व्यतिक्रम के आधार पर उसके पास सूचना का कोई जवाब नहीं था। इसी प्रकार उस अवसर से इनकार नहीं किया जा सकता जो धारा 55(6) के अधीन फायदा उठाने के लिए पिटीशनर-कम्पनी को अनुज्ञप्ति फीस की समस्त बकाया का संदाय करने का अवसर उपलब्ध था। यह अवसर पिटीशनर कम्पनी को 16 अप्रैल, 1983 को बलपूर्वक कब्जा लेने के लिए उपधारा (5) के अधीन कार्यवाही करने से पूर्व उपधारा (1) के अधीन बेदखली का आदेश करने के पश्चात् लगभग एक वर्ष तक लगातार दिया गया था जो कि अन्य बातों के साथ-साथ पिटीशनर कम्पनी द्वारा अपने अनेक पत्रों में की गई स्वीकारोक्तियों से स्पष्ट है। इसमें 31 अगस्त, 1982 का पत्र (उपाबंध एच) भी सम्मिलित है। उपधारा (2) के अधीन जारी की गई सूचना और उपधारा (1) के अधीन किये गये बेदखली के आदेश को यदि पिटीशनर की स्वयं की स्वीकारोक्ति के आधार पर किए गए पत्राचार के साथ पढ़ा जाए तो इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि पिटीशनर कम्पनी को धारा 55 में अनुध्यात अवसर बारम्बार दिया गया था तथा पिटीशनर कम्पनी को स्वीकृत रूप से ज्ञात तथ्यों को बार-बार दोहराने के कारण उस पर किसी प्रकार का कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है।

21. पिटीशनर ने स्वेच्छा से ही धारा 57 के अधीन अपील नहीं की है क्योंकि वह बेदखली के आदेश से अवगत था और यह जानता था कि बेदखली

के आदेश के प्रति आक्षेप करने के लिए उसके पास कोई आधार नहीं है और इस आदेश का स्वीकृत तथ्यों के आधार पर भी समर्थन किया जा सकता है। प्रस्तुत मामले में दिए गए इस अतितकनीकी तर्क को यदि स्वीकार किया जाता है तो यह न्याय के उद्देश्य में वृद्धि करने के बजाय उसे निष्फल बना देगा। धारा 55 के ये उपबंध स्पष्ट रूप से उस व्यक्ति को पर्याप्त अवसर देने के लिए अधिनियमित किए गए हैं जिसे बेदखल किया जाता है जिससे कि वह उसके विरुद्ध हेतुक दर्शित कर सके और जहां इस प्रकार के परिणाम को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया जाता है और स्वीकृत तथ्यों के आधार पर उस पर विवाद नहीं किया जा सकता वहां यह न्याय के उद्देश्यों में वृद्धि करने के बजाय उसे निष्फल कर देगा यदि इस प्रकार के तर्क का उस पिटीशनर के फायदे के लिए अनुमोदन किया जाता है जिसके पास उस बेदखली के आदेश का विरोध करने के लिए, जो उसके विरुद्ध प्रस्थापित है, कोई प्रतिहेतु या कारण नहीं है। यहां तक कि इस पिटीशन की सुनवाई के समय भी पिटीशनर कम्पनी ने उस पर किसी प्रकार के प्रतिकूल प्रभाव पड़ने के बारे नहीं कहा है तथा इस प्रकार का कोई संकेत नहीं किया गया है जिससे कि सूचना का विरोध किया जा सके।

22. हमारी राय में संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन विवेकाधिकार शक्ति का फायदा पिटीशनर को केवल तकनीकी आधार पर उस समय नहीं दिया जाना चाहिए जबकि पिटीशनर पर किसी प्रकार का कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़ा हो। यह इस दलील को अस्वीकार करने के लिए पर्याप्त है।

23. अन्तिम दलील यह दी गई कि धारा 55 के अधीन की शक्ति का करार के खण्ड 11 के अधीन माध्यस्थम् का आश्रय लेने से पूर्व आश्रय नहीं लिया जा सकता। यह करार निम्न प्रकार है:—

> "इस करार के चालू रहने के दौरान या किसी भी समय पक्षकारों के बीच उद्भूत हुए किसी प्रश्न, विवाद या मतभेद होने पर इसे मध्य प्रदेश सरकार के आवासन विभाग, भोपाल के सचिव एकमात्र माध्यस्थम् को निर्देशित किया जाएगा और माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 (समय-समय पर यथा संशोधित) के उपबंधों के अनुसार तय किया जाएगा तथा उक्त मध्यस्थ का विनिश्चय निश्चायक, अन्तिम और पक्षकारों पर आबद्धकर होगा।"

24. हमारी राय में इस तर्क को अस्वीकार करने के भी अनेक कारण हैं। प्रथमतः, खण्ड 11 या अन्य शब्दों में माध्यस्थम् खण्ड केवल तभी लागू होता है जबकि कोई विवाद उत्पन्न हो। पिटीशनर की ओर से उपस्थित होने

वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि 5 अप्रैल, 1983 की सूचना (उपाबंध आर-5) के जवाब में 6 अप्रैल, 1983 (उपाबंध आर-4) में किराए की बकाया की विद्यमानता के बारे में इनकार करके पिटीशनर-कम्पनी ने ऐसा विवाद उठाया है जिसके आधार पर माध्यस्थम् खण्ड लागू होता है । हमारी राय में इस मामले के तथ्य इस बात को प्रकट नहीं करते कि माध्यस्थम् खण्ड को लागू करने के लिए कोई विवाद उठाया गया है । पिटीशनर के जवाब (उपाबंध आर-4) दिनांक 6 अप्रैल, 1983 को बिना पढ़े नहीं छोड़ा जा सकता । इसमें केवल 30,000 रुपये प्रतिमास की दर से 3 मास के किराए के संदाय के प्रति निर्देश किया गया है और इसके अतिरिक्त इसमें और कुछ नहीं कहा गया है । पिटीशनर का विद्वान् काउन्सेल अपनी इस दलील के समर्थन में और किसी दस्तावेज की ओर संकेत नहीं कर सका है कि माध्यस्थम् द्वारा अधिनिर्णय के लिए किराए की बकाया के संदाय की बाबत कोई विवाद उठा है । समस्त पत्राचार में किराए की बकाया की विद्यमानता को पिटीशनर कम्पनी ने बार-बार स्वीकार किया है और समस्त बकाया का संदाय करने के लिए और समय और सुविधा देने के लिए प्रार्थना की है । करार में विनिर्दिष्ट दर से संदाय करने का दायित्व और पिटीशनर कम्पनी का सभी सुसंगत समयों पर दो मास से अधिक की अवधि की बकाया को स्वीकार करना पक्षकारों के बीच हुए पत्राचार में सर्वत्र समान है । ऐसी स्थिति में चूंकि सभी समयों पर दो मास से अधिक की अवधि के लिए किराये की बकाया की विद्यमानता के बारे में कोई विवाद नहीं है और चूंकि माध्यस्थम् के लिए कोई प्रार्थना नहीं की गई है अतः माध्यस्थम् खण्ड के लागू किये जाने का या अधिनियम की धारा 55 के अधीन की शक्ति के प्रयोग के लिए इसका पुरोभाव्य शर्त हो जाने का कोई अवसर नहीं रह जाता ।

25. उपरोक्त निष्कर्ष का एक अन्य कारण भी है । माध्यस्थम् खण्ड करार से संबंधित विवाद के लिए लागू किया गया था । पिटीशनर-कम्पनी ने करार के निबंधनों के अनुसार अपने दायित्व के बारे में कोई विवाद नहीं किया है । तदनुसार ऐसी स्थिति में माध्यस्थम् खण्ड लागू नहीं किया जाता । इस कारण पिटीशनर की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल द्वारा अपनी इस दलील के समर्थन में कि जहां पूर्विक न्यायनिर्णयन का उपबंध किया गया हो वहां यह विवाद के न्यायनिर्णयन के परिणामस्वरूप उपलब्ध शक्ति के प्रयोग के लिए पुरोभाव्य शर्त होती है, अवलंब लिये गये मामले के प्रति निर्देश करना अनावश्यक है । ऐसे मामले वहां लागू होते हैं जहां विवाद विद्यमान हो । किन्तु इस मामले में ऐसी स्थिति नहीं है ।

26. इस प्रश्न का एक नया पहलू भी है । पिटीशनर का 6 अप्रैल,

1982 का जवाब (उपाबंध आर-4) जिसका यह दलील देने के लिए ही अवलंब लिया गया है कि करार खण्ड 11 में अंतर्विष्ट माध्यस्थम् खण्ड को लागू करने के लिए विवाद उठाया गया था, पिटीशनर द्वारा दिया गया एक ऐसा जवाब है जिसका 5 अप्रैल, 1982 की सूचना (उपाबंध आर-3) के पश्चात् धारा 55 की उपधारा (2) के अनुसार आश्रय लिया गया था। यह बात संदेहास्पद है कि क्या 6 अप्रैल, 1982 के पत्र का, जो धारा 55(2) के अधीन जारी की गई सूचना का जवाब है, इस दलील के प्रयोजन के लिए अवलंब लिया जा सकता है कि धारा 55 के अधीन शक्ति का आश्रय लेने से पूर्व विवाद उठा दिया गया था। किन्तु इस पहलू पर अपने विनिश्चय को आश्रित करना आवश्यक नहीं है।

27. किन्तु हम यहां इस बात का भी उल्लेख करना चाहेंगे कि पिटीशनर ने संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन हमारी शक्ति का आश्रय लिया है और इस प्रयोजन के लिए हम इस बात की परीक्षा करने के हकदार हैं कि क्या मात्र तकनीकी ही हमें इस बात के लिए बाध्य कर सकेगी कि हम पिटीशनर द्वारा दावा किये गये अनुतोष को उस समय मंजूर कर दें जबकि हम गुणागुण के आधार पर उसे उस बात का हकदार नहीं समझते। हमारी राय में जब हम इस निष्कर्ष पर पहुंच ही चुके हैं कि स्वीकृत रूप से पिटीशनर-कम्पनी ने स्वयं अपने कथन के अनुसार व्यतिक्रम किया है और धारा 55(क)(i) के अधीन उपलब्ध बेदखली का आधार अधिनियम की धारा 55(i) के अधीन किये गये बेदखली के आदेश का समर्थन करने के लिए सर्वत्र विद्यमान है और यह कि बेदखली का आदेश करने के लगभग एक वर्ष तक पिटीशनर की धारा 66(6) के फायदे के उपलब्ध होने पर भी उसने इसका फायदा नहीं उठाया तो पिटीशनर को इसके दायित्व से उन्मोचित करना हमारे लिए बाध्य कर नहीं है।

28. हमारी राय में संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट अधिकारिता का प्रयोग करते हुए पिटीशनर को किसी भी प्रकार का अनुतोष देने से इनकार करने का पर्याप्त आधार है चाहे पिटीशनर के पक्ष में तकनीकी तर्क साबित हो गया हो। इसके अतिरिक्त भी हमने पिटीशन के समर्थन में दी गई सभी दलीलों को पहले ही अस्वीकार कर दिया है।

29. परिणामतः यह पिटीशन असफल होता है और इसे खर्चे सहित खारिज किया जाता है। प्रत्यर्थी स० 1 पिटीशनर से अपने खर्चे प्राप्त करेगा। काउन्सेल की फीस, यदि प्रमाणित की जाती है, 500 रुपये होगी।

पिटीशन खारिज किया गया।

बंसल

नि० प० 1984 : मध्य प्रदेश— 151

एस० के० मालवीय बनाम शिवचरण कुर्मी और अन्य

(S. K. Malviya *Vs.* Shivcharan Kurmi and others)

तारीख 13 दिसम्बर, 1983

[न्या० सी० पी० सेन और एम० डी० भट्ट]

न्यायालय अवमान अधिनियम, 1971 (1971 का अधिनियम सं० 70) धारा 2(9)(ग) और 12—यदि कोई काउन्सेल अपने मुवक्किल की ओर से किए जाने वाले ऐसे अभ्यावेदन का, जिसमें पक्षकार द्वारा सेशन न्यायाधीशों पर अवचार या पूर्वाग्रह का लांछन लगाया गया हो, प्रारूपण सावधानीपूर्वक तैयार नहीं करता या असद्भावपूर्ण रूप से उसकी टीका-टिप्पणी करता है या न्यायालय पर लगाए गए लांछनों की उचित जांच किए बिना उन्हें ऐसा मोड़ देता है या गढ़ता है जिससे न्यायालय पर लांछन स्पष्ट हो जाए तो ऐसा अभ्यावेदन उक्त धारा के अधीन घोर न्यायालय अवमान की कोटि में आएगा ।

कुछ अभियुक्तों को मृतक की हत्या करने के अपराध के लिए दण्ड संहिता, 1860 की धारा 147, 148 और 302/149 क अधीन अभियोजित किया गया था । इन अभियुक्तों में से एक अभियुक्त को सेशन न्यायाधीश ने अग्रिम जमानत पर मुक्त कर दिया था किन्तु एक अन्य अभियुक्त के अग्रिम जमानत के आवेदन को अस्वीकार कर दिया था । दमोह के लोक अभियोजक ने (अवमानकर्त्ता सं० 5) ने मुक्त किए गए अभियुक्त की जमानत रद्द करने के लिए आवेदन किया । किन्तु सेशन न्यायाधीश ने जमानत रद्द करने के लिए किए गए आवेदन को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि मुक्त किए गए अभियुक्त पर लगाया गया अपराध निराधार है । सेशन न्यायाधीश के उक्त आदेश की इस न्यायालय के 1983 के दाण्डिक पुनरीक्षण मामले सं० 43/83 द्वारा पुष्टि कर दी गई । इसके पश्चात् सेशन न्यायाधीश ने मुक्त किए गए अभियुक्त की जमानत रद्द करने के लिए दिए गए आवेदन में किए गए अभिकथनों की प्रारम्भिक जांच किए जाने का निश्चय किया और उसने इस आवेदन की अन्तर्विष्टियों के बारे में यह कहा कि ये अन्तर्विष्टियां न्यायालय की निन्दा करने और न्याय के प्रशासन में अवरोध उत्पन्न करने के लिए की गई हैं । उसने यह कहा कि इस आवेदन में न्यायाधीश को दी गई रिश्वत संबंधी कथन मिथ्या, विद्वेषपूर्ण है और यह सेशन न्यायालय के मान को कम करने के आशय से किया गया है । यह भी साबित किया गया कि इस आवेदन का प्रारूप मुवक्किल के वकील द्वारा तैयार किया गया है । वकील ने हेतुक दर्शित करने की सूचना के जवाब में इस आवेदन का प्रारूप तैयार करने से इनकार किया

किन्तु मामले के तथ्यों से यह स्पष्ट हो गया कि आवेदन का प्रारूप अवमानकर्ता द्वारा तैयार किया गया था तथा यह न्यायालय का अवमान करने के आशय से ही किया गया था। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि यदि काउन्सेल अपने मुवक्किल के अभ्यावेदन को बिना पढ़े या न्यायाधीशों पर स्पष्ट लांछन लगाते हुए कथन करता है तो क्या ऐसा अभ्यावेदन न्यायालय अवमान की कोटि में आएगा ?

अभिनिर्धारित—तदनुसार आदेश किया गया।

काउन्सेल, जिसने न्यायालय की निन्दा विषयक आवेदन और अभिवाकों पर उसके लिए उपयुक्त आधारों की प्रत्यक्ष रूप से विद्यमानता के बारे में युक्तियुक्त रूप से अपना समाधान किए बिना न्याय के मार्ग को अवरुद्ध करने या विलम्बित करने के उद्देश्य से हस्ताक्षर किए हैं, स्वयं न्यायालय अवमान के दोषी हैं तथा काउन्सेल का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह अपने मुवक्किल के इस प्रकार के आवेदन में हित दर्शित करे। दूसरी ओर उसका कर्त्तव्य यह है कि वह अपने मुवक्किल को यह सलाह दे कि वह अपने आवेदनों में इस प्रकार के अभिकथन न करे। (पैरा 5)

काउन्सेल को उस अभ्यावेदन की, जिसे वह न्यायालय को अपने मुवक्किल की ओर से पेश करता है, जिम्मेदारी लेने में सावधानी बरतनी चाहिए। जब आवेदन के पक्षकार अवचार या पूर्वाग्रह पूर्ण का अभिकथन करते हैं तब काउन्सेल को, यदि वह पिटीशन पर हस्ताक्षर करता है, इस बात को देखना चाहिए कि इस प्रकार के अनुत्तरदायी अभिकथन न किए जाएं। यदि ऐसे अभिकथन किए जाते हैं और इसके पश्चात् भी वह पिटीशन पर हस्ताक्षर करता है तो उसके बारे में यह समझा जाएगा कि उसने भी अपने पक्षकार की तरह न्यायालय का अवमान किया है। विधिक वृत्ति के सदस्यों के लिए व्यक्तिगत आक्षेप करना या भ्रष्टाचार के अदूरदर्शी और आधार रहित आरोप लगाना और न्यायालय के प्रति अनुचित लांछन लगाना बहुत ही अनियमित और अऋजुतापूर्ण है। यदि काउन्सेल यह समझता है कि उसके पास किसी न्यायाधीश के विरुद्ध परिवाद का उचित मामला है तो वह उसके आचरण के विरुद्ध उच्चतर प्राधिकारियों को अभ्यावेदन कर सकता है। किसी भी काउन्सेल को सद्भाविक कथनों के लिए दण्डित नहीं किया जाना चाहिए किन्तु वह अवमान के लिए दायित्वाधीन होगा यदि वह बिना उचित जानकारी किए अदूरदर्शी अभिकथन करता है या न्यायालय पर दोषारोपण लगाने वाले तथ्यों को गढ़ता है या रिष्टिपूर्ण रूप से उन्हें ऐसा मोड़ देता है। (पैरा 5)

इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए तथा पक्षकारों की सुनवाई करने

और अभिलेख का परिशीलन करने के पश्चात् इस न्यायालय की यह राय है कि इन अवमानकर्त्ताओं को सेशन न्यायाधीश के बारे में मिथ्या और अदूरदर्शी यह अभिकथन करने में कि उसने अभियुक्त की जमानत मंजूर करने में रिश्वत ली है, घोर अवमान किया है। (पैरा 7)

अवमानकर्त्ताओं ने न्यायालय की निन्दा करके घोर न्यायालय अवमान किया है और तद्द्वारा न्याय के प्रशासन में हस्तक्षेप किया है अतः वे अधिनियम की धारा 12 के अधीन दण्ड के दायित्वाधीन हैं। (पैरा 8)

		पैरा
[1972]	ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 989 : गोविन्द राम **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (Gobind Ram *Vs.* State of Maharashtra);	6
[1971]	ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 221 : परस्पेक्टिव पब्लिकेशंस **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (Perspective Publications *Vs.* State of Maharashtra);	5
[1959]	ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 102 : मध्य प्रदेश **बनाम** रेवाशंकर (M. P. *Vs.* Revashankar);	6
[1955]	ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 19 : एम० वाई० शरीफ **बनाम** नागपुर उच्च न्यायालय न्यायाधीश (M. Y. Shareef *Vs.* Judges of Nagpur High Court);	5
[1954]	ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 10 : ब्रह्म प्रकाश **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य (Brahma Prakash *Vs.* State of M. P.)	6

निर्दिष्ट किए गए ।

दाण्डिक (निर्देश) अधिकारिता : 1983 का प्रकीर्ण दाण्डिक मामला सं० 78.

दमोह के सेशन न्यायाधीश द्वारा न्यायालय अवमान अधिनियम, 1971 की धारा 15(2) के अधीन किया गया निर्देश।

आवेदक की ओर से ... श्री राजेन्द्र तिवारी, सरकारी अधिवक्ता

अनावेदक सं० 4 की ओर से	...	श्री एस० सी० दत्त
अनावेदक सं० 5 की ओर से	...	श्री एच० ओ० तिवारी
अनावेदक सं० 6 की ओर से	...	श्री राजेन्द्र सिंह

न्यायालय का निर्णय न्या० सी० पी० सेन ने दिया ।

न्या० सेन :

यह निर्देश दमोह के सेशन न्यायाधीश ने न्यायालय अवमान अधिनियम, 1971 की धारा 15(2) के अधीन अवमान करने वाले व्यक्ति सं० 1 से 6 तक के विरुद्ध अवमान के लिए कार्रवाई करने हेतु निर्देशित किया है। अवमानकर्त्ताओं तथा अनन्दीलाल पुत्र रामदयाल को भी सूचनाएं जारी कर दी गई थीं।

2. उक्त अनन्दीलाल, उसका भाई भगवान दास, सीताराम और अन्य व्यक्ति, जो कि तहसील हत्ता, ग्राम घुटरिया के निवासी हैं, भारतीय दण्ड संहिता की धारा 147, 148 और 302/149 के अधीन गैसाबाद पुलिस थाना के अपराध सं० 48/82 में 9 जुलाई, 1982 को गोपी की हत्या करने के लिए अभियोजित किए गए हैं। अवमानकर्त्ता सं० 1 शिवचरण कुर्मी मृतक का रिश्तेदार है। 1982 के जमानत आवेदन सं० 481 में 31 जुलाई, 1982 के आदेश द्वारा अनन्दीलाल को अग्रिम जमानत पर उस सेशन न्यायाधीश द्वारा मुक्त कर दिया गया जिसने भगवानदास के आवेदन को रद्द कर दिया था। जमानत मंजूर करते हुए सेशन न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि यह अभिकथन किया गया है कि अनन्दीलाल लाठी लेकर और भगवानदास बन्दूक लेकर आया और वह "मारो साले को" कहते हुए चिल्लाया किन्तु अनन्दीलाल के विरुद्ध कोई प्रकट कार्य नहीं किया गया और तत्पश्चात् मृतक को अन्य सह-अभियुक्त द्वारा मार डाला गया। 5 अगस्त, 1982 को अवमानकर्त्ता सं० 5, श्री बलराम तिवारी, दमोह के लोक अभियोजक ने अनन्दीलाल की जमानत को रद्द करने के लिए यह अभिकथन करते हुए आवेदन फाइल किया कि वह अपने भाइयों के साथ बरखेड़ा ग्राम गया था और उसने ग्रामवासियों से यह कहा था कि "वह अपने तौल के रुपये देकर जमानत पर रिहा हो गया है तथा इसी तरह वह अभियुक्तगण भगवानदास व सीताराम को भी छुड़ा लावेगा।" आगे यह अभिकथन किया गया कि अनन्दीलाल ग्राम में ठहरा था और उसने इस मामले के साक्षियों को धमकी दी थी। आवेदन के साथ रिपोर्ट की फोटोस्टेट प्रति अवमानकर्त्ता सं० 1, श्री शिवचरण कुर्मी ने पुलिस थाना हत्ता में 4 अगस्त, 1982 को दर्ज की तथा अवमानकर्त्ता सं० 2 से 4 हरिराम,

सीताराम और रामसेवक के शपथपत्रों को भी अभिकथनों के समर्थन में नत्थी किया गया। तीनों परिसाक्षियों की उनके शपथपत्रों में अवमानकर्त्ता सं० 6, श्री हरवंसलाल अवस्थी, जो कि दमोह के अधिवक्ता हैं, ने शनाख्त की। अनन्दीलाल को सूचना जारी की गई और उसने अभिकथनों से इनकार किया। उसने यह निवेदन किया कि वह कभी भी गांव नहीं गया है तथा ये अभिकथन मिथ्या और अपकारी हैं। वास्तव में वह सेशन न्यायाधीश के आदेश के अनुसरण में गया था और उसने अपनी जमानत दी थी किन्तु उसे अवैध रूप से पुलिस थाने में अवरुद्ध कर लिया गया और अन्त में 12 अगस्त, 1982 को जमानत पर छोड़ दिया गया। उसके अनुसार वह और उसके भाई 1978 में बरखेड़ा गांव में बारेलाल कुर्मी की हत्या के मामले में प्रत्यक्षदर्शी साक्षी हैं। इस मामले में राघवेन्द्र हजारी, तत्समय आसीन विधानसभा सदस्य और उसके भाई अभियुक्त थे। हजारी भाइयों को विचारण न्यायालय द्वारा सिद्धदोष किया गया था किन्तु अपील में उन्हें इस न्यायालय द्वारा दोषमुक्त कर दिया गया था इस तरह प्रतिशोध लेने के लिए तथा अपने राजनैतिक प्रभाव का प्रयोग करते हुए अनन्दीलाल और उसके भाई भगवानदास को प्रस्तुत मामले में मिथ्या रूप से सम्मिलित किया गया है। राघवेन्द्र हजारी की पत्नी स्नेहलता हजारी शासन करने वाली पार्टी की आसीन विधानसभा सदस्या है। उसने कभी भी आवेदक के विरुद्ध कोई लांछन नहीं लगाया और न ही उसने साक्षियों को धमकी दी। 27 अगस्त, 1982 के आदेश द्वारा सेशन न्यायाधीश ने जमानत को रद्द करने के लिए किए गए आवेदन को नामंजूर करते हुए यह मत व्यक्त किया कि ये अभिकथन कि अनन्दीलाल, भगवानदास और सीताराम के साथ बरखेड़ा गांव गया था, और उसने लांछन लगाए थे तथा ग्रामवासियों को धमकी दी थी, मिथ्या हैं। वास्तव में अनन्दीलाल को 12 अगस्त, 1982 को जमानत पर छोड़ दिया गया था और 2 अगस्त, 1982 या 3 अगस्त, 1982 को उसका बरखेड़ा गांव जाना और उसे जमानत पर किस प्रकार छोड़ा इसके बारे में डींगें मारना मूर्खता थी। शिवचरण द्वारा दर्ज कराई गई रिपोर्ट में गांव जाना 3 अगस्त, 1982 को कहा गया है किन्तु हरिराम, सीताराम और रामसेवक द्वारा दिए गए शपथपत्रों में उसका गांव जाना 2 अगस्त, 1982 को कहा गया है। न तो रिपोर्ट में और न ही शपथपत्रों में गांव जाने में उसके साथ भगवानदास और सीताराम की उपस्थिति के बारे में कोई बात कही गई है। इस तरह यह वृत्तांत कल्पना पर आधारित है और इसे इसलिए प्रयोजनस्वरूप गढ़ा गया है जिससे कि अनन्दीलाल की जमानत रद्द कर दी जाए और यह कि भगवानदास और सीताराम की भी जमानत मंजूर न की जाए। सेशन न्यायाधीश के इस आदेश की इस न्यायालय द्वारा 1983 के दाण्डिक पुनरीक्षण

सं० 42 में 15 फरवरी, 1983 को पुष्टि की गई है।

3. ऐसा प्रतीत होता है कि इसके पश्चात् सेशन न्यायाधीश ने 10 अगस्त, 1982 को 1982 के प्रकीर्ण दाण्डिक मामले सं० 17 को रजिस्टर करते हुए जमानत को रद्द करने के लिए दिए गए आवेदन में किए गए अभिकथनों की प्रारम्भिक जांच करने का निश्चय किया। सेशन न्यायाधीश ने श्री बलराम तिवारी, श्री हरवंस लाल अवस्थी, श्री एम० वाई० सिद्दकी नोटरी, जिसने शपथपत्रों को शपथित किया, ए० के० तिवारी, जो कि बलराम तिवारी का लिपिक है, और तीन अधिवक्ताओं सर्वश्री रमेश श्रीवास्तव, जी० एस० मेहता और बी० के० टण्डन द्वारा दिए गए कथनों को अभिलिखित किया। तत्पश्चात् सेशन न्यायाधीश ने इस न्यायालय में यह कहते हुए इस मामले को निर्देशित किया है कि जमानत रद्द करने के लिए आवेदन की अन्तर्विष्टियां, शिवचरण द्वारा पुलिस स्टेशन में दी गई रिपोर्ट और हरिराम, सीताराम और रामसेवक द्वारा शपथित शपथपत्र अवमानयुक्त हैं और न्यायालय की निन्दा करने और न्याय के प्रशासन में हस्तक्षेप करने के आशय से किए गए हैं। इन अभिकथनों के बारे में ऐसा प्रतीत होता है कि ये उन अधिसंभाव्य आदेशों को, जो जमानत के लिए किए गए उन आवेदनों पर दिए जाते, जो भगवानदास और सीताराम की ओर से भविष्य में प्रस्तुत की जातीं, को प्रभावित करने के दूरस्थ हेतुक से किए गए हैं। न्यायाधीश को धन के संदाय से संबंधित ये अभिकथन मिथ्या रिष्टिपूर्ण हैं और सेशन न्यायालय के मान को कम करने और इसे सार्वजनिक मजाक का विषय बनाने के आशय से किए गए हैं। श्री तिवारी ने यह कहा है कि श्री अवस्थी, अधिवक्ता ही ऐसा व्यक्ति है जिसने इस आवेदन का प्रारूप तैयार किया और जो कि साक्षियों से शपथपत्रों को शपथित कराने में सहायक है इस बात की पुष्टि श्री ए० के० तिवारी और श्री सिद्दीकी के कथन से होती है। यह उल्लेखनीय है कि वह व्यक्ति, जिसने इस आवेदन का प्रारूप लिखा, रिपोर्ट और शपथपत्रों में के अभिकथन को अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर और यह जोड़ कर लिखा है कि "अपने तौल के रुपये देकर जमानत पर रिहा हो गया।" इस तरह अवमानकर्त्ताओं को अधिनियम की धारा 3 के अन्तर्गत दण्डित किया जाना चाहिए।

4. जारी की गई हेतुक दर्शित करने की सूचनाओं के अनुसरण में अवमानकर्ता शिवचरण ने यह निवेदन किया कि जमानत रद्द करने के लिए आवेदन में किए गए प्रकथन उसके द्वारा नहीं किए गए हैं किन्तु इसे श्री अवस्थी द्वारा तैयार किया गया है और उसका प्रारूप बनाया गया है। यह बात आवेदन में की गई इस गलती से स्पष्ट है जिसमें कि मृतक गोपी का उसके

पिता के रूप में कथन किया गया है जब कि उसका पिता कुंजीलाल है। आवेदन को पढ़े और समझे बिना ही उसने उस पर हस्ताक्षर किए हैं। इसी प्रकार के कथन अवमानकर्ता 2 से 4 तक अर्थात् हरिराम, सीताराम और रामसेवक ने दिए हैं कि उन्होंने श्री अवस्थी को कभी भी यह अनुदेश नहीं दिया कि वह उनके शपथपत्रों में अन्तर्विष्ट अभिकथन करे। सीताराम अनपढ़ व्यक्ति है जबकि हरिराम और रामसेवक क्रमशः दूसरे और छठे दर्जे तक शिक्षित हैं। इन अन्तर्विष्टियों को पढ़े और समझे बिना ही उन्होंने शपथपत्रों को शपथित किया है जिनका प्रारूप श्री अवस्थी द्वारा तैयार किया गया है। अपने जवाब में बलराम तिवारी, अवमानकर्ता सं० 5 ने यह निवेदन किया है कि अनन्दीलाल को अग्रिम जमानत मंजूर करने के पश्चात् महन्तीबाई, गोपी की विधवा, ने जिला मजिस्ट्रेट के समक्ष यह कहते हुए आवेदन किया कि श्री तिवारी को हटा दिया जाना चाहिए और उसके स्थान पर श्री अवस्थी को यह अनुदेश दिया जाना चाहिए कि वह मामले में राज्य की ओर से उपस्थित हो। जमानत रद्द करने के लिए किए गए आवेदन और इसके संलग्नकों का प्रारूप श्री अवस्थी द्वारा तैयार किया गया था और उसे जिला मजिस्ट्रेट द्वारा यह अनुदेश दिया गया था कि वह जमानत रद्द करने के लिए आवेदन फाइल करे। आवेदन पढ़े बिना ही तथा श्री अवस्थी पर विश्वास करते हुए उसने हस्ताक्षर कर दिए थे और उसे न्यायालय में प्रस्तुत किया था। वास्तव में आवेदन को रद्द करने वाले आदेश के विरुद्ध उसने स्वयं ही जमानत को रद्द करने और उसे उच्च न्यायालय में प्रस्तुत करने के लिए आवेदन का प्रारूपण किया और उस आवेदन में उसने सेशन न्यायाधीश के विरुद्ध कोई लांछन नहीं लगाया था। श्री अवस्थी का जवाब में उसने इस बात से इनकार किया कि उसने जमानत रद्द करने के लिए किए गए आवेदन और शपथपत्रों का प्रारूपण किया था या उन्हें तैयार किया था। उसने केवल तीनों शपथपत्रों में उनकी अन्तर्विष्टियां जाने बिना ही परिसाक्षियों की शनाख्त की। उसे न तो महन्तीबाई द्वारा और न ही किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अनन्दीलाल या अन्य व्यक्तियों की जमानत का विरोध करने के लिए वकील नियुक्त किया था। किन्तु सभी अवमानकर्ताओं ने यह व्यक्त किया कि वे न्यायालय की निष्पक्षता और उसकी मान-मर्यादा का पूर्ण रूप से सम्मान करते हैं और उसमें विश्वास करते हैं और उनमें से प्रत्येक ने अनर्हित और अशर्त क्षमायाचना को और सूचनाओं को प्रभावोन्मुक्त करने के लिए प्रार्थना की।

5. **परस्पेक्टिव पब्लिकेशंस** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1] वाले मामले में

---

[1] ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 221.

उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न्यायाधीश के उसकी न्यायिक हैसियत में किए गए कार्य और आचरण की ऋजु, युक्तियुक्त और विधिपूर्ण आलोचना कर सकता है या उसके द्वारा दिए गए किसी विनिश्चय पर उचित और ऋजु टीका-टिप्पणी कर सकता है क्योंकि न्याय बंधा हुआ गुण नहीं होता और उसे साधारण व्यक्तियों की टीका-टिप्पणियों को, चाहे वे अप्रचलित ही क्यों न हों सम्मानपूर्वक संवीक्षा करने के लिए अनुज्ञात किया जाना चाहिए। आगे यह मत व्यक्त किया गया कि यह कहना सही नहीं है कि न्यायालय की निन्दा करने के लिए अवमान हेतु कार्यवाहियां अप्रचलित हो गई हैं तथा न्यायाधीश के लिए उचित मार्ग यह है कि वह अपमान लेख के लिए कार्रवाई संस्थित करे। **एम० वाई० शरीफ** बनाम **नागपुर उच्च न्यायालय न्यायाधीश**[1] वाले सुप्रसिद्ध मामले में निम्न लिखित अभिनिर्धारित किया गया है :—

> "औचित्य और क्षमा याचना दोनों साथ-साथ नहीं हो सकते। ये दोनों बातें विसंगत हैं। पुनः क्षमायाचना प्रतिरक्षा का ऐसा हथियार नहीं है कि वह उनके अपराध के दोष की शुद्धि कर सके न ही यह रामवाण के रूप में प्रयोग करने के लिए आशयित है किन्तु यह वास्तविक संताप विषयक साक्ष्य के लिए आशयित होता है।
>
> काउन्सेल, जिसने न्यायालय की निन्दा विषयक आवेदन और अभिवाकों पर उसके लिए उपयुक्त आधारों की प्रत्यक्ष रूप में विद्यमानता के बारे में युक्तियुक्त रूप से,अपना समाधान किए बिना न्याय के मार्ग को अवरुद्ध करने या विलम्बित करने के उद्देश्य से हस्ताक्षर किए हैं स्वयं न्यायालय अवमान के दोषी हैं तथा काउन्सेल का यह कर्तव्य नहीं है कि वह अपने मुवक्किल के इस प्रकार के आवेदन में हित दर्शित करे। दूसरी ओर उसका कर्तव्य यह है कि वह अपने मुवक्किल को यह सलाह दे कि वह अपने आवेदनों में इस प्रकार के अभिकथन न करे।
>
> जब एक बार इस तथ्य को मान लिया गया है कि विधिज्ञ परिषद् के सदस्यों ने इस प्रकार के आवेदनों पर अपने हस्ताक्षर करने के प्रभाव को पूर्ण रूप से महसूस नहीं किया है और उनका यह विश्वास है कि ऐसा करने में उनका आचरण वृत्ति संबंधी नैतिक नियमों के अनुसार है, ऐसी दशा में अर्हित क्षमायाचना पर भी

1 ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 19.

न्यायालय द्वारा विचार किया जा सकता है। मोटे रूप में ऐसे मामलों में जिनमें कि काउन्सेल के अधिकारों और उनके कर्तव्यों के सिद्धांत के प्रश्न का तय किया जाना अन्तर्वलित हो, क्षमा याचना के अनुकल्पी अभिवाक् पर विचार किया जाएगा क्योंकि उस न्यायाधीश के लिए जो मामले की सुनवाई करता है यह अभिनिर्धारित करना संभव है कि अवमान नहीं किया गया है, ऐसी दशा में अर्नहित क्षमायाचना की प्रतिरक्षा अर्थहीन है क्योंकि यह अपराध किए जाने की स्वीकृति की कोटि में आती है। अवमान के मामले में हर प्रकार की प्रतिरक्षा के बारे में यह नहीं माना जा सकता कि यह दुराग्रहपूर्ण है। यह प्रत्येक मामले की परिस्थितियों पर तथा वृत्ति करने वाले सदस्यों में विशिष्ट नैतिक नियम के बारे में सामान्य प्रभाव पर निर्भर करता है।"

यह स्पष्ट है कि काउन्सेल को उस अभ्यावेदन की जिसे वह न्यायालय को अपने मुवक्किल की ओर से करता है, जिम्मेदारी लेने में सावधानी बरतनी चाहिए। जब आवेदन के पक्षकार अवचार या पूर्वाग्रह का अभिकथन करते हैं तब काउन्सेल को यदि वह पिटीशन पर हस्ताक्षर करता है इस बात को देखना चाहिए कि इस प्रकार के अनुत्तरदायी अभिकथन न किए जाएं। यदि ऐसे अभिकथन किए जाते हैं और इसके पश्चात् भी वह पिटीशन पर हस्ताक्षर करता है तो उसके बारे में यह समझा जाएगा कि उसने भी अपने पक्षकार की तरह न्यायालय का अवमान किया है। विधिक-वृत्ति के सदस्यों के लिए व्यक्तिगत आक्षेप करना या भ्रष्टाचार के अदूरदर्शी और आधाररहित आरोप लगाना और न्यायालय के प्रति अनुचित लांछन लगाना बहुत ही अनियमित और अऋजुपूर्ण है। यदि वकील यह समझता है कि उसके पास किसी न्यायाधीश के विरुद्ध परिवाद का उचित मामला है तो वह उसके आचरण के विरुद्ध उच्चतर प्राधिकारियों को अभ्यावेदन कर सकता है। किसी भी काउन्सेल को सद्भाविक कथनों के लिए दण्डित नहीं किया जाना चाहिए किन्तु वह अवमान के लिए दायित्वाधीन होगा यदि वह बिना उचित जानकारी किए अदूरदर्शी अभिकथन करता है या न्यायालय पर दोषारोपण लगाने वाले तथ्यों को गढ़ता है या रिष्टिपूर्ण रूप से उन्हें ऐसा मोड़ देता है।

6. **ब्रह्म प्रकाश** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :—

"अवमान के ऐसे मामले, जिनमें स्वयं न्यायालय की निन्दा

---

[1] ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 10.

करने वाले कथन अन्तर्विष्ट हों, भाग्यवश बहुत कम होते हैं और इनके प्रति कार्रवाई करते समय अधिक विवेकाधिकार अपेक्षित होता है। इस प्रकार के अवमान के लिए कार्यवाहियों का मितव्ययी रूप से प्रयोग किया जाना चाहिए तथा इनका प्रयोग सदैव ही न्याय प्रशासन के प्रति निर्देश से किया जाना चाहिए। यदि किसी न्यायाधीश की इस प्रकार मानहानि की जाती है कि इससे न्याय प्रशासन प्रभावित नहीं होता तो मानहानि के लिए उसे साधारण उपचार उपलब्ध होता है यदि वह उनका प्रयोग करने के लिए अपने को बाध्य समझे।

मुख्य दो बातें होती हैं जिन्हें न्यायालय को उस समय महत्त्व देना चाहिए जबकि इससे स्वयं न्यायालय की निन्दा द्वारा किए गए अवमान के मामलों में संक्षिप्त शक्तियों का प्रयोग करने की अपेक्षा की जाए। प्रथमतः जब यह न्यायाधीश के अपने न्यायिक कर्तव्यों के निर्वहन के प्रति संदर्भ से उसके आचरण या चरित्र पर प्रभाव डालता हो तब यह अवमान नहीं होगा यदि ऐसा प्रभाव ऐसी ऋजु और युक्तियुक्त आलोचना के अधिकार के प्रयोग के कारण हुआ है जो न्याय के पद से किए गए लोक कृत्यों की बाबत प्रत्येक नागरिक को प्राप्त होता है। श्वासरोधक आलोचना द्वारा न्यायालयों में विश्वास उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

द्वितीयतः, जब आपत्ति या टीका-टिप्पणी किसी न्यायाधीश या न्यायाधीशों पर की जाती है जो उनके चरित्र की निन्दा करती है या उनके मान सम्मान को कम करती है वहां न्यायाधीश पर अवमान लेख और वास्तविक न्यायालय अवमान में अन्तर करने में सावधानी बरतनी चाहिए। यह तथ्य कि जहां तक किसी न्यायाधीश का संबंध है यह कथन मानहानिकारक है वहां यह आवश्यक रूप से अवमान नहीं होता।"

उस मामले में विधिज्ञ परिषद् का यह संकल्प कि कतिपय न्यायिक अधिकारी अक्षम हैं उच्चतर प्राधिकारियों को भेजा गया था और उच्चतम न्यायालय ने भी यह निष्कर्ष निकाला था कि अक्षमता विषयक लांछन प्रथम दृष्ट्या ही अवमानजनक होते हैं किन्तु कोई भी अवमान नहीं किया गया है क्योंकि इसका प्रकाशन नहीं किया गया है जैसा कि न्यायालय अवमान अधिनियम के अधीन अपेक्षित है। यद्यपि मानहानि के लिए वादहेतु प्रकाशन

पर्याप्त होता है। **मध्य प्रदेश** बनाम **रेवांशंकर**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :—

> "यदि परिवादित कार्य अपने सही स्वरूप और प्रभाव में वास्तविक रूप से मात्र अपमान के बजाय न्यायालय की निन्दा करता है तो यह स्पष्ट है कि बिथना राम-कृष्ण रेड्डी **बनाम** मद्रास राज्य (ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 149) वाले मामले में दिए गए विनिश्चय के विनिश्चयाधार के आधार पर उच्च न्यायालय की अधिकारिता अधिनियम की धारा 3(2) के उपबंध के कारण समाप्त नहीं हो जाती ।
>
> जब कोई अभियुक्त दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 528 के अधीन तात्पर्यित ऐसे आवेदन फाइल करता है जिसमें उसने मजिस्ट्रेट के विरुद्ध गम्भीर लांछन लगाए हैं जिसमें से एक लांछन यह है कि मजिस्ट्रेट ने अभियुक्त को चोरी के मिथ्या मामले में फंसाने के लिए षड्यंत्र किया है और दूसरा यह लांछन कि मजिस्ट्रेट ने 500 रुपये की रिश्वत ली है ।
>
> यह अभिनिर्धारित किया गया कि यह लांछन मजिस्ट्रेट को साशय व्यक्तिगत अपमान से कुछ अधिक है; उन्होंने स्वयं न्यायालय की निन्दा की है तथा न्याय के प्रशासन को दुर्बल किया है । अतः धारा 3(2) अवमान का संज्ञान करने में उच्च न्यायालय के रास्ते में नहीं आती ।"

गोबिन्द राम बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[2] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अन्तरण विषयक आवेदन में मात्र यह कथन किया जाना कि मजिस्ट्रेट के उस पक्षकार के साथ दोस्ताना संबंध हैं जो अधिवक्ता है और वह उसका आतिथ्य स्वीकार करता है तथा उसके साथ दोस्ताना संबंध हैं तब तक अवमान गठित नहीं करेगा जब तक कि उस पर ऐसे अनुचित हेतुकों का लांछन न लगाया गया हो जो स्वयं न्यायालय की निन्दा की कोटि में आते हों और जिनकी प्रवृत्ति जनता में अविश्वास उत्पन्न करने की हो तथा न्यायालय में लोगों के विश्वास को कम करता हो ।

7. इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए तथा पक्षकारों की सुनवाई

---

1 ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 102.

2 ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 989.

करने और अभिलेख का परिशीलन करने के पश्चात् हमारी यह राय है कि इन अवमानकर्त्ताओं ने सेशन न्यायाधीश के बारे में मिथ्या और अदूरदर्शी यह अभिकथन करने में कि उसने अनन्दी लाल की जमानत मंजूर करने में रिश्वत ली हैं, घोर अवमान किया है। श्री राजेन्द्र सिंह, जो श्री अवस्थी की ओर से उपस्थित हुए हैं तथा श्री एस० सी० दत्त, जो श्री बलराम तिवारी सहित शेष सभी अवमानकर्त्ताओं की ओर से उपस्थित हुए हैं, ने इस बात पर विवाद नहीं किया है। तिवारी के अनुसार आवेदन और शपथपत्रों को श्री अवस्थी द्वारा निरूपित और तैयार किया गया है और उसने केवल अपने साथी श्री अवस्थी पर विश्वास करते हुए इन अन्तर्विष्टियों को पढ़े बिना ही हस्ताक्षर किए हैं तथा यह कि उसने इस आवेदन को जिला मजिस्ट्रेट के अनुदेशों के आधार पर फ़ाइल किया है। यह सही प्रतीत नहीं होता और प्रारम्भिक जांच में सेशन न्यायाधीश के समक्ष दिए गए स्वयं के कथन द्वारा यह बात झूठी है कि उसने उस आवेदन को सही किया है जिसका श्री अवस्थी द्वारा प्रारूपण किया गया है और उसके द्वारा तैयार किया गया है। पक्षकारों के नामों में और इस आवेदन में स्वयं श्री तिवारी के हाथ से की गई शुद्धियों से भी यह स्पष्ट है। अत: इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि आवेदन को पढ़े बिना और श्री अवस्थी पर विश्वास करते हुए उसने हस्ताक्षर किए हैं और आवेदन उपस्थित किया है। उसने यह आवेदन इस आवेदन की अन्तर्विष्टियों को पूर्ण रूप से जानने के पश्चात् ही किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री तिवारी पर किसी प्रकार का दबाव था क्योंकि पूर्वतर आवेदन, जो महन्ती बाई, मृतक गोपी की विधवा द्वारा जिला मजिस्ट्रेट को किए गए पूर्वतर आवेदन में यह निवेदन किया गया था कि श्री तिवारी को हटा दिया जाना चाहिए और उसके बजाय श्री अवस्थी को इस मामले पर विचार करने के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए क्योंकि श्री तिवारी ने अनन्दी लाल की जमानत का विरोध नहीं किया था। लेकिन हम उसके इस स्पष्टीकरण को स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं कि श्री अवस्थी ने ही आवेदन और शपथपत्रों का प्रारूपण किया और उन्हें तैयार किया। अपनी बारी आने पर श्री अवस्थी ने यह कहते हुए साफ बच निकलने का प्रयत्न किया है कि उसका इस विषय से सिवाय इसके कि उसने शपथपत्रों में के अभिसाक्षियों की शनाख्त की है, कोई संबंध नहीं है। न तो उसने आवेदन या शपथपत्रों का प्रारूपण किया था या उन्हें तैयार किया था और न ही वह इनकी अन्तर्विष्टियों से अवगत था। अनन्दी लाल और अन्य व्यक्तियों की जमानत का विरोध करने के लिए किसी व्यक्ति द्वारा उसे नियुक्त किया गया है। इसी प्रकार के कथन उसने प्रारम्भिक जांच में किए हैं

जिसे सेशन न्यायाधीश द्वारा अभिलिखित किया गया है किन्तु उसे उसके स्वयं के मुवक्किलों ने अर्थात् अवमानकर्ता सं० 1 से 4 तक ने झुठला दिया है। उनके अनुसार आवेदन और शपथपत्रों का लेखक श्री अवस्थी है जिसने उनके अनुदेश के बिना इन्हें तैयार किया और उनका प्रारूपण किया। ये अनपढ़ ग्रामवासी हैं और यह संभव है कि जहां तक अभिसाक्षी हरिराम, सीताराम और रामसेवक का संबंध है उन्होंने इनकी अन्तर्विष्टियों को जाने बिना ही शपथपत्रों को शपथित किया हो किन्तु जहां तक शिवचरण का संबंध है ऐसा नहीं है क्योंकि उसने 4 अगस्त, 1982 को पुलिस थाना हत्ता में यह अभिकथन करते हुए रिपोर्ट दर्ज कराई कि अनन्दीलाल यह शेखी मार रहा था कि वह धन देकर जमानत करा लेगा। यह हो सकता है कि इस प्रकार की रिपोर्ट करने में उसे अन्य व्यक्तियों द्वारा उकसाया गया हो। सेशन न्यायाधीश ने इस रिपोर्ट को मिथ्या पाया तथा इस न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण में भी यही निष्कर्ष निकाला गया है। इस बात पर विश्वास करना कठिन है कि अवमानकर्ता सं० 1 से 4 तक को जाने बिना श्री अवस्थी ने श्री सिद्दीकी के समक्ष शपथपत्रों को शपथित कराया है। अभिसाक्ष्य की उसके द्वारा शनाख्त की गई है। श्री तिवारी की उसके छोटे भाई और लिपिक श्री ए० के० तिवारी द्वारा यह संपुष्टि की गई है कि श्री अवस्थी ने आवेदन और शपथपत्रों को तैयार किया है और उनका प्रारूपण लिखा है तथा उसने उन कागजातों को श्री बलराम शर्मा को, जोकि उस समय लोक अभियोजक थे, देने के लिए तैयार किए हैं। हम श्री जी० एस० मेहता, वरिष्ठ अधिवक्ता, जो जमानत मंजूर करने और जमानत को रद्द करने के लिए दिए गए आवेदन का विरोध करने हेतु अनन्दीलाल की ओर से उपस्थित हुए हैं, के इस कथन को भी स्वीकार करेंगे कि श्री अवस्थी क्षुब्ध हो जाएंगे यदि जमानत मंजूर कर ली जाती है और यह कि जमानत रद्द करने के लिए बहस के समय उसने अपर लोक अभियोजक को अनुदेश दिया था। श्री वी० के० टण्डन एक अन्य अधिवक्ता ने भी इसी प्रकार का कथन किया है। हम श्री रमेश श्रीवास्तव, अपर लोक अभियोजक के इस कथन को अस्वीकार नहीं करेंगे कि उसने अनन्दीलाल की जमानत रद्द करने के लिए बहस किए जाते समय श्री अवस्थी से कोई सहायता नहीं ली है। यदि श्री अवस्थी परिवादी पक्षकार की ओर से पहले से ही नहीं हैं तो यह बात समझ में नहीं आती कि वे क्यों उपस्थित हुए और उन्होंने इतना हित क्यों दर्शित किया। वास्तव में मृतक की विधवा ने भी जिला मजिस्ट्रेट के समक्ष यह आवेदन किया था कि श्री तिवारी के स्थान पर श्री अवस्थी को इस मामले का संचालन करने के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए। सेशन न्यायाधीश ने

भी यह मत अपनाया कि जमानत रद्द करने के लिए आवेदन का प्रारूपण करते समय रिपोर्ट और शपथपत्रों में के अभिकथनों में यह कहते हुए अत्यधिक दर्शाया गया है कि "अपने तौल के रुपये देकर जमानत पर रिहा हो गया।" श्री अवस्थी इन लांछनों का लेखक है और वह अपने इस दायित्व से यह कहते हुए नहीं बच सकता कि उसने जमानत के रद्द किए जाने के लिए किए गए आवेदन को न तो तैयार किया है और न ही उस पर हस्ताक्षर किए हैं।

8. अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि अवमानकर्ता सं० 1 से 6 तक ने न्यायालय की निन्दा करते हुए घोर न्यायालय अवमान किया है और तद्द्वारा न्याय के प्रशासन में हस्तक्षेप किया है अतः वे अधिनियम की धारा 12 के अधीन दण्ड के दायित्वाधीन हैं। जहां तक अवमानकर्ता सं० 2 से 5 तक का संबंध है हम उदार दृष्टिकोण अपनाते हैं और उन्हें यह कड़ी चेतावनी देते हैं कि यदि उन्होंने इसी प्रकार का रवैया अपनाया तो लोक हित में उनके विरुद्ध कठोर कार्रवाई की जाएगी। किन्तु अवमानकर्ता सं० 1 और 6 शिवचरण कुर्मी और श्री हरबंसलाल अवस्थी के प्रति इस प्रकार का उदार दृष्टिकोण दर्शित नहीं किया गया है। दोनों ही मिथ्या और अदूरदर्शी अभिकथनों के लिए दायित्वाधीन हैं और इनमें से प्रत्येक को 500 रुपये के जुर्माने से दण्डादिष्ट किया जाता है अथवा जुर्माने की रकम के संदाय में व्यतिक्रम करने पर एक मास का सादा कारावास भोगने से दण्डादिष्ट किया जाता है।

तदनुसार आदेश किया गया।

बंसल

नि० प० 1984 : मध्य प्रदेश—164

अरुण कुमार सिंह बनाम मध्य प्रदेश राज्य और अन्य

(Arun Kumar Singh *Vs.* State of M. P. and others)

तारीख 25 जनवरी, 1984

[कार्यकारी मु० न्या० ओझा एवं फैजानुद्दीन]

मध्य प्रदेश पंचायत अधिनियम, 1981 धारा 16(2) और (3) सपठित धारा 87(2)—उक्त धारा 16(3) के अधीन पद छोड़ने वाले सम्बद्ध सरपंच

को सूचना दिए बिना आदेश नहीं किया जा सकता—धारा 16(3) के अधीन विहित प्राधिकारी उपखण्ड अधिकारी है किन्तु धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी कलक्टर है अतः पद छोड़ने वाला सरपंच नवनिर्वाचित सरपंच को विहित प्राधिकारी द्वारा पद का कार्यभार सौंपने का निदेश देने के पश्चात् भी यदि इनकार करता है तो धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी ही उक्त धारा 87 के अधीन पद छोड़ने वाले सरपंच के विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है उपखण्ड अधिकारी नहीं अतः उक्त धारा 87 के अधीन उपखण्ड अधिकारी द्वारा पद छोड़ने वाले सरपंच को 30 दिन के लिए निरुद्ध किए जाने का आदेश बिना अधिकारिता के होने के कारण शून्य है।

पिटीशनर नए निर्वाचन से पूर्व ग्राम-पंचायत चन्द्रोकर का सरपंच था। इसके साथ ही साथ वह राजनैतिक पार्टी लोकदल का सक्रिय सदस्य भी था। लोकदल का सक्रिय सदस्य होने के नाते उसने प्रत्यर्थी सं० 2 के कार्य और आचरण की टीका-टिप्पणी की और उसके विरुद्ध परिवाद भी फाइल किए। इन बातों से प्रत्यर्थी सं० 2 पिटीशनर के प्रतिकूल हो गया। यही नहीं प्रत्यर्थी सं० 2 ने पिटीशनर को यह कहलवाया कि या तो वह उसके विरुद्ध किए गए परिवादों को वापस ले ले नहीं तो उसे इसके परिणाम भुगतने पड़ेंगे। 21 सितम्बर, 1983 को प्रत्यर्थी सं० 2 ने पिटीशनर पर मध्य प्रदेश पंचायत अधिनियम, 1981 की धारा 16 और धारा 87(1) के अधीन सूचना की तामील की और उससे यह कहा कि वह नवनिर्वाचित सरपंच को पंचायत का सम्पूर्ण कार्यभार 23-8-83 को सौंप दे। पिटीशनर ने सूचना पर ही यह टिप्पण देते हुए प्रार्थना की चूंकि, वह उस दिन पार्टी के कार्यों में काफी व्यस्त है, अतः वह 25-9-83 को कार्यभार सौंप देगा किन्तु प्रत्यर्थी सं० 2 ने उसकी इस प्रार्थना पर विचार किए बिना ही उसे 30 दिन के लिए सिविल कारागार में निरुद्ध किए जाने का आदेश दिया और 5 वर्ष की अवधि के लिए सरपंच का पद धारण करने से निरर्हित करने वाली घोषणा की। इससे व्यथित होकर पिटीशनर ने इस न्यायालय में पिटीशन फाइल किया और यह दलील दी कि प्रश्नगत अधिनियम की धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी कलक्टर है न कि उपखण्ड अधिकारी अतः उपखण्ड अधिकारी (प्रत्यर्थी सं० 2) द्वारा किया गया आक्षेपित आदेश बिना अधिकारिता के होने के कारण शून्य है। उसने यह दलील भी दी कि उस पर सूचना की तामील नहीं की गई थी और हेतुक दर्शित करने का उसे अवसर दिए बिना और विद्वेष की भावना से प्रेरित होकर प्रत्यर्थी सं० 2 द्वारा पारित आदेश इन आधारों पर भी अभिखण्डित किया जाना चाहिए। इसके विपरीत प्रत्यर्थी सं० 2 ने यह दलील प्रस्तुत की

भी यह मत अपनाया कि जमानत रद्द करने के लिए आवेदन का प्रारूपण करते समय रिपोर्ट और शपथपत्रों में के अभिकथनों में यह कहते हुए अत्यधिक दर्शाया गया है कि "अपने तौल के रुपये देकर जमानत पर रिहा हो गया।" श्री अवस्थी इन लांछनों का लेखक है और वह अपने इस दायित्व से यह कहते हुए नहीं बच सकता कि उसने जमानत के रद्द किए जाने के लिए किए गए आवेदन को न तो तैयार किया है और न ही उस पर हस्ताक्षर किए हैं।

8. अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि अवमानकर्ता सं० 1 से 6 तक ने न्यायालय की निन्दा करते हुए घोर न्यायालय अवमान किया है और तद्द्वारा न्याय के प्रशासन में हस्तक्षेप किया है अतः वे अधिनियम की धारा 12 के अधीन दण्ड के दायित्वाधीन हैं। जहां तक अवमानकर्ता सं० 2 से 5 तक का संबंध है हम उदार दृष्टिकोण अपनाते हैं और उन्हें यह कड़ी चेतावनी देते हैं कि यदि उन्होंने इसी प्रकार का रवैया अपनाया तो लोक हित में उनके विरुद्ध कठोर कार्रवाई की जाएगी। किन्तु अवमानकर्ता सं० 1 और 6 शिवचरण कुर्मी और श्री हरबंसलाल अवस्थी के प्रति इस प्रकार का उदार दृष्टिकोण दर्शित नहीं किया गया है। दोनों ही मिथ्या और अदूरदर्शी अभिकथनों के लिए दायित्वाधीन हैं और इनमें से प्रत्येक को 500 रुपये के जुर्माने से दण्डादिष्ट किया जाता है अथवा जुर्माने की रकम के संदाय में व्यतिक्रम करने पर एक मास का सादा कारावास भोगने से दण्डादिष्ट किया जाता है।

तदनुसार आदेश किया गया।

वंसल

नि० प० 1984 : मध्य प्रदेश—164

अरुण कुमार सिंह बनाम मध्य प्रदेश राज्य और अन्य

(Arun Kumar Singh *Vs.* State of M. P. and others)

तारीख 25 जनवरी, 1984

[कार्यकारी मु० न्या० ओझा एवं फैजानुद्दीन]

मध्य प्रदेश पंचायत अधिनियम, 1981 धारा 16(2) और (3) सपठित धारा 87(2)—उक्त धारा 16(3) के अधीन पद छोड़ने वाले सम्बद्ध सरपंच

को सूचना दिए बिना आदेश नहीं किया जा सकता—धारा 16(3) के अधीन विहित प्राधिकारी उपखण्ड अधिकारी है किन्तु धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी कलक्टर है अतः पद छोड़ने वाला सरपंच नवनिर्वाचित सरपंच को विहित प्राधिकारी द्वारा पद का कार्यभार सौंपने का निदेश देने के पश्चात् भी यदि इनकार करता है तो धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी ही उक्त धारा 87 के अधीन पद छोड़ने वाले सरपंच के विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है उपखण्ड अधिकारी नहीं अतः उक्त धारा 87 के अधीन उपखण्ड अधिकारी द्वारा पद छोड़ने वाले सरपंच को 30 दिन के लिए निरुद्ध किए जाने का आदेश बिना अधिकारिता के होने के कारण शून्य है।

पिटीशनर नए निर्वाचन से पूर्व ग्राम-पंचायत चन्द्रोकर का सरपंच था। इसके साथ ही साथ वह राजनैतिक पार्टी लोकदल का सक्रिय सदस्य भी था। लोकदल का सक्रिय सदस्य होने के नाते उसने प्रत्यर्थी सं० 2 के कार्य और आचरण की टीका-टिप्पणी की और उसके विरुद्ध परिवाद भी फाइल किए। इन बातों से प्रत्यर्थी सं० 2 पिटीशनर के प्रतिकूल हो गया। यही नहीं प्रत्यर्थी सं० 2 ने पिटीशनर को यह कहलवाया कि या तो वह उसके विरुद्ध किए गए परिवादों को वापस ले ले नहीं तो उसे इसके परिणाम भुगतने पड़ेंगे। 21 सितम्बर, 1983 को प्रत्यर्थी सं० 2 ने पिटीशनर पर मध्य प्रदेश पंचायत अधिनियम, 1981 की धारा 16 और धारा 87(1) के अधीन सूचना की तामील की और उससे यह कहा कि वह नवनिर्वाचित सरपंच को पंचायत का सम्पूर्ण कार्यभार 23-8-83 को सौंप दे। पिटीशनर ने सूचना पर ही यह टिप्पण देते हुए प्रार्थना की चूंकि, वह उस दिन पार्टी के कार्यों में काफी व्यस्त है, अतः वह 25-9-83 को कार्यभार सौंप देगा किन्तु प्रत्यर्थी सं० 2 ने उसकी इस प्रार्थना पर विचार किए बिना ही उसे 30 दिन के लिए सिविल कारागार में निरुद्ध किए जाने का आदेश दिया और 5 वर्ष की अवधि के लिए सरपंच का पद धारण करने से निर्रहित करने वाली घोषणा की। इससे व्यथित होकर पिटीशनर ने इस न्यायालय में पिटीशन फाइल किया और यह दलील दी कि प्रश्नगत अधिनियम की धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी कलक्टर है न कि उपखण्ड अधिकारी अतः उपखण्ड अधिकारी (प्रत्यर्थी सं० 2) द्वारा किया गया आक्षेपित आदेश बिना अधिकारिता के होने के कारण शून्य है। उसने यह दलील भी दी कि उस पर सूचना की तामील नहीं की गई थी और हेतुक दर्शित करने का उसे अवसर दिए बिना और विद्वेष की भावना से प्रेरित होकर प्रत्यर्थी सं० 2 द्वारा पारित आदेश इन आधारों पर भी अभिखण्डित किया जाना चाहिए। इसके विपरीत प्रत्यर्थी सं० 2 ने यह दलील प्रस्तुत की

चूंकि, धारा 87(1) में धारा 16(1) के अधीन कार्यवाही करने के लिए केवल प्रक्रिया ही विहित की गई है अतः धारा 87(1) का इस प्रकार निर्वचन किया जाना चाहिए कि विहित प्राधिकारी से ऐसा प्राधिकारी अभिप्रेत है जैसा कि धारा 16(1) में अनुध्यात है न कि धारा 87(1) में अनुध्यात विहित प्राधिकारी है। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि क्या प्रश्नगत अधिनियम की धारा 16(3) के अधीन विहित प्राधिकारी, उपखण्ड मजिस्ट्रेट, धारा 87 के अधीन कार्यवाही करते हुए पद छोड़ने वाले ऐसे परपंच को दण्डादेश का आदेश दे सकता है जिसने नवनिर्वाचित सरपंच को कार्यभार सौंपने से इनकार कर दिया हो ?

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

धारा 16 की स्कीम यह है कि पद छोड़ने वाले सरपंच को प्रथमतः नए पदधारी को कार्यभार सौंपने की सूचना दी जाएगी। इस धारा की उपधारा (2) में यह उपबंध किया गया है कि यदि पद छोड़ने वाला सरपंच कार्यभार सौंपने में असफल होता है या उससे इनकार करता है तो विहित प्राधिकारी द्वारा उसे यह निदेश दिया जाएगा कि वह अपने पद का कार्यभार और अपने कब्जे में की पंचायत की सम्पत्ति और कागजात सौंप दे तथा उपधारा (3) में यह उपबंध किया गया है कि उपधारा (2) के अधीन निदेश दिए जाने के पश्चात् भी यदि पद छोड़ने वाला सरपंच निदेश का अनुपालन करने में असफल रहता है तो विहित प्राधिकारी धारा 87 के अनुसार उसके विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए अग्रसर होगा। (पैरा 10)

धारा 16(3) में यह उपबंध किया गया है कि जब पद छोड़ने वाला कोई सरपंच उपधारा (2) के अधीन जारी किए गए किसी निदेश का अनुपालन करने में असफल रहता है तब विहित प्राधिकारी धारा 87 के अनुसार उसके विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है। अतः यह प्रतीत होता है कि यह विनिश्चय कि क्या धारा 87 के अधीन कार्यवाहियां पद छोड़ने वाले सरपंच के विरुद्ध प्रारम्भ की जानी चाहिए या नहीं उपधारा (3) के अधीन विहित प्राधिकारी की अधिकारिता है किन्तु जैसे ही वह कार्यवाही करने का निर्णय कर लेता है वैसे ही धारा 87 प्रवर्तित हो जाती है तथा धारा 87(1) में यह उपबंध किया गया है कि जब विहित प्राधिकारी की यह राय हो कि किसी व्यक्ति ने अप्राधिकृत रूप से पंचायत के किसी अभिलेख या वस्तु या धन को अपनी अभिरक्षा में रख लिया है तो वह इस बात की अपेक्षा कर सकता है कि वह अभिलेख या वस्तु या धन का पंचायत को ऐसे अधिकारी की उपस्थिति में, जैसा इस निमित्त

विहित प्राधिकारी द्वारा नियत किया जाए, परिदत्त या संदत्त कर दे। (पैरा 11)

धारा 87(1) में विहित प्राधिकारी के बारे में कहा गया है और यह निर्विवाद है कि धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी जिले का कलक्टर है। यदि विद्वान् सरकारी उप-अधिवक्ता के इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाता है कि धारा 16 के अधीन विहित प्राधिकारी धारा 87 के अधीन भी कार्यवाही करने के लिए अग्रसर हो सकेगा तो ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे कि धारा 87(1) में यह न कहा जा सकता हो कि धारा 16 के अधीन विहित प्राधिकारी धारा 87 के अधीन विहित प्राधिकारी है। वास्तव में अधिसूचना द्वारा धारा 87 के अधीन विहित प्राधिकारी कलक्टर को अधिसूचित किया गया है। यह अधिसूचना धारा 2(ङ) के अधीन प्रत्यायोजित कर्त्तव्यों के प्रयोग में जारी की गई है और यह प्रतीत होता है कि राज्य सरकार ने प्रत्यायोजित प्राधिकार के अधीन इन विधायी कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हुए यह अधिसूचित किया कि धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी जिले का कलक्टर होगा। अतः यह एक ऐसी विधायी अधिसूचना है जो धारा 87 के अधीन जिले के कलक्टर को शक्तियां प्रदत्त करती है। (पैरा 11)

अतः धारा 87 की यह स्कीम इस बात को उपदर्शित करती है कि विधानमण्डल का यह आशय था कि धारा 16 के अधीन विहित प्राधिकारी द्वारा विनिश्चय करने के पश्चात् भी मामले की धारा 87 के अधीन विहित प्राधिकारी द्वारा नए सिरे से परीक्षा की जानी चाहिए। यह इस बात को स्पष्ट रूप से उपदर्शित करती है कि धारा 87 के अधीन विहित प्राधिकारी वरिष्ठ अधिकारी होना चाहिए अतः अधिसूचना द्वारा धारा 87 के अधीन विहित प्राधिकारी जिले के कलक्टर को अधिसूचित किया गया है। यह तर्कसंगत प्रतीत होता है क्योंकि धारा 87 के अधीन कठोर कार्यवाही द्वारा नागरिक को उसकी स्वतन्त्रता से भी वंचित किया जा सकता है अतः यह प्रतीत होता है कि विधानमण्डल ने बुद्धिमत्ता पूर्ण रूप से यह निर्णय लिया कि यह प्राधिकारी वरिष्ठ अधिकारी अर्थात् जिले का कलक्टर ही होना चाहिए। अधिनियम की स्कीम, जिसकी ऊपर चर्चा की गई है, से धारा 16(3) और धारा 87 की उपधारा (1) में यथावर्णित "विहित प्राधिकारी" शब्द के निर्वचन के बारे में कोई संदेह नहीं रह जाता। ये दोनों भिन्न-भिन्न कार्य हैं अतः इन दोनों धाराओं के अधीन दो भिन्न-भिन्न प्राधिकारियों को अधिसूचित किया गया है। मामले को इस दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पिटीशनर को सिविल कारागार में 30 दिन के लिए निरुद्ध करने हेतु

उपखण्ड मजिस्ट्रेट द्वारा पारित आदेश न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि उसे धारा 87 के अधीन निरोध का आक्षेपित आदेश पारित करने की कोई अधिकारिता नहीं है। (पैरा 11)

प्रारम्भ में धारा 16(2) के अधीन निदेश की पिटीशनर पर तामील नहीं की गई थी अतः उपखण्ड मजिस्ट्रेट के लिए ऐसा कोई अवसर नहीं था कि वह उपधारा (3) के अधीन कार्यवाही करने के लिए अग्रसर होता और जब उसने उपधारा (3) के अधीन कार्यवाही करने का निर्णय लिया तब स्वयं सूचना पर ही पिटीशनर ने यह प्रार्थना की थी कि कतिपय कार्यकलापों के कारण उसके लिए 23 सितम्बर, 1983 को कार्यभार सौंपना संभव नहीं है और वह केवल एक दिन का समय चाहता है, किन्तु दुर्भाग्यवश उपखण्ड अधिकारी ने सूचना के इस भाग को नहीं पढ़ा और न ही उसने उसकी इस प्रार्थना पर विचार किया तथा धारा 87 के अधीन कार्यवाही करने का निर्णय लिया जिसकी उसे अधिकारिता नहीं थी। अतः इन परिस्थितियों में उप-खण्ड अधिकारी द्वारा धारा 87 के अधीन कार्यवाही करने का निश्चय करने का आदेश भी न्यायोचित नहीं है क्योंकि यह आदेश पिटीशनर को युक्तियुक्त अवसर दिए बिना ही पारित किया गया है। (पैरा 12)

पिटीशनर के विरुद्ध उसे सिविल कारागार में 30 दिन के लिए निरुद्ध रखने तथा पांच वर्ष के लिए उसे निर्रहित घोषित करने वाला आदेश स्पष्ट रूप से बिना अधिकारिता के है और इसे कायम नहीं रखा जा सकता। (पैरा 16)

सिविल अधिकारिता : 1983 का प्रकीर्ण पिटीशन सं० 383.

उप-खण्ड मजिस्ट्रेट द्वारा किए गए आदेश को अभिखण्डित करने के लिए किया गया पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री बी० डी० तिवारी

राज्य की ओर से ... श्री एम० ए० शाह, सरकारी उप-अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्ति ओझा ने दिया।

का० मु० न्या० ओझा :

पिटीशनर ने यह पिटीशन प्रत्यर्थी सं० 2 द्वारा 24 सितंबर, 1983 को दिए गए आदेश को, जिसमें प्रत्यर्थी सं० 2 ने पिटीशनर को सिविल

कारागार में 30 दिन के लिए निरुद्ध करने का निदेश दिया था और एम० पी० पंचायत अधिनियम, 1981 के अधीन 5 वर्ष तक पंच का पद धारण करने से निर्रहित घोषित करते हुए दिए गए आदेश को भी अभिखण्डित करने के लिए फाइल किया है।

2. पिटीशनर ने यह पिटीशन बंदी प्रत्यक्षीकरण के लिए किए गए पिटीशन के रूप में फाइल किया था क्योंकि उसे प्रत्यर्थी सं० 2 द्वारा पारित आदेशों के अधीन निरुद्ध किया गया था।

3. पिटीशन के अनुसार वह ग्राम चन्द्रोकर तहसील, गोहद, जिला, भिण्ड का स्थायी निवासी है तथा वह हाल ही के निर्वाचनों से पूर्व चन्द्रोकर ग्राम पंचायत का सरपंच था। यह भी अभिकथन किया गया है कि पिटीशनर राजनैतिक कार्यकर्ता है और उसने भारत की राजनैतिक पार्टियों में से एक पार्टी लोकदल का सक्रिय सदस्य होने का दावा किया है। पिटीशनर ने यह भी अभिकथन किया कि राजनैतिक कार्यकर्ता होने के नाते उसने प्रत्यर्थी सं० 2 के कार्य और आचरण की आलोचना की थी तथा उसके विरुद्ध परिवाद भी किए थे और यह भी अभिकथित किया गया कि इसी कारण प्रत्यर्थी सं० 2 पिटीशनर के विरुद्ध हो गया, यद्यपि पिटीशनर को इस बात की सूचना दे दी गई थी कि वह उसके विरुद्ध की गई शिकायतों को वापस ले ले अन्यथा उसे इसके परिणाम भुगतने पड़ेंगे।

4. पिटीशनर के अनुसार 21 सितम्बर, 1983 को प्रत्यर्थी सं० 2 ने पिटीशनर पर सूचना की तामील की जिसका मध्य प्रदेश पंचायत अधिनियम, 1981 की धारा 16 और 87(1) के अधीन की सूचना होना तात्पर्यित है और इसमें पिटीशनर को यह आदेश दिया गया था कि वह चन्द्रोकर ग्राम पंचायत के सरपंच का भार श्री बाबूसिंह को, जो कि 23 सितम्बर, 1983 को नया सरपंच निर्वाचित हुआ है, सौंप दे। सूचना में यह भी कहा गया था कि यदि पिटीशनर कार्यभार सौंपने में असफल रहा तो पंचायत अधिनियम की धारा 82(2) के अधीन उसके विरुद्ध कार्यवाही करेगी। यह अभिकथन किया गया कि जब पिटीशनर पर इस सूचना की तामील की गई तब पिटीशनर ने स्वयं सूचना पर ही यह लिख दिया था कि चूंकि वह 23 सितम्बर, 1983 को राजनैतिक क्रियाकलापों में व्यस्त है अतः उस तारीख को कार्यभार सौंपना उसके लिए संभव नहीं होगा। किन्तु उसने यह कहा कि वह 25 सितम्बर, 1983 को या इससे पूर्व कार्यभार सौंप देगा और यह अभिकथन किया कि पिटीशनर द्वारा की गई इस प्रार्थना के बावजूद भी प्रत्यर्थी सं० 2 ने 24 सितम्बर,

1983 को पिटीशनर की इस प्रार्थना पर विचार किये बिना ही पिटीशनर से विद्वेष की भावना रखते हुए पिटीशनर को 30 दिन के लिए अभिरक्षा में भेजे जाने और पांच वर्ष तक के लिए उसे निर्रहित घोषित करते हुए आक्षेपित आदेश पारित किया। पिटीशनर की ओर से यह दलील दी गई कि राज्य सरकार द्वारा जारी की गई अधिसूचना के अनुसार धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी जिले का कलक्टर है न कि उप-खण्ड अधिकारी, अतः पिटीशनर को अभिरक्षा में भेजते हुए उप-खण्ड अधिकारी द्वारा पारित आदेश पूर्ण रूप से बिना अधिकारिता के है। यह भी दलील दी गई कि चूंकि आदेश पारित करते समय उपखण्ड मजिस्ट्रेट ने पिटीशनर की इस उचित प्रार्थना पर भी विचार नहीं किया कि जिस दिन उससे कार्यभार सौंपने की अपेक्षा की गई थी उस दिन वह व्यस्त होने के कारण एक दिन पश्चात् कार्यभार सौंप देगा और उसकी इस उचित प्रार्थना पर विचार किये बिना ही आदेश पारित कर दिया अतः यह ऐसा आदेश नहीं है जिसकी किसी न्यायिककल्प अधिकरण से किये जाने की आशा की जाती हो। परिणामतः इसे अभिखण्डित किया जाना चाहिए।

5. यह भी दलील दी गई कि यह आदेश विद्वेषपूर्ण भावना से किया गया है तथा कार्यभार सौंपने के लिए पिटीशनर को जारी की गई सूचना की भी उस पर तामील नहीं की गई तथा ऐसी कोई सामग्री नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि कार्यभार सौंपने की सूचना की पिटीशनर पर तामील की गई थी अतः यह आदेश पिटीशनर को हेतु दर्शित करने का अवसर दिये बिना ही किया गया है। परिणामतः यह दलील दी गई कि इस आधार पर भी इस आदेश को अभिखण्डित किया जाना चाहिए। यह भी दलील दी गई कि ये सारी परिस्थितियां इस बात को दर्शित करती हैं कि प्रत्यर्थी सं० 2 ने आक्षेपित आदेश पिटीशनर से द्वेष पूर्ण भावना रखते हुए किया था क्योंकि उसके मन में पिटीशनर के लिए विद्वेष था और चूंकि यह आदेश विद्वेषपूर्ण भावना से किया गया है अतः अभिखण्डित किया जाना चाहिए।

6. प्रत्यर्थियों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् सरकारी अधिवक्ता ने यह दलील दी कि धारा 6(1) के अधीन विहित प्राधिकारी उपखण्ड अधिकारी है जब कि धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी उक्त जिले का कलक्टर है किन्तु यह दलील दी गई कि चूंकि धारा 87(1) में आगे की कार्रवाई के लिए प्रक्रिया का उपबन्ध किया गया है जैसा कि पंचायत अधिनियम की धारा 16 में अनुध्यात है। अतः धारा 87(1) की भाषा

का इस प्रकार निर्वचन किया जाना चाहिए जिससे कि इसका अभिप्राय यह हो कि विहित प्राधिकारी वह है जैसा कि धारा 16(1) के अधीन अनुध्यात है न कि ऐसा अधिकारी है जैसा कि धारा 87(1) में विहित है। जहां तक 25 सितम्बर, 1982 से या इससे पूर्व कार्यभार सौंपने के लिए पिटीशनर द्वारा प्रार्थना किये जाने की बावत दलील का सम्बन्ध है यह दलील दी गई कि यद्यपि पिटीशनर ने स्वयं सूचना पर ही यह पृष्ठांकन कर दिया था किन्तु उपखण्ड अधिकारी ने इसे उचित नहीं समझा क्योंकि पिटीशनर को कार्यभार सौंपने की सूचना की तामील पहले ही कर दी गई थी। यद्यपि विद्वान् काउन्सेल ने स्पष्ट रूप से इस बात से सहमति व्यक्त की है कि इस प्रभाव का शपथपत्र है कि सूचना की तामील की गई थी किन्तु फाइल में ऐसे कोई कागजात नहीं हैं जिनसे यह उपदर्शित होता हो कि सूचना की तामील की गई है सिवाय इसके कि निर्वाचन का परिणाम उसे चिपकाकर अधिसूचित किया गया था।

7. विद्वान् सरकारी उप-अधिवक्ता ने यह भी दलील दी कि यद्यपि पारित आदेश 30 दिन के निरोध के लिए है किन्तु पिटीशनर को 25 अक्तूबर, 1983 को इस न्यायालय द्वारा दिये गये अंतर्वर्ती आदेश द्वारा छोड़ दिया गया था और चूंकि पिटीशनर को पहले ही छोड़ दिया गया है अतः इस पिटीशन को ग्रहण करने से कोई लाभप्रद प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा क्योंकि प्रत्यर्थियों की अब ऐसी इच्छा नहीं है कि उसे कारागार में भेजा जाये क्योंकि उसने पहले ही कार्यभार सौंप दिया है और कागजात और पंचायत की संपत्ति, नये सिरे से चुने गये सरपंच को लौटा दिये हैं।

8. विद्वान् सरकारी उप-अधिवक्ता ने यह भी दलील दी कि चाहे उप-खण्ड अधिकारी द्वारा पारित आदेश विधि के अनुसार अनुचित पाया जाय फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह आदेश विद्वेषपूर्ण भावना से किया गया था क्योंकि उप-खण्ड अधिकारी ने प्रारम्भ में ही धारा 16 के अधीन पालन न किये जाने की अपनी रिपोर्ट कलक्टर को प्रस्तुत कर दी थी किन्तु कलक्टर ने इसे उप-खण्ड अधिकारी को धारा 87 के अनुसार कार्यवाही करने के लिए लौटा दिया था। इन परिस्थितियों के अधीन ही यह कि उप-खण्ड अधिकारी ने धारा 87 के अधीन कार्यवाही की और आक्षेपित आदेश पारित किया। जहां तक निरर्हता की घोषणा का सम्बन्ध है यह दलील दी गई कि यह धारा 87 के अधीन पारित किए गये आदेश का परिणाम है और चूंकि उप-खण्ड अधिकारी ने धारा 87 के अधीन आदेश पारित कर दिया था अतः उसे उप-धारा (3) के अधीन पारित आदेश के परिणामस्वरूप धारा 16(4) के अधीन आदेश पारित करने की कोई शक्ति नहीं है।

9. पिटीशनर की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि इस न्यायालय के अंतर्वर्ती आदेश द्वारा पिटीशनर को मुक्त किया जाना इस पिटीशन को निरर्थक नहीं बनाता क्योंकि सिविल कारागार में पिटीशनर को निरुद्ध किये जाने का आदेश एक ऐसा आदेश है जो एक नियत अवधि के लिए है और इस आदेश में यह कहा गया है कि पिटीशनर को सिविल कारागार में 30 दिन के लिए निरुद्ध किया जायेगा। यह एक ऐसा आदेश नहीं है जिसमें यह विहित किया गया हो कि उसे तब तक निरुद्ध किया जाएगा जब तक कि वह कार्यभार नहीं सौंप देता और यह कि धारा 87 की उपधारा (2) के अनुसार 30 दिन के लिए निरोध का आदेश पारित किया जा सकता है। यह दलील दी गई कि इस न्यायालय द्वारा पारित अंतर्वर्ती आदेश में यह कहा गया है कि यह निदे ा दिया जाता है कि पिटीशनर अरुण कुमार सिंह को उसके यह वचन-पत्र देने पर तुरन्त मुक्त किया जाय कि यदि अन्ततोगत्वा यह पाया जाता है कि उसका निरोध विधिपूर्ण है तो वह अभिरक्षा में अभ्यर्पण कर देगा। अतः यह दलील दी गई कि पिटीशनर की यह अंतर्वर्ती मुक्ति स्वयं ही सशर्त है और यदि इस आदेश को बनाये रखा जाता तो उसे अवधि के उस शेष भाग के लिए कारागार में जाना होगा जिसके लिए वह सिविल कारागार में भेजा गया था अत: इस पिटीशन का विनिश्चय उपखण्ड अधिकारी द्वारा पारित आदेश की विधिमान्यता को चुनौती के रूप में विनिश्चित किया जाएगा। विद्वान् सरकारी अधिवक्ता ने यह दलील दी कि यद्यपि निरोध के आदेश में उपखण्ड अधिकारी द्वारा हस्ताक्षर करते समय "उप-खण्ड मजिस्ट्रेट" के रूप में वर्णित पदाभिधान लिखा गया है और "उप-खण्ड मजिस्ट्रेट" पदाभिधान को न्यायोचित ठहराया गया है किन्तु यह दलील दी गई कि यह एक लिपिकीय भूल है और यह कि इसके औचित्य की मांग करना न्यायोचित नहीं है।

10. धारा 16(1), (2) और (3) निम्न प्रकार है :—

"16. **पद छोड़ने वाले सरपंच द्वारा कार्यभार सौंपा जाना—**

(1) नये सरपंच के अपने पद का कार्यभार संभाल लेने के यथा

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"16. Handing over charge by the outgoing Sarpanch—

(1) As soon as may be after taking over the charge of the office by the new Sarpanch, the outgoing Sarpanch

शक्य शीघ्र पद छोड़ने वाला सरपंच नये सरपंच को अपने पद का कार्यभार सौंप देगा।

(2) यदि पद छोड़ने वाला सरपंच उपधारा (1) के अनुसार अपने पद का कार्यभार सौंपने में असफल रहता है या इन्कार करता है तो विहित प्राधिकारी लिखित रूप में आदेश द्वारा यह आदेश दे सकेगा कि पद छोड़ने वाला सरपंच अपने पद का कार्यभार और सरपंच के रूप में अपने कब्जे में के सभी कागजात और सम्पत्ति नये सरपंच को तुरन्त सौंप दे।

(3) यदि उपधारा (2) के अधीन दिये गये निदेश का पद छोड़ने वाला सरपंच अनुपालन करने में असफल रहता है तो विहित प्राधिकारी धारा 87 के अनुसार उसके विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए अग्रसर होगा।"

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस धारा 16 की स्कीम यह है कि पद छोड़ने वाले सरपंच को प्रथमतः नये पद धारी को कार्यभार सौंपने की सूचना दी जायेगी। इस धारा की उप-धारा (2) में यह उपबंध किया गया है कि यदि पद छोड़ने वाला सरपंच कार्यभार सौंपने में असफल होता है या उससे इन्कार करता है तो विहित प्राधिकारी द्वारा उसे यह निदेश दिया जायेगा कि वह अपने पद का कार्यभार और अपने कब्जे में की पंचायत की संपत्ति और कागजात सौंप दे तथा उप-धारा (3) में यह उपबंध किया गया है कि उप-धारा (2) के अधीन निदेश दिये जाने के पश्चात् भी यदि पद छोड़ने वाला सरपंच निदेश का अनुपालन करने में असफल रहता है तो विहित प्राधिकारी धारा 87 के अनुसार उसके विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए अग्रसर होगा।

shall hand over the charge of his office to the new Sarpanch.

(2) If the outgoing sarpanch fails or refuses to hand over charge of his office in accordance with sub-section (1) the prescribed authority may, by order in writing, direct, the outgoing sarpanch to hand over forthwith charge of his office and all papers and property in his possession as sarpanch, to the new sarpanch.

(3) If an outgoing satpanch fails to comply with the direction under sub-section (2), the prescribed authority shall proceed against him in accordance with section 87."

11. अतः यह स्पष्ट है कि उप-धारा (2) के अधीन यथा अनुध्यात कार्यभार सौंपने को निदेश के जारी किए जाने के बारे में अभिकथन किया गया है किन्तु ऐसी कोई सामग्री नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इस निदेश की पिटीशनर पर तामील की गई थी। विद्वान् सरकारी उप-अधिवक्ता यह दर्शित करने के लिए कोई कागज प्रस्तुत नहीं कर सके हैं कि इस प्रकार के निदेश की पिटीशनर पर तामील की गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्यर्थी सं० 2, उप-खण्ड अधिकारी ने इस उपधारणा के आधार पर कि उप-धारा (2) के अधीन आदेश की पहले ही तामील की जा चुकी है, वह उप-धारा (3) के अधीन कार्यवाही करने के लिए अग्रसर हुआ अतः सर्वप्रथम उसने अपनी रिपोर्ट धारा 87 के अधीन कार्यवाही करने के लिए कलक्टर को प्रस्तुत की क्योंकि अधिनियम की धारा 87 में यह उपबंध किया गया है कि उप-धारा (1) के अधीन राज्य सरकार द्वारा अधिसूचित विहित प्राधिकारी द्वारा कार्यवाही की जा सकेगी। यह निर्विवाद है कि धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी कलक्टर है जबकि धारा 16(3) के अधीन विहित प्राधिकारी उप-खण्ड अधिकारी है। इस कारण भी यह दलील दी गई कि जब उप-खण्ड अधिकारी उप-धारा (3) के अधीन कार्यवाही करने के लिए अग्रसर होता है तब वह विहित प्राधिकारी होता है जैसा कि धारा 87 के अधीन अनुध्यात है अतः वह धारा 87(1) और (2) के अधीन कार्यवाही कर सकता है। विद्वान् सरकारी उप-अधिवक्ता द्वारा दिए गए इस तर्क के बारे में ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक मिथ्या तर्क है। धारा 16(3) में यह उपबंध किया गया है कि जब पद छोड़ने वाला कोई सरपंच उप-धारा (2) के अधीन जारी किए गए किसी निदेश का अनुपालन करने में असफल रहता है तब विहित प्राधिकारी धारा 87 के अनुसार उसके विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है। अतः यह प्रतीत होता है कि यह विनिश्चय कि क्या धारा 87 के अधीन कार्यवाहियां पद छोड़ने वाले सरपंच के विरुद्ध प्रारंभ की जानी चाहिए या नहीं यह उप-धारा (3) के अधीन विहित प्राधिकारी की अधिकारिता है किन्तु जैसे ही वह कार्यवाही करने का निर्णय कर लेता है वैसे ही धारा 87 प्रवर्तित हो जाती है तथा धारा 87(1) में यह उपबंध किया गया है कि जब विहित प्राधिकारी की यह राय हो कि किसी व्यक्ति ने अप्राधिकृत रूप से पंचायत के किसी अभिलेख या वस्तु या धन को अपनी अभिरक्षा में रख लिया है तो वह इस बात की अपेक्षा कर सकता है कि वह अभिलेख या वस्तु या धन को पंचायत को ऐसे अधिकारी की उपस्थिति में जैसा इस निमित्त विहित प्राधिकारी द्वारा नियत किया जाय, परिदत्त या संदत्त कर दे। धारा 87(1) निम्न प्रकार है:—

*"87. **अभिलेख, वस्तु और धन को वसूल करने की शक्ति**—

(1) जहां विहित प्राधिकारी की यह राय हो कि किसी व्यक्ति ने अप्राधिकृत रूप से अपनी अभिरक्षा में पंचायत के किसी अभिलेख या वस्तु या धन को ले लिया है तो वह लिखित आदेश द्वारा यह अपेक्षा करेगा कि वह अभिलेख या वस्तु या धन पंचायत को ऐसे अधिकारी की उपस्थिति में, जो इस निमित विहित प्राधिकारी द्वारा नियुक्त किया जाए, तुरन्त परिदत्त या संदत्त कर दे।"

इस धारा में विहित प्राधिकारी के बारे में कहा गया है और यह निर्विवाद है कि धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी जिले का कलक्टर है। यदि विद्वान् सरकारी उप-अधिवक्ता के इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाता है कि धारा 16 के अधीन विहित प्राधिकारी धारा 87 के अधीन भी कार्यवाही करने के लिए अग्रसर हो सकेगा तो ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे कि धारा 87(1) में यह न कहा जा सकता हो कि धारा 16 के अधीन विहित प्राधिकारी धारा 87 के अधीन विहित प्राधिकारी है। वास्तव में अधिसूचना द्वारा धारा 87 के अधीन विहित प्राधिकारी कलक्टर को अधिसूचित किया गया है। यह अधिसूचना धारा 2(ङ) के अधीन प्रत्यायोजित कर्त्तव्यों के प्रयोग में जारी की गई हैं और यह प्रतीत होता है कि राज्य सरकार ने प्रत्यायोजित प्राधिकार के अधीन इन विधायी कर्त्तव्यों का यह निर्वहन करते हुए यह अधिसूचित किया कि धारा 87(1) के अधीन विहित प्राधिकारी जिले का कलक्टर होगा। अतः यह एक ऐसी विधायी अधिसूचना है जो धारा 87 के अधीन जिले के कलक्टर को शक्तियां प्रदत्त करती हैं और यह तर्कसंगत प्रतीत होता है कि विधानमण्डल ने अपनी बुद्धिमत्ता से यह निर्णय लिया कि जब धारा 87 के अधीन कोई कठोर कार्यवाही की जाए तब यह अधिकारी उच्चतर प्राधिकारी होना चाहिए। अतः धारा 87(1) के अधीन कलक्टर को

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"87. **Power to recover records, articles and money**—

(1) Where the prescribed authority is of the opinion that any person has unauthorisely in his custody any record or article or money belonging to the panchayat, he may, by a written order, require that the record or article or money be delivered or paid forthwith to the panchayat in the presence of such officer as may be appointed by the prescribed authority in this behalf."

प्राधिकारी के रूप में अधिसूचित किया गया है। इसमें निर्वचन की कोई समस्या नहीं है क्योंकि यह स्पष्ट है कि धारा 16 के अधीन विहित अधिकारी को केवल इस बारे में निर्णय लेना है कि धारा 87 के अधीन कार्यवाही की जानी चाहिए या नहीं। जैसे ही विहित प्राधिकारी धारा 16 के अधीन इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि धारा 87 के अधीन कार्यवाही की जानी चाहिए तब उसके पास केवल यही मार्ग रह जाता है कि वह धारा 87 के अधीन शक्ति का प्रयोग करने के लिए इस प्रकार अधिसूचित विहित प्राधिकारी के समक्ष कागजात प्रस्तुत करे। धारा 87(1) की भाषा से यह उपदर्शित होता है कि इस विहित प्राधिकारी को मामले की पुनः परीक्षा करनी होती है और यह राय बनानी होती है कि किसी व्यक्ति ने अप्राधिकृत रूप से पंचायत के किसी अभिलेख या वस्तु या धन को अपनी अभिरक्षा में रख लिया है। अतः धारा 87 की यह स्कीम इस बात को उपदर्शित करती है कि विधानमंडल का यह आशय था कि धारा 16 के अधीन विहित प्राधिकारी द्वारा विनिश्चय करने के पश्चात् भी मामले की धारा 87 के अधीन विहित प्राधिकारी द्वारा नये सिरे से परीक्षा की जानी चाहिए। यह इस बात को स्पष्ट रूप से उपदर्शित करती है कि धारा 87 के अधीन विहित प्राधिकारी वरिष्ठ अधिकारी होना चाहिए। अतः अधिसूचना द्वारा धारा 87 के अधीन विहित प्राधिकारी जिले के कलक्टर को अधिसूचित किया गया है। यह तर्कसंगत प्रतीत होता है क्योंकि धारा 87 के अधीन कठोर कार्यवाही द्वारा नागरिक को उसकी स्वतंत्रता से भी वंचित किया जा सकता है अतः यह प्रतीत होता है कि विधान मंडल ने बुद्धिमत्तापूर्ण रूप से यह निर्णय लिया कि यह प्राधिकारी वरिष्ठ अधिकारी अर्थात् जिले का कलक्टर होना चाहिए; अधिनियम की स्कीम से जिसकी ऊपर चर्चा की गई है धारा 16(3) और धारा 87 की उपधारा (1) में यथावर्णित "विहित प्राधिकारी" शब्द के निर्वचन के बारे में कोई संदेह नहीं रह जाता। ये दोनों भिन्न-भिन्न कार्य हैं अतः दो भिन्न-भिन्न प्राधिकारियों को इन दोनों धाराओं के अधीन अधिसूचित किया गया है। मामले को इस दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पिटीशनर को सिविल कारागार में 30 दिन के लिए निरुद्ध करने हेतु उप-खण्ड मजिस्ट्रेट द्वारा पारित आदेश न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि उसे धारा 87 के अधीन निरोध का आक्षेपित आदेश पारित करने की कोई अधिकारिता नहीं है।

12. यह भी स्पष्ट है कि प्रारंभ में धारा 16(2) के अधीन निदेश की पिटीशनर पर तामील नहीं की गई थी अतः उपखण्ड मजिस्ट्रेट के लिए ऐसा कोई अवसर नहीं था कि वह उपधारा (3) के अधीन कार्यवाही करने के लिए

अग्रसर होता और जब उसने उपधारा (3) के अधीन कार्यवाही करने का निर्णय लिया तब स्वयं सूचना पर ही पिटीशनर ने यह प्रार्थना की थी कि कतिपय कार्यकलापों के कारण उसके लिए 23 सितम्बर, 1983 को कार्यभार सौंपना संभव नहीं है और वह केवल एक दिन का समय चाहता है, किन्तु दुर्भाग्यवश उपखण्ड अधिकारी ने सूचना के इस भाग को नहीं पढ़ा और न ही उसने उसकी इस प्रार्थना पर विचार किया तथा धारा 87 के अधीन कार्यवाही करने का निर्णय लिया जिसकी उसे अधिकारिता नहीं थी। अतः इन परिस्थितियों में उप-खण्ड अधिकारी द्वारा धारा 87 के अधीन कार्यवाही करने का निश्चय करने का आदेश भी न्यायोचित नहीं है क्योंकि यह आदेश पिटीशनर को युक्तियुक्त अवसर दिए बिना ही पारित किया गया है।

13. इन परिस्थितियों में स्वयं धारा 16(3) के अधीन कार्यवाही का प्रारंभिक प्रक्रम ही विधि के अनुसार अनुचित है अतः पश्चात्वर्ती कार्यवाहियां भी न्यायोचित नहीं हैं। विद्वान् सरकारी उप-अधिवक्ता द्वारा दी गई इस दलील का भी कि चूंकि पिटीशनर को अंतर्वर्ती आदेश द्वारा मुक्त कर दिया गया था अतः पिटीशन ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए, स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि यह आदेश स्वयं ही एक ऐसा आदेश है जो नियत अवधि के लिए निरोध हेतु दिया गया है।

14. जहां तक विद्वेष भावना का संबंध है यद्यपि ऊपर उपदर्शित की गई परिस्थितियों सहित पिटीशन में किये गए अभिकथनों से तथा उस रीति से जिसमें उप-खण्ड मजिस्ट्रेट इस मामले में कार्यवाही करने के लिए अग्रसर हुआ तथा "उप-खण्ड मजिस्ट्रेट" पदाभिधान के प्रयोग के लिए चाही गई न्यायोचितता कुछ विस्तार तक इस बात को उपदर्शित करती हैं कि विद्वान् उप-खण्ड मजिस्ट्रेट ऐसी रीति में कार्य नहीं कर रहा था जिस रीति में कि किसी न्यायिककल्प अधिकरण से कार्य करने की आशा की जाती है। चूंकि ये आदेश न्यायोचित नहीं हैं और यह बिना अधिकारिता के हैं, अतः विद्वेषपूर्ण भावना के प्रश्न पर और आगे विचार करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है।

15. धारा 87(2) के साथ पठित धारा 16(3) के अधीन कार्यवाही के परिणामस्वरूप उप-खण्ड अधिकारी द्वारा पिटीशनर को पांच वर्ष के लिए निर्हित घोषित करते हुए पारित किए गए आदेश का संबंध है चूंकि यह आदेश उप-खण्ड अधिकारी द्वारा धारा 16(3) और धारा 87(1) और (2) के अधीन पारित किया गया है अतः इसे बिना अधिकारिता के पारित किया गया अभिनिर्धारित किया जाता है और चूंकि पारिणामिक आदेश भी बिना अधिकारिता के है अतः इसे कायम नहीं रखा जा सकता।

प्राधिकारी के रूप में अधिसूचित किया गया है। इसमें निर्वचन की कोई समस्या नहीं है क्योंकि यह स्पष्ट है कि धारा 16 के अधीन विहित अधिकारी को केवल इस बारे में निर्णय लेना है कि धारा 87 के अधीन कार्यवाही की जानी चाहिए या नहीं। जैसे ही विहित प्राधिकारी धारा 16 के अधीन इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि धारा 87 के अधीन कार्यवाही की जानी चाहिए तब उसके पास केवल यही मार्ग रह जाता है कि वह धारा 87 के अधीन शक्ति का प्रयोग करने के लिए इस प्रकार अधिसूचित विहित प्राधिकारी के समक्ष कागजात प्रस्तुत करे। धारा 87(1) की भाषा से यह उपदर्शित होता है कि इस विहित प्राधिकारी को मामले की पुनः परीक्षा करनी होती है और यह राय बनानी होती है कि किसी व्यक्ति ने अप्राधिकृत रूप से पंचायत के किसी अभिलेख या वस्तु या धन को अपनी अभिरक्षा में रख लिया है। अतः धारा 87 की यह स्कीम इस बात को उपदर्शित करती है कि विधानमंडल का यह आशय था कि धारा 16 के अधीन विहित प्राधिकारी द्वारा विनिश्चय करने के पश्चात् भी मामले की धारा 87 के अधीन विहित प्राधिकारी द्वारा नये सिरे से परीक्षा की जानी चाहिए। यह इस बात को स्पष्ट रूप से उपदर्शित करती है कि धारा 87 के अधीन विहित प्राधिकारी वरिष्ठ अधिकारी होना चाहिए। अतः अधिसूचना द्वारा धारा 87 के अधीन विहित प्राधिकारी जिले के कलक्टर को अधिसूचित किया गया है। यह तर्कसंगत प्रतीत होता है क्योंकि धारा 87 के अधीन कठोर कार्यवाही द्वारा नागरिक को उसकी स्वतंत्रता से भी वंचित किया जा सकता है अतः यह प्रतीत होता है कि विधान मंडल ने बुद्धिमत्तापूर्ण रूप से यह निर्णय लिया कि यह प्राधिकारी वरिष्ठ अधिकारी अर्थात् जिले का कलक्टर होना चाहिए; अधिनियम की स्कीम से जिसकी ऊपर चर्चा की गई है धारा 16(3) और धारा 87 की उपधारा (1) में यथावर्णित "विहित प्राधिकारी" शब्द के निर्वचन के बारे में कोई संदेह नहीं रह जाता। ये दोनों भिन्न-भिन्न कार्य हैं अतः दो भिन्न-भिन्न प्राधिकारियों को इन दोनों धाराओं के अधीन अधिसूचित किया गया है। मामले को इस दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पिटीशनर को सिविल कारागार में 30 दिन के लिए निरुद्ध करने हेतु उप-खण्ड मजिस्ट्रेट द्वारा पारित आदेश न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि उसे धारा 87 के अधीन निरोध का आक्षेपित आदेश पारित करने की कोई अधिकारिता नहीं है।

12. यह भी स्पष्ट है कि प्रारंभ में धारा 16(2) के अधीन निदेश की पिटीशनर पर तामील नहीं की गई थी अतः उपखण्ड मजिस्ट्रेट के लिए ऐसा कोई अवसर नहीं था कि वह उपधारा (3) के अधीन कार्यवाही करने के लिए

अग्रसर होता और जब उसने उपधारा (3) के अधीन कार्यवाही करने का निर्णय लिया तब स्वयं सूचना पर ही पिटीशनर ने यह प्रार्थना की थी कि कतिपय कार्यकलापों के कारण उसके लिए 23 सितम्बर, 1983 को कार्यभार सौंपना संभव नहीं है और वह केवल एक दिन का समय चाहता है, किन्तु दुर्भाग्यवश उपखण्ड अधिकारी ने सूचना के इस भाग को नहीं पढ़ा और न ही उसने उसकी इस प्रार्थना पर विचार किया तथा धारा 87 के अधीन कार्यवाही करने का निर्णय लिया जिसकी उसे अधिकारिता नहीं थी। अतः इन परिस्थितियों में उप-खण्ड अधिकारी द्वारा धारा 87 के अधीन कार्यवाही करने का निश्चय करने का आदेश भी न्यायोचित नहीं है क्योंकि यह आदेश पिटीशनर को युक्तियुक्त अवसर दिए बिना ही पारित किया गया है।

13. इन परिस्थितियों में स्वयं धारा 16(3) के अधीन कार्यवाही का प्रारंभिक प्रक्रम ही विधि के अनुसार अनुचित है अतः पश्चात्वर्ती कार्यवाहियां भी न्यायोचित नहीं हैं। विद्वान् सरकारी उप-अधिवक्ता द्वारा दी गई इस दलील का भी कि चूंकि पिटीशनर को अंतर्वर्ती आदेश द्वारा मुक्त कर दिया गया था अतः पिटीशन ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए, स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि यह आदेश स्वयं ही एक ऐसा आदेश है जो नियत अवधि के लिए निरोध हेतु दिया गया है।

14. जहां तक विद्वेष भावना का संबंध है यद्यपि ऊपर उपदर्शित की गई परिस्थितियों सहित पिटीशन में किये गए अभिकथनों से तथा उस रीति से जिसमें उप-खण्ड मजिस्ट्रेट इस मामले में कार्यवाही करने के लिए अग्रसर हुआ तथा "उप-खण्ड मजिस्ट्रेट" पदाभिधान के प्रयोग के लिए चाही गई न्यायोचितता कुछ विस्तार तक इस बात को उपदर्शित करती हैं कि विद्वान् उप-खण्ड मजिस्ट्रेट ऐसी रीति में कार्य नहीं कर रहा था जिस रीति में कि किसी न्यायिककल्प अधिकरण से कार्य करने की आशा की जाती है। चूंकि ये आदेश न्यायोचित नहीं हैं और यह बिना अधिकारिता के हैं, अतः विद्वेषपूर्ण भावना के प्रश्न पर और आगे विचार करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है।

15. धारा 87(2) के साथ पठित धारा 16(3) के अधीन कार्यवाही के परिणामस्वरूप उप-खण्ड अधिकारी द्वारा पिटीशनर को पांच वर्ष के लिए निर्रहित घोषित करते हुए पारित किए गए आदेश का संबंध है चूंकि यह आदेश उप-खण्ड अधिकारी द्वारा धारा 16(3) और धारा 87(1) और (2) के अधीन पारित किया गया है अतः इसे बिना अधिकारिता के पारित किया गया अभिनिर्धारित किया जाता है और चूंकि पारिणामिक आदेश भी बिना अधिकारिता के है अतः इसे कायम नहीं रखा जा सकता।

16. विद्वान् सरकारी उप-अधिवक्ता ने हमारा ध्यान उप-खण्ड अधिकारी द्वारा पारित आदेश की ओर आकर्षित किया है जिसमें कि इस बात का उल्लेख किया गया है कि जब पिटीशनर को गिरफ्तार किया गया था और सिविल कारागार में भेजे जाने वाले आदेश के अनुपालन में उसके समक्ष पेश किया गया था, पिटीशनर ने कार्यभार सौंपने से इन्कार कर दिया था। विद्वान् सरकारी उप-अधिवक्ता ने यह दलील देने का प्रयत्न किया है कि यह बात स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित करती है कि पिटीशनर निदेश का अनुपालन करने के लिए तैयार नहीं था किन्तु इस दलील को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि स्वीकृत रूप से यह एक ऐसी स्थिति है जबकि पिटीशनर को वास्तव में गिरफ्तार कर लिया गया था और गिरफ्तारी की स्थिति में ही उसे हथकड़ी डालकर उसके समक्ष पेश किया गया था। दृश्यमान रूप से यह पिटीशनर के लिए यह अपमानजनक व्यवहार था और ऐसी परिस्थितियों में उस प्रक्रम पर उसके द्वारा इनकार किए जाने का कोई परिणाम नहीं होता जबकि वास्तव में प्रारंभिक रूप से धारा 16(2) के अधीन पिटीशनर पर कार्यभार सौंपने की सूचना की तामील तक नहीं की गई थी और जब धारा 87(1) के अधीन सूचना की पिटीशनर पर तामील की गई तब उसने स्वयं सूचना पर ही यह लिख दिया था कि उसे एक दिन का समय चाहिए जिस पर उप-खण्ड अधिकारी ने विचार तक नहीं किया। उपरोक्त विचार-विमर्श के आधार पर पिटीशनर के विरुद्ध उसे सिविल कारागार में 30 दिन के लिए निरुद्ध रखने तथा पांच वर्ष के लिए उसे निर्रहित घोषित करने वाला आदेश स्पष्ट रूप से बिना अधिकारिता के है और इसे कायम नहीं रखा जा सकता।

17. पिटीशनर ने यह भी दलील दी कि ऐसी स्थिति में, जबकि पिटीशनर को विधि-विरुद्ध रूप से निरुद्ध कर लिया गया हो, उसकी प्रतिपूर्ति की जानी चाहिए। जहां तक निरोध के आदेश का संबंध है यह पहले ही अभिनिर्धारित किया जा चुका है कि चूंकि यह आदेश बिना अधिकारिता के किया गया था, अतः पिटीशनर यदि वह चाहे तो सदोष निरोध के कारण हुई नुकसानी के लिए समुचित कार्यवाही कर सकता है।

18. यह पिटीशन मंजूर किया जाता है। पिटीशनर के विरुद्ध पारित दोनों आदेशों को एतद्द्वारा अभिखण्डित किया जाता है। मामले की इन परिस्थितियों में पक्षकारों को यह निदेश दिया जाता है कि वे इसके खर्चे स्वयं वहन करें।

पिटीशन मंजूर किया गया।

बंसल

नि० प० 1984 : मध्य प्रदेश—179

विट्ठल राव महाले बनाम मध्य प्रदेश राज्य और अन्य

(Vitthalrao Mahale *Vs.* State of Madhya Pradesh and others)

तारीख 31 जनवरी, 1984

[न्या० सी० पी० सेन और के० एन० शुक्ल]

साक्ष्य अधिनियम, 1872 धारा 115 –वचन विबन्ध का सिद्धांत—राज्य सरकार के किसी मंत्री द्वारा स्वास्थ्य केन्द्र खोले जाने के लिए आश्वासन देना— सरकार द्वारा किसी अन्य स्थान पर स्वास्थ्य केन्द्र का खोला जाना—मंत्री द्वारा दिए गए आश्वासन का साबित न होना—राज्य सरकार ऐसे आश्वासन से आबद्ध नहीं है—जो व्यक्ति सरकार के अभिकर्ता से संव्यवहार करता है उसके बारे में यह अवश्य ही माना जाएगा कि ऐसे व्यक्ति को सरकार के अभिकर्ता के प्राधिकार की परिसीमा की जानकारी थी।

प्रस्तुत मामले में पिटीशनर लघु स्वास्थ्य केन्द्र समिति का सचिव है। उसने परमादेश के लिए रिट पिटीशन फाइल करके यह प्रार्थना की है कि मध्य प्रदेश सरकार को यह निदेश दिया जाए कि वह लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र को उस स्थान से किसी अन्य स्थान पर न ले जाए और उस केन्द्र को स्थायी केन्द्र बना दे। प्रस्तुत मामले में एक स्थान पर लघु स्वास्थ्य केन्द्र था। उसके पास के गांव में सरकार ने एक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किया। पहले गांव में एक आयुर्वेदिक डिस्पेन्सरी थी और दोनों गांव के बीच में अधिक दूरी न होने के कारण तथा आस पास के गांव की सहूलियत को देखते हुए उक्त स्वास्थ्य केन्द्र खोला गया। पिटीशनर ने यह दलील दी है कि उसके गांव में स्वास्थ्य केन्द्र इसलिए नहीं खोला गया क्योंकि सरकार के राज्य मंत्री वहां के नागरिकों को वह सहूलियत नहीं देना चाहते हैं और पास के गांव में स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करके सहूलियत वहां के निवासियों को देना चाहते हैं तथा यह कार्य दुर्भावना के कारण और राजनैतिक प्रतिस्पर्धा के कारण किया गया है। सरकार की ओर से फाइल किए गए शपथपत्र में उक्त आरोपों से इनकार किया गया है और यह कहा गया है कि ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है जिससे यह ज्ञात हो कि मंत्री जी ने कोई आश्वासन दिया था। चूंकि सरकार के पास स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करने के लिए पर्याप्त भूमि है अतः यह दलील भी उचित प्रतीत नहीं होती कि मंत्री जी ने ग्रामवासियों से यह कहा हो कि वे स्वास्थ्य केन्द्र के लिए जमीन दान करें।

अभिनिर्धारित—पिटीशन खारिज किया गया।

वचन विबन्ध का सिद्धांत ऐसी सरकार के विरुद्ध उपलब्ध नहीं है जो विधायी प्रभुता सम्बन्धी या कार्यपालक कर्तव्य का प्रयोग कर रही है। राज्य की विधायी शक्ति के प्रयोग किए जाने के विरुद्ध कोई वचन विबन्ध नहीं हो सकता है। इसी प्रकार उक्त सिद्धांत सरकार को इस प्रकार प्रवारित करने के लिए लागू नहीं किया जा सकता जबकि विधि के अधीन वह अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन कर रही हो। सरकार अपने अधिकारियों और अभिकर्ताओं के कृत्य से वाध्य नहीं है जो अपने प्राधिकार से परे कार्य करते हैं और कोई व्यक्ति जो सरकार के अभिकर्ता से संव्यवहार करता है उसके बारे में यह अवश्य ही माना जाएगा कि उसे उसके प्राधिकार की परिसीमा की जानकारी थी। (पैरा 6)

		पैरा
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1285 : मैसर्स जीत राम शिव कुमार **बनाम** हरियाणा राज्य (M/s. Jit Ram Shiv Kumar *Vs.* State of Haryana) का **अनुसरण** किया गया।	6

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1982 का प्रकीर्ण पिटीशन सं० 119.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री वी० एस० डबीर

राज्य की ओर से ... श्री एम० वी० तामस्कर, सरकारी अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्या० सी० पी० सेन ने दिया।

न्या० सेन :

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन यह पिटीशन पिटीशनर विट्ठल राव महाले ने फाइल किया है। उसने यह दावा किया है कि वह लघु स्वास्थ्य केन्द्र समिति रंगारीठोका तहसील सौसर का सचिव है। उसने परमादेश के लिए रिट पिटीशन फाइल किया है और यह प्रार्थना की है कि मध्य प्रदेश सरकार को यह निदेश दिया जाए कि वह लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र को उस स्थान से किसी अन्य स्थान पर न ले जाए और उस केन्द्र को स्थायी केन्द्र बना दे।

2. रंगारीठोका के निवासियों की ओर से यह पिटीशन प्रतिनिधिक

हैसियत में फाइल किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि इस गांव की आबादी 2100 है और यहां चिकित्सा सुविधाएं बहुत कम हैं यद्यपि यहां गांव में जनपद आयुर्वेदिक डिस्पेंसरी है। किन्तु सबसे पास की डिस्सपेंसरी लोधी खेड़ा में है जो यहां से 5 किलोमीटर दूर है और जहां तक जाने के लिए रास्ते में दो नदियां पड़ती हैं। रंगारीसफर साथ लगा हुआ गांव है जो करीब एक किलो मीटर दूर है। ग्रामवासियों के लगातार प्रयत्न से 1979 में राज्य ने इस गांव में एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किया था जो उक्त आयुर्वेदिक डिस्पेंसरी में चलाया जा रहा है और जिससे रंगारीठोका और साथ के गांव की जरूरतें पूरी की जा रही हैं। मध्य प्रदेश राज्य के वर्तमान स्वास्थ्य राज्य मंत्री अर्थात् प्रत्यर्थी सं० 3 श्री रेव नाथ चौरे मध्य प्रदेश विधान सभा के लिए सोंसर निर्वाचन से निर्वाचित हुए हैं। वर्तमान चुनाव के पहले भी वे इस क्षेत्र से विधान सभा के सदस्य थे। तथापि राजनैतिक प्रतिस्पर्धा के कारण उनके मन में रंगारीठोका के निवासियों के प्रति दुर्भावना थी और उनके कहने पर इस बात का लगातार प्रयत्न किया गया है जिससे कि गांव में स्वास्थ्य केन्द्र से मिलने वाली सेवाओं से उस गांव को वंचित किया जा सके। विधान सभा के पिछले निर्वाचन के समय बहुत से नागरिक श्री चौरे के पास गए और उनसे अपना यह भय और आशंका व्यक्त की कि स्वास्थ्य केन्द्र उनके गांव से बदल दिया जाएगा। 6-12-1979 को श्री चौरे ने उन्हें यह लिखा कि स्वास्थ्य केन्द्र के सम्बन्ध में अंतिम विनिश्चय उनकी मौजूदगी में लिया जाएगा। 1980 के प्रारम्भ में विधान सभा के निर्वाचन होने के पश्चात् श्री चौरे स्वास्थ्य राज्य मंत्री बन गए। ग्रामवासियों का एक प्रतिनिधिमण्डल उनसे 8-11-1980 को मिला। श्री चौरे ने उनसे कहा कि वे धन इकट्ठा करें और रंगारीठोका और रंगारीसफर के बीच 8 दिन के भीतर कोई स्थान दान कर दें जिससे कि प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित कर दिया जाए। इस आश्वासन पर कार्य करते हुए ग्रामवासियों ने 5000 रुपये इकट्ठा किया और खसरा नम्बर 305 से 0·50 एकड़ भूमि तारीख 18-11-1980 के रजिस्ट्रीकृत विलेख द्वारा ग्राम रंगारी ठोका की सीमा पर जो रंगारीसफर की ओर मुख्य सड़क पर थी, खरीद ली। इसके तत्काल पश्चात् श्री चौरे को एक आवेदन भेजा गया जिसके साथ विक्रय विलेख संलग्न किया गया और उनसे अपना वचन पूरा करने की प्रार्थना की गई। इसके बावजूद श्री चौरे ने अपनी तरफ से रंगारी-ठोका से स्वास्थ्य केन्द्र हटाने का पूरा प्रयत्न किया तथा रंगारीसफर में एक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करने का प्रयत्न किया।

3. पिटीशनर ने निम्नलिखित दलीलें दी हैं—(1) संविधान के अधीन

राज्य पर यह बाध्यता है कि वह नागरिकों के कल्याण के लिए उपबन्ध करे जिसके अंतर्गत स्वास्थ्य के लिए सुविधाएं सम्मिलित हैं। राजनैतिक प्रतिस्पर्धा के कारण स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं से ऐसे नागरिकों को वंचित नहीं किया जा सकता जो उसका उपभोग करते रहे हों और प्रस्थापित कार्यवाही भारत के संविधान के द्वारा नागरिकों को प्रदत्त की गई गारंटी के विरुद्ध है। श्री चौरे ने ग्रामवासियों को यह व्यपदेशन किया कि वे प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करने के लिए भूमि दान करें और ग्रामवासियों ने इस व्यपदेशन के आधार पर कार्य करके वित्तीय दायित्व उपगत किया। भूमि क्रय की और उक्त भूमि राज्य सरकार को दान कर दी। अतः अब इस सम्बन्ध में कोई न्यायौचित्य नहीं है कि रंगारीठोका के स्वास्थ्य केन्द्र को बंद किया जाए और उसके स्थान पर रंगारीसफर में स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किया जाए। ग्रामवासियों को इस सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं है यदि दूसरा प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र रंगारीसफर में स्थापित किया जाता है। प्रत्यर्थियों का प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र को रंगारीठोका से बदल कर रंगारीसफर ले जाना असद्भावपूर्ण और दुर्भावना के कारण है तथा राजनैतिक प्रतिस्पर्धा के कारण किया गया कार्य है। श्री चौरे रंगारीठोका के ग्रामवासियों के विरुद्ध दुर्भावना रखते हैं।

4. अपनी विवरणी में प्रत्यर्थियों ने यह निवेदन किया है कि रंगारीठोका और रंगारीसफर अलग-अलग गांव नहीं हैं किन्तु वे रंगारी गांव के दो भाग या टोला हैं। राजस्व अभिलेख में भी गांव के तौर पर रंगारी ही अभिलिखित है। भारत सरकार ने न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम को कार्यान्वित करने की दृष्टि से राज्य सरकार ने तारीख 27-9-1978 के अपने आदेश द्वारा पूरे राज्य में 200 लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोलने की मंजूरी दी। ऐसा एक केन्द्र रंगारी गांव में खोला जाना प्रस्थापित था। 31-1-1979 को राज्य सरकार ने उक्त कार्यक्रम के पहले चरण को कार्यान्वित करने की दृष्टि से 62 ऐसे केन्द्र खोले जाने के लिए आदेश पारित किया। तथापि दोनों टोलाओं के निवासियों को जब यह ज्ञात हुआ कि रंगारी में लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोला जा रहा है तब वे अपने क्षेत्र में डिस्पेन्सरी खोले जाने के लिए अधिकारियों से मिले। उनके द्वारा अभ्यावेदन करने पर मामले की जांच की गई और जिला सलाहकार समिति ने यह सिफारिश की कि लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र रंगारीसफर में खोला जाए। लोक स्वास्थ्य निदेशक ने इसका अनुमोदन किया और साथ ही विभाग तथा राज्य के स्वास्थ्य मंत्री श्री परशुराम साहू ने 6-8-1979 को इसका अनुमोदन किया। इसके पश्चात् मामला स्वास्थ्य केबिनेट

मंत्री श्री शीतला सहाय के समक्ष रखा गया। इस बीच पुनः ऊपर वर्णित विनिश्चय के विरुद्ध श्री विनाश बनर्जी जो, उस समय शिक्षा मंत्री थे, के माध्यम से एक अभ्यावेदन मिला और श्री सहाय ने पूरे मामले की पुनः परीक्षा करने का आदेश दिया और लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोले जाने का विनिश्चय आस्थगित कर दिया गया। मामले की पुनः परीक्षा की गई और जिला सलाहकार समिति की पूर्ववर्ती सिफारिश तथा विभाग की सिफारिश कायम रखी गई। श्री सहाय ने सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और उन्होंने लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र रंगारीसफर में खोले जाने का 16-1-1980 को अनुमोदन कर दिया। मंत्रीं जी को पुनः नया अभ्यावेदन प्राप्त हुआ और उन्होंने मामले में अतिरिक्त जांच करने का आदेश किया। अतिरिक्त जांच किए जाने पर पुनः यह पाया गया कि रंगारीसफर में लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोला जाना उचित था। तथापि उसके अनुमोदन किए जाने के पहले जनता सरकार शासन से हट गई और राष्ट्रपति शासन वहां लागू कर दिया गया। निर्वाचन के पश्चात् कांग्रेस दल ने मन्त्रिमण्डल बनाया और मामले की पुनः परीक्षा किए जाने पर श्री चौरे ने यह सिफारिश की कि लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र रंगारीसफर में स्थापित किया जाए। इसका अनुमोदन स्वास्थ्य मंत्री श्री झुम्मकलाल भेड़िया ने किया। इसके पश्चात् आवश्यक आदेश जारी किए गए जिसमें कर्मचारिवृन्द को तैनात करने और आवश्यक भवन का निर्माण करने के लिए निर्देश दिया गया। वह भवन अब पूरा होने वाला है। इसके पश्चात् रंगारीठोका के निवासी 8-11-1980 को श्री चौरे से मिले और यह प्रार्थना की कि एक स्थायी लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र रंगारीठोका में स्थापित कर दिया जाए। किन्तु श्री चौरे ने इस सम्बन्ध में कोई वचन नहीं दिया और न उन्होंने ग्रामवासियों से धन इकट्ठा करने के लिए कहा और न इस प्रयोजन के लिए भूमि दान देने के लिए कहा। सरकार के पास लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करने के लिए पर्याप्त भूमि है। अभिकथन दुर्भावना से और राजनैतिक प्रतिस्पर्धा से प्रेरित होकर किए गए हैं। श्री चौरे के मन में कोई दुर्भावना नहीं है और न रंगारीठोका ग्रामवासियों के प्रति उनके मन में कोई राजनैतिक प्रतिद्वन्दता है और न ही उन्होंने ग्रामवासियों को स्वास्थ्य की सुविधा से वंचित करने के लिए कोई प्रयत्न किया है। वास्तव में राज्य सरकार ने यह अनुभव किया कि क्षेत्र की बढ़ती हुई आवश्यकता के कारण और सहूलियतों के उपलब्ध न होने के कारण लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के स्थान पर अतिरिक्त प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करना उचित होगा और इस कारण रंगारीसफर में स्थायी प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र का कार्य प्रारम्भ हो गया है। यह ऐसा स्थान

है जो आसपास के सभी गांवों के लिए सुविधाजनक है। रंगारीठोका में लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करने का कोई विनिश्चय नहीं किया गया था और इस प्रकार किसी भी केन्द्र द्वारा उस स्थान पर कभी भी कार्य करना शुरु नहीं किया गया था। लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र रंगारीसफर में स्थापित करने का विनिश्चय जनता सरकार द्वारा किया गया था न कि वर्तमान सरकार द्वारा। उक्त विनिश्चय गुणागुण के आधार पर किया गया था और सुसंगत परिस्थितियों पर पूर्ण रूप से विचार करके उक्त विनिश्चय किया गया था। वर्तमान सरकार ने उसका अनुमोदन किया है। पिटीशनर को यह पिटीशन फाइल करने का विधित: कोई प्रवर्तनीय अधिकार नहीं है।

5. पिटीशनर ने इस बात पर विवाद करते हुए एक प्रत्युत्तर फाइल किया है कि रंगारीठोका और रंगारीसफर दो अलग गांव नहीं हैं किन्तु वे रंगारी गांव के भाग ही हैं। इस सम्बन्ध में 1971 की जनगणना रिपोर्ट सहित कुछ दस्तावेजें अलग से फाइल की गई हैं जिनमें रंगारीठोका और रगारीसफर दोनों गांव की जनसंख्या दर्शाई गई है। 1971 के निर्वाचन में रंगारीठोका गांव के निवासियों ने पिटीशनर को कांग्रेस-आई का टिकट दिलाने के लिए प्रयत्न किया था। श्री चौरे को टिकट प्राप्त हो गया और वह निर्वाचित हो गए। इसके कारण उक्त गांव के निवासियों के प्रति चौरे के मन में प्रतिस्पर्धा की भावना पैदा हो गई। श्री चौरे रंगारीठोका के निवासियों को प्रतिद्वन्द्वी समझने लगे और रंगारीसफर के निवासियों को अपना समर्थक मानने लगे और उस समय से वह लगातार यह प्रयत्न करते रहे कि लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र को रंगारीठोका से रंगारीसफर ले जाया जाए। भले ही रंगारीसफर में अतिरिक्त स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित हो गया है किन्तु इस कारण रंगारीठोका गांव के निवासियों को लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र की सहूलियत से वंचित नहीं किया जा सकता। इसके समर्थन में यह दर्शाने के लिए 11 शपथपत्र फाइल किए गए हैं कि श्री चौरे ने गांववासियों से यह कहा था कि वे धन इकट्ठा करें और स्थायी लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र रंगारीठोका में स्थापित करने के लिए भूमि दान दें और उनके वचन पर कार्य करते हुए दान इकट्ठा करके भूमि खरीदी गई। अतिरिक्त विवरणी में प्रत्यर्थियों ने वही बात दुहराई है जो उन्होंने अपनी विवरणी में कही थी और प्रत्युत्तर में किए गए अभिकथनों से इनकार किया है। यह निवेदन किया गया है कि केवल राज्य सरकार ही यह विनिश्चय कर सकती है कि किस स्थान पर प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किया जाना चाहिए। उच्च न्यायालय इस मामले में खोजबीन करने और इस बात का

विनिश्चय करने की स्थिति में नहीं होगी कि किस स्थान पर प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किया जाना चाहिए। राज्य सरकार का यह पवित्र उद्देश्य है कि वह जनता को आधारभूत स्वास्थ्य सुविधायें उपलब्ध कराये और किसी भी स्थान से स्वास्थ्य केन्द्र 8 किलोमीटर से अधिक की दूरी पर नहीं होना चाहिए। किन्तु यह उद्देश्य प्राप्त करना कठिन है क्योंकि वित्तीय कठिनाइयां हैं और नवीनतम उद्देश्य स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करना है जिससे कि 20 किलोमीटर की परिधि में जनता को स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध हो जाएं। चूंकि अतिरिक्त प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र रंगारीसफर में प्रारम्भ हो चुका है जो रंगारीठोका से अधिक से अधिक 1 किलोमीटर है इसलिए रंगारीठोका गांव के निवासियों को कोई कठिनाई नहीं होगी विशेष रूप से जबकि उस गांव में पहले से ही जनपद आयुर्वेदिक डिस्पेन्सरी है। साथ लगी ग्राम पंचायतों ने भी रंगारीसफर में स्वास्थ्य केन्द्र खोले जाने का अनुमोदन किया है। किसी भी दशा में राज्य सरकार ने ग्रामवासियों से कभी भी यह नहीं कहा कि वे रंगारीठोका में स्थायी लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किए जाने के लिए भूमि खरीदें और न ही किसी मंत्री द्वारा जनता शासन काल में या कांग्रेस के शासन काल में कोई ऐसा आश्वासन दिया गया। श्री चौरे का शपथ-पत्र भी फाइल किया गया है जिसके द्वारा उन्होंने उनके विरुद्ध लगाए गए प्रत्येक प्रतिकूल अभिकथन से इनकार किया है और यह निवेदन किया है कि वे अभिकथन उनके विरोधी द्वारा लगाए गए हैं अर्थात् वर्तमान पिटीशनर द्वारा अभिकथन करने का उद्देश्य जनता के बीच उसे परेशानी में डालना है और ऐसे अभिकथन का राजनैतिक फायदा उठाना है। लोक सेवक के नाते वह बहुत से नागरिकों से करीब-करीब प्रतिदिन मिलता रहता है और उनकी शिकायतें सुनता है तथापि ऐसी बैठकों में किए गए विचार-विमर्श का कोई अभिलेख नहीं रखा जाता है। जब कभी उसे कोई अभ्यावेदन पेश किया जाता है तो वह उस अभ्यावेदन को आवश्यक कार्यवाही हेतु राज्य सरकार को अग्रेषित कर देता है। उसने जैसा कि पिटीशनर ने अभिकथन किया है, 8-11-1980 को किसी भी समय कोई वचन नहीं दिया।

6. संविधान के भाग 4 में राज्य की रीति के निदेशक तत्व हैं। अनुच्छेद 47 में व्यादिष्ट है कि राज्य अपने लोगों के पोषक स्तर और जीवन स्तर को ऊंचा करने और लोक स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्त्तव्य में मानेगा। अनुच्छेद 37 में उपबंधित है कि इस भाग में अन्तर्विष्ट उपबन्ध किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं होंगे किन्तु फिर भी उनमें अधिक तत्त्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य

है जो आसपास के सभी गांवों के लिए सुविधाजनक है। रंगारीठोका में लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करने का कोई विनिश्चय नहीं किया गया था और इस प्रकार किसी भी केन्द्र द्वारा उस स्थान पर कभी भी कार्य करना शुरु नहीं किया गया था। लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र रंगारीसफर में स्थापित करने का विनिश्चय जनता सरकार द्वारा किया गया था न कि वर्तमान सरकार द्वारा। उक्त विनिश्चय गुणागुण के आधार पर किया गया था और सुसंगत परिस्थितियों पर पूर्ण रूप से विचार करके उक्त विनिश्चय किया गया था। वर्तमान सरकार ने उसका अनुमोदन किया है। पिटीशनर को यह पिटीशन फाइल करने का विधित: कोई प्रवर्तनीय अधिकार नहीं है।

5. पिटीशनर ने इस बात पर विवाद करते हुए एक प्रत्युत्तर फाइल किया है कि रंगारीठोका और रंगारीसफर दो अलग गांव नहीं हैं किन्तु वे रंगारी गांव के भाग ही हैं। इस सम्बन्ध में 1971 की जनगणना रिपोर्ट सहित कुछ दस्तावेजें अलग से फाइल की गई हैं जिनमें रंगारीठोका और रंगारीसफर दोनों गांव की जनसंख्या दर्शाई गई है। 1971 के निर्वाचन में रंगारीठोका गांव के निवासियों ने पिटीशनर को कांग्रेस-आई का टिकट दिलाने के लिए प्रयत्न किया था। श्री चौरे को टिकट प्राप्त हो गया और वह निर्वाचित हो गए। इसके कारण उक्त गांव के निवासियों के प्रति चौरे के मन में प्रतिस्पर्धा की भावना पैदा हो गई। श्री चौरे रंगारीठोका के निवासियों को प्रतिद्वन्द्वी समझने लगे और रंगारीसफर के निवासियों को अपना समर्थक मानने लगे और उस समय से वह लगातार यह प्रयत्न करते रहे कि लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र को रंगारीठोका से रंगारीसफर ले जाया जाए। भले ही रंगारीसफर में अतिरिक्त स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित हो गया है किन्तु इस कारण रंगारीठोका गांव के निवासियों को लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र की सहूलियत से वंचित नहीं किया जा सकता। इसके समर्थन में यह दर्शाने के लिए 11 शपथपत्र फाइल किए गए हैं कि श्री चौरे ने गांववासियों से यह कहा था कि वे धन इकट्ठा करें और स्थायी लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र रंगारीठोका में स्थापित करने के लिए भूमि दान दें और उनके वचन पर कार्य करते हुए दान इकट्ठा करके भूमि खरीदी गई। अतिरिक्त विवरणी में प्रत्यर्थियों ने वही बात दुहराई है जो उन्होंने अपनी विवरणी में कही थी और प्रत्युत्तर में किए गए अभिकथनों से इनकार किया है। यह निवेदन किया गया है कि केवल राज्य सरकार ही यह विनिश्चय कर सकती है कि किस स्थान पर प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किया जाना चाहिए। उच्च न्यायालय इस मामले में खोजबीन करने और इस बात का

विनिश्चय करने की स्थिति में नहीं होगी कि किस स्थान पर प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किया जाना चाहिए। राज्य सरकार का यह पवित्र उद्देश्य है कि वह जनता को आधारभूत स्वास्थ्य सुविधायें उपलब्ध कराये और किसी भी स्थान से स्वास्थ्य केन्द्र 8 किलोमीटर से अधिक की दूरी पर नहीं होना चाहिए। किन्तु यह उद्देश्य प्राप्त करना कठिन है क्योंकि वित्तीय कठिनाइयां हैं और नवीनतम उद्देश्य स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करना है जिससे कि 20 किलोमीटर की परिधि में जनता को स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध हो जाएं। चूंकि अतिरिक्त प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र रंगारीसफर में प्रारम्भ हो चुका है जो रंगारीठोका से अधिक से अधिक 1 किलोमीटर है इसलिए रंगारीठोका गांव के निवासियों को कोई कठिनाई नहीं होगी विशेष रूप से जबकि उस गांव में पहले से ही जनपद आयुर्वेदिक डिस्पेन्सरी है। साथ लगी ग्राम पंचायतों ने भी रंगारीसफर में स्वास्थ्य केन्द्र खोले जाने का अनुमोदन किया है। किसी भी दशा में राज्य सरकार ने ग्रामवासियों से कभी भी यह नहीं कहा कि वे रंगारीठोका में स्थायी लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किए जाने के लिए भूमि खरीदें और न ही किसी मंत्री द्वारा जनता शासन काल में या कांग्रेस के शासन काल में कोई ऐसा आश्वासन दिया गया। श्री चौरे का शपथ-पत्र भी फाइल किया गया है जिसके द्वारा उन्होंने उनके विरुद्ध लगाए गए प्रत्येक प्रतिकूल अभिकथन से इनकार किया है और यह निवेदन किया है कि वे अभिकथन उनके विरोधी द्वारा लगाए गए हैं अर्थात् वर्तमान पिटीशनर द्वारा अभिकथन करने का उद्देश्य जनता के बीच उसे परेशानी में डालना है और ऐसे अभिकथन का राजनैतिक फायदा उठाना है। लोक सेवक के नाते वह बहुत से नागरिकों से करीब-करीब प्रतिदिन मिलता रहता है और उनकी शिकायतें सुनता है तथापि ऐसी बैठकों में किए गए विचार-विमर्श का कोई अभिलेख नहीं रखा जाता है। जब कभी उसे कोई अभ्यावेदन पेश किया जाता है तो वह उस अभ्यावेदन को आवश्यक कार्यवाही हेतु राज्य सरकार को अग्रेषित कर देता है। उसने जैसा कि पिटीशनर ने अभिकथन किया है, 8-11-1980 को किसी भी समय कोई वचन नहीं दिया।

6. संविधान के भाग 4 में राज्य की रीति के निदेशक तत्व हैं। अनुच्छेद 47 में व्यादिष्ट है कि राज्य अपने लोगों के पोषक स्तर और जीवन स्तर को ऊंचा करने और लोक स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्त्तव्य में मानेगा। अनुच्छेद 37 में उपबंधित है कि इस भाग में अन्तर्विष्ट उपबन्ध किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं होंगे किन्तु फिर भी उनमें अधिक तत्त्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य

होगा। फाइल की गई विवरणी से यह स्पष्ट है कि राज्य के नागरिकों को न्यूनतम आधारभूत चिकित्सीय सुविधाएं उपलब्ध कराने का प्रयत्न कर रही है और इस प्रयोजन के लिए न्यूनतम आवश्यक कार्यक्रम बनाया गया है। राज्य सरकार ने यह विनिश्चय किया है कि वह पूरे राज्य में 200 लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोलेगी और पहले चरण में ऐसे 62 केन्द्र खोले जा चुके हैं। यद्यपि राज्य की यह पुनीत आशा है कि वह नागरिकों को 8 किलोमीटर की परिधि के भीतर ऐसे केन्द्र उपलब्ध कराने की व्यवस्था करे। किन्तु निधि के कारण और अन्य कठिनाइयों के कारण वर्तमान परिस्थिति में ऐसा करना सम्भव नहीं है और वर्तमान समय में यह विनिश्चय किया गया है कि स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किए जाएं जिससे कि नागरिकों को 20 किलोमीटर की दूरी के भीतर सुविधाएं उपलब्ध हो सकें। यद्यपि प्रत्यर्थियों ने इस बात से इनकार किया है कि रगारीठोका लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किए जाने के सम्बन्ध में कोई विनिश्चय किया गया था। किन्तु पेश की गई दस्तावेजों से यह प्रतीत होता है कि ऐसा केन्द्र छोटे तौर पर उस गांव की जनपद आयुर्वेदिक डिस्पेन्सरी में काम करने लगे। किन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसा तब तक के लिए किया गया था जबकि अन्तिम विनिश्चय मामले की पूरी तरह से परीक्षा करने के पश्चात् जिसमें ऐसे केन्द्र के स्थापित करने के लिए स्थान की उपयुक्तता भी सम्मिलित है, कोई अन्तिम विनिश्चय न कर लिया जाए। सम्यक् परीक्षा और परामर्श के पश्चात् जिला सलाहकार समिति और विभाग ने यह सुझाव दिया कि रंगारीसफर प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करने के लिए अधिक उपयुक्त स्थान है। तद्नुसार ऐसा ही किया गया। उपाबंध-ए में जो, पिटीशन के साथ फाइल किया गया है, यह वर्णित किया गया है कि रंगारीठोका और रंगारीसफर गांव के बीच की दूरी करीब 5 फर्लांग है अतः रंगारीठोका ग्राम के निवासी इस बात की शिकायत नहीं कर सकते कि उन्हें दूसरे स्थान पर स्वास्थ्य केन्द्र को तब्दील करने से चिकित्सीय सुविधाओं से वंचित किया जा रहा है। वास्तव में उनके बतलाये अनुसार ही रगारीठोका के ग्रामवासी लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र को वर्तमान स्थान से किसी अन्य स्थान पर तब्दील करने के लिए सहमत हो गए थे। इसी कारण उन्होंने उपयुक्त स्थान पर भूमि क्रय कर ली थी। लघु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के स्थान पर अब ग्रामवासियों को प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र प्राप्त हो गया है जिसमें उक्त केन्द्र को लघु केन्द्र से और ऊंचे वर्ग का बनाने के लिए व्यापक सुविधाएं हैं जिससे कि वह अब अतिरिक्त स्वास्थ्य भवन बन गया है। रंगारीठोका में जनपद आयुर्वेदिक डिस्पेन्सरी पहले और ग्रामवासियों को इस बात का

प्रतिविरोध करने का अधिकार नहीं है कि प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र भी इस स्थान पर खोला जाए। आस-पास के गांव के निवासियों की मांगों पर विचार करने के पश्चात् रंगारीसफर में प्राथमिक केन्द्र अब स्थापित किए जाने की उपयुक्तता पर अब राज्य सरकार ने विचार किया है। विनिश्चय जनता सरकार ने किया था जिस पर कांग्रेस आई सरकार ने केवल पृष्ठांकन किया है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र की तब्दीली राजनैतिक भावना से प्रेरित होकर की गई है। मूलतः फाइल किए गए पिटीशन में यह बात स्पष्ट नहीं की गई है कि श्री चौरे वर्तमान स्वास्थ्य राज्य मंत्री के मन में रंगारीठोका के ग्रामवासियों के विरुद्ध दुर्भावना क्यों पैदा हुई। यद्यपि प्रत्युत्तर में उन्होंने यह साबित करने का प्रयत्न किया है कि ग्रामवासियों ने मजूरी का समर्थन किया था और इससे श्री चौरे कुपित हो गए थे। यदि ऐसी बात थी तो ग्रामवासियों को अपने गांव में स्थायी प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खुलवाने के लिए नहीं जाना चाहिए था। इस बात पर विश्वास करना कठिन है कि श्री चौरे ने ग्रामवासियों को आश्वासन दिया था कि भूमि का दान किए जाने पर एक स्थायी प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र वहां स्थापित किया जाएगा। चूंकि राज्य सरकार ने यह विनिश्चय पहले कर लिया है कि प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र रंगारीसफर में खोला जाएगा अतः श्री चौरे के लिए ऐसे किसी आश्वासन दिए जाने को कोई गुंजाइश नहीं थी। उसने शपथ-पत्र में अभिकथनों से भी इनकार किया है। हमें ऐसा कोई कारण नहीं प्रतीत होता है जिससे कि हम उसके शपथ-पत्र को स्वीकार न करें। उसने यह बतलाया है कि वह रंगारीठोका के ग्रामवासियों को पानी प्रदाय करने में सक्रिय रूप से लगा रहा था और यदि वह ग्रामवासियों के हित के विरुद्ध कार्य करता होता तो वह ऐसा नहीं करता। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार के विरुद्ध ऐसा कोई वचनबन्ध नहीं हो सकता भले ही यह मान लिया जाए कि पिटीशनर के अभिकथन सच हैं। यदि श्री चौरे ने भी आश्वासन दिया था तो राज्य जो निर्णायक प्राधिकारी है, ऐसे आश्वासन से आबद्ध नहीं था। उच्चतम न्यायालय ने मैसर्स **जीत राम शिव कुमार** बनाम **हरियाणा राज्य**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि वचन-विबन्ध का सिद्धांत ऐसी सरकार के विरुद्ध उपलब्ध नहीं है जो विधायी प्रभुता सम्बन्धी या कार्यपालक कर्त्तव्य का प्रयोग कर रही है, राज्य की विधायी शक्ति के प्रयोग किए जाने के विरुद्ध कोई वचनविबन्ध नहीं हो सकता है। इसी प्रकार उक्त सिद्धांत सरकार को इस प्रकार प्रवारित करने के लिए लागू नहीं किया जा सकता जबकि विधि के अधीन वह अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन कर

---

1 ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1285.

रही हो। सरकार अपने अधिकारियों और अभिकर्ताओं के कृत्य से बाध्य नहीं है जो अपने प्राधिकार से परे कार्य करते हैं और कोई व्यक्ति जो सरकार के अभिकर्ता से संव्यवहार करता है, उसके बारे में यह अवश्य ही माना जाएगा कि उसे उसके प्राधिकार की परिसीमा की जानकारी थी।

7. अतः पिटीशन असफल होता है और खारिज किया जाता है। खर्चे के सम्बन्ध में कोई आदेश नहीं किया जाता।

पिटीशन खारिज किया गया।

मि०

नि० प० 1984 : मध्य प्रदेश—188

विनीत टाकीज, जबलपुर बनाम आयकर आयुक्त मध्य प्रदेश

(Vineet Talkies Jabalpur *Vs.* Commissioner of Income Tax, Madhya Pradesh.)

तारीख 31 जनवरी, 1984

[न्या० जी० एल० ओझा तथा सी० पी० सेन]

आयकर अधिनियम 1961—धारा 217 (1-क)—विशेषतः अधिरोपित कर – इस धारा के अधीन पारित आदेश के विरुद्ध अपील नहीं की जाएगी।

आयकर अधिनियम, 1961—धारा 246 (ग) सपठित धारा 217 (1-क)—"जहां निर्धारिती इस अधिनियम के अधीन निर्धारण के दायित्व से इन्कार करता है" अभिव्यक्ति का निर्वचन—इस अभिव्यक्ति के अधीन वह इन्कार नहीं आता जो निर्धारण प्रक्रिया के किसी भाग अथवा अधिनियम के किसी उपबंध विशेष के अधीन निर्धारण के बारे में है।

निर्धारण वर्ष 1970-71 के बारे में आयकर आयुक्त ने आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 217(1-क) के अधीन, अग्रिम कर प्राक्कलन का और अधिक पुनरीक्षण करने में, जैसा कि अधिनियम की धारा 212 (3-क) में उपबंध किया गया है, निर्धारिती की असफलता के लिए 6,331 रुपये की रकम उस पर व्याज के रूप में प्रभारित की। निर्धारिती ने निर्धारण आदेश को तथा अधिनियम की धारा 217(1-क) के अधीन व्याज प्रभारित करने को भी सहायक अपील आयुक्त के समक्ष चुनौती दी। सहायक अपील आयुक्त

ने कुल आय में से 2,900 रुपये कम कर दिए किंतु अधिनियम की धारा 217 (1-क) के अधीन आदेश के विरुद्ध निर्धारिती की अपील को ग्रहण नहीं किया क्योंकि उनके अनुसार अधिनियम की धारा 246 निर्धारिती को ऐसे उद्ग्रहण के विरुद्ध अपील करने का कोई अधिकार प्रदान नहीं करती। तत्पश्चात् निर्धारिती ने निर्धारण आदेश के विरुद्ध एक द्वितीय अपील फाइल की और अधिनियम की धारा 217(1-क) के अधीन ब्याज प्रभारित करने के आदेश को भी चुनौती दी। अपील अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया कि सहायक अपील आयुक्त का यह अभिनिर्धारित करना न्यायोचित था कि अधिनियम की धारा 246, अधिनियम की धारा 217(1-क) के अधीन ब्याज प्रभारित करने वाले आदेअ के विरुद्ध अपील का उपबंध नहीं करती।

तत्पश्चात् आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 256(2) के अधीन इस न्यायालय द्वारा दिये गये निदेश के अनुपालन में आयकर अपील अधिकरण ने मामले का विवरण तैयार किया है और इस न्यायालय की राय के लिए विधि का निम्नलिखित प्रश्न निर्दिष्ट किया है:—

> "क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को देखते हुए आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 217(1-क) के अधीन 6,331 रु० ब्याज के रूप में प्रभारित किये जाने के कार्य को सहायक अपील आयुक्त और अधिकरण के समक्ष चुनौती देने की निर्धारिती को स्वतंत्रता है?"

निर्धारिती के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि अधिनियम की धारा 246(ग) के अधीन ब्याज उद्ग्रहण करने के विरुद्ध अपील की जा सकती है। काउन्सेल के अनुसार अधिनियम की धारा 217(1-क) के अधीन ब्याज के उद्ग्रहण के विरुद्ध अपील धारा 246 के खण्ड(ग) में "जहां निर्धारिती इस अधिनियम के अधीन निर्धारित किये जाने के अपने दायित्व से इनकार करता है" अभिव्यक्ति के अधीन की जा सकती है।

अभिनिर्धारित—निर्देश का उत्तर नकारात्मक दिया गया।

आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 217(1-क) के अधीन निर्धारिती से उस वित्तीय वर्ष से निकट अगले अप्रैल के प्रथम दिन से, जिस वित्तीय वर्ष में अग्रिम कर संदेय था, नियमित निर्धारण की तारीख तक 12 प्रतिशत वार्षिक की दर से उस रकम पर साधारण ब्याज संदेय करने की अपेक्षा की गई है जितनी रकम से उसके द्वारा संदेय अग्रिम कर, निर्धारित कर

से कम पड़ता है। यदि बात ऐसी है तो धारा 217(1-क) के अधीन ब्याज की मांग की जाती है और आयकर अधिकारी को इस मामले में कोई विवेकाधिकार नहीं है। यदि निर्धारित कर कम कर दिया जाता है तो इसके परिणामस्वरूप ब्याज की मात्रा भी स्वतः ही कम हो जाएगी। इस उपबंध के अधीन ब्याज की मांग निर्धारण आदेश का एक तार्किक परिणाम है और इसलिए अधिनियम की धारा 217(1-क) के अधीन ब्याज उद्ग्रहण किये जाने के बारे में अपील करने के अधिकार का कोई प्रश्न नहीं है। (पैरा 3)

आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 264 के खण्ड के दो भाग हैं : (i) जहां निर्धारिती इस अधिनियम के अधीन निर्धारित किये जाने के अपने दायित्व से इन्कार करता है, अथवा (ii) धारा 143 की उपधारा (3) या धारा 144 के अधीन, निर्धारण के किसी आदेश के अधीन, जहां निर्धारिती निर्धारित आय की रकम के प्रति, अथवा अवधारित कर की रकम के प्रति, संगणित हानि की रकम के प्रति अथवा उस प्रास्थिति के प्रति जिसके अधीन उसका निर्धारण किया गया है, आक्षेप करता है। "जहां निर्धारिती इस अधिनियम के अधीन निर्धारित किए जाने के अपने दायित्व से इनकार करता है" अभिव्यक्ति के निर्वचन के बारे में विभिन्न उच्च न्यायालयों में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये गये हैं। बहुमत का दृष्टिकोण यह है कि यह खण्ड इस अधिनियम के किसी विशेष उपबंध के विरुद्ध अपील करने का उपबंध नहीं करता। यह केवल वहां लागू होता है जहां अधिनियम के लागू होने के बारे में इनकार किया जाता है क्योंकि इसी खण्ड के उत्तरवर्ती भाग में ऐसी बातों के लिए पहले ही उपबंध किया गया है : स्पष्टतः समग्र भाव में, अभिव्यक्ति के प्रयोग से करदाता के लिए दायित्व अधिरोपित करने और इसे विनिश्चित करने से संबंधित संपूर्ण प्रक्रिया के अधीन होना अभिप्रेत है : और दायित्व अधिनियम के अधीन है, अधिनियम के किसी विशेष उपबंध या किसी एक धारा के अधीन नहीं। इन्कार करने से संबंधित इस खण्ड के अंतर्गत वह इनकार नहीं आता जो निर्धारण प्रक्रिया के किसी भाग अथवा अधिनियम के किसी उपबंध विशेष के अधीन निर्धारण के बारे में है। (पैरा 4 और 5)

	पैरा
144 आई० टी० आर० 197 (गुजरात) : भीखूभाई एम० शाह **बनाम** आयकर आयुक्त (Bhikhoobhai M. Shah *Vs.* Commissioner, Income Tax);	5
132 आई० टी० आर० 453 (मुम्बई) : आयकर आयुक्त **बनाम** शांतिलाल जे० मेहता (Commissioner	5

Income Tax *Vs.* Shanitlal J. Mehta);

130 आई० टी० आर० 842 (पंजाब-हरियाणा) : आयकर आयुक्त **बनाम** पी० एस० जैन० मोटर (प्रा०) लि० [Commissioner, Income Tax *Vs.* P. S. Jain Motors (P) Ltd.]; 5

121 आई० टी० आर० 708 इलाहाबाद (पूर्ण न्यायपीठ) आयकर आयुक्त **बनाम** गीता राम काली राम (Commissioner Income Tax *Vs.* Geeta Ram Kali Ram); 5

108 आई० टी० आर० 935 (कर्नाटक) : नेशनल प्रोडक्ट्स **बनाम** आयकर आयुक्त (National Products *Vs.* Commissioner Income Tax); 5

103 आई० टी० आर० 505 : के० बी० स्टोर्स **बनाम** आयकर आयुक्त (K. B. Stores *Vs.* (Commissioner, Income Tax); 5

100 आई० टी० आर० 603 (गुजरात) : आयकर आयुक्त **बनाम** शर्मा कंस्ट्रक्शन कम्पनी (Commissioner, Income Tax *Vs.* Sharma Constructiou Co.); 5

53 आई० टी० आर० 225 : आयकर आयुक्त **बनाम** कानपुर कोल सिंडिकेट (Commissioner, Income Tax *Vs.* Kanpur Coal Syndicate); 5

26 आई० टी० आर० 156 (आन्ध्र प्रदेश) : बोद्दू सीतारामस्वामी **बनाम** आयकर आयुक्त (Boddu Seetharamaswamy *Vs.* Commissioner Income Tax) 5

अवलंब लिया गया।

आयकर निर्देश अधिकारिता : 1981 का आयकर निर्देश सं० 97.

आयकर अधिनियम 1961 की धारा 256 के अधीन निर्देश।

आवेदक की ओर से ... श्री बी० एल० नीमा

विरोधी पक्षकार की ओर से ... श्री वी० के० रावत

न्यायालय का निर्णय न्या० सी० पी० सेन ने दिया।

न्या० सेन :

आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 256(2) के अधीन इस न्यायालय द्वारा दिये गये निदेश के अनुपालन में आयकर अपील अधिकरण ने मामले का विवरण तैयार किया है और इस न्यायालय की राय के लिए विधि को निम्नलिखित प्रश्न निर्दिष्ट किया है:—

"क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को देखते हुए आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 217(1-क) के अधीन 6,331 रु० ब्याज के रूप में प्रभारित किये जाने के कार्य को सहायक अपील आयुक्त और अधिकरण के समक्ष चुनौती देने की निर्धारिती को स्वतंत्रता है ?"

2. 31 मार्च, 1970 को समाप्त होने वाले निर्धारण वर्ष 1970-71 के बारे में आयकर आयुक्त ने आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 217(1-क) के अधीन, अग्रिम कर प्राक्कलन का और अधिक पुनरीक्षण करने में, जैसा कि अधिनियम की धारा 212 (3-क) में उपबंध किया गया है, निर्धारिती की असफलता के लिए 6,331 रुपये की रकम ब्याज के रूप में प्रभारित की। निर्धारिती ने निर्धारण आदेश को तथा अधिनियम की धारा 217(1-क) के अधीन ब्याज प्रभारित करने को भी सहायक अपील आयुक्त के समक्ष चुनौती दी। सहायक अपील आयुक्त ने कुल आय में से रुपये 2,900 कम कर दिए किंतु अधिनियम की धारा 217(1-क) के अधीन आदेश के विरुद्ध निर्धारिती की अपील को ग्रहण नहीं किया क्योंकि उनके अनुसार अधिनियम की धारा 246 निर्धारिती को ऐसे उद्ग्रहण के विरुद्ध अपील करने का कोई अधिकार प्रदान नहीं करती। तत्पश्चात् निर्धारिती ने निर्धारण आदेश के विरुद्ध एक द्वितीय अपील फाइल की और अधिनियम की धारा 217 (1-क) के अधीन ब्याज प्रभारित करने के आदेश को भी चुनौती दी। अपील अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया कि सहायक अपील आयुक्त का यह अभिनिर्धारित करना न्यायोचित था कि अधिनियम की धारा 246, अधिनियम की धारा 217(1-क) के अधीन ब्याज प्रभारित करने वाले आदेश के विरुद्ध अपील का उपबंध नहीं करती। तत्पश्चात् मामले का विवरण तैयार करने और इस न्यायालय की राय के लिए विधि के प्रश्न को निर्दिष्ट करने के लिए अधिनियम की धारा 256(1) के अधीन एक आवेदन किया

8. इन उपबंधों के पढ़ने मात्र से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि जिन व्यक्तियों का आशय अपनी अनुज्ञप्तियों का नवीकरण कराने का होता है उन्हें विहित प्ररूप में तथा विहित रीति से अनुज्ञापन अधिकारी को आवेदन करना होता है। यह आवश्यक है कि ऐसे आवेदन पर 2.00 रुपये का न्यायालय फीस स्टाम्प लगाया जाए और उसके साथ विहित अनुज्ञप्ति फीस भेजी जाए। शहरी क्षेत्रों में पशुओं के आयात से संबंधित अनुज्ञा की व्यवस्था धारा 7 में की गई है। धारा 18 राज्य सरकार को ऐक्ट में सम्मिलित किसी भी मामले के सम्बन्ध में और सामान्यत: ऐक्ट के प्रयोजनों को पूरा करने के लिए फीस का उद्ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करती है। राज्य सरकार ने इन्हीं शक्तियों का प्रयोग करते हुए आवश्यक नियम विरचित किए हैं। नियम 5 के अनुसार आरम्भ में प्रति पशु एक वर्ष अथवा वर्ष के किसी भाग के लिए 50.00 रुपए अनुज्ञप्ति फीस उद्गृहीत की जाती थी जो बाद में घटाकर 25.00 रुपए और 10.00 रुपए कर दी गई थी। नियम 6(4) में प्रति पशु 1.00 रुपए की दर पर दगाई फीस ली जाने की व्यवस्था है। शहरी क्षेत्र में पशुओं के आयात के सम्बन्ध में नियम 9 द्वारा प्रति पशु प्रारम्भ में 10.00 रुपए परमिट फीस, जो बाद में घटाकर 2.00 रुपए कर दी जाती है, ली जाने की व्यवस्था की गई थी। प्रति पशु 1.00 रुपए की दर पर दगाई फीस के उद्ग्रहण पर श्री परांजपे ने गम्भीर रूप से आक्षेप नहीं किया है। अत: श्री परांजपे का मुख्य विरोध नियमावली के नियम 5 और 7 द्वारा यथाविहित प्रति पशु प्रति वर्ष अथवा वर्ष के किसी भाग के लिए 50.00 रुपए अथवा 25.00 रुपए अथवा 10.00 रुपए अनुज्ञप्ति फीस तथा 2.00 रुपए परमिट फीस तक सीमित किया जाता है।

8 सितम्बर, 1983

9. जहां तक विधिक स्थिति का सम्बन्ध है श्री परांजपे ने **केवल कृष्ण पुरी वाले मामले** में,[1] जो कि सांविधानिक न्यायपीठ का निर्णय है, उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय का दृढ़तापूर्वक अवलम्ब लिया है। इस क्षेत्र में पूर्ववर्ती विनिश्चय को निर्दिष्ट करने के बाद उच्चतम न्यायालय ने इस निर्णय के पैरा 23 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :—

> "23. इस न्यायालय की विभिन्न नजीरों से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि किसी अधिसूचित बाजार क्षेत्र में अनुज्ञप्तिधारियों

---

[1] [1980] 2 उम० नि० प० 1170=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1008.

द्वारा लाई गई अथवा बेची जाने वाली कृषि-उपज पर बाजार-फीस के विधिमान्य उद्ग्रहण की कसौटियों के समाधानकारी सिद्धांत निम्नलिखित हैं :—

(1) वसूल की जाने वाली फीस की रकम अधिसूचित बाजार क्षेत्र में अनुज्ञप्तिधारियों को सेवाएं प्रदान करने के लिए उद्दिष्ट की जानी चाहिए और उसका काफी बड़ा भाग इस प्रयोजन के लिए व्यय किया गया दर्शित किया जाना चाहिए।

(2) अनुज्ञप्तिधारियों को प्रदत्त सेवाओं का सम्बन्ध कृषि-उपज के क्रय अथवा विक्रय संव्यवहार से होना चाहिए।

(3) विपणन संबंधी विधान के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए क्रय और विक्रय संबंधी संव्यवहारों को सुकर बनाने के प्रयोजनार्थ बाजार-क्षेत्र में सुविधाएं प्रदान करते समय यह आवश्यक नहीं है कि ऐसी सुविधाओं का पूरा फायदा अनुज्ञप्तिधारियों को ही प्रदान किया जाए। ऐसी सुविधाओं का कुछ विशेष फायदा उन व्यक्तियों को अवश्य प्रदान किया जाए जिनका अनुज्ञप्तिधारियों और संव्यवहारों के साथ कोई प्रत्यक्ष, निकट और युक्तियुक्त संबंध होता है।

(4) अनुज्ञप्तिधारी को विशेष फायदे प्रदान करते समय ऐसी सेवा, जो सम्भवत: बाजार में होने वाले संव्यवहारों से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों के हित में होगी, बाजार में ही प्रदान किए जाने के लिए अनुज्ञेय है।

(5) कृषि-उपज तथा गांवों में बाजार की परिवहन सुविधा का संवर्धन करने के प्रयोजनार्थ तथा मुख्य अथवा अनन्य रूप से कृषकों के फायदे के लिए अभिप्रेत अन्य सुविधाएं प्रदान करने के लिए बाजार फीस से खर्च की अनुज्ञा, इस आधार पर प्रदान नहीं की जा सकती कि ऐसी सेवाएं आगे चलकर बाजार में होने वाले संव्यवहारों के आकार-प्रकार में वृद्धि करेंगी जिनका फायदा अंततोगत्वा व्यापारियों को भी पहुंचेगा। व्यापारियों को पहुंचने वाला इस प्रकार का अप्रत्यक्ष अथवा दूरस्थ फायदा किसी भी अर्थ में उनका विशेष फायदा नहीं है।

(6) तत्-प्रति-तत् का तत्व का अंक-गणित यथार्थता के साथ सिद्ध किया जाना सम्भव अथवा आवश्यक न होने के बावजूद फीस वसूल करने वाले प्राधिकारियों को मोटे तौर पर और युक्तियुक्त रूप

से यह सिद्ध करना चाहिए कि बाजार फीस की रकम उन व्यक्तियों को सेवाएं प्रदान करने के लिए खर्च की जा रही है जिन पर फीस का भार पड़ता है।

(7) कम से कम युक्तियुक्त निश्चितता के साथ यह अवश्य दर्शित किया जाना चाहिए कि फीस का एक काफी बड़ा भाग, जो दो-तिहाई अथवा तीन-चौथाई के लगभग हो सकता है, उपर्युक्त प्रकार की सेवाएं प्रदान करने के लिए खर्च किया जा रहा है।"

10. इन मताभिव्यक्तियों का अवलम्ब लेकर श्री परांजपे ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि यदि इस समय अधिरोपित अथवा उद्गृहीत फीस का परीक्षण पूर्वोक्त निर्णय में अधिकथित सिद्धांतों की कसौटी पर किया जाए तो प्रस्तुत मामले में यह अभिनिर्धारित करना पड़ेगा कि राज्य सरकार ने तत्-प्रति-तत् का तत्व सिद्ध नहीं किया है। तथापि श्री गुमाश्ते ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि सदर्न फार्मेस्युटिकल्स वाले मामले[1] में किए गए विनिश्चय में उच्चतम न्यायालय ने केवल कृष्ण पुरी वाले मामले[2] में के विनिश्चय को निर्दिष्ट और स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

"यह सिद्ध किया जाना चाहिए कि फीस-दाता और फीस वसूल करने वाले प्राधिकारी के मध्य तत्-प्रति-तत् का तत्व विद्यमान है। हो सकता है कि ऐसा तत्-प्रति-तत् गणितीय यथार्थता की दृष्टि से फीस के बिल्कुल बराबर न हो तो भी फीस वसूल न करने वाले प्राधिकारी को सब मिलाकर अथवा मुख्य रूप से यह सिद्ध करना चाहिए कि फीस के बदले वह जो सेवा प्रदान कर रहा है वह फीस-दाता के किसी विशेष फायदे के लिए है। हमारे विचार से, इन मताभिव्यक्तियों का आशय और अभिप्राय किसी ऐसे नियम का अधिकथन करना नहीं है जो सार्वभौम रूप से लागू किया जा सके। न्यायालय बाजार-फीस की दर पर विचार कर रहा था और उसके समक्ष विचारणीय प्रश्न यह था कि क्या फीस की प्रति सौ रुपये 2.00 रुपये की दर को बढ़ाकर 3.00 रुपये करना न्यायोचित था ? चूंकि फीस की दर में वृद्धि को न्यायोचित ठहराने वाली कोई सामग्री पेश नहीं की गई थी अतः उसने कर का स्वरूप धारण कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है

---

[1] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1863.

[2] [1980] 2 उम० नि० प० 1170=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1008.

कि न्यायालय यह धारणा लेकर अग्रसर हुआ था कि फीस में तत्-प्रति-तत् का तत्व सदैव विद्यमान होना चाहिए। तत्-प्रति-तत् की पारम्परिक संकल्पना में परिवर्तन होता जा रहा है।"

उच्चतम न्यायालय ने **दिल्ली नगर निगम** बनाम **मोहम्मद यासीन**[1] वाले अपने अर्वाचीनतम विनिश्चय में इसी विनिश्चय का अवलंब लिया है। इस निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने **सदर्न फार्मेस्युटिकल्स वाले मामले**[2] में की गई मताभिव्यक्तियों को निर्दिष्ट करते हुए पैरा 9 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :—

"इन नजीरों से हमें क्या पता चलता है ? हमें यह पता चलता है कि यद्यपि मोटे तौर पर कर किसी सामान्य भार के एक अंग के रूप में अनिवार्यतः वसूल की जाने वाली रकम है जिसके बदले करदाताओं को कोई विशेष लाभ प्रदान करने का वचन नहीं दिया जाता और फीस एक ऐसी रकम है जिसका संदाय की गई सेवाओं, प्रदत्त फायदों अथवा विशेषाधिकारों के बदले किया जाता है, तो भी कर और फीस में कोई व्यापक अंतर नहीं है। संदाय की बाध्यता उनमें अंतर का प्रमाण चिह्न नहीं है। यह बात भी किसी उद्ग्रहण को आवश्यक रूप से कर का स्वरूप प्रदान नहीं करती कि वसूल किया गयाधन किसी पृथक् निधि में न जाकर समेकित निधि में जाता है। यद्यपि फीस का, की गई सेवाओं अथवा प्रदत्त लाभों से संबंध होना चाहिए तो भी यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा संबंध प्रत्यक्ष ही हो। मात्र आकस्मिक संबंध पर्याप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं है कि जैसी फीस ली जाए वैसी सेवा की जाए। इस बात से भी फीस के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता कि संदत्त फीस का फायदा फीस देने वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को भी मिल रहा है। वस्तुतः फीस-दाताओं का विशेष फायदा लोकहित में विनियम के प्राथमिक हेतु की तुलना में गौण हो सकता है। न ही न्यायालय से यह अपेक्षा की जाती है कि वह लागत लेखापाल की भूमिका का निर्वाह करे। वसूल की गई फीस और की गई सेवाओं की लागत को इस उद्देश्य से बहुत बारीकी से तौलना, कि उन दोनों में संतुलन हो जाए, न तो

---

[1] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 617.

[2] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1863.

> आवश्यक है और न ही समीचीन। उनमें मोटे तौर पर सहसंबंध होना मात्र आवश्यक है। तत्-प्रति-तत् सही अर्थों में फीस का एकमात्र सही सूचक नहीं होता और न ही वह कर में आवश्यक रूप से अनुपस्थित होता है।"

श्री परांजपे ने यह तर्क दिया है कि **सदर्न फार्मेस्युटिकल्स**[1] अथवा **दिल्ली नगर निगम**[2] वाले मामलों में किए गए विनिश्चय उच्चतम न्यायालय की सांविधानिक न्यायपीठ के विनिश्चय नहीं हैं **सदर्न फार्मेस्युटिकल्स वाले मामले**[1] में किया गया विनिश्चय तीन सम्मानीय न्यायाधीशों द्वारा किया गया विनिश्चय है और उस मामले में उच्चतम न्यायालय को एक ऐसे व्यापार अथवा कारबार की बाबत विचार करना था जिसके प्रति कोई व्यक्ति किसी मूल अधिकार का दावा नहीं कर सकता। उस मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 19(1)(छ) के अधीन किसी भी व्यक्ति को मादक औषधियों अथवा मदिरा जैसी हानिकर और खतरनाक वस्तुओं का व्यापार करने का मूल अधिकार प्रत्याभूत नहीं किया गया है। चूंकि उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि किसी भी व्यक्ति को तथाकथित कारबार करने का कोई मूल अधिकार नहीं है अतः उस मामले में अनुदत्त अनुज्ञप्ति विशेषाधिकार मानी गई थी। अतः श्री परांजपे का निवेदन यह है कि तथाकथित विनिश्चय अपने ही तथ्यों के आधार पर उलट गया था इसलिए हमें उच्चतम न्यायालय के **केवल कृष्ण पुरी वाले मामले**[3] में विनिश्चय को **सदर्न फार्मेस्युटिकल्स वाले मामले**[1] और **दिल्ली नगर निगम वाले मामले**[2] में किए गए विनिश्चयों की तुलना में वरीयता प्रदान करनी चाहिए क्योंकि वह पांच न्यायाधीशों वाले सांविधानिक न्यायपीठ का विनिश्चय है। **केवल कृष्ण पुरी वाला मामला**[3], **सदर्न फार्मेस्युटिकल्स वाले मामले**[1] में उच्चतम न्यायालय के अर्वाचीन विनिश्चय में विनिर्दिष्ट रूप से निर्दिष्ट किया गया है। तथाकथित विनिश्चय **सदर्न फार्मेस्युटिकल्स वाले मामले**[1] में भी स्पष्ट किया गया है। **केवल कृष्ण पुरी वाले मामले**[3] पर ध्यान देने के पश्चात् उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि उसमें की गई मताभिव्यक्तियों का आशय और अभिप्राय सार्वभौम रूप से लागू होने वाले नियम का अधिकथन करना नहीं है। उसने यह भी मताभिव्यक्ति की कि तत्-प्रति-तत् की पारम्परिक संकल्पना में परिवर्तन होता जा रहा है।—

---

[1] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1863.

[2] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 617.

[3] [1980] 2 उम० नि० प० 1170=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1008.

अतः **सदर्न फार्मेस्युटिकल्स वाले मामले**[1] में केवल **कृष्ण पुरी वाले मामले**[2] में किए गए पूर्ववर्ती विनिश्चय पर ध्यान दिया गया है और उसे स्पष्ट किया गया है। उच्चतम न्यायालय ने **सदर्न फार्मेस्युटिकल्स वाले मामले**[1] में अधिकथित विधि का अनुमोदन अर्वाचीनतम विनिश्चय, अर्थात् **दिल्ली नगर निगम वाले मामले**[3] में किया है। अतः यह मानना पड़ेगा कि उच्चतम न्यायालय ने अब संबंधित विषय की बाबत विधि अपने अर्वाचीनतम विनिश्चय, अर्थात् **दिल्ली नगर निगम वाले मामले**[3] में स्पष्ट की है और हमें प्रस्तुत रिट पिटीशन में किए गए आक्षेप का परीक्षण उसमें अधिकथित सिद्धान्तों के आधार पर करना होगा।

11. यह भी सुस्थिर हो चुका है कि अनुच्छेद 19(6) राज्य सरकार को किसी ऐसी विधि का निर्माण करने से नहीं रोकता जो संविधान के उपखंड 19(1)(छ) द्वारा प्रदत्त अधिकारी के प्रयोग पर लोकहित में युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित करती हो। इस निर्बन्धन की परिधि में विनियम और प्रतिषेध दोनों सम्मिलित हैं। उच्चतम न्यायालय ने **नरेन्द्र कुमार और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य वाले मामले**[4] में निर्बन्धन की युक्तियुक्तता के अवधारण की कसौटी अधिकथित की है। यह असंदिग्ध है कि अनुच्छेद 19(6) में यथाप्रयुक्त 'निर्बन्धन' शब्द में प्रतिषेध के मामले भी सम्मिलित हैं। उच्चतम न्यायालय ने **मोहम्मद फारुख बनाम मध्य प्रदेश राज्य और अन्य**[5] वाले मामले के पैरा 9 में इस स्थिति को पर्याप्त रूप से स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित मतभिव्यक्ति की है :—

> "9. इस न्यायालय ने नरेन्द्र कुमार **बनाम** भारत संघ वाले मामले [1960-(2) एस० सी० आर० 375=ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 430] में यह अभिनिर्धारित किया है कि संविधान के अनुच्छेद 19(5) और 19(6) में प्रयुक्त 'निर्बन्धन' शब्द में प्रतिषेध के मामले भी सम्मिलित हैं, कि जब निर्बन्धन अधिकारों के पूर्ण अवरोध के स्तर तक पहुंच जाता है तो न्यायालय द्वारा इस बात के लिए विशेष सावधानी बरती जानी चाहिए कि वह यह देखे कि युक्तियुक्तता की कसौटी पर वह निर्बन्धन खरा उतरे और इस प्रश्न पर विचार उन तथ्यों और

---

[1] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1863.

[2] [1980] 2 उम० नि० प० 1170=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1008.

[3] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 617.

[4] ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 430.

[5] [1970] 2 उम० नि० प० 1=ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 93.

परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में किया गया, जिस पर बुराई का उपचार ऐसी विधि द्वारा ईप्सित था, उसकी प्रकृति का प्रस्थापित उपचार से विभिन्न नागरिकों को होने वाली हानि का, तथा जनसाधारण को उससे युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशित फायदे का और इस बात का कि क्या विधि द्वारा लगाया गया अवरोध उतने से अधिक है जितना कि जनसाधारण के हित में आवश्यक था, ध्यान रखा जाना चाहिए।"

12. हमारे समक्ष कंट्रोल ऐक्ट के मौलिक उपबंध आक्षेपित नहीं किए गए हैं और व्यावहारिक रूप से निश्चित स्थिति यह है कि ऐक्ट द्वारा अधिरोपित निर्बन्धन युक्तियुक्त निर्बन्धन हैं। विधानमंडल ने इस ऐक्ट की अधिनियमिति यह सुनिश्चित करने के उद्देश्य से की थी कि लोक स्वास्थ्य और स्वच्छता, जो शहरी क्षेत्रों में बड़ी संख्या में दुधारू पशुओं के रखे जाने के कारण संकटग्रस्त हैं, बनी रहे। अनुज्ञापन की व्यवस्था इसलिए की गई थी क्योंकि ऐसा करना लोकहित में उपयुक्त समझा गया था। वर्तमान अधिनियमिति को कानूनी पुस्तक का रूप प्रदान कर दिए जाने के बाद राज्य सरकार ने नगर में रखे जाने वाले पशुओं को लोक स्वास्थ्य और स्वच्छता बनाएँ रखने के उद्देश्य से शहरी क्षेत्रों से चरणबद्ध रूप से शहरी क्षेत्रों से बाहर के क्षेत्रों में स्थानांतरित करने तथा अप्रत्यक्ष रूप से पशुपालन की गुणता और दूध की गुणता और मात्रा बढ़ाने के लिए भी एक स्कीम बनाई थी। पशुओं को डपचारी में रखने की व्यवस्था करने के लिए कार्यक्रम तैयार किया गया था। उसके लिए एक स्कीम तैयार की गई थी जिसमें शहरी क्षेत्रों से पशुओं के हटाए जाने के बाद उनके पुनर्व्यवस्थापन हेतु उपयुक्त भूमि के आवंटन, सड़कों के निर्माण, पानी, बिजली, आदि की पूर्ति की व्यवस्था की गई थी। राज्य सरकार के कथनानुसार इस प्रयोजनार्थ 33.00 लाख रुपये का प्रावधान किया गया था—तारीख 28 मई, 1976 का सरकारी संकल्प देखिए।

9 सितम्बर, 1983

ऐसी ही व्यवस्था स्वयं अधिनियमिति के प्रवर्तित किए जाने से पूर्व भी की गई थी। श्री परांजपे का निवेदन यह था कि तथाकथित स्कीम को इस अधिनियमिति से कुछ लेना-देना नहीं था क्योंकि वह इससे मुक्त थी। उसने यह भी तर्क प्रस्तुत किया कि स्कीम में मुख्य रूप से ब्याज पर उधार देने की व्यवस्था की गई थी, अतः तथाकथित स्कीम को कार्यरूप में परिणत करने पर जो भी व्यय किया जाना था उसकी वसूली हर स्थिति में पशु-स्वामियों से ही की जानी थी। हमारे लिए इस तर्क को भी स्वीकार करना संभव नहीं है।

एक बार यह मान लिए जाने के बाद कि स्कीम का एक उद्देश्य शहरी क्षेत्रों में पशुओं के रख-रखाव और संचलन के अनुज्ञापन और विनियमन अथवा प्रतिषेध की व्यवस्था करना था तो राज्य सरकार से यह अपेक्षित था कि वह पशुओं के पुनर्व्यवस्थापन का कोई अनुकल्पी प्रबन्ध करती। यह बात अधिनियम के ही उपबन्धों से विवक्षित हो जाती है। अनुज्ञप्तिधारी पर यह प्रतिषेध अधिरोपित कर दिए जाने पर, कि वह शहरी क्षेत्र में पशु नहीं रखेगा, सरकार ने यह सोचा कि वह अनुकल्पी आवास प्रदान करने के लिए कानूनी रूप से नहीं तो नैतिक रूप से अवश्य आबद्ध है और तथाकथित स्कीम में यही कारण और आशय निहित प्रतीत होते हैं। भले ही प्रति वर्ष अथवा वर्ष के किसी भाग के लिए प्रति पशु 50 रुपये की दर पर फीस वसूल की गई थी तो भी स्कीम के कार्यान्वयन के लिए अनुध्यात व्यये कहीं अधिक था। तथाकथित रकम फीस के उद्ग्रहण मात्र से एकत्र नहीं की जा सकती थी। स्कीम पर आने वाली लागत अनुमानतः साढ़े चार करोड़ रुपये थी। चूंकि पुनर्व्यवस्थापन की यह स्कीम ऐक्ट के उपबन्धों के कार्यान्वयन से प्रत्यक्षतः संबद्ध थी इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसका अनुज्ञापन फीस अथवा अधिनियमिति के उद्देश्य के साथ कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संबंध नहीं था। राज्य सरकार ने जो शपथ-पत्र फाइल किए हैं उनसे यह प्रतीत होता है कि पशु-स्वामियों ने 30 अप्रैल, 1977 को या उससे पहले पशुओं को डपचारी में स्थानांतरित करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए अभ्यावेदन किए थे। 1 जनवरी, 1977 को जारी की गई अधिसूचना के 29 अप्रैल, 1977 की अधिसूचना द्वारा विखंडित किए जाने का यही कारण प्रतीत होता है। सरकार का निवेदन है कि उसने डपचारी-परियोजना, जिसका प्राइवेट पशु स्वामियों के विरोध के कारण परित्याग कर दिया गया था, के विकास पर काफी बड़ी रकम खर्च की थी। सरकार ने न्यायालय को पुनः आश्वस्त किया है कि वह मुम्बई शहरी क्षेत्र से पशुओं को स्थानांतरित करने के लिए प्रतिबद्ध है तथा अनेक प्रस्तावों पर विचार कर रही है। हमें यह जानकर वास्तव में अचम्भा हुआ है कि पशुओं के शहरी क्षेत्र से बाहर पुनर्व्यवस्थापन की यह योजना, जो जनसाधारण के सर्वोत्तम हित में थी और ऐक्ट के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भी आवश्यक थी, पशु-स्वामियों के दबाव के कारण छोड़ दी गई थी। यह सुविख्यात है कि निहित स्वार्थ किसी भी परिवर्तन के सर्वदा विरोधी होते हैं। ऐसे स्वार्थी समूह का अपने निहित स्वार्थों का एक अभेद्य जाल होता है। ऐसा स्वार्थी समूह दबाव डालने वाला समूह बन जाता है। यह किंचित दुर्भाग्यपूर्ण है कि जिस सरकार का प्रकट उद्देश्य शहरी क्षेत्र में पशुओं की संख्या को

विनियमित करना था वह स्वार्थी समूह के दबाव के आगे झुक गई थी। हम आशा करते हैं कि सरकार, जो शहरी क्षेत्रों में लोक स्वास्थ्य और स्वच्छता को वास्तव में बनाए रखना चाहती है, अपनी प्रतिबद्धता पर दृढ़ रखते हुए उचित समय के भीतर स्कीम का कार्यान्वयन करेगी तथा विधानमंडल के आशय और उद्देश्य को विफल नहीं होने देगी। इस ऐक्ट की अधिनियमिति करने वाले विधानमंडल ने ऐसा जनसाधारण के हित में, अर्थात् शहरी क्षेत्रों में बड़ी संख्या में दुधारू पशुओं के रखे जाने के कारण संकटग्रस्त लोक स्वास्थ्य और स्वच्छता को बनाए रखने के लिए, किया है। विधानमंडल ने वृहत्तर मुम्बई तथा ठाणे जिले के वृहत्तर मुम्बई से संलग्न तथा ठाणे और बेसीन खाड़ी से घिरे भाग में ऐक्ट को सर्वप्रथम और तत्काल लागू करने का अपना आशय अधिनियमिति द्वारा ही व्यक्त कर दिया है। तथाकथित ऐक्ट 1 अक्तूबर, 1976 को लागू किया गया था। इसका पूर्वानुमान करके सरकार ने अधिनियमिति के उचित कार्यान्वयन के लिए मई, 1976 में एक योजना तैयार कर ली थी। सरकार पशु-स्वामियों के दबाव के कारण तथाकथित स्कीम का परित्याग करके कुछ सीमा तक विधानमंडल की आकांक्षा का कार्यान्वयन करने में असफल हो गई थी। ऐसी स्थिति सर्वाधिक शोचनीय है और हम आशा करते हैं कि सरकार अपनी प्रतिबद्धता पर दृढ़ रहेगी और यथासंभव शीघ्र स्कीम का कार्यान्वयन करेगी।

13. ऐसा प्रतीत होता है कि तथाकथित स्कीम का परित्याग कर दिए जाने के कारण ही 31 मार्च, 1977 से अनुज्ञप्ति फीस घटाकर 25.00 रुपये कर दी गई थी। अतः फीस का 50.00 रुपये की दर पर उद्ग्रहण लगभग छः महीने की अवधि तक ही किया गया था। चूंकि सरकार ने अपनी स्कीम का कार्यान्वयन न करने का निर्णय ले लिया था अतः उसने अनुज्ञप्ति फीस 50.00 रुपये से घटाकर 25.00 रुपये कर दी थी। यह भी प्रतीत होता है कि 25.00 रुपये की दर पर ली जाने वाली यह फीस पशु-स्वामियों द्वारा अभ्यावेदन किए जाने पर 24 जनवरी, 1978 को 1 अप्रैल, 1977 से भूतलक्षी प्रभाव सहित, घटाकर 10.00 रुपये कर दी गई थी। सरकार ने अतिशेष रकम पशु-स्वामियों को वापस कर दी थी। इस प्रकार 1 अप्रैल, 1977 से ही प्रति पशु उद्गृहीत फीस 10.00 रुपये है। यदि अनुज्ञापन और अनुरक्षण आदेश, 1958 के अधीन प्रति वर्ष अथवा वर्ष के किसी भाग के लिए प्रति पशु 5.00 रुपये की दर पर, तथा वह भी सन् 1958 में, फीस उद्गृहीत की जाती थी तो सन् 1977 में प्रति पशु 10.00 रुपये की दर पर उद्गृहीत फीस के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी भी रूप में अत्यधिक थी।

यह भी निःसंदेह सच है कि तथाकथित अनुज्ञापन और अनुरक्षण आदेश के अधीन फीस सन् 1963 में 5.00 रुपये से घटाकर 3.00 रुपये कर दी गई थी परन्तु तब से लेकर अब तक काफी परिवर्तन हो चुका है। रुपया अपना अंकित मूल्य खो चुका है। विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों तथा कर्मचारियों के वेतनों में भी वृद्धि हो गई है। ऐसी परिस्थितियों में फीस को सन् 1977 में 3.00 रुपये से बढ़ाकर 10.00 रुपये करना किसी भी स्थिति में अननुपातिक अथवा अत्यधिक नहीं कहा जा सकता। व्यावहारिक रूप से सन् 1977 में 10.00 रुपये का जो मूल्य है वह सन् 1963 के 3.00 रुपये के मूल्य से कम है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उद्गृहीत फीस किसी भी रूप में अत्यधिक है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, 50.00 रुपये की दर पर फीस का उद्ग्रहण करने का निर्णय सरकार द्वारा बनाई गई लगभग साढ़े चार करोड़ रुपये की लागत वाली स्कीम के कार्यान्वयन के लिए किया गया था। तथाकथित स्कीम का कार्यान्वयन करने के लिए सरकार काफी बड़ी रकम खर्च कर चुकी है जिसकी पूर्ति प्रति पशु 50.00 रुपये की दर पर फीस के उद्ग्रहण से नहीं हुई है। इस प्रकार फीस का 50.00 रुपये की दर पर उद्ग्रहण विशेष परिस्थितियों में किया गया था। सुसंगत समय पर इसका संबंध किए गए व्यय के साथ था। तथापि, श्री परांजपे ने यह निवेदन किया है कि प्रति पशु 10.00 रुपये की दर पर उद्गृहीत की गई इस फीस और किए गए व्यय में परस्पर तत्-प्रति-तत् का कोई संबंध नहीं है। हमारे लिए इस तर्क को स्वीकार करना संभव नहीं है।

14. जब विधानमंडल के समक्ष विधेयक प्रस्तुत किया गया था तो उसके साथ एक वित्तीय ज्ञापन नत्थी किया गया था जिसकी भाषा निम्नलिखित है :—

> *"नई अधिनियमिति राज्य सरकार को राज्य के अधिसूचित शहरी क्षेत्रों में पशुओं के रखरखाव और संचालन को विनियमित अथवा प्रतिषिद्ध करने की शक्ति प्रदान करेगी। ऐक्ट के कार्यान्वयन में अंतर्ग्रस्त वित्तीय प्रभाव का परिकलन पहले बृहत्तर मुंबई क्षेत्र से

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

> "The new enactment will empower Government to regulate or prohibit keeping and movement of cattle in notified urban areas in the State. The financial implication involved in the implementation

चरणबद्ध रूप से तथा बाद में पुणे, नागपुर, शोलापुर, कोल्हापुर जैसे नैगम नगरों से तथा उसके बाद, आवश्यक समझे जाने पर, राज्य सरकार द्वारा यथा-अधिसूचित अन्य शहरी क्षेत्रों से पशुओं के स्थानान्तरण के कार्यक्रम के आधार पर किया गया है ।

2. अधिनियम के कार्यान्वयन पर लगभग 10.00 लाख रुपये प्रति वर्ष व्यय होने की संभावना है जो अधिनियम के कार्यान्वयन के लिए अपेक्षित कर्मचारियों की स्थापना तथा अन्य आवश्यक प्रशासनिक स्थापना पर किया जाएगा ।

3. प्रशासनिक स्थापना उपांतरित की जाएगी तथा कर्मचारियों की संख्या बृहत्तर मुंबई क्षेत्र और अन्य शहरी क्षेत्रों से पशुओं के स्थानांतरण के साथ-साथ घटाई जाएगी, जिसके परिणामस्वरूप यह आशा की जाती है कि परवर्ती वर्षों में कर्मचारियों और आकस्मिकताओं पर होने वाले व्यय में कमी आएगी ।

4. प्राप्तियों का प्राक्कलन अनुज्ञप्तियों और परमिटों, आदि के

---

of the Act is worked out on the basis of the programme of removal of cattle from Greater Bombay area in a phased manner and subsequently from other corporation cities like Pune, Nagpur, Solapur, Kolhapur and later on if considered necessary from other urban areas as may be notified by the State Government.

2. The implementation of the Act is likely to involve an expenditure of about Rs. 10.00 lakhs per year, which will be on the establishment of staff required for implementation of the Act and on other necessary administrative set up.

3. The administrative set up will be modified and staff strength reduced with the removal of cattle from Greater Bombay area and other urban areas, as a result of which the expenditure on the staff and contingencies is expected to go down in subsequent years.

4. The receipts are estimated on the basis of

अनुदान के लिए अधिनियमिति के अधीन वसूल की जाने वाली फीस के आधार पर किया गया है। यह प्राक्कलन किया गया है कि पहले वर्ष में प्राप्तियों की रकम लगभग 46.70 लाख रुपये होगी तथा उसके बाद परवर्ती वर्षों में नगरीय क्षेत्रों से पशुओं के स्थानांतरण के साथ-साथ प्राप्तियों की यह रकम, नगरीय क्षेत्रों से स्थानांतरित पशुओं की संख्या पर निर्भर करते हुए, संभवतः घटती चली जाएगी।"

15. राज्य सरकार ने हमारे समक्ष शपथपत्र के साथ प्राप्तियों और व्यय का विवरण फाइल किया है। राज्य सरकार ने संलग्न विवरण में यथा-निर्दिष्ट प्रशासनिक स्थापना का सर्जन 10 अगस्त, 1976 के संकल्प द्वारा किया है। यह स्थापना पशु-नियन्त्रण और अनुज्ञापन स्कीम के लिए पहले ही मौजूद कर्मचारियों के अतिरिक्त थी। इसके पश्चात् प्रत्यर्थियों ने सुनवाई के दौरान हमारे समक्ष वर्ष 1976-77 से वर्ष 1982-83 की अवधि के दौरान बृहत्तर मुंबई में अनुज्ञप्त पशुओं की संख्या का वर्षवार ब्यौरा दर्शाने वाला एक विवरण पेश किया था। वर्ष 1976-77 से वर्ष 1982-83 तक की अवधि के दौरान संगृहीत अनुज्ञप्ति फीस, दगाई प्रभार, परमिट फीस आदि का वर्षवार विवरण तथा पशु-नियंत्रक के कार्यालय की स्थापना पर किए गए वास्तविक व्यय को दर्शाने वाला विवरण भी प्रस्तुत किया गया है। 3.00 रुपए और 15.00 रुपये की दर पर अनुज्ञप्ति फीस की वापसी पर किए गए कुल व्यय का विवरण भी प्रस्तुत किया गया है। प्रत्यर्थियों ने वर्ष 1983-84 से वर्ष 1985-86 तक पशु-नियन्त्रक के कार्यालय की स्थापना पर होने वाले व्यय तथा प्राप्तियों के प्राक्कलन को दर्शाने वाला विवरण भी प्रस्तुत किया है। पशु-नियंत्रक के कार्यालय के लिए संस्वीकृत स्थायी और अस्थायी कर्मचारियों को दर्शाने वाला विवरण भी पेश किया गया है। इन विवरणों से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सरकार ने इन स्थापनाओं पर काफी बड़ी मात्रा में व्यय किया है। ऐक्ट के उचित कार्यान्वयन के लिए अनेक अधिकारियों की नियुक्ति अपेक्षित थी जिनमें अनुज्ञापन अधिकारी, लेखा अधिकारी, पशु-धन विकास अधिकारी,

---

fees to be recovered under the enactment for grant of licences and permits etc. The receipts are estimated to be about Rs. 46.70 lakhs in the first year and thereafter with the removal of cattle from the city areas the reciepts are expected to go down in subsequents years, depending on the number of cattle removed from the city areas."

बाजार अधीक्षक और उसकी स्थापना, दगाई निरीक्षक, पशु-धन पर्यवेक्षक, आदि सम्मिलित थे। अतः हमारे समक्ष पेश किए गये वित्ररणों से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि पशु-स्वामियों से वसूल की गई फीस का उपयोग की गई सेवाओं के लिए किया जा रहा है। जैसा कि उच्चतम न्यायालय ने **दिल्ली नगर-निगम वाले मामले**[1] में मत व्यक्त किया है, हम लागत लेखापाल का कार्य अपने ऊपर नहीं ले सकते। वसूल की गई फीस और की गई सेवाओं की लागत को इस उद्देश्य से बहुत बारीकी से तौलना, कि उन दोनों में सन्तुलन हो जाए, न तो आवश्यक है और न ही समीचीन। उनमें मोटे तौर पर सह-सम्बन्ध होना मात्र आवश्यक है। हमारा इस बारे में समाधान हो गया है कि सरकार द्वारा संगृहीत फीस और की गई सेवाओं में सारवान सह-सम्बन्ध है। मामला यहीं समाप्त नहीं हो जाता। पशु-स्वामी संदत्त फीस के बदले कुछ सीमा तक विशेष सेवाएं प्राप्त कर रहे थे। मई, 1976 में सरकार द्वारा बनाई गई स्कीम के अधीन पशुओं के पुनर्व्यवस्थापन की विशेष व्यवस्था की गई थी। यह स्कीम विशेष रूप से पशु-स्वामियों के फायदे के लिए बनाई गई थी। अतः तथाकथित स्कीम के कार्यान्वयन के लिए अपेक्षित रकम और उस पर किए जाने वाले व्यय का वसूल की गई फीस के साथ सीधा सम्बन्ध है। पशुओं की शिनाख्त के लिए नियमावली के नियम 6(4) के अधीन उनकी दगाई (ब्रैंडिंग) आवश्यक है। पशुओं की दगाई प्रति वर्ष की जानी आवश्यक है। प्रत्येक पशु की दगाई इस प्रकार की जाती है ताकि सुभेदक शिनाख्त चिह्न द्योतित हो सके और इस प्रयोजन के लिए प्रति पशु 1.00 रुपये की दर पर फीस ली जाती है। प्रत्यर्थी-सरकार ने शपथ-पत्रों में यह कथन किया है कि पशु-स्वामियों से ली गई फीस का उपयोग ऐक्ट की धारा 5(3) में उल्लिखित प्रयोजनों के लिए किया जा रहा है जिनका लक्ष्य शहरी क्षेत्रों में लोक-स्वास्थ्य और स्वच्छता को बनाये रखना है। इसके अतिरिक्त अनुज्ञप्त पशु को वर्ष में दो बार आर० वी० पी० टीका निःशुल्क लगाया जाता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि पशु-स्वामियों को फीस के संदाय के बदले ऐक्ट के अधीन कोई सेवा प्रदान नहीं की जा रही है। हमारा इस बारे में समाधान हो गया है कि वसूल की गई फीस का पशु-स्वामियों को प्रदत्त सेवाओं अथवा फायदों के साथ सम्बन्ध है। अतः इस मामले में अभिलेख पर प्रस्तुत सामग्री से तत्-प्रति-तत् की विद्यमानता पर्याप्त रूपेण सिद्ध हो जाती है।

16. एकबारगी यह अभिनिर्धारित कर दिये जाने के बाद कि वसूल

---

1 ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 617.

की गई फीस और किए गये व्यय के मध्य पर्याप्त मात्रा में सह-सम्बन्ध सिद्ध हो चुका है, उन अन्य निवेदनों को विनिश्चित करना आवश्यक नहीं है जो हमारे समक्ष किए गये हैं और जिनके बारे में तर्क प्रस्तुत किये गये हैं, अर्थात् राज्य सरकार द्वारा किया गया अनुकल्पी निवेदन यह है कि उद्गृहीत फीस एक ऐसा कर है जिसे राज्य सरकार ने भारत के संविधान की अनुसूची 7 की सूची-2 की प्रविष्टि सं० 58 के अधीन विधिमान्य रूप से अधिरोपित किया है और न ही इस प्रश्न का विनिश्चय करना आवश्यक है कि जारी की गई अनुज्ञप्ति विशेषाधिकार है अथवा नहीं। अतः हम यह प्रस्तावित नहीं करते कि तथाकथित निवेदनों का विनिश्चय किया जाए।

17. तथापि, श्री परांजपे ने गंभीरतापूर्वक यह निवेदन किया है कि जिस समय ऐक्ट प्रवर्तित हुआ था उस समय पशु-स्वामियों के पास ऐसी अनुज्ञप्तियां थीं जो 31 मार्च, 1977 तक, विधिमान्य थीं। जहां तक बछड़ों और बछड़ियों का सम्बन्ध है, पुराने ऐक्ट के अधीन कुछ भी संदेय नहीं था। इन परिस्थितियों में जनवरी, 1977 तक की अवधि के लिए प्रति पशु 50.00 रुपए की वसूली पूर्णरूपेण अवैध और अप्राधिकृत है। इस तर्क के समर्थन में श्री परांजपे ने ऐक्ट की धारा 21 का दृढ़तापूर्वक अवलंब लिया है। हमारे लिये इस निवेदन को भी स्वीकार करना सम्भव नहीं है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि पुराने ऐक्ट और नए ऐक्ट के क्षेत्र सुस्पष्ट और भिन्न हैं। यह बात भी उद्देश्यों और कारणों से सम्बन्धित विवरणों से बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। जब प्रत्यर्थियों के विचार से पुराना ऐक्ट उद्देश्य-प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं रहा था तो विधानमण्डल ने वर्तमान ऐक्ट की अधिनियमिति की थी। यह ऐक्ट सरकार द्वारा एक स्कीम तैयार कर ली जाने के बाद प्रवर्तित किया गया था। स्कीम को कार्यान्वित करने के लिए 50.00 रुपये की दर पर फीस का उद्ग्रहण किया गया था। ऐक्ट के एकबारगी प्रवर्तित हो जाने के बाद पशु-स्वामी ऐक्ट के अधीन अनुज्ञप्ति प्राप्त करने के लिए बाध्य थे। धारा 21 द्वारा पूर्ववर्ती अधिनियमिति निरसित कर दी गई थी। ऐक्ट को अध्यारोही प्रभाव प्रदान किया गया था। सरकार ने प्रति वर्ष अथवा वर्ष के किसी भाग के लिए प्रति पशु 50.00 रुपये की वसूली करने के पश्चात् पशु स्वामियों को उनसे 3.00 रुपए की दर पर पुराने ऐक्ट के अधीन वसूल की जा चुकी फीस की रकम वापस कर दी। अतः उन पर दुहरा कराधान नहीं हुआ था। हम पहले ही बता चुके हैं कि प्रति पशु 50.00 रुपये की दर पर फीस का अधिरोपण तथाकथित स्कीम, जिसका पशु स्वामियों के दबाव के कारण बाद में परित्याग कर दिया गया था, कार्यान्वयन करने के लिए विशेष

परिस्थितियों में किया गया था। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सुसंगत अवधि की फीस की वसूली करने में कोई अवैधता थी। यद्यपि बछड़ों और बछड़ियों के स्वामियों पर पुराने ऐक्ट के अधीन किसी फीस का संदाय करने की देयता नहीं थी, तो भी नए ऐक्ट के अधीन उनसे ऐसी फीस का उद्ग्रहण किया गया था और इसलिए वह सही रूप से वसूल की गई थी। अतः हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि राज्य सरकार ने उनसे कुछ भी अवैध रूप से वसूल नहीं किया है और इसलिए वापसी का प्रश्न ही नहीं उठता।

18. श्री परांजपे ने परमिट फीस के बारे में एक शिकायत भी की थी। श्री परांजपे का निवेदन है कि पशुओं की ऐसी नैमित्तिक प्रविष्टि के सम्बन्ध में भी परमिट फीस वसूल की जा रही है जो ऐक्ट की धारा 7 और 8 में यथाप्रयुक्त तथाकथित अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत "आयात" नहीं कही जा सकती। राज्य सरकार ने इस स्थिति को गम्भीरतापूर्वक विवादग्रस्त बनाया है। प्रत्यर्थी-सरकार का निवेदन है कि परमिट फीस का उद्ग्रहण पशुओं के आयात पर ही किया जाता है, अन्यथा नहीं। प्रत्यर्थियों ने यह स्पष्ट करने के लिये, कि परमिट फीस का उद्ग्रहण क्यों और किस प्रकार किया जाता है, 3 सितंबर, 1983 को एक शपथपत्र फाइल किया है। राज्य सरकार ने तथाकथित शपथपत्र के पैरा 1 में निम्नलिखित कथन किया है :—

> "मैं कथन करता हूं कि महाराष्ट्र कीपिंग एण्ड मूवमेंट आफ कैटल इन अर्बन एरियाज (कण्ट्रोल) ऐक्ट, 1976 की धारा 7 के अधीन विरचित नियम 9 के अधीन प्रत्येक ऐसे दुधारू पशु के संबंध में 2.00 रुपये की दर पर फीस प्रभार्य है जो शहरी क्षेत्र के अंतर्गत लाया जाता है। मैं कथन करता हूं कि दुधारू पशु को, उसका दूध सूखने पर, शहरी क्षेत्र से बाहर भेजना तथा उसके पुनः दुधारू बनने पर उसे शहरी क्षेत्र में वापस लाना एक व्यापारिक प्रथा है। व्यापार की यह आम प्रथा है कि प्रत्येक दुधारू पशु दूध सूखने पर राज्य से बाहर ले जाया जाता है और दुधारू बनने पर पुनः राज्य में लाया जाता है। इस प्रक्रिया के पूरा होने में औसतन 10 से 14 महीने का समय लग जाता है। तथापि, दुधारू पशु के राज्य से बाहर रहने की अवधि, परिस्थितियों पर निर्भर करते हुए, छः महीने से कम हो सकती है।"

इस स्पष्टीकरण को ध्यान में रखते हुए मामले के इस पहलू पर और अधिक विचार करना आवश्यक नहीं है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि ऐक्ट के उपबंधों के अधीन किसी पशु के आयात के सम्बन्ध में परमिट फीस उद्गृहीत

की जा सकती थी। यदि पशु-स्वामी इस आधार पर कोई विवाद खड़ा करता है कि पशु की शहरी क्षेत्र में प्रविष्टि उसके आयात की कोटि में नहीं आती अथवा उसके कारण अनुज्ञा अथवा परमिट देने से इनकार कर दिया जाता है तो उसे ऐक्ट की धारा 8 के अधीन अपील करने का उपचार प्राप्त है। हमारे समक्ष केवल यही निवेदन किए गए थे और इनके बारे में तर्क प्रस्तुत किये गए थे।

हमने जो मत व्यक्त किया है, उसके अनुसार रिट पिटीशन असफल होता है। न्यायादेश खर्चे सहित प्रभावोन्मुक्त किया जाता है। इस रिट पिटीशन की खारिजी को दृष्टिगत रखते हुये प्रत्यर्थियों को पिटीशनरों द्वारा दी गई बैंक गारंटी को प्रवर्तित कराने की छूट है।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

अशोक

नि० प० 1984 : मुम्बई—56

प्रभाकर नरहर पवार बनाम महाराष्ट्र राज्य और एक अन्य

(Prabhakar Narhar Pawar *Vs.* State of Maharashtra and another)

तारीख 16 अगस्त, 1983

[का० मु० न्या० एम० एन० चन्दूरकर, न्या० एम० एल० पेंडसे और एस० पी० कुरदूकर]

नगर भूमि (अधिकतम सीमा और विनियमन) अधिनियम, 1976 धारा 2(थ)(i), (छ) और धारा 4—रिक्त भूमि का अवधारण अधिनियम के आरम्भ की तारीख, अर्थात् 17 फरवरी, 1976 के प्रति निर्देश से किया जाना है। ऐसी रिक्त भूमि का जिसकी बाबत तारीख 17 फरवरी को किसी भवन रेखांक को मंजूरी दे दी गई है या दी जाने वाली है, कोई भी क्षेत्र रिक्त भूमि की गणना करते समय इस आधार पर अपवर्जित नहीं किया जाएगा कि भवन विनियमों के कारण क्षेत्र के विनिर्दिष्ट भाग पर किसी भवन का निर्माण नहीं किया जा सकता है।

जाएगी। यह दलील कि वादी द्वारा पेश किया गया करार और प्रदर्श 1 का निष्पादित किया जाना सिद्ध नहीं हुआ है, व्यर्थ है और आधार रहित है।

14. इसके पश्चात् यह दलील दी गई थी कि विनिर्दिष्ट अनुपालन के लिए अनुतोष देना न्यायालय के विवेक पर निर्भर करता है। इस मामले में विवेक के आधार पर दिया जाने वाला यह अनुतोष वादी को प्रदत्त नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि प्रतिवादी एक बूढ़ी तथा निरक्षर स्त्री है। यह कहना सही है कि विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 की धारा 20 के अनुसार विनिर्दिष्ट अनुपालन के लिए डिक्री पारित करने की अधिकारिता का प्रयोग एक विवेकाधिकार है और न्यायालय के लिए केवल इसलिए बाध्यकर नहीं है, ऐसा करना विधिपूर्ण है। इस विवेकाधिकार का प्रयोग मनमाने ढंग से नहीं किया जाना चाहिए। यह सुदृढ़, युक्तियुक्त और न्यायिक सिद्धांतों पर आधारित होना चाहिए। यद्यपि पक्षकार को विनिर्दिष्ट अनुपालन के अनुतोष का आत्यंतिक अधिकार नहीं है तथापि केवल अकाट्य कारणों से ही इससे इनकार किया जा सकता है। धारा 10 के स्पष्टीकरण (i) में यह अधिकथित है कि जब तक इससे विपरीत सिद्ध न हो जाए, न्यायालय यह उपधारणा करेगा कि सम्पत्ति के अंतरण के लिए की गई संविदा के भंग को प्रतिकर के रूप में धन का संदाय करके उन्मोचित नहीं किया जा सकता। जब तक किए गए करारों का पालन न किए जाने के लिए विश्वासोत्पादक कारण न हों तब तक उनका पालन किया जाना चाहिए। वर्तमान मामले में प्रतिवादी ने कहीं भी यह अभिवाक् नहीं किया है कि किसी आधार पर विनिर्दिष्ट अनुपालन से इनकार कर दिया जाय। विनिर्दिष्ट अनुपालन के अनुतोष को देने से केवल इस आधार पर इनकार नहीं किया जा सकता कि प्रतिवादी एक बूढ़ी तथा निरक्षर स्त्री है। उसने वादी से पूरा मूल्य प्राप्त कर लिया है और खेतों का कब्जा उसे प्रदान कर दिया है। जब उसने विक्रय-विलेख का निष्पादन नहीं किया तो वादी तत्परता से न्यायालय में आया। विनिर्दिष्ट अनुपालन के अधिकार को प्रवर्तित करवाने के लिए वादी की ओर से कोई विलम्ब या गफलत नहीं हुई। वादी को विनिर्दिष्ट अनुपालन का अनुतोष न देने के लिए कोई ठोस कारण नहीं है।

15. कोई और दलील नहीं दी गई थी।

16. ऊपर बताए गए कारणों से मुझे प्रतिवादी की अपील में कोई बल प्रतीत नहीं होता है और इसे खर्चों सहित खारिज किया जाता है।

अपील खारिज की गई।

खन्ना

नि० प० 1984 : राजस्थान—146

राजस्थान राज्य सड़क परिवहन निगम बनाम मांगी लाल चौधरी

(Rajsthan State Transport Corporation *Vs.* Mangi Lal Chaudhari)

तारीख 22 सितम्बर, 1983

[न्या० जी० एम० लोढ़ा]

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947—धारा 25च सपठित धारा 25ञ—कर्मकारों की छंटनी के लिए पुरोभाव्य शर्तें—धारा 25 च निगम के उस कर्मकार को भी लागू होती है जिसको निगम के स्थायी आदेश लागू होते हैं और ऐसे कर्मकार की छंटनी के मामले में निगम के स्थायी आदेशों की अन्य अपेक्षाओं के अतिरिक्त धारा 25ञ भी लागू होगी।

प्रत्यर्थी राजस्थान राज्य सड़क परिवहन निगम का एक कर्मचारी था जिसे सेवा से हटा दिया गया था और सेवा से हटाए जाने तक वह 240 दिन पूरे कर चुका था इसलिए उसके सम्बन्ध में औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के उपबन्ध लागू होते हैं। अधिकरण का निष्कर्ष यह था कि निगम ने धारा 25 च(ख) का अनुपालन नहीं किया है यहां तक कि उसे छंटनी प्रतिकर का भी संदाय नहीं किया गया है। पिटीशनर की तरफ से यह दलील दी गई थी कि यह छंटनी का मामला नहीं है क्योंकि उसे निगम के स्थायी आदेशों के अधीन सेवा से हटाया गया है न कि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के उपबंधों के अधीन। न्यायालय के समक्ष विचारार्थ मुख्य प्रश्न यह था कि क्या निगम के कर्मकार को औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के उपबंध लागू होते हैं।

अभिनिर्धारित—पिटीशन खारिज किया गया।

यह सुस्थिर है कि किसी औद्योगिक कर्मकार की सेवा समाप्ति के मामले में अवचार पर आधारित मामलों के सिवाए हटाए जाने के सभी प्रकार के मामले "छंटनी" की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं जैसा कि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 द्वारा अनुध्यात है और औद्योगिक कर्मकार छंटनी की बाबत उपबंधों के फायदों का हकदार है। (पैरा 4)

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 25ञ से यह बात स्पष्ट है कि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के अध्याय 5 के छटनी से सम्बन्धित उपबंध, औद्योगिक नियोजन (स्थायी आदेश) अधिनियम, 1946 के अधीन बनाए गए स्थायी आदेशों सहित किसी अन्य विधि में अन्तर्विष्ट किसी

असंगत बात के होते हुए भी लागू होंगे। (पैरा 5)

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 25ञ द्वारा पुरः-स्थापित किया गया संशोधन उन कर्मकारों, जिनको स्थायी आदेश या कोई नियम या विनियम या सेवा शर्तों या नियोजक और कर्मचारी के बारे में आचरण सम्बन्धी नियम लागू होते हैं, के मामलों में छंटनी के उपबंधों के लागू होने के बारे में शंकाओं के निवारण के प्रयोजन के लिए किया गया था। (पैरा 7)

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 25ञ में छंटनी की बाबत अनेकों रक्षोपाय उपबंधित किए गए हैं और प्रतिकर का संदाय करना उन रक्षोपायों में से एक है। धारा 25ञ के खण्ड (1) और खण्ड (2) के दोनों परन्तुकों में उन सभी कर्मकारों की बाबत, जिनकी छंटनी की जानी है, अन्य विधियों का विचार किए बिना इस अध्याय के अनुपालन की विधिक अपेक्षाओं को साफ-साफ व्यक्त किया गया है। (पैरा 8)

अतः औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 25च निगम के उस कर्मकार को भी लागू होती है जिसको निगम के स्थायी आदेश लागू होते हैं और उसे निगम के स्थायी आदेशों की अन्य अपेक्षाओं के अतिरिक्त धारा 25ञ के उपबंध भी लागू होंगे। (पैरा 10)

		पैरा
[1982]	ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 854 : एल० रोबर्ट डीसूजा **बनाम** कार्यपालक इंजीनियर (L. Robert D'Souza *Vs.* Executive Engineer);	4
[1981]	ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 422 : एस० के० वर्मा **बनाम** औद्योगिक अधिकरण एवं श्रम न्यायालय (S. K. Verma *Vs.* Industrial Tribunal-cum-Labour Court);	4
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1219 : सन्तोष गुप्त **बनाम** स्टेट बैंक आफ पटियाला (Santosh Gupta *Vs.* State Bank of Patiala); और	4
[1976]	ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1111 : स्टेट बैंक आफ इंडिया **बनाम** एन० सुन्दरमणि (State Bank of India *Vs.* Sundara Money)	4

का **अवलम्ब** लिया गया।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1982 का एस० बी० सिविल रिट पिटीशन सं० 1453.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन फाइल किया गया सिविल रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री एन० एल० जैन

न्या० जी० एम० लोढ़ा :

यह रिट पिटीशन राजस्थान राज्य सड़क परिवहन निगम, जयपुर (जिसे इसमें इसके बाद "निगम" कहा गया है) द्वारा औद्योगिक अधिकरण द्वारा औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 10(1)(ग) के अधीन एक निर्देश पर दिए गए निर्णय के विरुद्ध फाइल किया गया है।

यह निर्विवाद है कि निगम के कर्मचारी मांगीलाल को सेवा से हटा दिया गया था और उसे सेवा से हटाए जाने के समय तक चूंकि वह 240 दिन पूरे कर चुका था, इसलिए उसके सम्बन्ध में औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के उपबंध लागू होंगे। अधिकरण का निष्कर्ष यह था कि निगम ने धारा 25च (ख) का अनुपालन नहीं किया है यहां तक कि उसे छंटनी प्रतिकर का भी संदाय नहीं किया गया है।

3. निगम के विद्वान् काउन्सेल श्री जैन ने अनुरोध किया है कि प्रस्तुत मामला छंटनी का मामला नहीं है क्योंकि उसे निगम के स्थायी आदेशों के अधीन सेवा से हटाया गया है, न कि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के अधीन।

4. मैंने श्री जैन के अनुरोधों पर सावधानीपूर्वक विचार किया है। **स्टेट बैंक आफ इन्डिया** बनाम **एन० सुन्दरमणि**[1], **सन्तोष गुप्त** बनाम **स्टेट बैंक आफ पटियाला**[2], **एस० के० वर्मा** बनाम **औद्योगिक अधिकरण एवं श्रम न्यायालय**[3] और **एल० रोबर्ट डीसूजा** बनाम **कार्यपालक इन्जीनियर**[4] में उच्चतम न्यायालय के निर्णयों के पश्चात् यह सुस्थिर हो चुका है कि औद्योगिक कर्मकारों की सेवा समाप्ति के मामले में अवचार पर आधारित मामलों के सिवाए, हटाए जाने के

---

[1] ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1111.

[2] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1219.

[3] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 422.

[4] ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 854.

सभी प्रकार के मामले छंटनी की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं जैसा कि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 में अनुध्यात है और औद्योगिक कर्मकार छंटनी की बाबत उपबंधों के फायदों के हकदार हैं।

5. मेरे मतानुसार औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 25ञ से यह बात स्पष्ट है कि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के अध्याय-5 के छंटनी से सम्बन्धित उपबंध औद्योगिक नियोजन (स्थायी आदेश) अधिनियम, 1946 के अधीन बनाए गए स्थायी आदेशों सहित किसी अन्य विधि में अन्तर्विष्ट किसी असंगत बात के होते हुए भी लागू होंगे।

6. परन्तुक में आगे यह वर्णन किया गया है कि कोई कर्मकार ऐसी किसी बात की बाबत ऐसे फायदों का हकदार है जो उसके लिए उन फायदों से, जिनका वह इस अधिनियम के अधीन हकदार होगा, अधिक अनुकूल है। आगे धारा 25ञ का खण्ड (2) इस बात की अभिपुष्टि करता है कि नियोजकों और कर्मकारों के अधिकार और दायित्व, वहां तक जहां तक कि उनका सम्बन्ध छंटनी से है, इस अध्याय के उपबंधों के अनुसार अवधारित किए जाएंगे।

धारा 25ञ इस प्रकार है :—

25. इस अध्याय से असंगत विधियों का प्रभाव—

1. इस अध्याय के उपबंध किसी अन्य विधि में, जिसके अन्तर्गत औद्योगिक नियोजन (स्थायी आदेश) अधिनियम, 1946 के अधीन बनाए गए स्थायी आदेश आते है, इनसे असंगत कोई बात होते हुए भी प्रभावी होंगे :

परन्तु जहां कि किसी अन्य अधिनियम के या उसके अधीन निकाले गए नियमों, आदेशों या अधिसूचनाओं के उपबंधों के अधीन या किन्हीं स्थायी आदेशों के अधीन या किसी अधिनिर्णय या सेवा-संविदा के अधीन या अन्यथा, कोई कर्मकार किसी बात की बाबत ऐसे फायदों का हकदार है जो उसके लिए उन फायदों से, जिनका वह इस अधिनियम के अधीन हकदार होगा, अधिक अनुकूल है वहां, कर्मकार, इस बात के होते हुए भी कि वह अन्य बातों की बाबत इस अधिनियम के अधीन फायदा प्राप्त करता है, उस बात की बाबत अधिक अनुकूल फायदों का हकदार बना रहेगा।

2. शंकाओं का निराकरण करने के लिए एतद्द्वारा यह घोषित किया जाता है कि इस अध्याय की किसी भी बात के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वह किसी राज्य में किसी अन्य तत्समय प्रवृत्त विधि के उपबंधों पर, वहां तक जहां तक कि वह विधि औद्योगिक विवादों के समझौते का उपबंध करती है;

प्रभाव डालती है, किन्तु नियोजकों और कर्मकारों के अधिकार और दायित्व, वहां तक जहां तक कि उनका सम्बन्ध कामबंदी और छंटनी से है, इस अध्याय के उपबंधों के अनुसार अवधारित किए जाएंगे ।

7. औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 और विशेषकर धारा 25-ञ के व्यापक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 25 द्वारा पुरःस्थापित संशोधन उन कर्मकारों, जिनको स्थायी आदेश या कोई नियम या विनियम या सेवा शर्तों या नियोजक और कर्मचारी के बारे में आचरण सम्बन्धी नियम लागू होते हैं, के मामलों में छंटनी के उपबंधों के लागू होने के बारे में शंकाओं के निवारण के प्रयोजन के लिए किया गया था ।

8. यह अच्छी तरह ज्ञात है कि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 एक प्रगतिशील विधान है जो उन नियोजकों द्वारा किए जा रहे शोषण से कर्मकारों को मुक्त कराने के प्रयोजन के लिए, जो नियोजक की तुलना में उनकी कमजोर स्थिति से लाभ प्राप्त कर रहे हैं और समाज के उस कमजोर वर्ग को ऊपर उठाने के प्रयोजन के लिए अधिनियमित किया गया था जो उद्योगों में कर्मकार या श्रमिक वर्ग बनाता है, छंटनी की बाबत इस अध्याय में अनेकों रक्षोपाय उपबंधित किए गए हैं और प्रतिकर का संदाय करना उन रक्षोपायों में से एक है । धारा 25 ञ के खण्ड (1) और खंड (2) के दोनों ही परन्तुकों में उन सभी कर्मकारों की बाबत, जिनकी छंटनी की जानी हो, अन्य विधियों का विचार किए बिना इस अध्याय के अनुपालन की विधिक अपेक्षाओं को साफ-साफ व्यक्त किया गया है और उन पर जोर दिया गया है । जो एकमात्र अपवाद बनाया गया है वह यह है कि यदि किसी अन्य अधिनियम या नियमों के अन्य उपबंध कर्मकारों को अपेक्षाकृत अधिक फायदे देते हैं, तब नियोजक को उन विधियों को लागू न करने के लिए ढाल या रक्षा के रूप में इस अध्याय का उपयोग करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाएगा । इस अध्याय की स्कीम का सारांश यह है कि जहां कहीं और जब कभी और जिस किसी विधि में कर्मकारों के लिए अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल दशाएं विहित की गई हों तो वे लागू होंगी ।

9. यह अच्छी तरह ज्ञात है कि इस अध्याय में अनेकों निर्बन्धन रखे गए हैं और वे निर्बन्धन कर्मचारियों के नियोजकों द्वारा वहम, सनक, मनमाने रूप से हटाए जाने, सेवा समाप्ति या पदच्युति के विरुद्ध कर्मकारों को सुरक्षा प्रदान करने और इस प्रगतिशील विधान में समय-समय संशोधित किए जाने के पूर्व "भाड़े के टट्टू" (हायर एण्ड फायर) के उस प्राचीन व अप्रचलित हथियार के

प्रयोग को, जिसका प्रयोग नियोजकों द्वारा किया जाता था, रोकने और प्रतिषिद्ध करने के प्रयोजनों के लिए हैं।

10. इसलिए मेरा यह विश्वास हो गया है कि प्राधिकरण द्वारा अपनाया गया यह दृष्टिकोण कि धारा 25 च निगम के उस कर्मकार को भी लागू होती है जिसको निगम के स्थायी आदेश लागू होते हैं और उसे निगम के स्थायी आदेशों की अन्य अपेक्षाओं के अतिरिक्त धारा 25ञ के उपबंध लागू होते हैं, न्यायोचित और उचित है और उसमें कोई भी हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है।

11. यहां यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि उन नियोजक और कर्मचारियों के मामले में, जिनको औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 लागू होता है, श्रम न्यायालय और औद्योगिक प्राधिकरण को जिनके प्रति धारा 10 के अधीन निर्देश किए गए हैं, सामान्यतया अन्तर्ग्रस्त अनेकों विवाद्यकों को न्यायनिर्णीत करने के लिए अनुज्ञात किया जाना चाहिए और उन निर्णय की न्यायिक संवीक्षा करने के लिए इस न्यायालय को अपील न्यायालय नहीं बनाया जाना चाहिए। औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की स्कीम में यह अनुध्यात है कि ऐसे विवादों को न्यायनिर्णीत करने के लिए विशेष न्यायालय का उपबंध किया गया है और उस न्यायालय को अधिकारिता में कमियों, यदि कोई हो, के अधीन रहते हुए अन्तिम माना जाना चाहिए।

12. उपर्युक्त विचार-विमर्श का परिणाम यह है कि प्राधिकरण के निष्कर्ष में कोई भी हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है और इसलिए रिट पिटीशन खारिज किया जाता है।

पिटीशन खारिज किया गया।

रा/प्र०

नि० प० 1984 : राजस्थान—151

मुकुट बिहारी बनाम राजस्थान राज्य और अन्य

(Mukat Behari *Vs.* the State of Rajasthan and others)

तारीख 26 सितम्बर, 1983.

[न्या० एन० एम० कासलीवाल]

राजस्थान पुलिस सबार्डिनेट सर्विस रूल्स, 1974 (राजस्थान पुलिस अधीनस्थ सेवा नियम, 1974), नियम 23, 24, 26 और 29, सपठित

संविधान, 1950 का अनुच्छेद 311(2)—विधि का यह सुस्थापित सिद्धान्त है कि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई आदेश तब तक पारित नहीं किया जा सकता जब तक उसे सुनवाई का अवसर प्रदान न कर दिया गया हो—सुनवाई का अवसर प्रदान किए बिना आदेश पारित करना "दूसरे पक्ष को भी सुनो" के नियम का अतिक्रमण है।

पिटीशनर कांस्टेवल के पद से प्रोन्नति द्वारा हैड कांस्टेवल के पद पर नियुक्ति के लिए प्रोन्नति संवर्ग पाठ्यक्रम में अभ्यर्थियों को भेजने के लिए आयोजित की जाने वाली चयन परीक्षा में, जो 5-6 सितम्बर, 1980 को आयोजित की गई थी, बैठे थे और उन्होंने उसे उत्तीर्ण कर लिया था। इसके पश्चात् वे साक्षात्कार के लिए बुलाए गए थे। साक्षात्कार के बाद पिटीशनर संपूर्ण अर्हक परीक्षा में सफल घोषित किए गए थे और उनके नाम हैड कांस्टेबल के पद के लिए प्रोन्नति संवर्ग पाठ्यक्रम के लिए अभ्यर्थियों की चयन सूची में सम्मिलित कर लिए गए थे। पिटीशनरों के नाम चयन सूची में सम्मिलित किए जाने के आधार पर 18 और 19 दिसम्बर, 1980 के आदेश जारी किए गए थे जिनके आधार पर उनकी हैड कास्टेबल के रूप में नियुक्ति की गई थी। उसके पश्चात् पिटीशनर 16 सितम्बर, 1980 को प्रोन्नति संवर्ग पाठ्यक्रम पूरा करने के लिए भेजे गए थे तथा उन्होंने तथाकथित प्रोन्नति संवर्ग पाठ्यक्रम भी पूरा कर लिया था और नवम्बर, 1982 में विभिन्न आदेश द्वारा वे हैड कास्टेबल पुष्ट कर दिए गए थे।

चार अन्य व्यक्तियों ने जो तथाकथित पाठ्यक्रम के लिए चयनित नहीं किए गए थे, अर्हक परीक्षा में अपनी असफलता और 18 और 19 सितम्बर, 1980 के आदेशों को आक्षेपित करते हुए राजस्थान सिविल सेवा अपील अधिकरण के समक्ष चार अपीलें फाइल की थीं। इन व्यक्तियों ने पिटीशनरों को तथाकथित सेवा अधिकरण के समक्ष फाइल की गई अपीलों में पक्षकारों के रूप में आलिप्त नहीं किया था। तथाकथित अधिकरण के समक्ष की गई अपीलों में आक्षेप का मुख्य आधार यह था कि बोर्ड के प्रत्येक सदस्य का यह कर्त्तव्य था कि वह प्रायोगिक परेड और साक्षात्कार में भाग लेता और इस मामले में करौली के अपर पुलिस अधीक्षक ने, जो कि बोर्ड के सदस्य थे, बहिरंग परेड और साक्षात्कार में भाग नहीं लिया था और वे 6 सितम्बर, 1980 को लिखित परीक्षा समाप्त होने के पश्चात् लगभग 11-00 बजे (पूर्वाह्न) उस स्थान से चले गए थे। तथाकथित अधिकरण ने अपीलार्थियों के इस तर्क को स्वीकार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि करौली के अपर

अधीक्षक ने लिखित परीक्षा के बाद के कार्यकलाप में भाग नहीं लिया था और उनका ऐसा करना नियम विरुद्ध था तथा संपूर्ण चयन को, जहां तक कि उसका संबंध प्रायोगिक परेड तथा अन्य वहिरंग परीक्षाओं और साक्षात्कार से है, दूषित करता था। तथाकथित सेवा अधिकरण ने चार व्यक्तियों में से एक द्वारा फाइल की गई अपील खारिज कर दी थी क्योंकि वह लिखित परीक्षा में भी उत्तीर्ण नहीं हुआ था परन्तु जहां तक अन्य अपीलार्थियों का संबंध है उनकी अपीलें मंजूर कर ली गई थीं क्योंकि उन्होंने लिखित परीक्षा उत्तीर्ण कर ली थी परन्तु वे परेड परीक्षा के लिए अनुपयुक्त पाए गए थे। इस प्रकार तथाकथित सेवा अधिकरण ने 15 जून, 1982 के आदेश द्वारा 18 और 19 सितम्बर, 1980 के आदेश इस मताभिव्यक्ति के साथ अभिखंडित कर दिए थे कि प्रायोगिक परेड तथा अन्य बहिरंग परीक्षाओं और साक्षात्कार तथा सेवा-अभिलेखों की परीक्षा में बोर्ड के प्रत्येक सदस्य के लिए भाग लेना आज्ञापक था।

पिटीशनरों को उपर्युक्त तथ्यों का पता तब चला था जब उन्हें भरतपुर के पुलिस उप-महानिरीक्षक का 6 अप्रैल, 1983 का पत्र मिला था जिसमें यह जानने की ईप्सा की गई थी कि सेवा अधिकरण के पूर्वोक्त निर्णय के विरुद्ध अपील की गई है अथवा नहीं और यदि अपील न की गई हो तो 18 और 19 सितम्बर, 1980 के आदेश अपास्त कर दिए जाएं और जो भी कास्टेबल उत्तीर्ण हो चुका हो उससे यह अपेक्षा की जाए कि वह लिखित परीक्षा, परेड और साक्षात्कार में फिर से उपस्थित हो।

पिटीशनरों ने सेवा-अधिकरण के तारीख 15 जून, 1982 के आदेश तथा भरतपुर के पुलिस उप-अधीक्षक द्वारा जारी किए तारीख 6 अप्रैल, 1983 के परिणामी-पत्र से व्यथित होकर रिट पिटीशन फाइल किए थे।

पिटीशनरों के विद्वान् काउंसेल ने यह तर्क दिया था कि 18 और 19 सितम्बर के आदेश पिटीशनरों को सुनवाई का अवसर दिए बिना अभिखंडित नहीं किए जा सकते थे। यदि बोर्ड के एक सदस्य ने शारीरिक परीक्षा, परेड और साक्षात्कार में भाग नहीं लिया था तो इसमें पिटीशनरों का कोई दोष नहीं था। 15 जून, 1982 और 6 अप्रैल, 1983 के आदेश भारत के संविधान के अनुच्छेद 311(2) का और उसके अनुच्छेद 14 और 16 के अधीन गारंटीकृत मूल अधिकारों का भी अतिक्रमण करते हैं। प्रत्यर्थियों के अधिवक्ता ने सेवा-अधिकरण के आदेश का समर्थन करते हुए यह तर्क दिया था कि "नियम" के नियम 23, 24, 26 और 29 की संपूर्ण स्कीम से यह दर्शित होता है कि

सारा कर्य बोर्ड के सभी सदस्यों द्वारा संयुक्त रूप से किया जाना है। इस प्रकार बोर्ड के प्रत्येक सदस्य का यह कर्त्तव्य था कि वह लिखित परीक्षा के अतिरिक्त शारीरिक परीक्षा और साक्षात्कार में अंक देते समय अपनी बुद्धि का प्रयोग करता।

इन परिस्थितियों में न्यायालय के समक्ष विचारणीय प्रश्न यह था कि पिटीशनरों को सुनवाई का कोई अवसर दिए बिना उनके विरुद्ध कोई आदेश किया जा सकता था अथवा नहीं ?

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन मंजूर किए गए।

विधि का यह सुस्थापित सिद्धांत है कि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई आदेश तब तक पारित नहीं किया जा सकता जब तक उसे सुनवाई का अवसर प्रदान न कर दिया गया हो। इस प्रकार सेवा-अधिकरण द्वारा 15 जून, 1982 को पारित आदेश तथा भरतपुर के पुलिस उप-महानिरीक्षक द्वारा जारी किया गया तारीख 6 अप्रैल, 1983 का परिणामी-आदेश केवल इसी कारण गलत और अवैध हैं। (पैरा 12)

[1983] खण्ड न्यायपीठ की विशेष अपील सं० 750/74 जिसका विनिश्चय 21 मार्च, 1983 को किया गया : नारायण स्वरूप माथुर **बनाम** राजस्थान राज्य (Narain Swaroop Mathur *Vs.* the State of Rajasthan); 6

[1982] खण्ड न्यायपीठ की विशेष अपील सं 237/80 जिसका विनिश्चय 16 जुलाई, 1982 को किया गया : फईमुद्दीन **बनाम** राज्य (Faimuddin *Vs.* the State); और 6

[1972] ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 1812 : ईश्वर चन्द्र **बनाम** सत्य नारायण सिन्हा और अन्य (Ishwar Chandra *Vs.* Satya Narain Sinha and others) 6

का अवलंब लिया गया।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1983 का विशेष न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 807 जिसके

साथ अन्य 27 रिट पिटीशनों की भी सुनवाई की गई थी ।

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से ... श्री एम० आर० कल्ला

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री जी० एस० सिंघवी और श्री एम० आई० खान, सरकारी अधिवक्ता

न्या० कासलीवाल :

चूंकि, उपर्युक्त सभी 28 मामलों में तथ्य और विधि के एक-से प्रश्न अन्तर्वलित हैं, अतः उनका निपटारा एकल आदेश द्वारा किया जा रहा है ।

2. सभी पिटीशनर पुष्ट कांस्टेबल हैं और तदर्थ आधार पर हेड कांस्टेबल के रूप में कार्य कर रहे हैं । राजस्थान पुलिस सबार्डिनेट सर्विस रूल्स, 1974 (राजस्थान पुलिस अधीनस्थ सेवा नियम, 1974) (जिन्हें इसमें आगे "नियम" कहा गया है) में कांस्टेबल के पद से प्रोन्नति द्वारा हेड कांस्टेबल के पद पर नियुक्ति के लिए प्रोन्नति संवर्ग पाठ्यक्रम में अभ्यर्थियों को भेजने के लिए अर्हक परीक्षा की व्यवस्था है । इस प्रयोजन के लिए 27 जुलाई, 1980 को चयन परीक्षाएं आयोजित की जानी थीं । इस प्रयोजन के लिए पात्र अभ्यर्थियों के नामों की एक सूची तथा परीक्षाओं का कार्यक्रम पुलिस अधीक्षक सवाई-माधोपुर ने 7 जुलाई, 1980 को जारी किया था । इसके बाद चयन परीक्षा 12 अगस्त, 1980 तक और अन्तिम रूप से 5, 6 और 7 सितम्बर, 1980 तक स्थगित कर दी गई थी । पिटीशनर 5 और 6 सितम्बर, 1980 को आयोजित लिखित परीक्षा में बैठे थे और उन्होंने तथाकथित परीक्षा उत्तीर्ण कर ली थी । पिटीशनरों ने 7 सितम्बर, 1980 को आयोजित बहिरंग परेड परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली थी और वे उसके पश्चात् साक्षात्कार के लिए बुलाए गए थे । साक्षात्कार में उपस्थित होने के पश्चात् पिटीशनर संपूर्ण अर्हक परीक्षा में सफल घोषित किए गए थे और उनके नाम हेड कांस्टेबल के पद के लिए प्रोन्नति संवर्ग पाठ्यक्रम के लिए अभ्यर्थियों की चयन सूची में सम्मिलित कर लिए गए थे । पिटीशनरों के नाम चयन सूची में सम्मिलित किए जाने के आधार पर 18 और 19 सितम्बर, 1980 के आदेश जारी किए गए थे जिसके आधार पर उनकी हेड कांस्टेबल के रूप में नियुक्ति की गई थी । उसके पश्चात् पिटीशनर 16 दिसम्बर, 1980 को प्रोन्नति संवर्ग पाठ्यक्रम को पूरा करने के लिए भेजे गए थे तथा उन्होंने तथाकथित प्रोन्नति संवर्ग पाठ्यक्रम भी पूरा कर

लिया था और नवम्बर, 1982 के मास में विभिन्न आदेशों द्वारा वे हैड कांस्टेबल पुष्ट कर दिए गए थे।

3. शांतनु प्रसाद, कृष्ण मोहन, राम स्वरूप और रामसिंह नामक चार व्यक्तियों ने, जो तथाकथित प्रोन्नति संवर्ग पाठ्यक्रम के लिए चयनित नहीं किए गए थे, अर्हक परीक्षा में अपनी असफलता और 18 और 19 सितम्बर, 1980 के आदेशों को आक्षेपित करते हुए राजस्थान सिविल सेवा अपील अधिकरण के समक्ष चार अपीलें फाइल की थीं। इस प्रक्रम पर यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त चारों व्यक्तियों ने पिटीशनरों को तथाकथित सेवा अधिकरण के समक्ष फाइल की गई अपीलों में पक्षकारों के रूप में आलिप्त नहीं किया था। तथाकथित अधिकरण के समक्ष की गई अपीलों में आक्षेप का मुख्य आधार यह था कि बोर्ड के प्रत्येक सदस्य का यह कर्त्तव्य था कि वह प्रायोगिक परेड और साक्षात्कार में भाग लेता और इस मामले में करौली के अपर पुलिस अधीक्षक, महावीर प्रसाद ने, जो कि बोर्ड के एक सदस्य थे, बहिरंग परेड और साक्षात्कार में भाग नहीं लिया था और वे 6 सितम्बर, 1980 को लिखित परीक्षा समाप्त होने के पश्चात् लगभग 11-00 बजे पूर्वाह्न उस स्थान से चले गए थे। तथाकथित सेवा अधिकरण ने अपीलार्थियों द्वारा दिए गए तर्क को स्वीकार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि श्री महावीर प्रसाद ने लिखित परीक्षा के बाद के कार्यकलाप में भाग नहीं लिया था और उनका ऐसा करना नियमों के विरुद्ध था तथा संपूर्ण चयन को, जहां तक कि उसका संबंध प्रायोगिक परेड तथा अन्य बहिरंग परीक्षाओं और साक्षात्कार से है, दूषित करता था। तथाकथित सेवा अधिकरण ने शांतनु प्रसाद द्वारा फाइल की गई अपील खारिज कर दी थी क्योंकि वह लिखित परीक्षा के प्रश्नपत्रों में भी उत्तीर्ण नहीं हुआ था परन्तु जहां तक अन्य अपीलार्थियों का संबंध है, उनकी अपीलें मंजूर कर ली गई थीं क्योंकि उन्होंने लिखित परीक्षा उत्तीर्ण कर ली थी परन्तु वे परेड परीक्षा के लिए अनुपयुक्त पाए गए थे। इस प्रकार तथाकथित सेवा अधिकरण ने 15 जून, 1982 के आदेश द्वारा 18 और 19 सितम्बर, 1980 के आदेश इस मताभिव्यक्ति के साथ अभिखंडित कर दिए थे कि प्रायोगिक परेड तथा अन्य बहिरंग परीक्षाओं और साक्षात्कार तथा सेवा अभिलेखों की परीक्षा में बोर्ड के प्रत्येक सदस्य के लिए भाग लेना आज्ञापक था।

4. जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि पिटीशनर सेवा अधिकरण के समक्ष की गई अपील में पक्षकार नहीं थे और उन्हें उपर्युक्त सभी तथ्यों का पता तब ही चला था जब उन्हें सवाई-माधोपुर के पुलिस अधीक्षक

को भरतपुर के पुलिस उप-महानिरीक्षक द्वारा भेजा गया तारीख 6 अप्रल, 1983 का पत्र मिला था जिसमें यह जानने की ईप्सा की गई थी कि सेवा अधिकरण के पूर्वोक्त निर्णय के विरुद्ध अपील की गई है अथवा नहीं और यदि कोई अपील न की गई हो तो 18 और 19 सितम्बर, 1980 के आदेश अपास्त कर दिए जाएं और जो भी कांस्टेबल पहले उत्तीर्ण हो चुका हो उससे यह अपेक्षा की जाए कि वह लिखित परीक्षा, परेड और साक्षात्कार में पुनः उपस्थित हो तथा इसके लिए एक नए बोर्ड का गठन किया गया जिसके लिए जिला सवाई-माधोपुर के पुलिस अधीक्षक आर० एन० गौड़, गंगापुर के पुलिस अधीक्षक, गिरधारीलाल शर्मा और अलवर के अपर पुलिस उप-अधीक्षक नवजीत सिंह सदस्यों के रूप में नामनिर्देशित किए गए थे। पिटीशनरों ने सेवा अधिकरण के तारीख 15 जून, 1982 के आदेश तथा भरतपुर के पुलिस उप-महानिरीक्षक द्वारा 6 अप्रैल, 1983 को जारी किए गए परिणामी-पत्र से व्यथित होकर ये रिट पिटीशन फाइल किए हैं। चूंकि पिटीशनरों को यह भी धमकी दी गई थी कि उनकी हेड कांस्टेबल के पद से कांस्टेबल के पद पर अवनति कर दी जाएगी, अतः रोक-आदेश पारित किए जाने के लिए भी आवेदन फाइल किया गया। इस न्यायालय ने 19 अप्रैल, 1983 को तथाकथित रोक आदेश की प्रार्थना करने वाले आवेदन की सूचना जारी की थी और इसी बीच उनकी हैड कांस्टेबल के पद से पदावनति भी रोक दी थी।

5. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल श्री कल्ला ने यह तर्क दिया था कि 18 और 19 सितम्बर, 1980 के आदेश द्वारा पिटीशनर प्रोन्नति संवर्ग पाठ्यक्रम के लिए भेजे जाने वाले अभ्यर्थियों की अनुमोदित सूची में सम्मिलित कर लिए गए थे और वह पिटीशनरों की सुनवाई का कोई अवसर दिए बिना अभिखंडित नहीं किया जा सकता था। इन आदेशों के परिणामस्वरूप पिटीशनरों को अधिकार मिल गए हैं और यदि उनके विरुद्ध कोई प्रतिकूल आदेश पारित किए जाने थे तो यह आवश्यक था कि वे इन अपीलों में पक्षकारों के रूप में आलिप्त किए जाते। इस प्रकार सेवा अधिकरण द्वारा पारित आदेश "दूसरे पक्ष को भी सुनो" के सिद्धांत का अतिक्रमण करने के कारण अकृत और प्रारंभ से ही शून्य है।

6. श्री कल्ला ने यह भी तर्क दिया कि पिटीशनर अर्हक परीक्षा में अंतिम रूप से सफल घोषित किए जाने के बाद ही प्रोन्नति संवर्ग पाठ्यक्रम में भेजे गए थे जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक पूरा कर लिया था और उसके बाद वे नवम्बर, 1982 के मास में हैड कांस्टेबल के पद पर पुष्ट कर दिए गए थे और वे आदेश अब भी सुरक्षित हैं और इस प्रकार भरतपुर के पुलिस उप-महानिरीक्षक

पुष्ट किए गए थे। पिटीशनर सेवा अधिकरण के समक्ष निश्चित रूप से न तो पक्षकार बनाए गए थे और न ही उनके प्रोन्नति संवर्ग पाठ्यक्रम में भाग लेने के संबंध में कोई रोक आदेश प्राप्त किया गया था। विधि का यह सुस्थापित सिद्धांत है कि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई आदेश तब तक पारित नहीं किया जा सकता जब तक उसे सुनवाई का अवसर प्रदान न कर दिया गया हो। इस प्रकार सेवा अधिकरण द्वारा 15 जून, 1982 को पारित आदेश तथा भरतपुर के पुलिस उप-महानिरीक्षक द्वारा जारी किया गया तारीख 6 अप्रैल, 1983 का परिणामी आदेश केवल इसी कारण गलत और अवैध हैं। पिटीशनरों ने अंतिम रूप से चयनित हो जाने तथा हेड कांस्टेबल के पद पर पुष्ट कर दिए जाने के बाद एक मूल्यवान अधिकार अर्जित कर लिया था और उन्हें 18 और 19 सितंबर, 1980 के आदेशों को अभिखंडित करने अथवा 6 अप्रैल, 1983 का आदेश जारी करने से पूर्व सुनवाई कराने अथवा कारण बताने का कोई अवसर नहीं दिया गया था। सेवा अधिकरण की 18 और 19 सितम्बर, 1980 के आदेशों को पिटीशनरों अथवा ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध अभिखंडित करने की कार्यवाही न्यायोचित नहीं थी जिन्होंने ऐसे आदेशों के अधीन कोई लाभ प्राप्त कर लिया था और 15 जून, 1982 का यह आदेश पारित किए जाने से काफी पहले प्रोन्नति संवर्ग पाठ्यक्रम भी पूरा कर लिया था और यदि सेवा अधिकरण का मत यह था कि बोर्ड के सभी सदस्यों ने बहिरंग परीक्षा और साक्षात्कार में भाग न लेकर अवैधता कारित की थी तो ऐसी शक्ति पर विचार केवल उन्हीं व्यक्तियों के संबंध में किया जा सकता था जिन्होने उसके समक्ष अपीलें फाइल की थीं। पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल ने यह कथन किया था कि उसे सेवा अधिकरण के आदेश तथा पुलिस उप-महानिरीक्षक द्वारा जारी किए गए आदेश के विरुद्ध वहां तक शिकायत है जहां तक वे पिटीशनरों के हितों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करते हैं और जहां तक सेवा अधिकरण के समक्ष अपीलार्थियों का संबंध है। उन्हें इसके विपरीत कोई आपत्ति नहीं है कि नए बोर्ड का गठन करके परीक्षा ली जाए।

13. मैंने भी इस तथ्य पर ध्यान दिया है कि यदि पिटीशनरों से पुनः अर्हक परीक्षा देने की अपेक्षा की जाती है तो उसके कारण अनावश्यक उलझनें पैदा होंगी, सरकार के समय और धन का अपव्यय होगा और उन्हें अनावश्यक कठिनाई और अन्याय का सामना करना पड़ेगा। सरकार की ओर से यह कथन किया गया है कि उसे पिटीशनरों के चयन और उनकी हेड कांस्टेबल के पद पर प्रोन्नति के प्रति कोई आपत्ति नहीं है। इस कथन से पिटीशनरों के मामले का समर्थन ही होता है। इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए मैं इस मामले

में उठाए गए विधिक विवाद की बारीकियों की जांच करना अनावश्यक समझता हूं। सरकार ने सेवा अधिकरण के आदेश को आक्षेपित नहीं किया है और जहां तक पिटीशनरों का संबंध है वे "दूसरे पक्ष को भी सुनो" के नियम के अतिक्रमण के अल्प आधार पर ही सफल हैं।

14. परिणामतः ये सभी 28 रिट पिटीशन मंजूर किए जाते हैं। सेवा अधिकरण द्वारा पारित तारीख 15 जून, 1982 का आदेश तथा भरतपुर के पुलिस उप-महानिरीक्षक द्वारा जारी किया गया तारीख 6 अप्रैल, 1983 का आदेश, जहां तक पिटीशनरों का संबंध है, अभिखडित किए जाते हैं। पिटीशनरों का हेड कांस्टेबलों के पद पर चयन और पुष्टीकरण कायम रखे जाएंगे। जहां तक कृष्ण मोहन, रामस्वरूप और राम सिंह, जिनकी अपीलें सेवा अधिकरण ने मंजूर कर ली थीं, का संबंध है, सरकार सेवा अधिकरण के तारीख 15 जून, 1982 के आदेश का अनुसरण करते हुए कार्यवाही करेगी। पक्षकार अपना-अपना खर्च स्वयं वहन करेंगे।

रिट पिटीशन मंजूर किए गए।

अशोक

नि० प० 1984 : राजस्थान—161

बाबू लाल गौड़ बनाम राजस्थान राज्य और अन्य

(Bahu Lal Gaur *Vs.* The State of Rajasthan and others)

तारीख 27 सितम्बर, 1983

[न्या० जी० एम० लोढ़ा]

राजस्थान अभियोजन सेवा नियम, 1975—[सपठित राजस्थान राज्य अभियोजन और अधीनस्थ सेवा (आरम्भिक गठन और आपात भर्ती) नियम, 1975]—सहायक लोक अभियोजन वर्ग I से वर्ग II में प्रोन्नति के लिए विधि की उपाधि का अनिवार्य होना—इस प्रकार की शैक्षणिक योग्यता को अनिवार्य करना विभदकारी नहीं है क्योंकि विधि की शिक्षा और इसके अध्ययन का उनके कृत्यों के साथ सीधा संबंध है और विधि स्नातक ही लोक अभियोजक क रूप में अधिक उपयोगी सिद्धि हो सकते हैं।

6 जनवरी, 1954 को पिटीशनर पुलिस उप-निरीक्षक के पद पर

नियुक्त किया गया था। यद्यपि अभिलेख पर वह पुलिस उप-निरीक्षक के रूप में था तद्यपि 1954 से लेकर 1974 की अधिकतर अवधि में वह अभियोजन उप-निरीक्षक के रूप में कार्य करता रहा। वर्ष 1975 में सेवारत अभियोजन निरीक्षकों और अभियोजन उप-निरीक्षकों को काडर में सम्मिलिति करने के लिए राजस्थान राज्य अभियोजन और अधीनस्थ सेवा (आरम्भिक गठन और आपात भर्ती) नियम, 1975 बनाए गए। नई दण्ड प्रक्रिया संहिता के कारण ऐसा करना आवश्यक हो गया था। पिटीशनर की जांच की गई और उसे 1 अप्रैल, 1974 से नये नियमों के अनुसार स्थायी रूप से सहायक लोक अभियोजक वर्ग II माना गया। इसके पश्चात् राजस्थान अभियोजन सेवा नियम, 1975 घोषित किए गए जिनमें वर्ग II से सहायक लोक अभियोजक वर्ग I की प्रोन्नति के लिए उपबंध किया गया था। स्तम्भ 2 में योग्यताएं विनिर्दिष्ट की गई हैं। इस योग्यता के अनुसार भारत में विधि द्वारा स्थापित किसी विश्वविद्यालय से विधि की उपाधि आवश्यक है। चूंकि, पिटीशनर विधि स्नातक नहीं है, अतः वह इस शर्त से व्यथित हो गया। इसके बारे में उसका यह कथन है कि उससे उसकी प्रोन्नति के सारे रास्ते बन्द हो गए हैं और उसके साथ विभेद किया गया है। विचारार्थ मुद्दा यह है कि क्या विधि स्नातक की योग्यता का अनिवार्य किया जाना विभेदकारी है ?

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया है।

लोक अभियोजक के कृत्य ऐसे हैं कि कर्मचारी को विधि की विभिन्न शाखाओं की जानकारी होना आवश्यक है विशेषकर दण्ड प्रक्रिया संहिता, दण्ड संहिता, साक्ष्य अधिनियम और दूसरे भिन्न कानून, जो कि दाण्डिक प्रक्रिया से सम्बन्धित हैं। इन परिस्थितियों में यह सही है कि विधि स्नातक निश्चित रूप से अधिक उपयोगी होगा और विधि की शिक्षा और अध्ययन इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक है क्योंकि न्यायालय में लोक अभियोजक के कृत्यों का निर्वहन करने मे इससे सहायता मिलेगी। (पैरा 12)

		पैरा
[1974]	ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1 : जम्मू और कश्मीर राज्य **बनाम** त्रिलोकी नाथ खोसा और अन्य (State of Jammu & Kashmir *Vs.* Triloki Nath Khosa and others)	6

का **अवलम्ब** लिया गया।

[1978] [1978] 3 उम० नि० प० 609=ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 2051 : एस० बी० पटवर्धन बनाम महाराष्ट्र राज्य (S. B. Patwardhan *Vs.* State of Maharashtra) निर्दिष्ट किया गया। 6

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1983 की सिविल रिट पिटीशन सं० 1874.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री जी० एस० सिंघी

प्रत्यर्थी की ओर से —

न्या० जी० एम० लोढ़ा :

6 जनवरी, 1954 को पिटीशनर पुलिस उप-निरीक्षक के पद पर नियुक्त किया गया था। यद्यपि अभिलेख पर वह पुलिस उप-निरीक्षक के रूप में था तथापि 1954 से लेकर 1974 की अधिकांश अवधि में वह अभियोजन उप-निरीक्षक के रूप में कार्य करता रहा।

2. वर्ष 1975 में सेवारत अभियोजन निरीक्षकों और अभियोजन उप-निरीक्षकों को काडर में सम्मिलित करने के लिए राजस्थान राज्य अभियोजन और अधीनस्थ सेवा (आरम्भिक गठन और आपात भर्ती) नियम, 1975 बनाए गए। नई दण्ड प्रक्रिया संहिता के कारण ऐसा करना आवश्यक हो गया था। पिटीशनर की जांच की गई और उसे 1 अप्रैल, 1974 से नये नियमों के अनुसार स्थायी रूप से सहायक लोक अभियोजक वर्ग II माना गया। इसके पश्चात् राजस्थान अभियोजन सेवा नियम, 1975 घोषित किए गए जिनमें वर्ग II से सहायक लोक अभियोजक वर्ग I की प्रोन्नति के लिए उपबंध किया गया था। कालम 2 में योग्यताएं विनिर्दिष्ट की गई हैं। इस योग्यता के अनुसार भारत में विधि द्वारा स्थापित किसी विश्वविद्यालय से विधि की उपाधि आवश्यक है।

3. चूंकि पिटीशनर विधि स्नातक नहीं है और वह इस शर्त से व्यथित हो गया। इसके बारे में उसका यह कथन है कि उससे उसकी प्रोन्नति के सारे रास्ते समाप्त हो गए हैं और उसके साथ विभेद किया गया है।

4. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल श्री सिंघवी ने यह निवेदन किया

कि भविष्य में प्रोन्नति के लिए संशोधन करके विधि की उपाधि को आवश्यक किया जाना विभेदकारी है क्योंकि पिटीशनर ने अपनी सेवा लोक अभियोजक के रूप में आरम्भ की थी और उसने अनुभव प्राप्त कर लिया है। उन्होंने यह भी निवेदन किया कि सहायक अभियोजक वर्ग I के रूप में किसी मामले में कार्यवाही करने के प्रयोजन के लिए उच्च शैक्षणिक योग्यता की आवश्यकता नहीं है। उसका यह कथन है कि जिस व्यक्ति के पास विधि की उपाधि है वह अपने आप ही सहायक लोक अभियोजक वर्ग I के रूप में कार्य करने के लिए सक्षम नहीं हो जाता और प्रोन्नति के लिए विधि की उपाधि रखना बिल्कुल कृत्रिम और विवेकहीन है क्योंकि उद्देश्य की प्राप्ति के साथ, अर्थात् किसी व्यक्ति को सहायक लोक अभियोजक वर्ग-I के पद पर प्रोन्नत करना जो विधि न्यायालय में मामले पर कार्यवाहियां चलवा सके, इसका सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। इसलिए श्री सिंघवी ने भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 का आशय लेते हुए यह प्रार्थना की कि यह न्यायालय नियम 9 (2) सपठित 1978 के नियमों के साथ सम्बद्ध अनुसूची को, जहां तक कि वह विधि स्नातक की योग्यता विनिर्दिष्ट करती हैं, असवैधानिक घोषित कर दे।

5. अपने निवेदन को बल प्रदान करने के लिए श्री सिंघवी ने एक प्रतिवेदित निर्णय का अवलम्ब लेते हुए उसके पैरा 56 और 57 को पढ़ कर सुनाया। इन पैराग्राफों के ध्यानपूर्वक परिशीलन करने से यह पता चलता है कि श्री तारकुण्डे ने जो निवेदन किया था वह यह था कि पिटीशनर स्नातक इंजीनियरों को कनिष्ठ इंजीनियरों से अलग एक श्रेणी घोषित किया जाए और उन्हें उपाधि-पत्र धारक कनिष्ट इंजीनियरों के बराबर 50% प्रोन्नति का कोटा निर्धारित किया जाए। उच्चतम न्यायालय ने इस प्रार्थना को नामंजूर करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि यह न्यायालय इस प्रकार की रिट जारी करके कनिष्ठ इंजीनियरों के वर्गों में 2 श्रेणियां नहीं बनाएगा। वे एक ही प्रकार का कार्य करते हैं और उनके उत्तरदायित्व भी समान हैं। **एस० बी० पटवर्धन** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1] वाले मामले का अवलम्ब लिया गया। उस मामले में प्रोन्नत और सीधी भर्ती किए गए लोगों की वरिष्ठता सूची और वह सूत्र जिसमें सीधी भर्ती किए गए कर्मचारियों को प्रशिक्षण में व्यतीत किए गए एक वर्ष और परिवीक्षा पर रहने के वर्ष का लाभ दिया गया था, का प्रश्न अन्तर्वलित था परन्तु यह लाभ प्रोन्नत व्यक्तियों को उनके अनुभव के आधार पर नहीं दिया गया था। यह अभिनिर्धारितकिया गया कि इस भिन्नता के लिए

---

1 [1978] 3 उम० नि० प० 609=ए० आई० आर०=1977 एस० सी० 2051.

कोई उचित आधार नहीं है और लोक सेवक की दक्षता से इस का कोई भी सम्बन्ध नहीं है ।

6. श्री सिंघवी ने यह निवेदन किया कि इस विनिश्चय से यह दर्शित होगा कि उच्चतम न्यायालय के **जम्मू और कश्मीर राज्य** बनाम **त्रिलोकीनाथ खोसा और अन्य**[1] वाले पूर्ववर्ती विनिश्चय में सहायक इंजीनियरों को उपाधि-पत्र धारक और उपाधि धारक को कार्यपालक इंजीनियरों के रूप में प्रोन्नत करने के लिए किए गए वर्गीकरण को कायम रखा गया था । इससे इसमें भिन्न मत अपनाया गया है ।

7. **त्रिलोकी नाथ वाले मामले**[1] में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था :—

> "यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि सहायक इंजीनियरों को उपाधि-पत्र धारक और उपाधि धारक के आधार पर वर्गीकृत नहीं किया जा सकता । इंजीनियरी सेवा में प्रशासनिक दक्षता प्राप्त करने के लिए यह वर्गीकरण किया गया था । अगर इस का उद्देश्य यह है तो यह उससे सम्बन्धित है क्योंकि उच्च शैक्षणिक योग्यता के संबंध में यह उपधारणा की जा सकती है कि यह एक उच्चतर मानसिक योग्यता का परिचायक है ।"

उच्चतम न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया :—

> "कार्यपालक इंजीनियर के पद पर प्रोन्नति के लिए सेवा नियमों में शैक्षणिक योग्यता के आधार पर किया गया वर्गीकरण सांविधानिक उपधारणा—वर्गीकरण की वैधता को सिद्ध करने का भार ।
>
> जब तक कि स्पष्ट रूप से वर्गीकरण अवैध न हो पिटीशनर पर इस बात का दायित्व होता है कि वह ऐसे तथ्यों का उल्लेख करे जिससे उसके विभेदकारी होने के अभिवाक् को बनाए रखा जा सके और उन तथ्यों को सिद्ध करने के लिए उसे अकाट्य और विश्वसनीय साक्ष्य पेश करना चाहिए क्योंकि उपधारणा यह है कि वर्गीकरण करते समय प्रत्येक सुसंगत और तात्त्विक पहलू पर विचार किया गया था । इस प्रकार वर्गीकरण को वैध ठहराने या इसकी संवैधानिकता

---

[1] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1.

को सिद्ध करने का भार प्रत्यर्थी (राज्य) पर नहीं है । यह हो सकता है कि औपचारिक शिक्षा श्रेष्ठ न हो परन्तु कम-से-कम यह तो कहा जा सकता है कि कार्यपालक इंजीनियर के पद पर प्रोन्नति के लिए भिन्न शैक्षणिक योग्यताओं के आधार पर किया गया वर्गीकरण स्पष्टतः अवैध प्रतीत नहीं होता है, इसलिए ऐसा सिद्ध करने का भार पिटीशनर पर ही रहेगा ।"

8. मेरा यह दृष्टिकोण है कि **त्रिलोकी नाथ वाला मामला**[1] वर्तमान मामले के तथ्यों पर पूर्ण रूप से लागू होता है । उस मामले में शैक्षणिक योग्यताओं के आधार पर ऐसा ही वर्गीकरण किया गया था और उसे संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 का अतिक्रमणकारी घोषित किया गया था ।

9. यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि शैक्षणिक योग्यता को सेवा और प्रोन्नति के लिए वर्गीकरण का आधार बनाया जा सकता है ।

10. **त्रिलोकी नाथ वाले मामले**[1] में पांच न्यायाधीशों द्वारा गठित संविधान न्यायपीठ ने निर्णय दिया था और वह निर्णय वर्तमान मामले पर लागू होता है ।

11. यद्यपि उतच्चम न्यायालय का निर्णय बाद में सुनाया गया था तथापि यह दो माननीय न्यायाधीशों द्वारा सुनाया गया था परन्तु यह वर्तमान मामले को लागू नहीं होता क्योंकि उस मामले में न्यायालय से यह प्रार्थना की गई थी कि रिट जारी करने से शैक्षणिक योग्यता को अधिमान दिया जाएगा । इसलिए मेरा यह विचार है कि वर्तमान विवाद में एच० सी० शर्मा वाला मामला लागू नहीं होता ।

12. वर्तमान मामले में जो विवाद्यक अन्तर्वलित है, उस पर विचार करने के पश्चात् मेरा यह मत है कि लोक अभियोजक के कृत्य ऐसे हैं कि कर्मचारी को विधि की विभिन्न शाखाओं की जानकारी होना आवश्यक है । विशेषकर दण्ड प्रक्रिया संहिता, दण्ड संहिता, साक्ष्य अधिनियम और दूसरे भिन्न कानून जो कि दाण्डिक प्रक्रिया से सबंधित हैं । इन परिस्थितियों में यह सही है कि विधि स्नातक निश्चित रूप से अधिक उपयोगी होगा और विधि की शिक्षा और अध्ययन इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक है क्योंकि न्यायालय में लोक अभियोजक के कृत्यों का निर्वहन करने में इससे सहायता मिलेगी ।

---

[1] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1.

13. परिणामस्वरूप रिट पिटीशन असफल होती है और उसे खारिज किया जाता है।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

खन्ना

नि० प० 1984 : राजस्थान—167

दीनबन्धु बनाम राजस्थान राज्य

(Deen Bandhu *Vs.* State of Rajasthan)

तारीख 30 सितम्बर, 1983

[न्या० एम० सी० जैन]

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973—धारा 340(1)—उक्त धारा 340 न्यायालय से यह अपेक्षा करती है कि वह यह निष्कर्ष अभिलिखित करे कि उसकी यह राय है कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि धारा 195(1)(ख) में निर्दिष्ट अपराध की जांच की जानी चाहिए। ऐसा निष्कर्ष अभिलिखित करने के पश्चात् ही कोई लिखित शिकायत की जा सकती है।

मुन्सिफ के न्यायालय के सिविल लिपिक ने दिनांक 21 जुलाई, 1980 को विद्वान् मुन्सिफ को यह कथन करते हुए एक रिपोर्ट प्रस्तुत की, चूंकि डिक्री-धारक ने यह अभिवाक् किया था कि उसे कोई अनुदेश प्राप्त नहीं था, इसलिए 1979 का मामला सं० 9, खारिज कर दिया गया था। डिक्री के अधीन देय रकम का पता लगाने के लिए रजिस्टर सं० 34 को देखा गया और यह पाया गया कि इस प्रविष्टि के अनुसार 5,011/- रुपये की रकम देय थी जबकि निष्पादन आवेदन में अधिलेखन किया गया था और लिखाई को मिटाया गया था और 5,000/- रुपये की रकम देय दर्शाई गई थी। लिपिक ने यह रिपोर्ट दी कि चूंकि, सही रकम लिखी जानी है, इसलिए आवश्यक आदेश पारित किए जाएं। विद्वान् मुन्सिफ ने यह आदेश दिया कि रिपोर्ट को निष्पादन आवेदन संस्थान रजिस्टर के साथ उसके सम्मुख पेश किया जाए। इसके पश्चात् न्यायालय के रीडर के कथन को अभिलिखित किया गया। उसने यह कहा कि उसने 13 फरवरी, 1979 को निष्पादन आवेदन के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट दी थी। उस समय कालम सं० 7 में कुछ मिटाया नहीं गया था और 5,011/- रुपये

की रकम को वसूल किया जाना दर्शाया गया था। मिटाने का तथा अधिलेखन का कार्य बाद में किया गया था। उसने यह भी कथन किया कि मिटाने वाले स्थान पर दीनबन्धु गुप्ता, अधिवक्ता द्वारा आद्यक्षर किए गए थे। विद्वान् मुन्सिफ ने स्वयं भी यह अभिलिखित किया कि उसने स्वयं रजिस्टर का परिशीलन किया और अन्वेषण के दौरान लिपिक और रीडर से पूछताछ की थी। उसने यह आदेश किया कि चूंकि श्री दीनबन्धु गुप्त, अधिवक्ता के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 465 और 466 के अधीन अपराध और न्यायालय अवमान और गम्भीर वृत्तिक अवचार का मामला बनता है, इसलिए यह उचित है कि मामले की सूचना जिला न्यायाधीश को तुरन्त दे दी जाए। इसके पश्चात् उसने परिवाद तैयार किया और उसे अपने न्यायालय में उपस्थित किया। विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार किया गया परिवाद चलने योग्य है?

अभिनिर्धारित—आवेदन मंजूर किया

विद्वान् मजिस्ट्रेट ने बिना यह निष्कर्ष अभिलिखित किए कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि न्यायिक कार्यवाहियों के अभिलेख के प्रति किए गए किसी अपराध की जांच की जाए, शिकायत करके विधि सम्बन्धी गम्भीर गलती की है। अभिकथित अपराध के सम्बन्ध में शिकायत करने के लिए ऐसा निष्कर्ष अभिलिखित करना एक पूर्वापेक्षा है। विद्वान् मजिस्ट्रेट ने ऐसा निष्कर्ष अभिलिखित नहीं किया था। (पैरा 4)

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 340 के परिशीलन से यह पता चलेगा कि कार्यवाहियां आवेदन पर या अन्यथा आरम्भ की जा सकती हैं। न्यायालय से यह अपेक्षा की जाती है कि वह यह निष्कर्ष अभिलिखित करे कि उसकी यह राय है कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि धारा 195 की उपधारा(1) के खण्ड (ख) में निर्दिष्ट किसी अपराध की जांच की जानी चाहिए। ऐसा निष्कर्ष अभिलिखित करने के पश्चात् ही न्यायालय द्वारा कोई लिखित शिकायत की जा सकती है। ऐसे निष्कर्ष को अभिलिखित करने के लिए, अगर न्यायालय आवश्यक समझें तो प्रारम्भिक जांच करने के लिए सक्षम है। यह सही है कि प्रस्तुत मामले में प्रारम्भिक जांच की गई थी। न्यायालय ने रजिस्टर की जांच की और रीडर के कथन को भी अभिलिखित किया। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 340(1) के निबन्धनों के अनुसार कोई आदेश नहीं किया गया है। शिकायत करने से पूर्व विद्वान् मजिस्ट्रेट ने ऐसा कोई निष्कर्ष अभिलिखित नहीं किया है कि उसकी यह राय है कि न्याय के हित में यह

समीचीन है कि पिटीशनर के विरुद्ध न्यायिक अभिलेख को बिगाड़ने के कारण भारतीय दण्ड संहिता की धारा 465 और 466 के अधीन किए गए अपराध के लिए जांच की जाए। ऐसे निष्कर्ष के अभाव में शिकायत का किया जाना दूषित हो गया है। (पैरा 5)

[1970] ए० आई० आर० 1970 ए० पी० 119 : निमकायालाल औदी नारायनम्मा **बनाम** आन्ध्र प्रदेश राज्य (Nimmakayalal Audi Narrayanamma *Vs.* State of Andhra Pradesh); 4

[1962] 1962 आर० एल० डब्ल्यू० 442 : ब्रिजमोहन लाल **बनाम** सोहन राज (Brijmohanlal *Vs.* Shonaraj) 4

का **अवलम्ब** लिया गया।

पुनरीक्षण दाण्डिक अधिकारिता : 1983 की दाण्डिक प्रकीर्ण पिटीशन सं० 227.

1981 के दाण्डिक मामला सं० 45 में सगवाड़ा के प्रथम श्रेणी मुन्सिफ और न्यायिक मजिस्ट्रेट के दिनांक 23 अक्तूबर, 1980 के आदेश के विरुद्ध दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन आवेदन।

पिटीशनर की ओर से ··· श्री एन० एन० माथुर

प्रत्यर्थी राज्य की ओर से ··· श्री एल० एम० उदावत

न्या० एम० सी० जैन :

यह आवेदन दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन उन कार्यवाहियों को अभिखण्डित करने के लिए की गई है, जो सगवाड़ा के प्रथम श्रेणी मुन्सिफ और न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 340 के अधीन पिटीशनर के विरुद्ध आरम्भ की गई थी।

2. वे तथ्य, जिनके कारण यह आवेदन दिया गया है, इस प्रकार हैं :—सगवाड़ा के मुन्सिफ के न्यायालय के सिविल लिपिक ने दिनांक 21 जुलाई, 1980 को विद्वान् मुन्सिफ को यह कथन करते हुए एक रिपोर्ट प्रस्तुत की कि 1979 का मामला सं० 9, मांगीलाल **बनाम** गौतम, 5 फरवरी, 1980 को इसलिए खारिज कर दिया गया था क्योंकि डिक्री-धारक के काउन्सेल ने यह अभिवाक् किया था कि उसे कोई अनुदेश प्राप्त नहीं था।

डिकी के अधीन देय रकम का पता लगाने के लिए रजिस्टर सं० 34 को देखा गया और यह पाया गया कि इस प्रविष्टि के अनुसार 5,011/- रुपये की रकम देय थी, जबकि निष्पादन आवेदन में अधिलेखन (ओवर राइटिंग) किया गया था और लिखाई को मिटाया गया था और 5,000 रुपये की रकम देय दर्शाई गई थी। लिपिक ने यह रिपोर्ट दी कि चूंकि सही रकम लिखी जानी है, इसलिए आवश्यक आदेश पारित किए जाएं। विद्वान् मुन्सिफ ने यह आदेश दिया कि रिपोर्ट को निष्पादन आवेदन संस्थान रजिस्टर के साथ उसके सम्मुख पेश किया जाए। इसके पश्चात् न्यायालय के रीडर, मोहनलाल के कथन को अभिलिखित किया गया। उसने यह कहा कि उसने 13 फरवरी, 1979 को निष्पादन आवेदन के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट दी थी। उपस्थित करने सम्बन्धी पृष्ठांकन भी उसी के द्वारा लिखा गया था और उस पर राजस्थान न्यायिक सेवा के शिव दयाल गुप्त, ने आद्यक्षर किए थे। उस समय स्तंभ सं० 7 में कुछ मिटाया नहीं गया था और 5,011 रुपये की रकम को वसूल किया जाना दर्शाया गया था। मिटाने का तथा अधिलेखन का कार्य बाद में किया गया था। उसने यह भी कथन किया कि मिटाने वाले स्थान पर दीनबंधु गुप्त, अधिवक्ता द्वारा आद्यक्षर किए गए थे। विद्वान् मुन्सिफ ने स्वयं भी यह अभिलिखित किया कि उसने स्वयं रजिस्टर का परिशीलन किया और अन्वेषण के दौरान लिपिक और रीडर से पूछताछ की थी उसने यह आदेश किया कि चूंकि श्री दीनबंधु गुप्त, अधिवक्ता के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 465, 466 के अधीन अपराध और न्यायालय अवमान और गम्भीर वृत्तिक अवचार का मामला बनता है, इसलिए यह उचित है कि मामले की सूचना जिला न्यायाधीश को तुरन्त दे दी जाए। उसके पश्चात् उसने परिवाद तैयार किया और उसे अपने न्यायालय में उपस्थित किया। इसे उसके द्वारा पंजीकृत किया गया और उसके पश्चात् दिनांक 23 अक्तूबर, 1983 वाले आदेश द्वारा यह आदेश दिया गया कि मामले के अंतरण के लिए डूंगरपुर के जिला और सेशन न्यायाधीश को प्रार्थना की जाए। यह आवेदन श्री दीनबंधु गुप्त, अधिवक्ता ने दिया है।

3. मैंने आवेदक के विद्वान् काउन्सेल श्री एन० एन० माथुर और राज्य के लोक अभियोजक श्री एल० एस० उदावत की सुनवाई की है।

4. आवेदक के विद्वान् काउन्सेल श्री एन० एन० माथुर ने यह निवेदन किया कि विद्वान् मजिस्ट्रेट ने बिना यह निष्कर्ष अभिलिखित किए कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि न्यायिक कर्यवाहियों के अभिलेख के प्रति किए गए किसी अपराध की जांच की जाए, शिकायत करके विधि संबंधी गम्भीर

गलती की है। अभिकथित अपराध के संबंध में शिकायत करने के लिए ऐसा निष्कर्ष अभिलिखित करना एक पूर्वापेक्षा है। उसने यह बताया कि विद्वान् मजिस्ट्रेट ने ऐसा निष्कर्ष अभिलिखित नहीं किया था। अपनी दलील के समर्थन में श्री माथुर ने इस न्यायालय के **ब्रिजमोहन लाल बनाम सोहन राज**[1] और आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के **निमक्कायालाल औदी नारायनम्मा बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य**[2] वाले विनिश्चयों का अवलम्ब लिया।

5. मुझे श्री माथुर की दलील में काफी बल प्रतीत होता है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 340(1) इस प्रकार है :—

"340. धारा 195 में वर्णित मामलों में प्रक्रिया—

(1) जब किसी न्यायालय की, उससे इस निमित्त किए गए आवेदन पर या अन्यथा, यह राय है कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि धारा 195 की उपधारा (1) के खण्ड (ख) में निर्दिष्ट किसी अपराध की, जो उसे, यथास्थिति, उस न्यायालय की कार्यवाही में या उसके संबंध में अथवा उस न्यायालय की कार्यवाही में पेश की गई या साक्ष्य में दी गई दस्तावेज के बारे में किया हुआ प्रतीत होता है, जांच की जानी चाहिए तब ऐसा न्यायालय ऐसी प्रारंभिक जांच के पश्चात्, यदि कोई हो, जैसी वह आवश्यक समझे :—

(क) उस भाव का निष्कर्ष अभिलिखित कर सकता है ;

(ख) उसका लिखित परिवाद कर सकता है ;

(ग) ऐसे मजिस्ट्रेट उसे अधिकारिता रखने वाले प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट को भेज सकता है ;

(घ) के समक्ष अभियुक्त के हाजिर होने के लिए पर्याप्त प्रतिभूति ले सकता है अथवा यदि अभिकथित अपराध अजमानतीय है और न्यायालय ऐसा आवश्यक समझता है तो, अभियुक्त को ऐसे मजिस्ट्रेट के पास अभिरक्षा में भेज सकता है ; और

(ङ) ऐसे मजिस्ट्रेट के समक्ष हाजिर होने और साक्ष्य देने के लिए किसी व्यक्ति को आबद्ध कर सकता है।

---

1 1962 ग्रार० एल० डब्ल्यू० 442.

2 ए० ग्राई० ग्रार० 1970 ए० पी० 119.

को सिद्ध करने का भार प्रत्यर्थी (राज्य) पर नहीं है। यह हो सकता है कि औपचारिक शिक्षा श्रेष्ठ न हो परन्तु कम-से-कम यह तो कहा जा सकता है कि कार्यपालक इंजीनियर के पद पर प्रोन्नति के लिए भिन्न शैक्षणिक योग्यताओं के आधार पर किया गया वर्गीकरण स्पष्टतः अवैध प्रतीत नहीं होता है, इसलिए ऐसा सिद्ध करने का भार पिटीशनर पर ही रहेगा।"

8. मेरा यह दृष्टिकोण है कि **त्रिलोकी नाथ वाला मामला**[1] वर्तमान मामले के तथ्यों पर पूर्ण रूप से लागू होता है। उस मामले में शैक्षणिक योग्यताओं के आधार पर ऐसा ही वर्गीकरण किया गया था और उसे संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 का अतिक्रमणकारी घोषित किया गया था।

9. यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि शैक्षणिक योग्यता को सेवा और प्रोन्नति के लिए वर्गीकरण का आधार बनाया जा सकता है।

10. **त्रिलोकी नाथ वाले मामले**[1] में पांच न्यायाधीशों द्वारा गठित संविधान न्यायपीठ ने निर्णय दिया था और वह निर्णय वर्तमान मामले पर लागू होता है।

11. यद्यपि उतच्चम न्यायालय का निर्णय बाद में सुनाया गया था तथापि यह दो माननीय न्यायाधीशों द्वारा सुनाया गया था परन्तु यह वर्तमान मामले को लागू नहीं होता क्योंकि उस मामले में न्यायालय से यह प्रार्थना की गई थी कि रिट जारी करने से शैक्षणिक योग्यता को अधिमान दिया जाएगा। इसलिए मेरा यह विचार है कि वर्तमान विवाद में एच० सी० शर्मा वाला मामला लागू नहीं होता।

12. वर्तमान मामले में जो विवाद्यक अन्तर्वलित है, उस पर विचार करने के पश्चात् मेरा यह मत है कि लोक अभियोजक के कृत्य ऐसे हैं कि कर्मचारी को विधि की विभिन्न शाखाओं की जानकारी होना आवश्यक है। विशेषकर दण्ड प्रक्रिया संहिता, दण्ड सहिता, साक्ष्य अधिनियम और दूसरे भिन्न कानून जो कि दाण्डिक प्रक्रिया से सबंधित हैं। इन परिस्थितियों में यह सही है कि विधि स्नातक निश्चित रूप से अधिक उपयोगी होगा और विधि की शिक्षा और अध्ययन इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक है क्योंकि न्यायालय में लोक अभियोजक के कृत्यों का निर्वहन करने में इससे सहायता मिलेगी।

---

[1] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1.

गलती की है। अभिकथित अपराध के संबंध में शिकायत करने के लिए ऐसा निष्कर्ष अभिलिखित करना एक पूर्वापेक्षा है। उसने यह बताया कि विद्वान् मजिस्ट्रेट ने ऐसा निष्कर्ष अभिलिखित नहीं किया था। अपनी दलील के समर्थन में श्री माथुर ने इस न्यायालय के **ब्रिजमोहन लाल** बनाम **सोहन राज**[1] और आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के **निमक्कायालाल औदी नारायनम्मा** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**[2] वाले विनिश्चयों का अवलम्ब लिया।

5. मुझे श्री माथुर की दलील में काफी बल प्रतीत होता है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 340(1) इस प्रकार है :—

"340. धारा 195 में वर्णित मामलों में प्रक्रिया—

(1) जब किसी न्यायालय की, उससे इस निमित्त किए गए आवेदन पर या अन्यथा, यह राय है कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि धारा 195 की उपधारा (1) के खण्ड (ख) में निर्दिष्ट किसी अपराध की, जो उसे, यथास्थिति, उस न्यायालय की कार्यवाही में या उसके संबंध में अथवा उस न्यायालय की कार्यवाही में पेश की गई या साक्ष्य में दी गई दस्तावेज के बारे में किया हुआ प्रतीत होता है, जांच की जानी चाहिए तब ऐसा न्यायालय ऐसी प्रारंभिक जांच के पश्चात्, यदि कोई हो, जैसी वह आवश्यक समझे :—

(क) उस भाव का निष्कर्ष अभिलिखित कर सकता है ;

(ख) उसका लिखित परिवाद कर सकता है ;

(ग) ऐसे मजिस्ट्रेट उसे अधिकारिता रखने वाले प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट को भेज सकता है ;

(घ) के समक्ष अभियुक्त के हाजिर होने के लिए पर्याप्त प्रतिभूति ले सकता है अथवा यदि अभिकथित अपराध अजमानतीय है और न्यायालय ऐसा आवश्यक समझता है तो, अभियुक्त को ऐसे मजिस्ट्रेट के पास अभिरक्षा में भेज सकता है ; और

(ङ) ऐसे मजिस्ट्रेट के समक्ष हाजिर होने और साक्ष्य देने के लिए किसी व्यक्ति को आबद्ध कर सकता है।

---

1 1962 आर० एल० डब्ल्यू० 442.

2 ए० आई० आर० 1970 ए० पी० 119.

उपरोक्त उपबन्ध के परिशीलन से यह पता चलेगा कि कार्यवाहियां आवेदन पर या अन्यथा आरम्भ की जा सकती हैं। न्यायालय से यह अपेक्षा की जाती है कि वह यह निष्कर्ष अभिलिखित करे कि उसकी यह राय है कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि धारा 195 की उपधारा (1) के खण्ड (ख) में निर्दिष्ट किसी अपराध की जांच की जानी चाहिए। ऐसा निष्कर्ष अभिलिखित करने के पश्चात् ही न्यायालय द्वारा कोई लिखित शिकायत की जा सकती है। ऐसे निष्कर्ष को अभिलिखित करने के लिए, अगर न्यायालय आवश्यक समझे, तो वह प्रारम्भिक जांच करने के लिए सक्षम है। यह सही है कि वर्तमान मामले में प्रारम्भिक जांच की गई थी। न्यायालय ने रजिस्टर की जांच की और रीडर के कथन को भी अभिलिखित किया। निष्पादन आवेदन संस्थान रजिस्टर में 1979 के निष्पादन आवेदन में 5,011 रुपये की रकम देय दर्शाई गई है। यह प्रविष्टि निष्पादन आवेदन में की प्रविष्टि के आधार पर की गई थी। विद्वान् मुन्सिफ ने यह पाया कि स्तम्भ सं० 7 में 224.50 रुपये की रकम को काट कर 206 रुपये लिखा गया है और उस पर आद्यक्षर किए गए हैं और रीडर के कथनानुसार यह आद्यक्षर श्री दीनबंधु के हैं। उसी स्तम्भ में 5,011 रुपये के अंकों में अंक '1' के स्थान पर अंक '0' लिखा गया है और अंतिम स्तम्भ में भी कुल 5,000 रुपये लिखा है। विद्वान् मजिस्ट्रेट ने अपने दिनांक 23 अक्तूबर, 1980 वाले आदेश द्वारा जिला न्यायाधीश को मामला निर्देशित कर दिया। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 340(1) के निबन्धनों के अनुसार कोई आदेश नहीं किया गया है। शिकायत करने से पूर्व विद्वान् मजिस्ट्रेट ने ऐसा कोई निष्कर्ष अभिलिखित नहीं किया है कि उसकी यह राय है कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि पिटीशनर के विरुद्ध न्यायिक अभिलेख को बिगाड़ने के कारण भारतीय दण्ड संहिता की धारा 465, 466 के अधीन किए गए अपराध के लिए जांच की जाए। ऐसे निष्कर्ष के अभाव में शिकायत का किया जाना दूषित हो गया है। **बृजमोहन लाल बनाम सोहन राज**[1] (उपरोक्त) वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया था :—

> "संहिता की धारा 476 की भाषा से पता चलता है कि शिकायत करने से पूर्व न्यायालय को यह निष्कर्ष अभिलिखित करना होता है कि धारा 195 की उपधारा (1) के खण्ड (ख) और (ग) में निर्दिष्ट कोई अपराध उस न्यायालय की कार्यवाहियों के प्रति किया गया है और ऐसे अपराध की जांच की जानी चाहिए। उपरोक्त

---

[1] 1962 आर० एल० डब्ल्यू० 442.

निष्कर्ष का अभिलिखित किया जाना शिकायत करने के लिए एक पूर्वापेक्षा है। पहले निष्कर्ण निकाले जाते हैं और शिकायत बाद में की जाती है। जैसा कि पहले कहा गया है, वर्तमान मामले में विद्वान् सेशन न्यायाधीश ने 9 जून, 1960 को आदेश पारित किए थे और उसके द्वारा शिकायत 24 अगस्त, 1960 को तैयार की गई थी और उसे 22 सितम्बर, 1960 को जिला मजिस्ट्रेट के न्यायालय को अग्रेषित कर दिया गया था। इसलिए परिवाद में किए गए इस कथन का लाभ कि यह न्याय के हित में है कि परिवाद फाइल किया जाना चाहिए, विरोधी पक्षकार नहीं उठा सकता, जबकि विद्वान् सेशन न्यायाधीश इसे अपने दिनांक 9 जून, 1960 वाले आदेश में अभिलिखित करने में असफल रहा।"

उस मामले में जोधपुर के सेशन न्यायाधीश के उस आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण आवेदन दिया गया था, जिसमें उसने यह निदेश दिया था कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 209, 467 और 471 के अधीन किए गए अपराधों के लिए पुनरीक्षण अपीलार्थियों के विरुद्ध परिवाद फाइल किया जाए। परन्तु जैसा कि पुरानी दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 476 में अनुध्यात है, निष्कर्ष अभिलिखित नहीं किए गए थे और उपरोक्त मत व्यक्त किए गए थे। दोनों पुनरीक्षण पिटीशनों को मंजूर कर लिया गया था। सेशन न्यायाधीश के परिवाद करने के लिए दिए गए आदेश को अपास्त कर दिया गया और यह आदेश दिया गया कि जिला मजिस्ट्रेट के न्यायालय में फाइल किए गए परिवाद को वापस लिया जाना चाहिए। उपरोक्त आन्ध्र प्रदेश वाले मामले में भी यही दृष्टिकोण अपनाया गया था।

6. यह कहा जा सकता है कि जहां तक वर्तमान मामले का सम्बन्ध है परिवाद तक में इस बात का उल्लेख नहीं है कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि अभिकथित अपराधों के किए जाने के सम्बन्ध में जांच की जानी चाहिए। मेरी राय में मामले के इन तथ्यों की दृष्टि से यह आवेदन मंजूर किए जाने योग्य है और परिवाद किए जाने की कार्यवाहियां अपास्त किए जाने योग्य हैं।

7. इसी के अनुसार आवेदन मंजूर किया जाता है। परिवाद और मामले के पंजीकरण से संबंधित कार्यवाहियों को अपास्त किया जाता है और यह आदेश दिया जाता है कि परिवाद बापस ले लिया जाए।

आवेदन मंजूर किया गया।

खन्ना/ब्रह्म

नि० प० 1984 : राजस्थान —174

अब्दुल गफ्फार बनाम एस० टी० ए० टी० और अन्य

(Abdul Gaffar *Vs.* S. T. A. T. and others)

तारीख 3 अक्तूबर, 1983

[न्या० एस० के० लोढ़ा और कान्ता कुमारी भटनागर]

मोटर यान अधिनियम, 1939—धारा 48—प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण परमिट अनुदत्त करते समय विनिर्दिष्ट वर्णन की मंजिली गाड़ी सेवा के लिए अथवा विशिष्ट मंजली गाड़ियों के लिए परमिट दे सकता है और यह शर्त लगा सकता है कि उस यान या यानों का उपयोग किसी विनिर्दिष्ट क्षेत्र में ही या विनिर्दिष्ट मार्ग या मार्गों पर ही किया जाएगा—अगर परमिटधारी उस विनिर्दिष्ट गाड़ी को विनिर्दिष्ट मार्ग पर चलाने में किसी कारणवश असमर्थ है तो उसे प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण से अनुमति लेनी होगी—यह उपबंध आज्ञापक है ।

राजस्थान मोटर यान नियमावली, 1951—नियम 86—यान का रजिस्ट्रीकरण मार्क परमिट पर लिखना होता है और अगर उस समय परमिटधारी के पास रजिस्ट्रीकृत यान नहीं है तो उसे एक माह के भीतर या उस अवधि के भीतर जो विहित की जाए प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण को आवेदन देना होगा कि अमुक रजिस्ट्रीकरण मार्क की परमिट में प्रविष्टि कर दी जाए—अगर परमिटधारी विहित अवधि के भीतर ऐसा करने में असफल रहता है तो वह परमिट प्रतिसहृत हो जाता है और प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण को उस समयावधि को बढ़ाने की अधिकारिता नहीं होती है ।

इन अपीलों में अपीलार्थी को इस अलंघनीय शर्त के साथ परमिट जारी किए गए कि अगर उनके द्वारा परमिट जारी किए जाने के 60 दिन के भीतर विहित माडल का यान मार्ग पर नहीं चलाया जाएगा तो परमिट प्रतिसंहृत हो जाएगा । अपीलार्थी समयावधि के भीतर ऐसा करने में असफल रहा । उसने समयावधि को बढ़ाने के लिए आवेदन दिया तथा यह आवेदन भी दिया कि उसे विहित माडल से भिन्न यान को मार्ग पर चलाने की अनुमति दी जाए । उसे अनुमति दे दी गई और परमिट जारी कर दिया गया । इस आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण फाइल किए जाने पर यह दलील दी गई कि प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण ने अलंघनीय आदेश पारित किया था, इसलिए इस अवधि के अवसान के पश्चात् उसे उस प्रतिसंहृत परमिट को फिर से जारी करने की अधिकारिता नहीं रह जाती है । इन अपीलों में विचारार्थ

मुद्दा यह है कि (1) क्या प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण ऐसा अलंघनीय आदेश पारित कर सकता है, (2) क्या ऐसा आदेश विधिमान्य है और (3) क्या आदेश पारित किए जाने के समय लगाई गई अलंघनीय शर्त के परिणाम-स्वरूप नियम 86 (ख) के अधीन परमिट अपने आप प्रतिसंहृत हो गया था ?

अभिनिर्धारित—अपीलें खारिज की गई ।

ऐसा कोई कारण नहीं है कि प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण ऐसा अलंघनीय आदेश पारित नहीं कर सकता कि अनुदत्त की गई अवधि के भीतर यान को मार्ग पर नहीं लगाया जाता तो परमिट प्रतिसंहृत हो जाएगा । अलंघनीय आदेश सिविल कार्यवाहियों में पारित किए जाते हैं, जिनमें सिविल प्रक्रिया संहिता लागू होती है और ऐसे कोई उपबंध नहीं है जिनमें अभिव्यक्त रूप से ऐसे आदेश पारित करने से प्रतिषेध किया गया हो । कोई प्रतिषेध भी नहीं है । नियम 86(क) के परिशीलन से यह पता चलता है कि जिस व्यक्ति को परमिट अनुदत्त किया जाता है उसे मंजूरी के एक माह के भीतर या उतनी अवधि के भीतर जो प्राधिकारी विनिर्दिष्ट करे, यान को मार्ग पर लगाना होता है । जब तक कि नियम 86 ख) के अधीन परमिट प्रतिसंहृत न हो गया हो तब तक प्रा० प० प्रा० नियम 86(क) के अधीन अनुज्ञात की गई अवधि बढ़ा सकता है । इसका तात्पर्य यह है कि अगर यान समय के भीतर मार्ग पर नहीं चलाया जाता है तो प्रा० प० प्रा० नियमों के नियम 86(ख) के अधीन परमिट प्रतिसंहृत कर सकता है । आवेदक को परमिट अनुज्ञात करते समय प्रा० प० प्रा० अलंघनीय आदेश पारित कर सकता है और ऐसा आदेश वैध है और इससे जो आवश्यक परिणाम निकलते हैं वे यह हैं कि आवेदक के पक्ष में अनुदत्त किया गया परमिट नियम 86(ख) के अधीन प्रतिसंहृत हो गया था । प्रा० प० प्रा० की अलघनीय शर्त अधिरोपित करने की अधिकारिता थी और जब उसने विनिर्दिष्ट रूप से यह उल्लेख किया है कि अलंघनीय शर्त का पालन करने में असफल रहने पर समयावधि की समाप्ति पर अनुदत्त किया गया परमिट अपने आप प्रतिसंहृत हो जाएगा तो उसे समय बढ़ाने की शक्ति नहीं है क्योंकि समयावधि की समाप्ति पर परमिट प्रतिसंहृत हो गया था और यह पद कार्य-निवृत हो गया था । अलंघनीय आदेश पारित करने के पश्चात् अगर प्रा० प० प्रा० समयावधि बढ़ा देता है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि उसने अपने आदेश का पुनर्विलोकन किया है । अधिनियम के अधीन प्राधिकारी को अपने आदेश के पुनर्विलोकन की कोई शक्ति प्रदत्त नहीं की गई है । यहां पर यह उल्लेख कर दिया जाए कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश, XLVII, नियम 1 में अधिकथित शर्तों की पूर्ति के लिए सिविल न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता

के अधीन अपने आदेश का पुनर्विलोकन कर सकता है। किसी कार्य को करने के लिए न्यायालय द्वारा नियत या अनुदत्त समयावधि को, जो किसी कार्य को करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता में विहित या अनुज्ञात की गई है, बढ़ाने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 148 में विनिर्दिष्ट उपबंध किए गए हैं। इन परिस्थितियों में विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह ठीक ही अभिनिर्धारित किया था कि प्रा० प० प्रा० को यह अधिकार नहीं है कि अलंघनीय आदेश के कारण परमिट के प्रतिसंहृत हो जाने के पश्चात् समयावधि को बढ़ाए।

		पैरा
[1966]	1966 की एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 480 जिसका विनिश्चय 6 दिसम्बर, 1966 को किया गया : शिव ओंकार **बनाम** आर० टी० ए०, बीकानेर और अन्य (Shao Onkar *Vs.* R. T. A., Bikaner and others)	6
	का **अवलम्ब** लिया गया।	
[1970]	1970 डब्ल्यू० एल० एन० 45 : शकुन्तला देवी **बनाम** टी० ए० टी०, जयपुर और अन्य (Shakuntala Devi *Vs.* The T. A. T., Jaipur and others);	7
[1970]	1970 डब्ल्यू० एल० एन० 200 : जगन्नाथ सिंह **बनाम** आर० टी० ए० (Jagannath Singh *Vs.* R. T. A.);	7
[1961]	ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 882 : महन्त राम दास **बनाम** गंगा दास (Mehant Ram Das *Vs.* Ganga Das);	8
[1958]	आई० एल० आर० 1958 राजस्थान 27 : जयहिन्द को-आपरेटिव ट्रांसपोर्ट सोसाइटी लि०, जयपुर **बनाम** ए० प्राधिकारी, राजस्थान, जयपुर (Jai Hind Co-operative Transport Society Ltd. Jaipur *Vs.* A. Authority, Rajasthan, Jaipur)	6
	निर्दिष्ट किए गए।	

सिविल अपीली अधिकारिता : 1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 470, 471 और 592.

एकल न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... सर्वश्री बी० एस० माहेश्वरी और एम० सी० भंडारी

(1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 470 और 471 में 1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 592 में) ... श्री आर० आर० व्वया

प्रत्यर्थी सं० 3 की ओर से ... श्री आर० आर० व्वया

1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 470 और 471 में 1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 592 में ... श्री एन० सी० भाटी उप-सरकारी अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्या० एस० के० मल लोढ़ा ने दिया ।

न्या० लोढ़ा :

इन अपीलों में सामान्य प्रश्न अन्तर्वलित हैं। उनकी एक साथ सुनवाई की गई थी और हमने यह उचित समझा कि उन्हें एक ही निर्णय द्वारा निपटा दिया जाए ।

तथ्य :

1982 की खण्ड न्यायपीठ की विशेष सिविल अपील सं० 470-471 : ये दो अपीलें विद्वान् एकल न्यायाधीश के 3 मई, 1982 के उस आदेश के विरुद्ध निदेशित हैं जिसके द्वारा उसने प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा फाइल की गई एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 46 और 29 को स्वीकार कर लिया था ।

उदयपुर क्षेत्र में बल्लभ नगर से भडेसर नामक एक मार्ग है। इस मार्ग पर दो वापिसी सेवाओं के लिए तीन परमिट दिए जाने थे। वहां पर दो परमिट दिए जाने थे और इसलिए प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण, उदयपुर (जिसे इसमें इसके पश्चात् प्रा० प० प्रा० कहा गया है) ने अन्-अस्थायी (स्थायी) परमिट

के अधीन अपने आदेश का पुनर्विलोकन कर सकता है। किसी कार्य को करने के लिए न्यायालय द्वारा नियत या अनुदत्त समयावधि को, जो किसी कार्य को करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता में विहित या अनुज्ञात की गई है, बढ़ाने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 148 में विनिर्दिष्ट उपबंध किए गए हैं। इन परिस्थितियों में विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह ठीक ही अभिनिर्धारित किया था कि प्रा० प० प्रा० को यह अधिकार नहीं है कि अलंघनीय आदेश के कारण परमिट के प्रतिसंहृत हो जाने के पश्चात् समयावधि को बढ़ाए।

पैरा

[1966] 1966 की एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 480 जिसका विनिश्चय 6 दिसम्बर, 1966 को किया गया : शिव ओंकार **बनाम** आर० टी० ए०, बीकानेर और अन्य (Shao Onkar *Vs.* R. T. A., Bikaner and others) — 6

का **अवलम्ब** लिया गया।

[1970] 1970 डब्ल्यू० एल० एन० 45 : शकुन्तला देवी **बनाम** टी० ए० टी०, जयपुर और अन्य (Shakuntala Devi *Vs.* The T. A. T., Jaipur and others); — 7

[1970] 1970 डब्ल्यू० एल० एन० 200 : जगन्नाथ सिंह **बनाम** आर० टी० ए० (Jagannath Singh *Vs.* R. T. A.); — 7

[1961] ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 882 : महन्त राम दास **बनाम** गंगा दास (Mehant Ram Das *Vs.* Ganga Das); — 8

[1958] आई० एल० आर० 1958 राजस्थान 27 : जयहिन्द को-आपरेटिव ट्रांसपोर्ट सोसाइटी लि०, जयपुर **बनाम** ए० प्राधिकारी, राजस्थान, जयपुर (Jai Hind Co-operative Transport Society Ltd. Jaipur *Vs.* A. Authority, Rajasthan, Jaipur) — 6

निर्दिष्ट किए गए।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 470, 471 और 592.

एकल न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... सर्वश्री बी० एस० माहेश्वरी और एम० सी० भंडारी
(1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 470 और 471 में 1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 592 में) ... श्री आर० आर० व्वया

प्रत्यर्थी सं० 3 की ओर से ... श्री आर० आर० व्वया
1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 470 और 471 में
1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 592 में ... श्री एन० सी० भाटी उप-सरकारी अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्या० एस० के० मल लोढ़ा ने दिया।

न्या० लोढ़ा :

इन अपीलों में सामान्य प्रश्न अन्तर्वलित हैं। उनकी एक साथ सुनवाई की गई थी और हमने यह उचित समझा कि उन्हें एक ही निर्णय द्वारा निपटा दिया जाए।

तथ्य :

1982 की खण्ड न्यायपीठ की विशेष सिविल अपील सं० 470-471 : ये दो अपीलें विद्वान् एकल न्यायाधीश के 3 मई, 1982 के उस आदेश के विरुद्ध निदेशित हैं जिसके द्वारा उसने प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा फाइल की गई एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 46 और 29 को स्वीकार कर लिया था।

उदयपुर क्षेत्र में बल्लभ नगर से भडेसर नामक एक मार्ग है। इस मार्ग पर दो वापिसी सेवाओं के लिए तीन परमिट दिए जाने थे। वहां पर दो परमिट दिए जाने थे और इसलिए प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण, उदयपुर (जिसे इसमें इसके पश्चात् प्रा० प० प्रा० कहा गया है) ने अन्-अस्थायी (स्थायी) परमिट

जारी करने के लिए आवेदन आमन्त्रित किए। प्रत्यर्थी सं० 3 रिट पिटीशनों में पिटीशनर था और अपीलार्थी अब्दुल गफ्फार ने, जो 1982 की रिट पिटीशन सं० 29 और 1982 की एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 46 में गैर-पिटीशनर सं० 3 था, इस मार्ग के लिए अन्-अस्थायी परमिट जारी करने के लिए आवेदन दिया। आवेदक ने, प्रत्यर्थी सं० 3 और 11 अन्य ने भी प्रा० प० प्रा० को आवेदन दिए। प्रा० प० प्रा० ने अपनी बैठक में, जो 11/12 दिसम्बर, 1980 में हुई थी, इन आवेदनों पर विचार किया। प्रा० प० प्रा० ने आवेदक (1) राम लाल और (2) अब्दुल गफ्फार अपीलार्थी को दो परमिट जारी करने का विनिश्चय किया। प्रा० प० प्रा० द्वारा अब्दुल गफ्फार के हक में अन्-अस्थायी परमिट जारी करने के सम्बन्ध में पारित संकल्प में यह अनिवार्य शर्त सम्मिलित हो गई थी कि वह इस मार्ग पर यान स० आर० जे० आर० 6755 को, यान के सम्बन्ध में करों की अदायगी का प्रमाण-पत्र उपस्थित करने पर, छह माह के भीतर चलाएगा। इस यान के सम्बन्ध में लम्बित किसी विभागीय चालान के भुगतान के लिए भी इसे प्रमाण-पत्र प्राप्त करना होगा। संकल्प में यह भी उल्लेख किया गया था कि शर्त के अनुपालन में असफल रहने की दशा में परमिट अपने आप प्रतिसंहृत हो जाएगा। अब्दुल गफ्फार (अपीलार्थी) ने 7 फरवरी, 1981 को प्रा० प० प्रा० को एक आवेदन दिया जिसमें उसने अपने यान सं० आर० जे० आर० 6755 को मार्ग पर चलाने के लिए एक माह की समयावधि बढ़ाने के लिए प्रार्थना की। इससे पहले कि प्रा० प० प्रा० द्वारा उस आवेदन का निपटारा किया जाता, उसने 9 मार्च, 1981 को एक और आवेदन दिया। इसमें उसने यह कहा कि अन्-अस्थायी परमिट के अंतर्गत यान सं० आर० जे० आर० 6755 भदसोरा निम्बशोरा मार्ग पर चल रहा था और उसने सी० पी० ओ० 9089 संख्या वाला एक और यान खरीद लिया है और वह उसे उस मार्ग पर चलाना चाहता है और उस मार्ग के लिए यान सं० सी० पी० ओ० 9089 के लिए उसके हक में परमिट जारी कर दिया जाए। सचिव, प्रा० प० प्रा० ने 24 मार्च, 1981 को एक परिपत्र-नोट तैयार किया जिसमें उसने अनुमोदनार्थ यह प्रस्ताव रखा कि यान सं० आर० जे० आर० 6755 के बजाए यान संख्या आर० आर० वाई० 383 के लिए अब्दुल गफ्फार को परमिट दिया जाए और परमिट प्राप्त करने के लिए एक माह का समय बढ़ा दिया जाए। उपरोक्त प्रस्ताव का अनुमोदन करते हुए प्रा० प० प्रा० ने 2 अप्रैल, 1981 को उस नोट पर एक आदेश पारित किया। प्रत्यर्थी सं० 3, लालचन्द ने राज्य परिवहन अपील

प्राधिकरण (जिसे इसमें इसके पश्चात् रा० प० अ० प्रा० कहा गया है) के समक्ष प्रा० प० प्रा० के तारीख 11/12 दिसम्बर, 1980 के उस संकल्प के विरुद्ध अपील फाइल की जिसमें अब्दुल गफ्फार को परमिट दिए जाने का आदेश पारित किया गया था। जब अपील लम्बित थी प्रा० प० प्रा० ने 2 अप्रैल, 1981 वाला आदेश पारित किया। प्रत्यर्थी सं० 3, लालचन्द ने यह कथन किया है कि प्रा० प० प्रा० द्वारा 2 अप्रैल, 1981 को पारित आदेश को वह रा० प० अ० अधि० की जानकारी में लाया है। रा० प० अ० अधि० ने अपने 12 अक्तूबर, 1981 वाले आदेश द्वारा अपील खारिज कर दी। प्रत्यर्थी सं० 3, लालचन्द ने 1982 की एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 29 फाइल की जिसमें उसने रा० प० अ० अधि० के 12 अक्तूबर, 1981 वाले आदेश की वैधता को चुनौती दी थी। प्रत्यर्थी सं० 3 ने एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 46/82 फाइल की जिसमें उसने प्रा० प० प्रा० के 2 अप्रैल, 1981 को पारित आदेश को यह कहते हुए चुनौती दी कि वह समझता है कि रा० प० अ० अधि० ने इसको विधिमान्यता के सम्बन्ध में अभिव्यक्त रूप से कोई आदेश पारित नहीं किया है। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने दिनांक 3 मई, 1982 वाले अपने आदेश द्वारा दोनों रिट पिटशनों को स्वीकार कर लिया और प्रा० प० प्रा० द्वारा 2 अप्रैल, 1981 को पारित आदेश को और अब्दुल गफार के हक में जारी किए गए परमिट को अपास्त कर दिया। उसने यह निदेश दिया कि रा० प० अ० अधि० प्रत्यर्थी सं० 3, लालचन्द की इस आधार पर की गई अपील की सुनवाई करेगा कि प्रा० प० प्रा० के 11/12 दिसम्बर, 1980 के संकल्प के अनुसरण में अब्दुल गफ्फार को जारी किया गया परमिट उपरोक्त संकल्प में उपबन्धित 60 दिनों के अवसान पर प्रतिसंहृत हो गया है। इससे व्यथित होकर अपीलार्थी अब्दुल गफ्फार ने जैसा कि पहले कहा गया है, ये दो अपीलें फाइल की हैं।

1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 592.

यह अपील विद्वान् एकल न्यायाधीश के तारीख एक मार्च, 1982 के उस आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है जिसके द्वारा संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अपीलार्थी द्वारा फाइल किए गए पिटीशन को खारिज कर दिया गया था। प्रा० प० प्रा० ने 13 जून, 1979 को रानी-बाली-डसौरी मार्ग के लिए एक अन्-अस्थायी मंजिली गाड़ी का परमिट मंजूर किया। उसमें एक यह शर्त लगा दी गई कि अगर परमिट जारी करने के 60 दिनों के भीतर विहित माडल का यान न चलाया गया तो पिटीशनरों के हक में अनुदत्त परमिट प्रतिसंहृत हो

जाएगा । चूंकि वह शर्तों को पूरा करने में असफल रहा था इसलिए अपीलार्थी के हक में दिए जाने वाला परमिट उसके अनुदत्त किए जाने के पश्चात् 60 दिन की अवधि के अवसान के पश्चात् अपने आप ही प्रतिसंहृत हो गया था । 16 अगस्त, 1979 को अपीलार्थी ने यान सं० आर० जे० जेड० 9261 के सम्बन्ध में परमिट प्राप्त करने के लिए एक आवेदन दिया । यह आवेदन 60 दिन की अवधि के पश्चात् दिया गया था । आवेदक को परमिट अनुदत्त नहीं किया गया था क्योंकि परमिट प्राप्त करने के लिए उसके द्वारा पेश किया गया यान विहित माडल का नहीं था । अपीलार्थी ने एक वर्ष तक कोई कार्रवाई नहीं की । तथापि उसने 23 सितम्बर, 1980 को सचिव, प्रा० प० प्रा० जोधपुर को देरी की माफी के लिए तथा आवेदक को यान सं० आर० जे० वाई० 4583 के लिए परमिट जारी करने के लिए आवेदन दिया । प्रा० प० प्रा० ने 30 दिन के भीतर 500 रुपये जुर्माना अदा करने पर समझौता कर लिया और यह निदेश दिया कि उसे परमिट जारी कर दिया जाए । प्रा० प० प्रा० के इस आदेश के विरुद्ध रामलाल ने, जो कि उस समय उस मार्ग पर यान चला रहा था, रा० प० अ० अधि० के समक्ष एक पुनरीक्षण फाइल किया । इस पुनरीक्षण को रा० प० अ० अधि० ने 12 दिसम्बर, 1980 को इस आधार पर स्वीकार कर लिया कि चूंकि आवेदक के हक में अनुदत्त किया गया परमिट उसे दिए जाने के साठ दिन की अवधि के अवसान के कारण प्रतिसंहृत हो गया है इसलिए प्रा० प० प्रा० को देरी माफ करने तथा उसके पश्चात् किसी भी समय पर पिटीशनर को परमिट प्राप्त करने की अनुज्ञा देने की अधिकारिता नहीं थी । आवेदक ने 1981 की एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 308 यह प्रार्थना करते हुए फाइल की कि रा० प० अ० अधि० का 12 अक्तूबर, 1980 वाला आदेश, जिसके द्वारा उसने क्षे० प० प्रा० के 26 सितम्बर, 1980 के आदेश को अपास्त कर दिया था, अभिखंडित कर दिया जाए । रिट पिटीशन का विरोध किया गया । विद्वान् एकल न्यायाधीश ने दिनांक एक मार्च वाले अपने आदेश द्वारा रिट पिटीशन को खारिज कर दिया । आवेदक ने विशेष अपील फाइल की है ।

3. 1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 470 और 471 में अपीलार्थी अब्दुल गफ्फार के विद्वान् काउन्सेल श्री बी० एल० माहेश्वरी ने दो दलीलें दी हैं—(1) क्षे० प० प्रा० दिनांक 11/12 दिसम्बर, 1980 वाले अपने संकल्प में किसी अलंघनीय आदेश को पारित करने के लिए सशक्त नहीं था इसलिए प्रा० प० प्रा० द्वारा अपने प्रश्नगत संकल्प द्वारा अलंघनीय शर्त लगाना बिना किसी अधिकारिता के है और महत्त्वहीन है, और

(2) कि अब्दुल गफ्फार द्वारा समय बढ़ाने के लिए तारीख 7 फरवरी, 1981 को दिया गया आवेदन प्रा० प० प्रा० द्वारा अलंघनीय आदेश में नियत की गई 60 दिन की अवधि के अवसान से पूर्व था। केवल इसलिए कि प्रा० प० प्रा० ने उपर्युक्त आवेदन पर आवश्यक आदेश 60 दिन के भीतर नहीं किए थे, इससे अब्दुल गफ्फार द्वारा 60 दिन की आवश्यक समयावधि को बढ़वाने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, यह निवेदन किया गया था कि प्रा० प० प्रा० समयावधि बढ़ाने और देरी माफ करने के लिए सक्षम था और विद्वान् एकल न्यायाधीश का यह निष्कर्ष गलत है कि अनुदत्त परमिट नियत अवधि के अवसान पर अपने आप प्रतिसंहृत हो गया था और प्रा० प० प्रा० को न तो देरी की माफी की या परमिट प्राप्त करने की समयावधि बढ़ाने की अधिकारिता थी। 1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 592 में अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री आर० आर० व्यास ने यह निवेदन किया कि विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा यह अभिनिर्धारित करना सही और न्यायोचित नहीं था कि प्रा० प० प्रा० को विलम्ब के लिए माफी देने की इस अलंघनीय शर्त के चालू होते हुए भी कि समयावधि के अवसान के पश्चात् परमिट अपने आप प्रतिसंहृत हो जाएगा, अधिकारिता नहीं थी। हमने पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेलों की दलीलों को सुना है।

4. सबसे पहले हम विधि के सुसंगत भाग पर विचार करेंगे।

5. मोटरयान अधिनियम (1939 का अधिनियम सं० IV) (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 48 मंजिली गाड़ियों के लिए परमिट दिए जाने के सम्बन्ध में है। धारा 48 का सुसंगत भाग इस प्रकार है :—

"48 मंजिली गाड़ी परमिटों का दिया जाना :

(1) ... ...

(2) ... ...

(3) यदि प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण यह विनिश्चय करता है कि मंजिली गाड़ी परमिट दिया जाए तो वह विनिर्दिष्ट वर्णन की मंजिली गाड़ी सेवा के लिए अथवा एक या अधिक विशिष्ट मंजिली गाड़ियों के लिए परमिट दे सकेगा, तथा ऐसे किन्हीं नियमों के अधीन रहते हुए, जो इस अधिनियम के अधीन बनाए जाएं, परमिट पर निम्नलिखित शर्तों में से कोई एक या अधिक लगा सकेगा :—

(1) यान या यानों का उपयोग किसी विनिर्दिष्ट क्षेत्र में ही या विनिर्दिष्ट मार्ग या मार्गों पर ही किया जाएगा;

... ..."

राजस्थान मोटर-यान नियम, 1951 (संक्षेप में जिसे 'नियम' कहा गया है) का नियम 86 इस प्रकार है :—

*"86. परमिट पर रजिस्ट्रीकरण मार्क का लिखा जाना—

(क) अस्थायी परमिट की दशा के सिवाय अगर यान के रजिस्ट्रीकरण मार्क को परमिट पर लिखा जाना है और आवेदन दिए जाने की तारीख को आवेदक के कब्जे में रजिस्ट्रीकृत यान नहीं है तो प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण द्वारा आवेदन की मंजूरी के एक माह के भीतर या प्राधिकरण द्वारा विहित अवधि में इस प्राधिकारी के सम्मुख रजिस्ट्रीकरण का प्रमाण-पत्र इस प्रयोजन के लिए प्रस्तुत करेगा कि रजिस्ट्रीकरण मार्क की विशिष्टियां परमिट में प्रविष्ट कर ली जाएं।

(ख) यदि परमिट के फार्म में विहित किया गया है तो कोई भी परमिट तब तक जारी नहीं किया जाएगा जब तक कि उसमें उस यान का, जिसके सम्बन्ध में वह है, रजिस्ट्रीकरण मार्क उसमें नहीं लिखा

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"86. Permit-entry of registration mark on—

(a) Save in the case of a temporary permit, if the registration mark of the vehicle is to be entered on the permit and the applicant is not at the date of application in possession of the vehicle duly registered, the applicant shall within one month of the sanction of the application by the Regional Transport Authority, or such longer period as the authority may specify. produce the certificate of registration of the vehicle before that authority in order that particulars of the registration mark may be entered in the permit.

(b) No permit shall be issued until the registration mark of the vehicle to which it relates has, if the form of permit so requires, been entered therein and in the event of

जाता है। ऐसी दशा में जब आवेदक विहित अवधि के भीतर उसे पेश करने में असफल रहता है तो प्रादेशिक परिवहन प्राधिकारी आवेदन के स्वीकार किए जाने को प्रतिसंहृत कर सकता है।"

6. **शिव ओंकार** वनाम **आर० टी० ए० बीकानेर और अन्य**[1] वाले मामले में न्या० जगत नारायण, जैसे कि वे तब थे, द्वारा नियमों के नियम 86(ख) पर विचार किया था। उनके द्वारा निम्नानुसार मत व्यक्त किया गया था :—

"मोटर यान अधिनियम की धारा 48 के अधीन परमिट अनुदत्त करते समय नियम 86(क) के अधीन स्वाभाविक रूप से वह समय विहित करते हुए आदेश पारित किया जाएगा जिसके भीतर यान कार्य करने लगेगा। ऐसा कोई कारण नहीं है कि क्षेत्रीय परिवहन प्राधिकारी उस समय ऐसा आदेश पारित नहीं कर सकता कि अगर विहित अवधि के भीतर यान कार्य नहीं करने लगेगा तो परमिट प्रतिसंहृत हो जाएगा।" (जोर देने के लिए रेखांकन किया गया है)

विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि **जय हिन्द कोआपरेटिव ट्रांसपोर्ट सोसाइटी लिमिटेड, जयपुर** बनाम **अपील प्राधिकारी, राजस्थान, जयपुर** वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि इस प्रकृति का अलंघनीय आदेश, जो कि मामले में पारित किया गया है, अविधिमान्य है। **शिव ओंकार वाले मामले में**[1] यह दलील दी गई थी कि प्रा० प० प्रा० द्वारा 12 अक्तूबर, 1963 को किए गए आदेश के अधीन आवेदक के हक में अनुदत्त किया गया परमिट इस शर्त के अध्यधीन था कि उस समय रा० प० अ० अधि० द्वारा विहित माडल के यान को 45 दिन के भीतर कार्य पर लगाना होगा। ऐसा करने में असफल रहने पर यह समझा जाएगा कि परमिट अपने आप रद्द हो गया है। क्योंकि 45 दिन की अवधि के अवसान से पूर्व न तो समयावधि बढ़ाने

---

any applicant failing to produce within the prescribed period, the Regional Transport Authority may revoke its sanction of the application."

---

[1] 1966 की एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 480 जिसका विनिश्चय 6 दिसम्बर, 1966 को किया गया।

[2] आई० एल० आर० (1958) VIII राजस्थान 27.

के लिए कोई आदेश पारित किया गया था और न ही कोई यान कार्य पर लगाया गया था इसलिए नियमों के नियम 86(ख) के अधीन परमिट प्रतिसंहृत हो गया है। परमिट के प्रतिसंहरण के पश्चात् प्रा० प० प्रा० के हाथ से मामला निकल गया है और उसे किसी यान को कार्य पर लगाने की समयावधि को बढ़ाने की अधिकारिता नहीं थी। विद्वान् न्यायाधीश ने निम्नलिखित शब्दों में अपना मत अभिव्यक्त किया :—

> "यद्यपि समयावधि बढ़ाने के लिए 26 नवम्बर, 1963 को आवेदन दिया गया था, तथापि 12 अक्तूबर, 1963 वाले आदेश में दी गई समयावधि पर रोक आदेश पर कोई आदेश पारित नहीं किए गए थे। 27 नवम्बर, 1963 को परमिट प्रतिसंहृत हो गया था और परमिट के प्रतिसंहरण के सम्बन्ध में उसके द्वारा किए गए आदेश का पुनर्विलोकन प्रादेशिक परिवहन प्राधिकरण द्वारा नहीं किया जा सकता था।"

यह नोट करना महत्त्वपूर्ण है कि विद्वान् न्यायाधीश का अवश्य ही यह मत था कि इस अधिनियम के अधीन की कार्यवाहियों को सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 148 लागू नहीं होती है।

7. इससे पहले मु० न्या० जगत नारायण और न्या० एल० एन० छंगानी से मिलकर गठित खण्ड न्यायपीठ के समक्ष **शकुन्तला देवी** बनाम **टी० ए० टी०, जयपुर और अन्य**[1] वाले मामले में यह प्रश्न उद्भूत हुआ था कि क्या प्रा० प० प्रा० द्वारा समयावधि बढ़ाने के सम्बन्ध में किया गया आदेश अवैध था क्योंकि अलंघनीय आदेश पारित करने के पश्चात् यह पद कार्य-निवृत्त हो गया था और इसलिए यह उस आदेश में दिए गए समय से परे समयावधि नहीं बढ़ा सकता है। उस मामले में प्रा० प० प्रा० ने 30 दिन का समय दिया था। परमिट मार्च के महीने में अनुदत्त किया गया था। अपीलार्थी नियमों के नियम 86 के अधीन 31 दिन के समय के लिए हकदार था। इस आशय का एक अलंघनीय आदेश पारित किया गया था कि दी गई समयावधि के अवसान के पश्चात् अगर यान मार्ग पर नहीं लगाया जाता तो परमिट रद्द हो जाएगा। 2 अप्रैल, 1969 को आवेदक ने प्रा० प० प्रा० को समयावधि बढ़ाने के लिए आवेदन दिया था और समय बढ़ा दिया गया था। **शिव ओंकार वाले मामले में**[2] अपनाए गए दृष्टिकोण का अनुसरण किया गया था।

---

1 1970 डब्ल्यू० एल० एन० 45.

2 1966 की एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 480 जिसका विनिश्चय 6 दिसम्बर, 1966 को किया गया।

8. **जगन्नाथ सिंह** बनाम **आर० टी० ए०**[1] वाले मामले में परमिट में अधिकथित शर्त यह थी कि उस व्यक्ति को, जिसके पक्ष में परमिट अनुदत्त किया गया था, संकल्प पारित करने के दिन से 60 दिन की समयावधि के भीतर अपेक्षित माडल का यान पेश करना चाहिए। इसमें असफल रहने पर परमिट अपने आप रद्द हो जाएगा। उपर्युक्त अवधि के दौरान वह किसी यान को मार्ग पर लगाने में असफल रहा और लगाई गई शर्त के परिणामस्वरूप 15 नवम्बर, 1968 को उसका परमिट रद्द हो गया। यान को मार्ग पर लगाने की समयावधि को बढ़ाने के लिए एक आवेदन दिया गया। प्रा० प० प्रा० ने 18 दिसम्बर, 1968 वाले आदेश द्वारा समय बढ़ा दिया गया। प्रा० प० प्रा० के आदेश की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी गई कि जब एक बार 15 नवम्बर, 1968 को परमिट रद्द हो गया था तो इसे यान को मार्ग पर लगाने की समयावधि को बढ़ाने की अधिकारिता नहीं थी। रिट पिटीशन मंजूर कर लिया गया था। विद्वान् न्यायाधीश ने **शिव ओंकार के मामले**[2] और **श्रीमती शकुन्तला देवी वाले मामले**[3] पर विचार किया। नियमों के नियम 86 विचार करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया गया था कि (1) अलंघनीय आदेश प्रा० प० प्रा० द्वारा पारित किए जा सकते थे, (2) ऐसा आदेश विधिमान्य है और (3) आदेश पारित किए जाने के समय लगाई गई अलंघनीय शर्त के परिणामस्वरूप नियम 86(ख) के अधीन परमिट अपने आप परिसंहृत हो गया है। अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने बलपूर्वक यह कहा कि इस न्यायालय के उपरोक्त तीनों विनिश्चयों में अपनाए गए दृष्टिकोण पर फिर से विचार करने की आवश्यकता है। 1982 की विशेष अपील संख्या 470 और 471 में अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री बी० एल० माहेश्वरी ने **महंत रामदास** बनाम **गंगा दास वाले मामले**[4] का अवलम्ब लेते हुए यह दलील दी कि इस तथ्य के होते हुए जोकि यह अलंघनीय शर्त अधिरोपित की गई थी कि इसके द्वारा नियत की गई अवधि के भीतर यान को मार्ग पर लगा दिया जाएगा, और यह कि उस अवधि के अवसान के पश्चात् अनुदत्त किया गया परमिट अपने आप प्रतिसंहृत हो जाएगा, प्रा० प० प्रा० को समयावधि बढ़ाने की शक्ति है और यह दृष्टिकोण

---

[1] 1970 डब्ल्यू० एल० एन० 200.

[2] 1966 की एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 480 जिसका विनिश्चय 6 दिसम्बर, 1966 को किया गया।

[3] 1970 डब्ल्यू० एल० एन० 45.

[4] ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 882.

कि ऐसी परिस्थितियों में प्रा० प० प्रा० परमिट अनुदत्त करने वाले आदेश में नियत की गई समयावधि के अवसान के पश्चात् समयावधि नहीं बढ़ा सकता है, नियमों के नियम 86 के अनुसार विधिक रूप से गलत है। हम यहां बता दें कि इस न्यायालय के उपरोक्त प्रत्येक विनिश्चय में **महन्त राम दास के मामले**[1] पर विचार किया गया था और प्रभेद किया गया था। उस मामले में उच्च न्यायालय ने एक अलंघनीय आदेश पारित किया था जिसमें लगाई गई कम न्यायालय फीस के संदाय के लिए समयावधि नियत की गई थी और इससे पूर्व कि वह समयावधि समाप्त होती, समयावधि को बढ़ाने के लिए आवेदन दे दिया गया था। विनिर्दिष्ट समयावधि की समाप्ति के पश्चात् ही वह आवेदन न्यायालय के समक्ष सुनवाई के लिए आया। उच्च न्यायालय ने इस आधार पर समयावधि बढ़ाने से इनकार कर दिया कि अपील खारिज हो गई है क्योंकि नियत समय के भीतर रकम जमा नहीं कराई गई थी। उच्चतम न्यायालय में माननीय न्यायाधीशों के सम्मुख यह प्रश्न उद्भूत हुआ कि क्या उच्च न्यायालय को समय बढ़ाने की शक्ति नहीं थी यद्यपि इसने न्यायालय-फीस की कमी के सम्बन्ध में अपरिवर्तनीय समय निर्धारित कर दिया था। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उच्च न्यायालय पर समय बढ़ाने की शक्ति रहित नहीं था जो उसने अपरिवर्तनीय रूप में नियत की थी। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 148 का, जो जब मूल रूप से निर्धारित अवधि का अवसान हो चुका हो समय बढ़ाने के सम्बन्ध में है, अवलम्ब लिया गया। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 149 की भी सहायता ली गई। इस प्रकार मत व्यक्त किया गया था :—

> "यह कितना अवांछनीय है कि भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में अपरिवर्तनीय अवधि नियत की जाए, जो न्यायालय को इस बीच होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में विचार करने से शक्तिहीन बना देती है। इस अपील में इस पर विचार करना आवश्यक नहीं है। बहुधा ये आदेश काफी असमीचीन बन जाते हैं। ऐसे प्रक्रियात्मक आदेश, चाहे वे अलंघनीय ही क्यों न हों (सशर्त डिक्रियों के अतिरिक्त) सारतः ऐसे हैं जो कि चेतावनी के रूप में है, जिससे कि मुकदमेबाज सही रूप से कार्य करें और विलम्ब को परिवर्जित कर दें। तथापि वे न्यायालय को इस बात से विबन्धित नहीं

---

[1] ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 882.

करते हैं कि वह उन घटनाओं और परिस्थितियों पर विचार न करें जो नियत समय के भीतर घटित होती हैं ।"

ऊपर वर्णित मताभिव्यक्तियों से यह पता चलता है कि उच्चतम न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों को ऐसे आदेशों की विधिमान्यता के सम्बन्ध में कोई शक नहीं है और उन्हें ऐसे आदेश के पारित किए जाने की आवश्यकता के सम्बन्ध में कुछ शक है। विद्वान् एकल न्यायाधीश के सम्मुख **महन्त राम दास वाले मामले**[1] का भी हवाला दिया गया था। हमारा मत यह है कि विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा यह अभिनिर्धारित करना ठीक था कि उपरोक्त मामले में अधिकथित सिद्धांत वर्तमान मामले को लागू नहीं होते हैं क्योंकि ऐसा कोई कारण नहीं है कि प्रा० प० प्रा० ऐसा अलंघनीय आदेश पारित नहीं कर सकता कि अनुदत्त की गई अवधि के भीतर यान को मार्ग पर नहीं लगाया जाता तो परमिट प्रतिसंहृत हो जाएगा। अलंघनीय आदेश सिविल कार्यवाहियों में पारित किए जाते हैं, जिनमें सिविल प्रक्रिया संहिता लागू होती है और ऐसे कोई उपबंध नहीं हैं जिनमें अभिव्यक्त रूप से ऐसे आदेश पारित करने से प्रतिषेध किया गया हो। कोई प्रतिषेध भी नहीं है। नियम 86(क) के परिशीलन से यह पता चलता है कि जिस व्यक्ति को परमिट अनुदत्त किया जाता है, उसे मंजूरी के एक माह के भीतर या उतनी अवधि के भीतर जो प्राधिकारी विनिर्दिष्ट करे, यान को मार्ग पर लगाना होता है। जब तक कि नियम 86(ख) के अधीन परमिट प्रतिसंहृत न हो गया हो तब तक प्रा० प० प्रा० नियम 86(क) के अधीन अनुज्ञात की गई अवधि बढ़ा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि अगर यान समय के भीतर मार्ग पर नहीं चलाया जाता है तो प्रा० प० प्रा० नियमों के नियम 86(ख) के अधीन परमिट प्रतिसंहृत कर सकता है। अधिनियम की धारा 46 और नियमों के नियम 86(क) और 86(ख) में प्रयोग की गई भाषा की दृष्टि से हम **श्रीमती शकुन्तला देवी वाले मामले**[2] और **जगन्नाथ सिंह वाले मामले**[3] से सहमत हैं। क्योंकि आवेदक को परमिट अनुज्ञात करते समय प्रा० प० प्रा० अलंघनीय आदेश पारित कर सकता है और ऐसा आदेश वैध है, और इससे जो आवश्यक परिणाम निकलते हैं वे यह हैं कि आवेदक के पक्ष में अनुदत्त किया गया परमिट नियम 86(ख) के अधीन प्रतिसंहृत हो गया था। इस न्यायालय के उपरोक्त निर्णय पर फिर से विचार

---

1 ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 882.

2 1970 डब्ल्यू० एल० एन० 45.

3 1970 डब्ल्यू० एल० एन० 200.

करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे विचार से प्रा० प० प्रा० को अलंघनीय शर्त अधिरोपित करने की अधिकारिता थी और जब उसने विनिर्दिष्ट रूप से यह उल्लेख किया कि अलंघनीय शर्त का पालन करने में असफल रहने पर समयावधि की समाप्ति पर अनुदत्त किया गया परमिट अपने आप प्रतिसंहृत हो जाएगा। उसे समय बढ़ाने की शक्ति नहीं है क्योंकि समयावधि की समाप्ति पर परमिट प्रतिसंहृत हो गया था और यह पदकार्य-निवृत्त हो गया था। हम **शिव ओंकार वाले मामले**[1] और **जगन्नाथ वाले मामले**[2] में दिया गया एक और कारण भी देखते हैं। अलंघनीय आदेश पारित करने के पश्चात् अगर प्रा० प० प्रा० समयावधि बढ़ा देता है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि उसने अपने आदेश का पुनर्विलोकन किया है। अधिनियम के अधीन प्राधिकारी को अपने आदेश के पुनर्विलोकन करने की कोई शक्ति प्रदत्त नहीं की गई है। यहां पर यह उल्लेख कर दिया जाए कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश XLVII, नियम 1 में अधिकथित शर्तों की पूर्ति के लिए सिविल न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन अपने आदेश का पुनर्विलोकन कर सकता है। किसी कार्य को करने के लिए न्यायालय द्वारा नियत या अनुदत्त समयावधि को, जो कि किसी कार्य के करने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता में विहित या अनुज्ञात की गई है, बढ़ाने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 148 में विनिर्दिष्ट उपबंध किए गए हैं। इन परिस्थितियों में विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह ठीक ही अभिनिर्धारित किया था कि प्रा० प० प्रा० को यह अधिकार नहीं है कि अलंघनीय आदेश के कारण परमिट के प्रतिसंहृत हो जाने के पश्चात् समयावधि को बढ़ाए।

9. इन अपीलों में हमारे द्वारा विचार किए जाने के लिए कोई और प्रश्न नहीं रह जाता है।

10. ऊपर किए गए विचार-विमर्श का परिणाम यह है कि परमिट अनुदत्त किए जाने के समय प्रा० प० प्रा० ऐसा अलंघनीय आदेश पारित कर सकता है कि अगर अनुदत्त किए गए समय के भीतर यान को मार्ग पर नहीं चलाया जाता है तो परमिट प्रतिसंहृत हो जाएगा और जब एक वार ऐसा आदेश पारित कर दिया जाता है तो अलंघनीय आदेश में मूल रूप से नियत किए गए समय की समाप्ति पर समय बढ़ाने के प्रयोजन के लिए प्रा० प० प्रा० पदकार्य-निवृत्त हो जाता है। इसलिए विद्वान् एकल न्यायपीठ ने सिविल रिट

---

[1] 1966 की एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 480 जिसका विनिश्चय 6 दिसम्बर, 1966 को किया गया।

[2] 1970 डब्ल्यू० एल० एन० 200.

पिटीशन संख्या 46/82 और 29/82 को ठीक ही स्वीकार किया था। 3 मई, 1982 को किए गए आदेश के सम्बन्ध में कोई विधिक अपवाद नहीं है। इसलिए विद्वान् एकल न्यायाधीश ने एकल न्यायपीठ रिट पिटीशन संख्या 308/81 को, जिससे खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 592/80 उद्भूत हुई थी, ठीक ही खारिज किया था।

11. हमें इन अपीलों में कोई बल प्रतीत नहीं होता है इसलिए उन्हें खारिज किया जाता है।

12. मामले की इन परिस्थितियों में, पक्षकार अपने-अपने खर्चे स्वयं वहन करेंगे।

अपीलें खारिज की गईं।

खन्ना[1] मि०

न० प० 1984 : राजस्थान—189

दौला राम और अन्य बनाम राजस्थान राज्य

(Daula Ram and others *Vs.* The State of Rajasthan)

तारीख 20 अक्तूबर, 1983

[न्या० के० एस० लोढ़ा]

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 167(2) का परन्तुक सपठित धारा 170—धारा 167 का संबंध अन्वेषण के दौरान अभियुक्त व्यक्ति के निरोध से है, अत: यदि अन्वेषण विहित अवधि के भीतर पूरा हो जाएगा तो जमानत प्रदान किए जाने के संबंध में इस धारा का परन्तुक लागू नहीं होगा—धारा 170 की अपेक्षाओं के अनुसार आरोप पत्र के प्रस्तुत किए जाते ही अन्वेषण समाप्त हो जाएगा बशर्ते कि मजिस्ट्रेट ने और आगे अन्वेषण का निदेश न दिया हो।

पिटीशनरों के विरुद्ध मामला यह है कि उन्होंने एक और व्यक्ति के साथ मिलकर मृतक को घातक हथियारों से पीटा जिसके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो गई। पिटीशनर 2 फरवरी, 1983 को गिरफ्तार किए गए थे। उनमें एक फरार हो गया और 30 अप्रैल, 1983 को चालान फाइल किए जाने तक

जाएगा। चूंकि वह शर्तों को पूरा करने में असफल रहा था इसलिए अपीलार्थी के हक में दिए जाने वाला परमिट उसके अनुदत्त किए जाने के पश्चात् 60 दिन की अवधि के अवसान के पश्चात् अपने आप ही प्रतिसंहृत हो गया था। 16 अगस्त, 1979 को अपीलार्थी ने यान सं० आर० जे० जेड० 9261 के सम्बन्ध में परमिट प्राप्त करने के लिए एक आवेदन दिया। यह आवेदन 60 दिन की अवधि के पश्चात् दिया गया था। आवेदक को परमिट अनुदत्त नहीं किया गया था क्योंकि परमिट प्राप्त करने के लिए उसके द्वारा पेश किया गया यान विहित माडल का नहीं था। अपीलार्थी ने एक वर्ष तक कोई कार्रवाई नहीं की। तथापि उसने 23 सितम्बर, 1980 को सचिव, प्रा० प० प्रा० जोधपुर को देरी की माफी के लिए तथा आवेदक को यान सं० आर० जे० वाई० 4583 के लिए परमिट जारी करने के लिए आवेदन दिया। प्रा० प० प्रा० ने 30 दिन के भीतर 500 रुपये जुर्माना अदा करने पर समझौता कर लिया और यह निदेश दिया कि उसे परमिट जारी कर दिया जाए। प्रा० प० प्रा० के इस आदेश के विरुद्ध रामलाल ने, जो कि उस समय उस मार्ग पर यान चला रहा था, रा० प० अ० अधि० के समक्ष एक पुनरीक्षण फाइल किया। इस पुनरीक्षण को रा० प० अ० अधि० ने 12 दिसम्बर, 1980 को इस आधार पर स्वीकार कर लिया कि चूंकि आवेदक के हक में अनुदत्त किया गया परमिट उसे दिए जाने के साठ दिन की अवधि के अवसान के कारण प्रतिसंहृत हो गया है इसलिए प्रा० प० प्रा० को देरी माफ करने तथा उसके पश्चात् किसी भी समय पर पिटीशनर को परमिट प्राप्त करने की अनुज्ञा देने की अधिकारिता नहीं थी। आवेदक ने 1981 की एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 308 यह प्रार्थना करते हुए फाइल की कि रा० प० अ० अधि० का 12 अक्तूबर, 1980 वाला आदेश, जिसके द्वारा उसने क्षे० प० प्रा० के 26 सितम्बर, 1980 के आदेश को अपास्त कर दिया था, अभिखंडित कर दिया जाए। रिट पिटीशन का विरोध किया गया। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने दिनांक एक मार्च वाले अपने आदेश द्वारा रिट पिटीशन को खारिज कर दिया। आवेदक ने विशेष अपील फाइल की है।

3. 1982 की खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 470 और 471 में अपीलार्थी अब्दुल गफ्फार के विद्वान् काउन्सेल श्री बी० एल० माहेश्वरी ने दो दलीलें दी हैं—(1) क्षे० प० प्रा० दिनांक 11/12 दिसम्बर, 1980 वाले अपने संकल्प में किसी अलंघनीय आदेश को पारित करने के लिए सशक्त नहीं था इसलिए प्रा० प० प्रा० द्वारा अपने प्रश्नगत संकल्प द्वारा अलंघनीय शर्त लगाना बिना किसी अधिकारिता के है और महत्त्वहीन है, और

पिटीशन संख्या 46/82 और 29/82 को ठीक ही स्वीकार किया था । 3 मई, 1982 को किए गए आदेश के सम्बन्ध में कोई विधिक अपवाद नहीं है । इस लिए विद्वान् एकल न्यायाधीश ने एकल न्यायपीठ रिट पिटीशन संख्या 308/81 को, जिससे खण्ड न्यायपीठ विशेष सिविल अपील सं० 592/80 उद्भूत हुई थी, ठीक ही खारिज किया था ।

11. हमें इन अपीलों में कोई बल प्रतीत नहीं होता है इसलिए उन्हें खारिज किया जाता है ।

12. मामले की इन परिस्थितियों में, पक्षकार अपने-अपने खर्चे स्वयं वहन करेंगे ।

अपीलें खारिज की गईं ।

खन्ना[1] मि०

न० प० 1984 : राजस्थान—189

दौला राम और अन्य बनाम राजस्थान राज्य

(Daula Ram and others *Vs*. The State of Rajasthan)

तारीख 20 अक्तूबर, 1983

[न्या० के० एस० लोढ़ा]

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)—धारा 167(2) का परन्तुक सपठित धारा 170—धारा 167 का संबंध अन्वेषण के दौरान अभियुक्त व्यक्ति के निरोध से है, अतः यदि अन्वेषण विहित अवधि के भीतर पूरा हो जाएगा तो जमानत प्रदान किए जाने के संबंध में इस धारा का परन्तुक लागू नहीं होगा—धारा 170 की अपेक्षाओं के अनुसार आरोप पत्र के प्रस्तुत किए जाते ही अन्वेषण समाप्त हो जाएगा बशर्ते कि मजिस्ट्रेट ने और आगे अन्वेषण का निदेश न दिया हो ।

पिटीशनरों के विरुद्ध मामला यह है कि उन्होंने एक और व्यक्ति के साथ मिलकर मृतक को घातक हथियारों से पीटा जिसके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो गई । पिटीशनर 2 फरवरी, 1983 को गिरफ्तार किए गए थे । उनमें एक फरार हो गया और 30 अप्रैल, 1983 को चालान फाइल किए जाने तक

गिरफ्तार नहीं किया जा सका। 30 अप्रैल, 1983 को न्यायिक मजिस्ट्रेट सं० 1 छुट्टी पर था। अतः सम्पर्क मजिस्ट्रेट ने मामला दर्ज करके तथा यह भी निदेश देते हुए, कि मामला 12 मई, 1983 को संबधित मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत किया जाए, एक आदेश पारित कर दिया था। पिटशनरों ने सम्पर्क मजिस्ट्रेट के समक्ष जमानत के लिए आवेदन किया परन्तु उसने इस आधार पर जमानत लेने से इंकार कर दिया कि मामला अनन्य रूप से सेशन न्यायालय द्वारा विचारणीय था। उनका आवेदन अपर सेशन न्यायाधीश के समक्ष भी असफल हो गया। अतः पिटीशनरों ने जमानत के लिए उच्च न्यायालय के समक्ष आवेदन किया है।

पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल ने न्यायालय के समक्ष के तर्क प्रस्तुत किए : (i) पिटीशनरों के विरुद्ध मामला एक ऐसा मामला है जो अपने गुणागुण के आधार पर भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन नहीं आएगा क्योंकि किसी भी पिटीशनर के बारे में यह कथन नहीं किया गया है कि उसने घातक प्रहार किया था। जिस व्यक्ति ने घातक प्रहार किया था वह अभी तक फरार है, (ii) पिटीशनरों की गिरफ्तारी के 90 दिन के भीतर न तो पूरा चालान फाइल किया गया था और न ही उस अवधि के भीतर मामले का संज्ञान किया गया था अतः वे दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन जमानत पर छोड़े जाने के हकदार हैं।

अतः इस मामले में न्यायालय के विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या 30 अप्रैल 1983 को पिटीशनरों के विरुद्ध चालान फाइल किए जाने तक अन्वेषण की कार्यवाही पूरी हो चुकी थी ?

अभिनिर्धारित—जमानत का आवेदन खारिज किया गया।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 167 में एक ऐसे प्रक्रम की परिकल्पना की गई है जब संदिग्ध व्यक्ति गिरफ्तार कर लिया जाता है और अन्वेषण की कार्यवाही विहित अवधि के भीतर पूरी नहीं की जाती। धारा 170 की अपेक्षाओं के अनुसार आरोप-पत्र के प्रस्तुत किए जाते ही अन्वेषण समाप्त हो जाएगा बशर्ते कि मजिस्ट्रेट ने और आगे अन्वेषण का निदेश न दिया हो। इस मामले में किसी ने भी यह कथन नहीं किया है है कि 30 अप्रैल, 1983 को चालान फाइल कर दिए जाने के बाद मजिस्ट्रेट ने और आगे अन्वेषण किए जाने का आदेश दिया था, अतः यह माना जाना चाहिए कि अन्वेषण 30 अप्रैल, 1983 तक, अर्थात् अभियुक्त व्यक्तियों की गिरफ्तारी से 90 दिन के भीतर पूरा कर लिया गया था। इन परिस्थितियों

में अभियुक्त पिटीशनर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन जमानत का फायदा उठाने का दावा नहीं कर सकते। (पैरा 7)

		पैरा
[1983]	1983 क्रि० ला० ज० 839 : उत्तर प्रदेश राज्य **बनाम** लक्ष्मी ब्राह्मण (State of U. P. *Vs.* Lakshmi Brahman);	7
[1979]	1979 क्रि० ला० ज० 1503 : बांदी **बनाम** राज्य (Bandi *Vs.* State);	9
[1979]	1979 क्रि० ला० ज० : नोट्स आन केसेज-155 : पुलन्दर सिंह **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य Pulandar Singh *Vs.* State of Madhya Pradesh) का **अवलम्ब** लिया गया।	9
[1976]	1976 क्रि० ला० ज० 572 : वी० आर० हरगंगोंदर **बनाम** वी० पी० अंगदी (V. R. Hargangondar *Vs.* *Vs.* P. Angadi) से **प्रभेद** बताया गया।	7
[1982]	1982 राज०क्रि० केसेज 145 : बेनी माधव **बनाम** राजस्थान राज्य (Beni Madhava *Vs.* The State of Rajasthan);	7
[1976]	1976 क्रि० ला० ज० 1247 : टी० वी० शर्मा **बनाम** तुर्गाकमला देवी (T.V. Sharma *Vs.* Turgakamala Davi);	7
[1966]	ए० आई० आर० 1966 आंध्र प्रदेश 377 : बांदी कोटैया **बनाम** राज्य (Bandi Kotayya *Vs.* State);	7
[1964]	ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1541 : जमना सिंह **बनाम** भदै शाह (Jamana Singh *Vs.* Bhadai Shah);	7
[1961]	ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 986 : गोपाल दास **बनाम** असम राज्य (Gopal Das *Vs.* State of Assam);	7

[1954] ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 700 : पुरुषोत्तम बनाम कच्छ राज्य Bring have matten fuv next pory (Purshottam *Vs.* State of Kutch); 7

[1951] ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 207 : आर० आर० चारी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (R. R. Chari *Vs.* State of U. P.); 7

[1950] ए० आई० आर० 1950 इलाहाबाद 626 : आर० आर० चारी बनाम राज्य (R.R. Chari *Vs.* State) निर्दिष्ट किए गए। 7

आरंभिक दाण्डिक अधिकारिता : एकल न्यायपीठ के समक्ष प्रकीर्ण जमानत-आवेदन सं० 635/83.

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 439 के अधीन जमानत के लिए आवेदन।

पिटीशनरों की ओर से ... सर्व श्री बी० आर० पुरोहित, श्री भगवती प्रसाद

राज्य की ओर से ... श्री आर० पी० दवे, लोक अभियोजक

न्या० के० एस० लोढ़ा :

जिन पांच पिटीशनरों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 302, 147, 148 और 149 के अधीन एक मामला विचारण के लिए सुपुर्द किया गया है उन्होंने जमानत के लिए आवेदन किया है। इन पिटीशनरों के विरुद्ध मामला यह है कि उन्होंने शिवकरण सिंह नामक एक व्यक्ति के साथ मिलकर मृतक बीरबल राम को घेर लिया तथा उसकी घातक हथियारों से पिटाई की जिसके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो गई। ये पिटीशनर 2 फरवरी, 1983 को गिरफ्तार किए गए थे। शिवकरण फरार बताया गया है। पुलिस ने अन्वेषण करके इन पिटीशनरों के विरुद्ध चालान 30 अप्रैल, 1983 को हनुमानगढ़ के न्यायिक मजिस्ट्रेट सं० 1 के न्यायालय में प्रस्तुत किया था। उस दिन वह मजिस्ट्रेट छुट्टी पर था तथा संपर्क-मजिस्ट्रेट ने मामला दर्ज करके तथा यह भी निदेश देते हुए कि मामला 12 मई, 1983 को संबंधित मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा एक आदेश पारित किया था।

2. पिटीशनरों ने संपर्क-मजिस्ट्रेट के समक्ष जमानत के लिए आवेदन किया परन्तु उसने 9 जून, 1983 को जमानत लेने से इस आधार पर इन्कार कर दिया कि मामला अनन्य रूप से सेशन न्यायालय द्वारा विचारणीय था। उनका आवेदन 8 अगस्त, 1983 को विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश के समक्ष

44. अवधारणीय दूसरा प्रश्न यह है कि क्या वादी ने प्रतिकूल कब्जे के आधार पर स्वामित्व अर्जित कर लिया है अथवा नहीं । प्रतिवादी के काउन्सेल की दलील यह है कि वादी का सम्पत्ति पर कब्जा अनुज्ञाजन्य है ।

45. प्रतिवादी ने लिखित कथन में कहीं भी यह अभिवचन नहीं किया है कि विवादित संपत्ति या उसके किसी भाग पर वादी का कब्जा अनुज्ञाजन्य है या अनुज्ञप्तिधारी के कब्जे की प्रकृति का है । वादी सम्पत्ति के स्वामित्व और कब्जे का दावा स्वामी के रूप में अन्तरण के आधार पर और अनुकल्पतः प्रतिकूल कब्जे के अधार पर कर रहा है, जबकि प्रतिवादी सम्पत्ति पर वादी के हक का प्रत्याख्यान कर रहा है और स्वयं उस पर स्वामित्व तथा कब्जे का दावा कर रहा है ।

46. अब यदि कोई व्यक्ति ऐसे अन्तरण के आभास के आधार पर (जो अप्रवर्तनीय है) सम्पत्ति का कब्जा लेता है तो ऐसा कब्जा वास्तविक स्वामी के प्रतिकूल होता है । कारण यह है कि ऐसे मामलों में अन्तरिती को अन्तरण के आधार पर कोई हक प्राप्त नहीं होता और उसका कब्जा बिना हक के तथा वास्तविक स्वामी के हक के उल्लंघन में होता है । **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **डलहौजी इंस्टिट्यूट सोसाइटी**[1] में कतिपय सम्पत्ति सरकार द्वारा डलहौजी इंस्टिट्यूट को दी गई थी और डलहौजी इंस्टिट्यूट उस स्थल पर 60 वर्ष से अधिक तक खुले आम सतत निर्बाध कब्जा किए रहा । डलहौजी इंस्टिट्यूट को नगर निगम तथा सरकार दोनों ही स्वामी मानते रहे । बाद में विवाद उठा और यह पाया गया कि डलहौजी इंस्टिट्यूट का कब्जा ऐसी ग्रान्ट के आधार पर था, जो अविधिमान्य थी । इसका तात्पर्य यह था कि वस्तुतः डलहौजी इंस्टिट्यूट के पक्ष में कोई भी ग्रान्ट अस्तित्वशील नहीं थी । यह अभिनिर्धारित किया गया कि डलहौजी इंस्टिट्यूट का कब्जा प्रतिकूल कब्जा था और डलहौजी इंस्टिट्यूट ने सम्पत्ति पर हक अर्जित कर लिया था । कारण यह था कि डलहौजी इंस्टिट्यूट को सम्पत्ति पर कब्जा बनाए रखने का कोई विधिक हक नहीं था, किन्तु फिर भी वह सम्बद्ध भूमि पर अविधिमान्य ग्रान्ट के अधीन सतत और निर्बाध कब्जा बनाए रहा और उसने उस पर किसी प्रकार का कोई लगान भी नहीं दिया । चूंकि ऐसा कब्जा किसी विधिक हक से सम्बद्ध नहीं था, अतः वह उस समय से ही जब कब्जा अविधिमान्य ग्रान्ट के अधीन लिया गया था, भूमि के स्वामी सरकार के विधिक हक के प्रथमदृष्ट्या प्रतिकूल था । चूंकि कब्जा निर्बाध तथा खुले आम था,

1 ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 1778.

अतः डलहौजी इंस्टिट्यूट ने उस पर प्रतिकूल कब्जे के आधार पर हक अर्जित कर लिया ।

47. **कलक्टर आफ बम्बई** बनाम **म्युनिसिपल कारपोरेशन आफ सिटी आफ मुम्बई**[1] में इसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न हुई थी और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि किसी सम्पत्ति का अन्तरण किया जाए और बाद में यह पाया जाए कि अन्तरण अविधिमान्य था तो अन्तरिती प्रतिकूल कब्जे के आधार पर सम्पत्ति पर हक अर्जित कर सकता है ।

48. **मीर इकबाल हुसैन** बनाम **शंकर दयाल और अन्य**[2] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि यदि किसी व्यक्ति का किसी संपत्ति पर कब्जा हो और यह दर्शित करने के लिए कुछ भी न हो कि उस व्यक्ति या उसके पूर्वजों ने कभी भी वादी के हक को अभिस्वीकार किया हो और यह दर्शित करने के लिए भी कुछ न हो कि उस व्यक्ति का कब्जा कैसे हुआ तो कैसे व्यक्ति के संबंध में यह माना जाना चाहिए कि उसने प्रतिकूल कब्जे के आधार पर हक अर्जित कर लिया है । तथ्य ये थे कि वादी ताल्लुकदार और स्वत्वधारी था । उसने यह अभिकथन किया कि उसके पूर्वजों ने सीताराम नामक व्यक्ति को गांव के काश्तकारों के पुरोहित के रूप में नियुक्त किया था और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पोता मेंहदी लाल पुरोहित नियुक्त किया गया और संबद्ध भूमि पर निवास करता रहा । यह अभिकथन किया गया था कि प्रतिवादी बिना किसी अधिकार के संबद्ध गृह का अधिभोग करता रहा और उस भूमि पर जनसाधारण के उपयोग के लिए मन्दिर बनवा रहा था । वादी ने कब्जे की डिक्री की प्रार्थना की और अनुकल्पतः इस व्यादेश की भी प्रार्थना की कि प्रतिवादी सं० 1 को आदेश दिया जाए कि वह उस भूमि पर जन-साधारण के लिए पूजा-स्थल न बनवाए । प्रतिवादी ने वादी के दावे का विरोध किया । यह पाया गया कि प्रतिवादी का संपत्ति पर कब्जा था और यह दर्शित करने के लिए कुछ भी नहीं था कि प्रतिवादी या उसके पूर्वजों ने कभी भी वादी के हक को अभिस्वीकार किया था । यह भी साबित नहीं किया गया था कि प्रतिवादी का कब्जा संबद्ध संपत्ति पर कैसे हुआ था । ऐसी परिस्थितियों में यह अभिनिर्धारित किया गया कि प्रतिवादी ने प्रतिकूल कब्जे के आधार पर हक अर्जित कर लिया था ।

---

[1] ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 469.

[2] ए० आई० आर० 1912 अवध 127.

49. प्रतिवादी के विद्वान् काउन्सेल ने निम्नलिखित निर्णयों का अवलंब लिया है। **ईजास अली किदवई और अन्य** बनाम **स्पेशल मैनेजर कोर्ट आफ वार्ड्स, बलरामपुर**[1] में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जो अपने हक के लिए प्रतिकूल कब्जे को आधार बनाता है वह स्पष्ट और असंदिग्ध साक्ष्य द्वारा यह दर्शित करे कि उसका कब्जा वास्तविक स्वामी के विरुद्ध था और दावाकृत संपत्ति पर उसके हक के प्रत्याख्यान स्वरूप था।

रंगू लाल राम बनाम **मदनलाल और अन्य**[2] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि उस दशा में कब्जा प्रतिकूल नहीं हो सकता यदि वह किसी विधिपूर्ण हक से संबद्ध हो और गृह कर आदि का संदाय मात्र प्रतिकूल कब्जा साबित करने के लिए पर्याप्त नहीं होता। इसमें यह भी अधिकथित किया गया है कि विधि की दृष्टि में कब्जा भौतिक अधिभोग और कब्जाधीन विषय-वस्तु को अन्य व्यक्तियों को अपवर्जित करते हुए धारित करने के मानसिक कब्जे के आधार पर होता है और मात्र ऐसा उपयोग जो स्वामी के हक में हस्तक्षेप न करता हो और उससे संगत हो, प्रतिकूल कब्जा साबित करने के लिए पर्याप्त नहीं होता।

कोदोथ अंबुनायर बनाम **सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया**[3] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि कोई अनुज्ञप्तिधारी कब्जे के आधार पर, चाहे वह कितना भी दीर्घ हो तब तक हक का दावा नहीं कर सकता, जब तक यह न साबित कर दिया जाए कि कब्जा अनुज्ञापक की जानकारी में और उसकी उपमति से प्रतिकूल रहा है।

भूपेन्द्र नारायण सिन्हा बहादुर बनाम **राजेश्वर प्रसाद भगत और अन्य**[4] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की संपत्ति का कब्जा सदोष रूप में अधिकार के आभास के बिना अतिचार के रूप में ले लेता है तो उसे जो भी हक प्रतिकूल कब्जे के आधार पर अर्जित होगा, वह उस हक तक ही सीमित होगा, जो वस्तुतः उसका था।

स्टेट आफ ट्रावनकोर बनाम **अर्बिन्दन कुंजुपणिकर और अन्य**[5] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि अनुज्ञाजन्य कब्जा प्रतिकूल कब्जे में तब तक परिवर्तित नहीं हो सकता जब तक कि यह न साबित कर दिया जाए कि

---

1 ए० आई० आर० 1935 प्रिवी कौंसिल 53.

2 ए० आई० आर० 1951 उड़ीसा 183.

3 ए० आई० आर० 1924 प्रिवी कौंसिल 150.

4 ए० आर० 1931 प्रिवी कौंसिल 162.

5 ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 996.

कब्जाधारी व्यक्ति संबद्ध संपत्ति पर प्रतिकूल हक का प्राख्यान वास्तविक स्वामी की जानकारी में 12 वर्ष या उससे अधिक अवधि तक करता रहा है। इस मामले में, संपत्ति का कब्जा तारवाड़ के काश्तकार का था और यह अभिनिर्धारित किया गया कि ऐसे व्यक्ति का कब्जा, जिसका उसके द्वारा उधार दी गई रकम के लिए संपत्ति पर मात्र धारणाधिकार था, प्रतीकात्मक था और केवल अनुज्ञाजन्य कब्जा हो सकता था। यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि उस व्यक्ति के अधिकार का पश्चात्वर्ती क्रेता उससे बेहतर हक नहीं पा सकता था, जो उस व्यक्ति का था। माननीय न्यायमूर्तियों ने अभिनिर्धारित किया कि यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य के अभाव में कि वह व्यक्ति या उसके हक उत्तराधिकारियों ने वाद संपत्ति के संबंध में प्रतिकूल हक का प्राख्यान वास्तविक स्वामियों की जानकारी में वाद से पूर्व किसी समय किया था, ऐसे कब्जे को प्रतिकूल कब्जा नहीं कहा जा सकता।

अंगतिवैंन्कटेश्वरलू बनाम **महारानी पेटा मिलिटरीमास**[1] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि प्रतिकूल कब्जाधारी को अपने हक का प्राख्यान खुले आम और वास्तविक स्वामी के हक के प्रतिकूल कम से कम 12 वर्ष की सतत अवधि तक करना चाहिए और मात्र कब्जे का साबित किया जाना पर्याप्त नहीं होता।

सूरज बलि बनाम **लाला महादेव प्रसाद**[2] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि कितने भी दीर्घकाल का मात्र कब्जा किसी हक की सृष्टि नहीं करता और जल और गृह कर का संदाय प्रतिकूल कब्जे का निश्चायक सबूत नहीं होता, क्योंकि इन करों का संदाय प्रत्येक अधिभोगी को करना होता है।

बेनी माधो प्रसाद और अन्य बनाम **रसक लाल अंबालाल और अन्य**[3] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि विधि-विरुद्ध कब्जे मात्र को प्रतिकूल कब्जा नहीं माना जा सकता और उस व्यक्ति को जो, प्रतिकूल कब्जे का दावा कर रहा है वास्तविक स्वामी के हक को अभिव्यक्ततः या विवक्षित रूप में इनकार करना होगा और अनन्य स्वामित्व का आशय भी होना चाहिए।

प्रेमेन्दु भूषण मंडल बनाम **श्रीपति रंजन चक्रवर्ती**[4] में यह अभिनिर्धारित

---

1 ए० आई० आर० 1972 आन्ध्र प्रदेश 132.

2 ए० आई० आर० 1932 अवध 46.

3 ए० आई० आर० 1959 मध्य प्रदेश 23.

4 ए० आई० आर० 1976 कलकत्ता 55.

किया गया कि यदि कोई अप्राधिकृत कब्जाधारी जो वास्तविक स्वामी के हक को स्वीकार करता है और ऐसा अतिचारी, जो हक का दावा नहीं करता, प्रतिकूल कब्जे का दावा नहीं कर सकता तथा वास्तविक स्वामी द्वारा कब्जे के लिए वाद में मात्र कब्जा चाहे वह कितना ही दीर्घकाल के लिए हो, विधिमान्य प्रतिरक्षा नहीं बन सकता।

50. विधि यह है कि प्रतिकूल कब्जे का दावा करने वाले व्यक्ति को यह साबित करना होता है कि उसका संबद्ध संपत्ति पर निर्बाध कब्जा वास्तविक स्वामी की जानकारी में रहा है और उसने वास्तविक स्वामी के हक का प्रत्याख्यान किया है और वास्तविक स्वामी को अपवर्जित करते हुए संबद्ध संपत्ति के स्वामित्व अधिकारों का स्वयं प्राख्यान किया है। अन्यथा चाहे कितना भी वर्षों का मात्र कब्जा प्रतिकूल कब्जा गठित नहीं कर सकता। कार्य करने वाले व्यक्ति के आशय को ध्यान में रखना चाहिए और उसका अभिनिश्चय प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के अनुसार किया जाना होता है। यदि किसी व्यक्ति का कब्जा विधिपूर्ण हक से संबद्ध किया जा सकता है तो वह प्रतिकूल नहीं हो सकता और यदि कोई व्यक्ति वास्तविक स्वामी की अनुज्ञा से कब्जे में आता है तो प्रतिकूल कब्जा उस समय प्रारंभ होगा जब वह वास्तविक स्वामी के हक का प्रत्याख्यान करे और प्रतिकूल कब्जे का दावा करे।

51. प्रस्तुत मामले में पक्षकारों के दस्तावेजों तथा अभिवाकों से यह साबित नहीं होता है कि वादी का कब्जा किसी भी प्रक्रम पर अनुज्ञाजन्य था। वादी ने अंतरण के आधार पर स्वामित्व का दावा किया है। किंतु यह बात साबित नहीं की जा सकी। वादी ने अनुकल्पतः यह दावा किया है कि उसका स्वामित्व प्रतिकूल कब्जे के आधार पर है।

52. वर्ष 1930-31 तथा 1950-51 तथा 1976-77 की जमाबंदियों में की गई प्रविष्टियां कब्जे के स्तंभ की बाबत स्पष्टतः गलत हैं। इन राजस्व अभिलेखों में कब्जा लोकनिर्माण विभाग के प्रान्तीय प्रभाग का दिखाया गया है, जबकि वस्तुतः विभिन्न भवनों तथा गैर-मुम्किन क्षेत्रों (खसरा सं० 194/1 से 194/42 में यथादर्शित) वादी का है। इस स्थिति का विरोध प्रतिवादी के काउन्सेल ने नहीं किया है। अतः कब्जे के संबंध में इन जमाबंदियों का अवलंब नहीं लिया जा सकता और इस सीमा तक जमाबंदियों की प्रविष्टियां गलत हैं।

53. प्रतिवादी के विद्वान् काउन्सेल ने यह भी दलील दी कि प्रतिकूल कब्जे का दावा करने के लिए वादी को संबद्ध भूमि के प्रत्येक भाग पर कब्जे

का दावा करना चाहिए और कब्जा वास्तविक कब्जा होना चाहिए। यह सही है कि अतिचारी का कब्जा वास्तविक कब्जे तक ही सीमित होता है—वह चाहे स्वयं अतिचारी का हो या किसी अन्य व्यक्ति की मार्फत हो। दोषी व्यक्ति उस भाग के इंच-इंच का कब्जा अर्जित करता है, जो वस्तुतः उसके अधिभोग में है। किंतु साथ ही यह सार्वदेशिक सिद्धांत नहीं है और समुचित मामलों में दोषी व्यक्ति या प्रतिकूल कब्जे का दावा करने वाला व्यक्ति यह साबित कर सकता है कि उसका आधिपत्य संबद्ध संपत्ति पर उसी रीति में रहा है, जिस रीति में ऐसा आधिपत्य सामान्यतः रहता है। जहां किसी अतिचारी की संपत्ति पर प्रविष्टि किसी त्रुटिपूर्ण अनुदान या हक के अधीन हो, वहां यह माना जाना चाहिए कि अतिचारी संपूर्ण संपत्ति पर कब्जा करना चाहता है न कि केवल उसके एक भाग पर, जिस पर उसका वास्तविक कब्जा सीधा कब्जा है।

54. अब प्रस्तुत मामले में इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि मूलतः एक ही खसरा सं० 194 था और वादी ने बिशप काटन स्कूल नामक विद्यालय चलाने के प्रयोजन के लिए इस खसरा संख्या के विभिन्न भागों पर भवन आदि का निर्माण किया। यह स्वीकार किया गया है कि स्कूल विगत लगभग 100 वर्षों से वर्तमान स्थल पर अस्तित्व में है। खसरा सं० 194 का रिक्त भाग गैर-मुम्किन अहाता के रूप में दिखाया गया है। वादी के काउन्सेल ने यह दलील दी कि यह गैर-मुम्किन अहाता वस्तुतः विद्यालय परिषद् का एक भाग है और इन क्षेत्रों का उपयोग खेल के मैदान, आंगन, आदि के रूप में किया जाता है। उसने यह भी दलील दी कि खसरा सं० 194 का क्षेत्र सीमा-स्तंभों द्वारा तथा कंटीले तारों के बाड़े एवं फाटकों द्वारा समेकित है। इन तथ्यों को साबित करने के लिए मौखिक साक्ष्य भी प्रस्तुत किया गया है। वादी के काउन्सेल की ओर से संपूर्ण खसरा सं० 194 वादी के प्रभावी नियंत्रण तथा अधिभोग में है और प्रतिवादी के साक्षियों ने भी यह स्वीकार किया है कि कोई भी खसरा सं० 194 के क्षेत्र में वादी की अनुज्ञा के बिना प्रवेश नहीं कर सकता। यह दलील दी गई है कि सीमा-स्तंभ वादी द्वारा निर्मित किए गए थे और कंटीले तारों का बाड़ा भी वादी द्वारा लगाया गया था।

55. **इकबाल हुसैन और अन्य** बनाम **नन्द किशोर और** अन्य[1] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि यदि किसी विनिर्दिष्ट संपत्ति पर कब्जे का साक्ष्य साबित हो जाता है तो यह आवश्यक नहीं है कि उससे संलग्न भूमि आदि के संबंध में कब्जे के निश्चित कार्य साबित किए जाएं। इस मामले में यह निष्कर्ष

---

[1] ए.आई० एल० आर० 24 इलाहाबाद 294.

था कि कोई व्यक्ति विशेष बगीचे पर काबिज था और यह अभिनिर्धारित किया गया कि बगीचे के कब्जे में बगीचे की दीवार और उस पर उगे वृक्षों का कब्जा भी शामिल था।

56. **रमजान और अन्य** बनाम **फकीर मोहम्मद और अन्य**[1] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि जहां कोई पक्षकार निश्चित सीमा वाली भूमि के भाग पर संपूर्ण का दावा करने वाले प्राख्यान के प्रयोग में काबिज है, तो ऐसा कब्जा संपूर्ण पर कब्जे का साक्ष्य है।

57. **हाफिज मोहम्मद फतेह नसीब** बनाम **सर स्वरूपचंद हुकमचंद**[2] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि संबद्ध भूमि के इंच-इंच पर वास्तविक भौतिक कब्जा आवश्यक नहीं होता। किन्तु इस बात पर विचार किया जाना चाहिए कि क्या कब्जे के कार्य; जो साबित किए गए हैं, न्यायसम्मत रूप में यह दर्शित करते हैं कि संबद्ध संपत्ति पर वादी का आधिपत्य ऐसी रीति में था, जिस रीति में ऐसा आधिपत्य सामान्यत; होता है। यह निर्णय **हाफिज मोहम्मद फतेह नशीब** वनाम **सर स्वरूपचन्द हुकमचन्द**[2] में प्रतिवेदित मामले से अपील में दिया गया था। उच्च न्यायालय के निर्णय में ब्यौरेवार तथ्य दिए गए हैं। यह अभिनिर्धारित किया गया कि भूमि के संहत (कम्बाइन्ड) क्षेत्र के संबंध में प्रतिकूल कब्जे की दिशा में, जिसका एक भाग काश्तकारों को दे दिया गया हो और एक भाग रिक्त पड़ा हो, वादी द्वारा इतना दर्शित किया जाना पर्याप्त होगा कि वह 12 वर्ष की या उससे अधिक की अवधि तक काश्तकारों की मार्फत काश्तकारी की भूमि को धारण करता रहा और काश्तकार उसे मालिक मानते रहे या ऐसे अनुज्ञप्तिधारी की मार्फत भूमि धारण करता रहा, जिसे उसने भूमि पर रहने की अनुज्ञा दे रखी थी और काश्तकारी की भूमि की बाबत उसने समय-समय पर यथोचित् रूप में अपने कब्जे का प्राख्यान किया। उदाहरण के लिए ऐसी भूमि की उपज को लेकर या उसे बेचकर। अधिकारवान् स्वामी द्वारा उसके कब्जे में हस्तक्षेप मात्र यह दर्शित करने के लिए पर्याप्त नहीं होगा कि उसे बेकब्जा कर दिया गया था, जब तक कि ऐसे हस्तक्षेप का परिणाम भूमि के किसी भाग से उसे निश्चित रूप से बेदखल करने वाला न हो। अपरंच, यह अभिनिर्धारित किया गया कि प्रतिकूल कब्जे के संबंध में यह दर्शित करने की आवश्यकता नहीं है कि वह स्वामी की जानकारी में लाया गया था। यह पर्याप्त होगा कि कब्जा

---

1 ए० आई० आर० 1925 सिन्ध 201.

2 ए० आई० आर० 1948 प्रिवी कौंसिल 76.

खुलेआम था और छिपाव का कोई प्रयास किए बिना था ताकि वह व्यक्ति जिसके विरुद्ध समय बीत रहा हो, उस दशा में यह जान जाए कि यदि वह सम्यक् सतर्कता बरते कि क्या हो रहा है।

58. इस प्रकार, यदि यह साबित कर दिया जाता है कि वादी का संपूर्ण संख्यांक 194 पर प्रभावी नियंत्रण था, तो उस दशा में वादी यह दावा कर सकता है कि संपूर्ण विवादित संपत्ति प्रतिकूल कब्जे के आधार पर उसकी थी और मात्र यह तथ्य कि संपत्ति का कुछ भाग रिक्त पड़ा है वादी को प्रतिकूल कब्जे के दावे से किसी भी प्रकार वंचित नहीं कर सकता।

59. वादी ने अक्स सजरा और संपूर्ण खसरा सं० 194 का नक्शा पेश किया है। इस नक्शे में वह भाग भी दर्शित किया गया है, जिस पर अतिक्रमण किया गया है। स्थानीय कमिश्नर की रिपोर्ट, प्रदर्श वादी 65 है और नक्शा प्रदर्श वादी 66 है। इसी प्रकार, अक्स ततिमा सजरा (प्रदर्श वादी 110 तथा प्रदर्श वादी 111) से यह साबित होता है कि खसरा सं० 194 के विभिन्न भाग विभिन्न स्थानों पर स्थित हैं और संपूर्ण खसरा सं० 194 अपने समेकित रूप में स्वामियों को परिनिश्चित करता है। अतः यह साबित हो जाता है कि खसरा सं० 194 विवादित भूमि की परिनिश्चित सीमा है और वह कांटेदार तारों के वाड़े से घिरी हुई है तथा उसके सीमा-स्तंभ भी हैं। विभिन्न खसरा संख्यांकों के बीच में प्रतिवादी की कोई भूमि नहीं है, जो मुख्य खसरा सं० 194 की भाग हो।

60. प्रतिवादी के काउंसेल की यह दलील कि वादी का कब्जा अनुज्ञाजन्य था और वह अनुज्ञप्तिधारी का कब्जा था, साबित नहीं होती और न ही उसके संबंध में लिखित कथन में अभिवाक् किया गया है। दूसरी ओर यह साबित हो जाता है कि वादी विद्यालय 1868 से अस्तित्व में रहा है और विद्यालय चलाने के लिए उसकी छात्रों और कर्मचारियों के निवास के लिए वादी द्वारा विद्यालय के अनेक भवन बनाए गए। सरकार ने प्रारंभिक प्रक्रमों पर वादी के अधिकारों को माना था और वादी को विद्यालय स्थापित करने में सहायता की थी। परिणाम यह हुआ कि वादी को सरकार द्वारा स्वामी माना जाता रहा। कुछ भी हो, वादी ने संबद्ध संपत्ति पर स्वामित्व अधिकारों का प्राख्यान किया है।

61. प्रतिवादी के काउंसेल द्वारा दी गई दूसरी दलील यह है कि वादी यह साबित करने में असफल रहा है कि प्रतिकूल कब्जा कब से आरंभ हुआ।

62. मैंने इस बात का पहले ही विवेचन किया है कि वस्तुतः वादी को स्वामी के रूप में कब्जा 1866 तथा 1868 के बीच में सरकार द्वारा दिया गया था और सरकार ने वादी द्वारा विद्यालय के स्थापन में हर प्रकार की सहायता दी। वस्तुतः उस तारीख से ही वादी स्वामित्व अधिकारों का प्राख्यान करता रहा (यद्यपि कि इस विचार के अनुसार कि संपत्ति सरकार द्वारा वादी को स्वामी के रूप में अंतरित कर दी गई है)। चूंकि वादी के पक्ष में कोई अंतरण स्थापित नहीं हुआ है और मौखिक अंतरण, यदि कोई हो, शून्य और अप्रभावी होता है अतः यह माना जाएगा कि वादी का कब्जा सन् 1868 से ही अब तक प्रतिकूल कब्जा रहा है, क्योंकि वादी शुरू से आखिर तक स्वामित्व अधिकारों का प्राख्यान करता रहा है और विवादित संपत्ति के संबंध में प्रतिवादी के हक का प्रत्याख्यान करता रहा है। वादी का आचरण शुरू से ही इस बात को पूर्णतः सावित कर देता है कि वादी ने स्वामित्व अधिकारों का प्राख्यान किया था और ये प्राख्यान प्रतिवादी की जानकारी में थे। इस प्रकार वादी विवादित भूमि का प्रतिकूल कब्जे के आधार पर स्वामी वन गया है। उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए विवाद्यक सं० 6 वादी के विरुद्ध और विवाद्यक सं० 7 वादी के पक्ष में विनिश्चित किया जाता है।

विवाद्यक सं० 8 :

63. प्रदर्श वादी 65 स्थानीय कमिश्नर (रामशरण कानूनगो) की रिपोर्ट है तथा प्रदर्श वादी 66 उसके द्वारा वनाया गया नक्शा है। स्थानीय कमिश्नर की नियुक्ति 28-8-1981 के आदेश द्वारा पक्षकारों के काउंसेलों की सम्मति से हुई थी और यह इस बात का पता लगाने के लिए हुई थी कि खसरा सं० 194 का क्षेत्रफल क्या है, जो सड़क में शामिल कर लिया गया है या उसके अन्दर आ गया है और पक्षकारों को यह निदेश दिया गया कि वे स्थानीय कमिश्नर के समक्ष पैमाइश के समय उपस्थित रहें। पक्षकार वस्तुतः 20-9-1981 को स्थानीय कमिश्नर के समक्ष उपस्थित हुए और पैमाइश उनकी उपस्थिति में की गई। स्थानीय कमिश्नर की रिपोर्ट (प्रदर्श वादी 65) के अनुसार यह पाया गया कि 9,052 वर्ग गज तथा 2 वर्ग फीट क्षेत्र खसरा 194 से सड़क में शामिल कर लिया गया है। पक्षकारों को रिपोर्ट का निरीक्षण करने के लिए तथा उसके प्रति आक्षेप करने के लिए 28-9-1981 के आदेश द्वारा समय दिया गया, किन्तु पक्षकारों ने कोई भी आक्षेप नहीं फाइल किया और इस प्रकार स्थानीय कमिश्नर की रिपोर्ट मानी जाती है, क्योंकि उसके अनुशीलन से ऐसा कोई कारण नहीं मिलता कि उसे न माना जाए। इस साक्ष्य का खंडन नहीं किया गया है। इस प्रकार यह अभिनिर्धारित किया जाता है

कि 9052 वर्ग गज तथा 2 वर्ग फीट क्षेत्र विवादित खसरा संख्यांक से सड़क के निर्माण में शामिल कर लिया गया है। इस प्रकार प्रतिवादी ने वादी के स्वामित्व का ऊपर वर्णित समय तक अतिक्रमण किया है।

विवाद्यक सं० 9 :

64. श्री एस० के० मुकंद (वादी साक्षी 6) ने कहा है कि सड़क खोदने की संक्रियाओं के कारण प्रतिवादी द्वारा 139 वृक्ष काटे गए। उसने यह भी कहा है कि वादी ने 55 वृक्षों की कीमत पहले ही प्राप्त कर ली है। ये वृक्ष विभिन्न ठेकेदारों को बेचे गए थे। उसके कथन को प्रतिपरीक्षा में चुनौती नहीं दी गई। वादी ने प्रदर्श वादी 8 तथा वादी 9 की प्रतियां यह साबित करने के लिए प्रस्तुत की हैं कि वे 1979-80 तथा 1980-81 के दौरान वृक्षों की बाजार दर क्या थी। इन बाजार दरों को श्री के० आर० फिस्ता (वादी साक्षी 4) द्वारा साबित किया गया है। किन्तु यह साबित नहीं किया गया है कि प्रतिवादी द्वारा किस प्रकार के वृक्ष काटे गए। यदि यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि कुछ वृक्षों को प्रतिवादी ने काटा था तो भी वादी उनका बाजार मूल्य साबित करने में असफल रहा है। इस विवाद्यक का विनिश्चय वादी के पक्ष में इस सीमा तक किया जाता है कि प्रतिवादी ने वादी की संपत्ति से वृक्ष काटे थे, किन्तु उनका मूल्य नहीं साबित किया जा सकता है।

विवाद्यक सं० 10 :

65. वादी ने फोटो प्रदर्श वादी 10 से लेकर वादी 18 तक प्रस्तुत किए हैं तथा स्थानीय कमिश्नर द्वारा तैयार किए गए नक्शे (प्रदर्श वादी 66) का भी अवलंब लिया है तथा जूनियर इंजीनियर श्री आर० डी० शर्मा (प्रतिवादी साक्षी 3) द्वारा साबित किए गए स्थल रेखांक (प्रदर्श प्रतिवादी साक्षी 3/ए) का भी अवलम्ब लिया है। श्री एस० जे० मुकंद (वादी साक्षी 6) ने कहा है कि वादी को हानि हुई थी। यह सही है कि सड़क के लिए खोदने की संक्रियाओं के कारण वादी की संपत्ति को हानि हुई थी किन्तु वादी संपत्ति को हुई हानि साबित करने में असफल रहा है। श्री एस० जे० मुकंद (वादी साक्षी 6) ने कहा है कि वादी की शेष संपत्ति को सुरक्षित रखने के लिए प्रतिधारण दीवार आदि का सन्निर्माण किया जाना है और इस प्रयोजन के लिए 4-5 लाख रुपये का व्यय किया जाना होगा। वादी का यह कथन मात्र इसके अतिक्त साक्ष्य के अभाव में पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार, यह साबित नहीं हुआ है कि वादी की शेष संपत्ति की रक्षा के लिए वादी द्वारा दावाकृत प्रतिधारण दीवार आदि का सन्निर्माण किया जाना होगा। इस विवाद्यक का विनिश्चय तदनुसार किया जाता है।

विवाद्यक सं० 11 :

66. जैसा कि विवाद्यक सं० 8 के अधीन विवेचन किया गया है सड़क के सन्निर्माण के कारण वादी की कुछ संपत्ति का अतिक्रमण हुआ है। चूंकि प्रतिवादी वादी की संपत्ति में हस्तक्षेप कर रहा है, अतः वादी इस आशय के स्थायी व्यादेश का हकदार है कि प्रतिवादी विवादित संपति के सम्बन्ध में वादी के कब्जे में हस्तक्षेप न करे। वादी आज्ञापक व्यादेश के अनुतोष का भी इस सीमा तक हकदार है कि प्रतिवादी सड़क के सन्निर्माण के लिए खोदी गई संपत्ति को उसकी मूल स्थिति में ला दें और उसका कब्जा वादी को दे दे।

विवाद्यक सं० 12 :

67. वादी ने वृक्षों के अप्राधिकृत काटे जाने तथा हटाए जाने के कारण हुए नुकसान की रकम को साबित नहीं किया है। अतः इस विवाद्यक का विनिश्चय वादी के विरुद्ध किया जाता है।

बिवाद्यक सं० 13 :

68. विभिन्न विवाद्यकों के सम्बन्ध में मेरे निष्कर्षों के परिणामस्वरूप वादी को प्रतिवादी के विरुद्ध इस आशय के आज्ञापक व्यादेश की डिक्री दी जाती है कि प्रतिवादी 9,052 वर्ग गज तथा 2 वर्ग फीट संपत्ति, जो खसरा सं० 194 की विवादित संपत्ति का भाग है (और जिसे स्थानीय कमिश्नर, रामशरण कानूनगो की रिपोर्ट प्रदर्श वादी 65 तथा रेखांक प्रदर्श वादी 66 में पूर्णतः वर्णित किया गया है) उसकी मूल स्थिति में वादी को वापस लौटा दे और उसका कब्जा वादी को दे दे और इस व्यादेश की भी डिक्री दी जाती है कि प्रतिवादी वादी की 1,70,098 वर्ग गज तथा 5 वर्ग फीट संपत्ति में किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप न करे। यह संपत्ति खेवट संख्यक 135—मीन खतौनी सं० 250—मीन में दर्ज है और जो खसरा सं० 194/1 से 194/42 तक और 194 के शेष भाग में समाविष्ट है जैसा कि सन् 1950-51 की जमाबंदी में उल्लिखित है और जो छोटा शिमला के स्टेशन वार्ड में स्थित है, वादपत्र के पैरा ग तथा घ में वर्णित अनुतोषों के सम्बन्ध में वादी का वाद खारिज किया जाता है।

69. मामले के विभिन्न तथ्यों तथा परिस्थितियों को देखते हुए मैं आदेश देता हूं कि पक्षकार अपना-अपना खर्चा वहन करेंगे।

वाद में भागतः डिक्री पारित की गई।

ब्रह्म

नि० प० 1984 : हिमाचल प्रदेश—52

केवल सिंह बनाम सत महाजन
(Kawal Singh *Vs.* Sat Mahajan)

तारीख 9 दिसम्बर, 1983

[का० मु० न्या० एच० एस० ठाकुर]

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951—धारा 123 (1) (क) और (ख) सपठित धारा 83 (1) (क)—पिटीशनर द्वारा प्रत्यर्थी के विरुद्ध भ्रष्ट आचरण का अभिकथन करते हुए निर्वाचन अर्जी का दिया जाना—प्रत्यर्थी द्वारा भ्रष्ट आचरण के अभिकथन से इन्कार करते हुए यह अभिवाक् किया जाना कि निर्वाचन अर्जी में सारवान् तथ्यों और पूर्ण विशिष्टियों के अभाव में वाद हेतुक गठित नहीं किया जा सकता—यदि किसी निर्वाचन अर्जी में रिश्वत के भ्रष्ट आचरण के अभिकथन के लिए सारवान् तथ्यों और पूर्ण विशिष्टियों का अभाव हो तो किसी मंत्री के विरुद्ध उस समय तक कार्यवाही गठित नहीं की जा सकती जब तक कि यह साबित नहीं किया जाता कि मतदाताओं के साथ उनको मत प्राप्त करने के लिए निर्वाचन में सहायता करने के लिए सौदेबाजी की गई थी।

पिटीशनर और प्रत्यर्थी हिमाचल प्रदेश राज्य की विधान सभा के लिए निर्वाचन हेतु अभ्यर्थी थे। प्रत्यर्थी को निर्वाचन में सफल अभ्यर्थी के रूप में घोषित किया गया था। पिटीशनर ने प्रत्यर्थी के निर्वाचन को मुख्यतः इस आधार पर चुनौती दी है कि प्रत्यर्थी ने लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 123 की उपधारा (1) (क) और (ख) के अधीन यथा परिभाषित रिश्वत का भ्रष्ट आचरण अपनाया था। इस निर्वाचन अर्जी में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि यदि किसी निर्वाचन अर्जी में सारवान् तथ्यों और पूर्ण विशिष्टियों का अभाव हो तो क्या किसी मन्त्री के विरुद्ध रिश्वत का भ्रष्ट आचरण अपनाने के लिए अपराध गठित किया जा सकता है?

अभिनिर्धारित—निर्वाचन अर्जी खारिज की गई।

न्यायालय ने पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेलों की दलील पर विचार किया है। प्रत्यर्थी की मुख्य दलील यह है कि अभिकथित भ्रष्टाचार के सम्बन्ध में पिटीशन में सारवान् तथ्यों और विशिष्टियों की कमी है। इसके अतिरिक्त यह दलील दी गई कि अभिकथन अस्पष्ट हैं और अभिकथित भ्रष्ट आचरण की तारीख, स्थान और रीति भी नहीं दी गई है। इस बात पर भी जोर दिया गया कि निर्वाचन अर्जी को कायम रखने के लिए कसौटी यह है कि यदि प्रत्यर्थी अर्जी का प्रतिवाद

करने के लिए हाजिर भी नहीं होता तो क्या निर्वाचन पिटीशनर के पक्ष में कोई निर्णय दिया जा सकता है और क्या निर्वाचन अर्जी में अभिकथनों से कोई वाद हेतुक प्रकट होता है। यह भी प्राख्यान किया गया है कि अवैध परितोषण के भ्रष्ट आचरण को साबित करने के लिए यह आवश्यक है कि सौदेबाजी होनी चाहिए और परितोषण की प्रस्थापना को प्रतिगृहीत किया जाना चाहिए। अभिलेख से यह दर्शित होता है कि निर्वाचन पिटीशनर ने अपने प्रत्युत्तर में भी यह प्राख्यान किया है कि निर्वाचन अर्जी में सारवान तथ्य और पूर्ण विशिष्टियां दी गई थीं। उसने सारवान तथ्यों और विशिष्टियों को देने के लिए समय दिए जाने के लिए कोई प्रार्थना नहीं की थी। इसलिए पिटीशनर की यह दलील कि न्यायालय विशिष्टियों के लिए हमेशा कह सकता है, उद्भूत नहीं होता। इस स्थिति में निर्वाचन अर्जी दी गई विशिष्टियों के आधार पर अवधारित की जानी चाहिए। उपर्युक्त चर्चा और ऊपर निर्दिष्ट विनिश्चयों की दृष्टि से अब न्यायालय तथ्यों और ब्यौरों, जैसे कि निर्वाचन अर्जी में उल्लिखित है, पर विनिश्चय के प्रभाव पर विचार करता है। इस मुद्दे को विस्तार से लेने के पूर्व इस बात की ओर संकेत किया जाता है कि प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल ने आरम्भिक विवाद्यक सं० 2, 3 और 5 पर जोर नहीं दिया है। इसलिए ये विवाद्यक प्रत्यर्थी के विरुद्ध विनिश्चित किए जाते हैं। केवल प्रारम्भिक विवाद्यक, जिन पर अब विनिश्चय किया जाना है, विवाद्यक सं० 1 और 4 हैं जैसा कि पहले ही ऊपर उद्धृत किया गया है। ये दोनों विवाद्यक एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और उनका एक साथ निपटारा सुविधापूर्वक किया जा सकता है। इस बारे में कोई विवाद नहीं किया जा सकता कि यदि रिश्वत के भ्रष्ट आचरण का अभिकथन किया जाता है तो यह आवश्यक है कि निर्वाचन अर्जी में सारवान तथ्यों और पूर्व विशिष्टियों का उल्लेख होना चाहिए जिससे वाद हेतुक गठित हो सके। सारवान तथ्यों और पूर्ण विशिष्टियों को देने की आवश्यकता पर जोर इसलिए दिया जाता है कि विरोधी पक्षकार को उसके लिए उचित अवसर मिल सके। उपर्युक्त भ्रष्ट आचरण के अभिकथनों के परिशीलन से यह दर्शित होता है कि वे अस्पष्ट हैं और उनमें सारतः सारवान विशिष्टियों की कमी है क्योंकि सम्बद्ध व्यक्तियों के नाम, सुसंगत तरीखें और परिवादित कार्यों की पूर्ण विशिष्टियां नहीं दिए गए हैं और उन व्यक्तियों के नाम भी नहीं दिए गए हैं जिन्हें रिश्वत की प्रस्थापना की गई थी। रिश्वत के भ्रष्ट आचरण को गठित करने के लिए आवश्यक अंग की भी कमी है क्योंकि वह प्राख्यान नहीं किया गया है कि क्या प्रस्थापना प्रतिगृहीत की गई थी या नहीं। इस बात की ओर संकेत किया जाता है कि नीचे से पैरा 4 (क) के उप पैरा (11) में यह प्रकथन किया गया है कि "यह निवेदन किया जाता है कि उपर्युक्त अनुदान अधिकांशतः विभिन्न पंचायतों को उनकी ओर से मांग करने पर खण्ड विकास अधिकारी के माध्यम से और इनाम के रूप

में और प्रत्यर्थी के लिए मत के वचन के रूप में दिए गए थे।" इस वाक्य में नि:स्संदेह यह कथन किया गया है कि अनुदान अधिकांशत: उनकी ओर से मांग करने पर दिए गए थे और आदेश और इनाम के रूप में और प्रत्यर्थी के लिए मत देने के वचन के रूप में दिए गए थे किन्तु उन व्यक्तियों के बारे में, जिन्होंने मत देने का वचन दिया था, आवश्यक विशिष्टियां नहीं दी गई हैं। यह संकेत किया गया है कि अधिनियम के उपबन्धों के शब्दों को पुनः उद्धृत करना पर्याप्त नहीं है किन्तु यह आवश्यक है कि उसके पूर्ण विशिष्टियां दी जाएं। निर्वाचन अर्जी में प्रत्यर्थी के विरुद्ध मन्त्री के रूप में अपनी शक्तियों के दुरुपयोग के बारे में भी और भावी निर्वाचन को अग्रसरकरने के लिए कुछ कर्मचारियों की सेवाओं का दुरुपयोग करने के अभिकथन भी किए गए हैं। इन अभिकथनों में भी अभिकथित कार्यों के सारवान तथ्य और पूर्ण विशिष्टियां नहीं दी गई हैं। सुसंगत विनिश्चयों, जो ऊपर निर्दिष्ट किए गए हैं, से यह दर्शित होता है कि निर्वाचन के दौरान भी मन्त्री को कतिपय कर्त्तव्यों और वाध्यताओं का निर्वहन करना होता है। मन्त्री से अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन में प्रशासन के कुछ कार्यों के करने की अपेक्षा की जाती है जिसमें कतिपय समुदायों के उत्थान के लिए धन का अनुदान देना सम्मिलित है और मंत्री की यह कार्यवाही उसके विरुद्ध उस समय तक गठित नहीं की जा सकती जब तक यह साबित नहीं किया जाता कि मतदाताओं के साथ उनके मत प्राप्त करने के लिए निर्वाचन में सहायता करने के लिए सौदेबाजी की गई थी। उन तथ्यों में जैसे कि इस अभिकथन के बारे में दिए गए हैं, सारवान् विशिष्टियों की सारत: कमी है। उपर्युक्त चर्चा का परिणाम यह है कि पिटीशन में यथा अंतर्विष्ट तथ्यों और विशिष्टियों को उपर्युक्त विनिश्चयों में सुसंगत मताभिव्यक्तियों की कसौटी पर परखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त भ्रष्ट आचरण के सारवान् तथ्य और विशेषत: पूर्ण विशिष्टियां निर्वाचन अर्जी में दिए गए हैं। अभिकथित भ्रष्ट आचरण को साबित करने के लिए विधि की वैसे ही सबूत और विशिष्टियों के मानक की आवश्यकता है जैसे कि दाण्डिक मामले में। (पैरा 11, 12, 18, 19, 20 और 21)

		पैरा
[1982]	1982 की निर्वाचन अर्जी स० 5, जिसका विनिश्चय पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय द्वारा 10 दिसम्बर 1982 को किया गया था। प्रियवृत **बनाम** मंगूराम (Priya Vart *Vs*. MangoRam);	7
[1981]	ए० आई० आर० 1981 पंजाब-हरियाणा 45 : रणधीर सिंह **बनाम** रानी इन्दर सिंह (Randhir Singh *Vs*.	7,17